15/01/20, 11:44 am - Ashok Jain: *तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र* के रचयिता आचार्य *उमास्वामी* का संक्षिप्त परिचय -

आचार्य श्री उमास्वामी का गृहस्थ जीवन का परिचय नहीं मिलता, साधुरूप में आचार्य कुन्दकुन्द देव के पट्ट शिष्य बताये गये हैं।

और तत्त्वार्थसूत्र की रचना के विषय में कहा गया है कि द्विजकुल में उत्पन्न *सिद्धय* नामक विद्वान ने "दर्शनज्ञानचारित्राणि-मोक्षमार्ग:" एक पाटिये पर लिखकर कहीं चला गया। एक समय आचार्य उमास्वामी आहार चर्या के बाद लौट रहे थे तब उन्होंने पाटिये को देखकर उसमें "सम्यक" शब्द जोड़ दिया।

जब सिद्धय्य विद्वान ने यह देखा तो आचार्य श्री को ढूंढता हुआ उनके समीप पहुंचा और भक्तिभाव से नम्र निवेदन कर पूछने लगा- आत्मा का हित क्या है? आचार्य उमास्वामी ने 'मोक्ष' है।

तब उस विद्वान ने मोक्ष का स्वरूप पूछा और प्राप्ति का उपाय जानना चाहा। जिसके उत्तर स्वरूप ही इस महान ग्रंथ की रचना हुई।

आचार्य उमास्वामी दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में समान रूप से पूज्य हैं।

15/01/20, 12:11 pm - Ashok Jain: *मंगलाचरण*

त्रैकाल्यं, द्रव्य-षट्कं, नव-पद-सहितं, जीव-षट्काय-लेश्या:,

पञ्चान्ये, चास्तिकाया, व्रत-समिति- गति,-ज्ञान-चारित्र भेदा:।

इत्येन्-मोक्षमूलं, त्रिभुवन-महितै:, प्रोक्त-मर्हद्भि-रीशै,

प्रत्येति श्रद्धधाति, स्पृशति च मतिमान्, य: स वै, शुद्धदृष्टि: ॥१॥

सिद्धे जयप्-पसिद्धे, चउव्-विहा- राहणा फलं पत्ते।

वंदिता अरहंते, वोच्छं आराहणा कमसो॥२॥

उज्जोवण-मुज्झवणं, णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।

दंसण-णाण-चरित्तं, तवाण-माराहणा भणिया॥३॥

*मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृतां।

ज्ञातारं विश्व तत्वानां, वन्दे तद्गुण लब्धये॥

15/01/20, 1:29 pm - Ashok Jain: ◈(मोक्षमार्गस्य नेतारं) जो मोक्षमार्ग के नेता हैं अर्थात् हितोपदेशी हैं। (भेतारं कर्म भूभृतां) कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाले हैं अर्थात् वीतरागी हैं। (ज्ञातारं विश्व तत्वानां) विश्व के समस्त तत्त्वों को जानने वाले हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं ऐसे विशिष्ट गुणों के धारक आप्त को, (वन्दे तद्गुण लब्धये) उन विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए मैं नमस्कार करता हूं।

**?** मंगलाचरण क्यों किया जाता है?

☞ इसके निम्न कारण है-

नास्तिकता का परिहार,  शिष्टाचार का पालन,  विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति, शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति,  कृतज्ञता ज्ञापन, निरहंकार की सिद्धि,  ग्रंथ की प्रामाणिकता,  ग्रंथ पढ़ने-सुनने वालों में श्रद्धान की वृद्धि।

15/01/20, 1:42 pm - Ashok Jain: *प्रथम अध्याय*

*मोक्ष प्राप्ति का उपाय*

सूत्र:- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग: ॥१॥

◈ इस सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समूह मोक्ष प्राप्ति का उपाय है।

15/01/20, 7:10 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): तत्त्वार्थसूत्र जैन धर्म का एक प्रमुख ग्रन्थ है।निर्ग्रन्थ परम्परा के उपलब्ध साहित्य में संस्कृत में रचित यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है।इस महान ग्रन्थ में जिनागम के मूल तत्त्वों को बहुत ही संक्षेप में निबद्ध किया गया है जिससे इसमें गागर में सागर वाली उक्ति चरितार्थ होती है।इस ग्रन्थ में कुल १० अध्याय और ३५७ सूत्र है जिनमें करणानुयोग , द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग का सार समाहित है। जैनागम के प्रवीण आचार्यों ने इस ग्रन्थ पर टीका लिखी है जिनमें आचार्य पूज्यपाद भट्टाकलंक , विद्यानन्दि आदि प्रमुख हैं।इस ग्रन्थ के दसों अध्यायों में प्रमुखता से जीव , अजीव , आस्रव , बन्ध , संवर , निर्जरा और मोक्ष - इन सात तत्त्वों का ही प्ररूपण है।

तत्त्वार्थ सूत्र का दूसरा नाम मोक्षशास्त्र भी है।इस ग्रन्थ का प्रारम्भ मोक्षमार्ग के उपदेश से होता है और अन्त भी इसी उपदेश से होता है , संभवत: इसी कारण से यह नाम भी लोक में प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है।

इस महान ग्रन्थ के रचयिता का नाम क्या है ? वे कहां जन्मे थे ? किस जाति या वंश के थे - इन बातों की कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती है । इसका कारण यह है कि प्राचीन समय में ग्रन्थकर्ता ग्रन्थ के प्रारंभ या अन्त में अपने नाम , कुल , जाति परम्परा आदि का उल्लेख नहीं करते थे क्योंकि वे अपने को शास्त्र का रचयिता मानते ही नहीं थे।जगह जगह पर यही कहते थे कि जिनेन्द्र देव ने ऐसा कहा है , इसीलिए हम भी ऐसा कहते हैं, यही जिन आगम का सार है आदि।

श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर कुछ ऐसे शिलालेख हैं जिनमें गृद्धपिच्छ से उपलक्षित उमास्वामी को तत्त्वार्थसूत्र का कर्ता कहा गया है।

दिगम्बर परम्परा में एक श्लोक मिलता है जिसमें आचार्य उमास्वामी को तत्त्वार्थसूत्र का रचयिता बताते हुए उन्हें गणीन्द्र कहा गया है।

तत्त्वार्थसूत्र कर्त्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।

वन्देगणीन्द्रं संजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्।।

पट्टावलियों , प्रश्स्तियों और अभिलेखों के आधार पर विद्वानों ने इस ग्रन्थ का समय ईस्वी सन् की द्वितीय शती सिद्ध किया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में इस ग्रन्थ का बहुत ही आदर और भक्तिभाव के साथ पठन पाठन किया जाता है। हम सभी आचार्य देव के चरणों के बारम्बार नमोस्तु करते हुए इस अनुपम ग्रन्थ के स्वाध्याय का शुभारंभ करते हैं।

15/01/20, 7:12 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ का शुभारंभ आचार्य भगवन् उमास्वामी मंगलाचरण द्वारा करते हैं। जैन वाङ्मय की यह परम्परा रही है कि प्रत्येक जिनभक्त किसी भी सूत्र ,सिद्धान्त या कार्य की रचना करते समय सबसे पहले पंच परमेष्ठी का स्मरण करके उन्हें मन-वचन-काय के प्रणिधान पूर्वक नमस्कार करते हैं। इस मंगलाचरण को करने से कार्य निर्विघ्न सम्पन्न होता है , शिष्टाचार का पालन होता है , नास्तिकता का परिहार होता है और पुण्य की प्राप्ति होती है। आचार्य भगवन् भी मंगलाचरण द्वारा ग्रन्थ का शुभारंभ करते हुए अरिहन्त देव को नमस्कार करते हुए उन्हें *मोक्षमार्गस्य नेतारं* अर्थात् मोक्षमार्ग के नेता कहते हुए नमस्कार करते हैं। यद्यपि गुरुदेव ने प्रत्यक्ष में अरिहंत परमेष्ठी का नाम नहीं लिया , फिर भी विशेषणों द्वारा उनका ही बोध होता है मोक्षमार्ग के सबसे बड़े नायक अरिहन्त देव ही हैं , यह हम सभी जानते हैं।

नेतारं के अलावा श्लोक में वर्णित *कर्मभूभृताम्* *भेत्तारं* अर्थात् कर्म रूपी पर्वतों का भेदन करने वाले और *विश्वतत्त्वानां ज्ञातारं* अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के तत्त्वों के जो ज्ञाता हैं , वे एकमात्र अरिहन्त भगवान ही हैं जिन्हें मन- वचन -काय की भक्ति पूर्वक नमस्कार करते हुए आचार्य भगवन् कहते हैं *वन्दे तद्गुणलब्धये* । वे अरिहंत भगवान जो मोक्षमार्ग के नेता हैं अर्थात् प्राणियों के हित का उपदेश देते हैं , हितोपदेशी हैं , मोहादि कर्म रूपी पर्वतों का भेदन करके जो परम वीतरागी हैं , जिनके राग-द्वेष और मोह का क्षय हो चुका है तथा जो *ज्ञातारं* हैं , सम्पूर्ण विश्व के चराचर पदार्थों को जानने वाले हैं , सर्वज्ञ हैं - ऐसे हितोपदेशी , वीतरागी और सर्वज्ञ देव को मैं *तद्गुणलब्धये* अर्थात् उनके गुणों की प्राप्ति के लिए भक्तिभाव से नमस्कार करता हूं , आपकी बन्दना करता हूं।

15/01/20, 7:53 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य उमास्वामी ने *तत्त्वार्थ सूत्र* में सर्वप्रथम मंगलाचरण करते हुए अरिहंत देव की वन्दना की है।इन देव का स्वरूप क्या है ?

इस प्रश्न का उत्तर हमें मेरी भावना के पहले ही पद में बहुत सरलता से प्राप्त हो जाता है।

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।

सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।।

बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।

भक्ति- भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो।।

जिसने भी रागद्वेष,कामकषाय आदि सभी विकारों को जीत कर सारे जगत् को जान लिया है तथा संसार के प्राणियों को निस्पृह होकर मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है वही सच्चे देव हैं।ऐसे गुण किसमें पाये जा सकते हैं -जिसमें वीतरागता हो,सर्वज्ञता हो,हितोपदेशिता हो-वही हमारी पूज्यता का अधिकारी है।मन्दिरजी में हम अरिहन्त के बिम्ब का दर्शन करते हैं।अरहन्त के वीतरागी रूप को निहार कर हमारे अन्दर भी वीतरागता के अंश का संचार होता है,इसीलिए हम मन्दिर जाते हैं।मोहनीय कर्म पर विजय प्राप्त करने के कारण वीतरागता की उपलब्धि होती है।ये वीतराग भगवान अस्त्र,शस्त्र या सभी परिग्रहों से रहित होकर प्राणिमात्र के कल्याण के लिए हितोपदेशिता का उपदेश देते हैं।अब हमें किसे आदर्श बनाना है,यह निर्णय हमें करना है।वीतरागी के पास जाने से ही वीतरागता मिल सकती है,रागीद्वेषी के पास जाने से नहीं।धनवान के पास जाने से ही धन मिल सकता है,दरिद्र के पास नहीं मिल सकता।

हमारे आदर्श के और क्या लक्षण होने चाहिए,तो मेरी भावना में पढते हैं,जिसने सब जग जान लिया,सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।यह आप्त अर्थात् देव का दूसरा और तीसरा लक्षण है,जो सर्वज्ञ है-सब कुछ जानता है वही सच्चे अर्थों में देव है।जिसके ज्ञान में ही अपूर्णता है वह हमारा आदर्श नहीं सकता।ऐसे तीन लोक के समस्त चराचर

प्राणियों को जानने वाले केवलज्ञानी  प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से निःस्वार्थ भाव से हितोपदेशिता का उपदेश देते हैं।रागीद्वेषी हमें कभी निःस्वार्थ भाव से उपदेश नहीं दे सकता।

अब जिसमें भी उपरोक्त तीनों लक्षण पाये जायें,वही हमें अपने आदर्श के रूप में,देव के रूप में स्वीकार है चाहे वह बुद्ध हो या हरि हो या हरिहर हो या ब्रह्मा हो या जिन हो -हम ऐसे गुणों से विभूषित चाहे वह जो भी हो,उसे ही अपना आदर्श मानते हुए उसके चरणों में नतमस्तक हैं।जैन दर्शन व्यक्ति की नहीं गुणों की पूजा करता है।इसीलिए आचार्य देव कहते हैं- *वन्दे तद्गुणलब्धये।*  हम भी इन तीन गुणों से विभूषित परमात्मा को ही सच्चा देव मानकर  उनके गुणों को पाने की भावना से

उनकी पूजा करते हैं, बन्दना करते हैं।

लिखने का आधार आदरणीय ब्रह्मचारी पंकज भैया द्वारा बेलगछिया मन्दिर जी ,कोलकाता के सभागार में " मेरी भावना " पर दिये गये प्रवचन से।

15/01/20, 10:10 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): त्रैकाल्यं द्रव्य-षट्कं नव-पद-सहितं जीव-षट्काय-लेश्या:

पंचान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदा:

इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवन-महितै: प्रोक्तमर्हद्भिरीशै:

प्रत्येति श्रद्धति स्पृशति च मतिमान् य: स वै शुद्धदृष्टि:

अर्थ - तीन काल, छह द्रव्य, नव पदार्थ, छह काय, छह्लेश्या, पांच अस्तिकाय , पांच व्रत, पांच समिति, गति, पांच ज्ञान और पांच चारित्र भेद रूप ये सब मोक्ष के मूल हैं, ऐसा तीनों लोकों के पूज्य अर्हंत भगवान के द्वारा कहा है । जो बुद्धिमान इनकी प्रतिति करता है , श्रद्धान करता है और स्पर्श करता है / इनके नजदीक जाता है, वह निश्चय से शुद्धदृष्टि है ॥

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउव्विहाराहणा-फलं पत्ते

वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वाहणं साहणं च णिच्छरणं

दंसण-णाण-चरित्तं तवाणमाराहणा भणिया

अर्थ - जगत में प्रसिद्ध चार प्रकार की आराधना के फल को प्राप्त सिद्धों और अर्हन्तों को नमस्कार करके क्रम से आराधना को कहूंगा । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्त्व के उद्योतन, उद्यवन, निवर्हन, साधन और निस्तरण को आराधना कहा है ॥

16/01/20, 10:15 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *कैसे हैं सच्चे देव हमारे ?*

भव्य मनीषियो ! संसार का प्रत्येक प्राणी सुख और शान्ति चाहता है,लेकिन वह सुख और शान्ति पाना तो दूर की बात है ,इसका संवेदन भी नहीं कर पाता क्योंकि जहाँ जो वस्तु है ही नहीं ,उसकी खोज की जाये तो मिलना असम्भव ही है।यदि

हम किसी देवी देवता के पास जाकर मुक्ति की याचना करें तो वह हमें मोक्ष में कैसे पहुँचा सकता है जिसने स्वयं ही कभी मोक्षफल का आस्वादन नहीं किया हो।

यह सिद्धांत है कि जिसके पास जो वस्तु है, वह हमें वही दे सकता है।जो स्वयं शाश्वत से कोसों दूर है वह हमें शाश्वत सुख कैसे दिला सकता है।जो स्वयं संसार सागर में फँसा हुआ है वह हमें भव पार कैसे लगा सकता है ? जो स्वयं रागी और द्वेषी है वह हमें वीतरागता क्या दे सकता है ? जो स्वयं मोही है वह हमें निर्मोही कैसे बना सकता है ? अतः यदि मुक्तिमहल को पाना है तो उसकी शरण में जाना ही होगा जिसने स्वयं मुक्ति की सिद्धि कर ली हो ,अन्तिम लक्ष्य का पा लिया हो ।कैसे हैं उन सच्चे देव के लक्षण ?

क्रमशः:

16/01/20, 11:33 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): कैसे हैं सच्चे देव हमारे ?*

*गतांक से आगे, भाग २*

परम पूज्य आचार्य महाराज हमारा परिचय मंगलाचरण के माध्यम से उन सच्चे देव से कराने जा रहे हैं जिनके बिना न मोक्षमार्ग मिल सकता है न ही मोक्ष।यदि हम डाक्टर बनना चाहते हैं तो डाक्टर के सम्पर्क में रहना जरूरी होता है ,यदि हम इंजीनियर बनना चाहते हैं तो किसी अच्छे इंजीनियर से पहचान बनानी होती है उसी प्रकार यदि हम मुक्ति को पाना चाहते हैं ,सच्चे देवत्व की उपलब्धि चाहते हैं तो तो वीतरागी प्रभु पर अपनी अकाट्य श्रद्धा जमानी होगी ,उनके बताये हुए रास्ते पर चलना होगा ,तभी मुक्ति की मंजिल मिल सकती है।

रागद्वेष को जीतने वाले जिन कहलाते हैं तथा रागद्वेष को जीतकर वे *भेत्तारं कर्मभृताम्* कर्म रूपी पर्वतों का भेदन कर परम वीतरागी तथा वीतद्वेषी बन जाते हैं।जिनके पास ऐसी परम वीतरागता है वे ही सच्चे देव हैं।सच्चे देव का और भी विशेषण दिया *ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां "* अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं ,सब कुछ जानते हैं वे ही सच्चे देव हैं।जो विश्व के समस्त चराचर पदार्थों को युगपत् अर्थात् ज्यों का त्यों जानते हैं उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं।रागी द्वेषी देवता स्वयं अपने को ही नहीं जानते हैं तो सबको क्या जानेंगे ? उनका ज्ञान अपने अवधिज्ञान की सीमा तक ही बंधा होता है ,इसलिए वह असीम को नहीं जान सकता है।केवलज्ञानी का ज्ञान सम्पूर्ण सीमाओं से परे होता है ,असीम होता है ,अनन्त होता है ,इसलिए वह सब कुछ जानता है।इसलिए हमें यह समझना चाहिए कि सामान्य देवी देवता सच्चे देव नहीं हो सकते ।जिनमें सर्वज्ञता है वे ही सच्चे देव या आप्त कहलाने के अधिकारी हैं।

आप्त का और भी विशेषण दिया - *मोक्षमार्गस्य नेतारं* " अर्थात् जो मोक्षमार्ग के नेता हैं तथा भव्य जीवों को कल्याण के पथ पर लगाने के लिए जो उनके हित का उपदेश देते हैं वे परमात्मा हितोपदेशी कहलाते हैं।जो स्वयं अपना ही हित नहीं कर सकता ,संसार के कारणभूत जो आठों कर्मों से जो बंधा हुआ है वह हमें क्या हित का उपदेश दे सकेगा ? इसलिए जो सच्चे अर्थों में हितोपदेशी हो ,हम उनके चरणों में ही नतमस्तक हो सकते हैं।

इस प्रकार सच्चे देव में इन तीन गुणों का होना अनिवार्य है - वीतरागता,सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ।ये तीनों ही गुण एक दूसरे के अविनाभावी हैं अर्थात् एक के होने पर दूसरा और तीसरा नियम से पाया जाता है ।जिनमें ये तीन गुण विद्यमान हों वे देव ही हमारी श्रद्धा और आस्था के केन्द्रबिन्दु हो सकते हैं, अन्य कोई भी नहीं।उनके गुणों की प्राप्ति के लिए ही आचार्य महाराज *वन्दे तद्गुणलब्धये* उन्हें नमस्कार करते हैं , हम सभी नमस्कार करते हैं।

16/01/20, 3:04 pm - Ashok Jain:  **?** सम्यग्दर्शन आदि में मोक्षमार्गत्व कैसे है?

☞ औषधि के समान मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान(अज्ञान), असंयम आदि के विपरीत होने से सम्यग्दर्शनादि में मोक्षमार्गत्व की सिद्धि होती है। जिस प्रकार वात आदि के विकार से उत्पन्न होने वाले रोगों के निदान को नष्ट करने के कारण आरोग्य का कारण (मार्ग) कहलाती है उसी प्रकार संसार रोग रूप मिथ्यात्वादि के कारणों का नाशक होने से सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के मार्ग कहलाते हैं।(राजवार्तिक ४०)

(पूज्य आर्यिका विज्ञानमति माताजी द्वारा संकलित तत्वार्थमंजूसा- १४ से)

16/01/20, 6:59 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ऐसे परम उपकारी अरिहंत भगवान जो मोक्षमार्ग के नेता हैं , संसार के प्राणियों को उनके हित का उपदेश देते हैं उन्होंने इस मोक्षमार्ग की प्राप्ति का उपाय तो अवश्य बतलाया होगा। आखिर क्या है वह उपाय जिसे अपनाकर हम भी मोक्षमार्ग को प्राप्त कर एक दिन मोक्षलक्ष्मी का वरण कर सकते हैं ?

इसका उत्तर पहले अध्याय के पहले श्लोक में ही देते हुए कहते हैं

*सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग:* सम्यग्दर्शन , सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के मार्ग अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के उपाय हैं।

संसार के प्राणी अनादिकाल से मिथ्यात्व के वशीभूत होकर जन्म मरण की पीड़ा से ग्रस्त हैं। यह एक ऐसी महाव्याधि है जिसका इलाज दुनिया के किसी डाक्टर या बैद्य के पास नहीं है। एकमात्र अरिहन्त देव ही हैं जो हमें इस पीड़ा से छुटकारा दिलाने का नुस्खा बताते हुए

कहते हैं कि जन्म मरण से मुक्ति पाने के लिए मोक्ष जाने का रास्ता कोई कठिन नहीं है। यह तो बिल्कुल सीधा और सपाट है , अति सुगम और सुलभ है। संसार के प्राणी अनादिकाल से मिथ्यात्व के अन्धकार में डूबे हुए हैं। इसीलिए यह रास्ता बहुत जटिल लग रहा है, टेढ़ा-मेढ़ा और कांटों से भरा हुआ समझ में आ रहा है।

अनादिकाल से चले आ रहे भवभ्रमण से छुटकारा पाने के लिए हमें सम्यग्दर्शन , ज्ञान और चारित्र की एकता रूपी रत्नत्रय को धारण करना होगा जिसके बाद मोक्षमार्ग अत्यन्त सुगम हो जाता है।यह रत्नत्रय अत्यन्त मल्यवान है , रत्नों का पिटारा है क्योंकि यह मोक्षमार्ग का प्रदाता है।इस रत्नत्रय को धारण किये बिना न आज तक कोई प्राणी मोक्ष जा सका है न आगे जा पायेगा।

16/01/20, 9:20 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जब हमें शरीर में रोग हो जाता है तो उस रोग की चिकित्सा हेतु हम दवा लेते हैं। जिस दवा को हम लेते हैं ,उसके प्रति विश्वास होना चाहिए , सही और ग़लत दवा का हमें ज्ञान होना

चाहिए , साथ ही साथ मात्र विश्वास और ज्ञान होने से रोग ठीक नहीं होता , रोग को जड़ से मिटाने के लिए दवा को गले के नीचे भी उतारना होता है तब रोग शान्त होता है ।इसी प्रकार अकेले सम्यग्दर्शन या अकेले सम्यग्ज्ञान या अकेले सम्यक्चारित्र से मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता।इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग में सहायक होती है।

16/01/20, 9:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सम्यक् शब्द समीचीनता का द्योतक है।पदार्थों के यथार्थज्ञानमूलक श्रद्धान का संग्रह करने के लिए दर्शन के पहले सम्यक् विशेषण दिया है।सम्यग्दर्शन से ज्ञान में समीचीनता आती है , इसलिए सम्यग्दर्शन पूज्य है।बिना सम्यग्दर्शन के शास्त्रों का प्रकाण्ड ज्ञान पा लेना भी मोक्षमार्ग में सहायक नहीं बन सकता।इस सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी कहा गया है जिसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को नहीं प्राप्त कर सकते।

ज्ञान की स्थिति देहरी पर रखे दीपक की तरह है जो एक ओर सम्यग्दर्शन को सुदृढ़ बनाये रखता है तो दूसरी ओर चारित्र को भी निर्मल बनाये रखने में सहायक होता है , इसीलिए ज्ञान को बीच में रखा गया है।ज्ञान के अभाव में श्रद्धा डगमगा सकती है और विवेकहीन होकर चारित्र का पतन भी हो सकता है। इसलिए ज्ञान दर्शन और चारित्र दोनों को मजबूती प्रदान करता है।

जिन क्रियाओं को करने से कर्मों की वृद्धि होती है , कर्मों का आस्रव होता है उनका त्याग चारित्र कहलाता है।अशुभ क्रिया से निवृत्ति और शुभ क्रिया में प्रवृत्ति चारित्र है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन , ज्ञान और चारित्र की एकता हमारे मोक्षमार्ग को प्रशस्त करती है।

17/01/20, 10:44 am - Ashok Jain: <Media omitted>

17/01/20, 1:48 pm - Ashok Jain: *सम्यग्दर्शन का लक्षण*

तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥2॥

सूत्रार्थ:- सम्यक् तत्त्व एवं सम्यक् अर्थ के सम्यक् श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

*तत्त्वार्थ*- जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसका उसी रुप में होना तत्त्व है। तत्त्व और अर्थ इन दोनों शब्दों से तत्त्वार्थ शब्द बना है।(सर्वा.१०)

तत्त्व के द्वारा जिसका निश्चय किया जाता है वह तत्त्वार्थ है। जो जाना जाता है, ज्ञान का विषय है, उसको अर्थ कहते हैं और तत्त्व से जिसका निर्णय हो उसे तत्त्वार्थ कहते हैं। (रा. वा. ६)

*सम्यक्*- यह प्रशंसार्थक पद है।

(रा वा १) सम्यक् का अर्थ समीचीन, सच्चा भी होता है।

*दर्शन*- आलोक, अवलोकन, श्रद्धान आदि अनेक अर्थ हैं, यहां श्रद्धान ही इष्ट है, क्योंकि श्रद्धान मोक्ष का कारण है। (रा वा ३.४)

[पूज्य आर्यिका विज्ञानमति माताजी के द्वारा संकलित तत्त्वार्थमंजूसा-१६,१७]

17/01/20, 2:01 pm - Ashok Jain: **?** सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं?

☞ वीतराग, सर्वज्ञ, जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए जो शुद्ध जीवादि तत्त्व हैं उनके विषय में चल,मल,अवगाढ़ दोष रहित जो श्रद्धान, रूचि है अथवा जो "जिनेन्द्र देव ने कहा है, वही यह है" इस प्रकार जो निश्चय रूप बुद्धि है वह सम्यग्दर्शन है। (वृ द्र सं ४१ टीका) [तत्त्वार्थमंजूसा-१७]

17/01/20, 5:19 pm - Ashok Jain: उषा जैन जी ने

**?** चल मल अवगाढ़ दोष जानना चाहा है-

☞ मोहनीय कर्म के दो भेद हैं १) दर्शन मोहनीय और २) चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं- १)मिथ्यात्व, २) सम्यग्मिथ्यात्व तथा ३)सम्यक्त्व प्रकृति।

सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से चल मल अवगाढ़ दोष उत्पन्न होते हैं।

*चल दोष*- जिस प्रकार एक ही जल अनेक लहरों रूप परिणत होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण तीर्थंकर या अर्हन्त परमेष्ठि में समान अनन्तशक्ति होने पर भी श्री शांतिनाथ जी शांति के लिए और श्री पार्श्वनाथ भगवान रक्षा करने के लिए समर्थ हैं। ऐसा चिंतन या नाना विषयों में श्रद्धा का चलायमान होना चल दोष है।

*मल दोष*- जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी जब खान से निकलता है उस समय मल के निमित्त से मलिन है, उसी तरह सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व में पूर्ण निर्मलता नहीं आती उसे मल दोष या मलिन दोष कहते हैं।

*अवगाढ़ या अगाढ़ दोष*- जिस तरह वृद्ध व्यक्ति के हाथ में ठहरी हुई लाठी भी कांपती है, उसी तरह अपने बनवाये हुए मंदिर, जिनबिम्ब आदि में "यह मेरा है, और यह दूसरे के बनवाये हुए हैं" ऐसा भाव होना अवगाढ़ दोष है।

17/01/20, 8:38 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि उमास्वामी महाराज ने अपने तत्वार्थ सूत्र में

'तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं'

कहकर पदार्थों के तत्व रूप से श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है

और *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में आचार्य  समन्तभद्र स्वामी परमार्थभूत आप्त (देव), आगम (शास्त्र) और तपोभृत (गुरु)

के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं  ।

अब विचार करना है कि सम्यग्दर्शन की यह दो प्रकार की परिभाषा में क्या विशेषता है ?

17/01/20, 8:48 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष रूप सात तत्वों के निज स्वभाव का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।( तत्वार्थ सूत्र १/२)

आप्त, आगम और तत्वों का श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन होता है।

जिसने रागादि दोषों को जीत लिया है ऐसे सर्व जिनेश्वरों को  देव, दया को उत्कृष्ट धर्म और निर्ग्रन्थ को ही गुरु मानता है, वही सम्यग्दर्शन है और उसको मानने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।( सम्मत्तं सद्दहणं भावाणां- पं.का.१०७)

छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्व जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं, उनका जो श्रद्धान करता है - वह सम्यग्दृष्टि होता है।

जिनागम जिनदेव के द्वारा कथित है।अत: जिनदेव के प्रति श्रद्धा के बिना जिनागम का श्रद्धान नहीं हो सकता।

जिनदेव के वचनों को लिपिबद्ध करने वाले या जिनेन्द्र के वचन रूपी पुष्पों को शास्त्र रूपी माला में गूँथने वाले गणधर देव आदि का यदि विश्वास नहीं है - उनके वचनों में अविश्वास है, कोई doubt है तो जीवादि तत्वों का श्रद्धान कभी नहीं हो सकता।अत: देव- शास्त्र - गुरु का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन का मूल कारण है।

मिथ्यादृष्टि को देव, शास्त्र और गुरु का श्रद्धान नहीं हो सकता।मिथ्यादृष्टि यदि देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है तो संसार के भोगों के लिए करता है - कर्मों का क्षय करने के लिए नहीं करता।मूढता या अज्ञान के वशीभूत होकर करता है।अत: उसे सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता।

अत: हम देव , शास्त्र , गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहें या जीव , अजीव आदि सात तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहें - दोनों कथन के तात्पर्य में कोई अन्यत्र नहीं है।

परम पूज्य आर्यिका १०५ सुपार्श्वमती माताजी द्वारा रचित रत्नकरण्ड श्रावकाचार के चौथे श्लोक की टीका के आधार पर लिखित विवेचना।

18/01/20, 10:53 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जैन शास्त्रकारों ने अनेक अपेक्षाओं से सम्यग्दर्शन की परिभाषा दी है जिन सबका सारांश मूलतः: एक ही है। जैन शास्त्र प्रथमानुयोग , करणानुयोग , चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार अनुयोगों में विभाजित है।

आचार्य उमास्वामी ने *तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्* यह परिभाषा द्रव्यानुयोग की अपेक्षा से है।

प्रथमानुयोग की अपेक्षा से पाप पुण्य का श्रद्धान कर पाप को त्यागना सम्यग्दर्शन है।

चरणानुयोग की अपेक्षा से देव शास्त्र गुरु पर श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

करणानुयोग की अपेक्षा से अनन्तानुबन्धी क्रोध , मान , माया , लोभ , ये चार तथा मिथ्यात्व , सम्यक् मिथ्यात्व तथा सम्यक् प्रकृति ये तीन , कुछ सात प्रकृतियों का उपशम , क्षय तथा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है।

धर्म का स्वरूप द्रव्यानुयोग है। धर्मात्मा पुरुषों की चर्चा प्रथमानुयोग हैं।धर्म की प्राप्ति का उपाय चरणानुयोग है तथा

धर्म की सूक्ष्मता करणानुयोग है।

18/01/20, 11:56 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): एक बालक गिर गया है। मां उसे चार अनुयोगों के माध्यम से किस प्रकार समझाती है

देखो बेटा , देखकर चलना चाहिए - चरणानुयोग

तुमने कल अपने दादाजी को गिरते हुए देखकर हंसी उड़ाई थी ना , उसीका फल है कि आज तुम गिरे हो - ऐसा कभी नहीं करना - करणानुयोग

मेरे राजा बेटा , इतनी सी चोट में क्या रोना ? देखो , दादाजी को कितनी गहरी चोट आती थी , क्या वे कभी रोये थे ? प्रथमानुयोग।

मेरे अच्छे बेटा , तुम थोड़े ही गिरे हो। यह तो शरीर गिरा है। उसे चोट लगी है। आत्मा को तो कभी चोट नहीं लगती - द्रव्यानुयोग।

18/01/20, 5:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): Short में सम्यग्दर्शन की चार परिभाषा :-

1. सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान्

2. सात तत्वों का श्रद्धान्

3. आपा पर का श्रद्धान्

4. निज आत्मा का श्रद्धान्

रत्नकरण्ड श्रावकाचार के चौथे श्लोक का 'परमार्थानाम्' शब्द बहुत महत्वपूर्ण है । इस शब्द का अर्थ पहले समझाया जा चुका है ।

इसलिए ध्यान में रखना है कि जो भी परिभाषा हो वह परमार्थभूत होनी चाहिए अर्थात आत्मा के कल्याण रूप होनी चाहिए ।

आत्म कल्याण के लिए सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान आवश्यक है क्यों कि जब तक हमें 'क्या बनना है और कैसे बनना है' यह सही रूप से श्रद्धान नहीं होगा तब तक मोक्षमार्ग की शुरुआत नहीं होगी । इसलिए परमार्थभूत देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । जिसे सच्चे शास्त्र का श्रद्धान और अभ्यास होगा उसे ही शास्त्र में बताये गये सात तत्वों का श्रद्धान होगा । मोक्ष किसे कहते हैं जीव का स्वरूप क्या है इत्यादि जाने बिना मोक्षमार्ग कैसे शुरु होगा । इसलिए तत्वों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है । जिसको तत्वों का श्रद्धान होगा वो ही अपना स्वरूप जानेगा और वो ही अपना कल्याण करेगा । अपने को पर से भिन्न जानेगा । इसीलिए आपा पर के श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा । जिस को निज पर का ज्ञान होगा वह ही निज आत्मा का श्रद्धान करेगा । निज आत्मा का अनुभव करेगा । इसीलिए कहा

निज आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है ।

लेखक

श्री के:सी: जैन,कोलकाता

18/01/20, 7:48 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🏻✋🏻

परमार्थानाम् व परमार्थभूत का अर्थ बतायें

🙏🏻

उपरोक्त प्रश्न मेरे पास आया है। *परमार्थानाम्* शब्द यहां रत्नकरण्ड श्रावकाचार के चौथे श्लोक से लिया गया है जिसमें आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन के लक्षण समझाये हैं। परमार्थानाम् शब्द का अर्थ ही है परमार्थभूत।

परमार्थ = परम + अर्थ

जो आत्मा के लिए कल्याणकारी है उस महान प्रयोजन को ही परमार्थानाम् अर्थात् परमार्थभूत कहते हैं।

18/01/20, 7:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): और एक प्रश्न आया है

*समीचिनता का अर्थ बतायें* 🙏🏻

समीचीनता का अर्थ है उत्कृष्टता , श्रेष्ठता

19/01/20, 11:31 am - Ashok Jain: सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के हेतु या भेद-

*तन्-निसर्गा-दधि-गमाद् वा॥३॥*

सूत्रार्थ:- वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा अधिगम से होता है।

- जो सम्यग्दर्शन, पर के उपदेश से के बिना- अपने आप (पूर्व भव के संस्कार से उत्पन्न होता है, वह *निसर्गज सम्यग्दर्शन* है। और जो सम्यग्दर्शन गुरु आदि के उपदेश से उत्पन्न होता है वह *अधिगमज सम्यग्दर्शन* है।

19/01/20, 11:38 am - Ashok Jain: दोनों प्रकार के सम्यग्दर्शन में दर्शनमोह के उपशम क्षय और क्षयोपशम अन्तरङ्ग कारण समान है क्योंकि दोनों सम्यग्दर्शन में देशनालब्धि की मुख्यता है।

निसर्गज का बहिरंग कारण जिनबिम्ब- दर्शन आदि हैं और पूर्व भव के संस्कार भी हैं। और अधिगमज में वर्तमान भव के उपदेश आदि का प्रभाव होता है।

19/01/20, 11:40 am - Ashok Jain: 👆🏻प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से उद्धृत।

19/01/20, 11:48 am - Ashok Jain: * *अनंतानुबंधी कषाय (क्रोध मान माया लोभ) और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति इन सात पृकतियों का उपशम क्षय और क्षयोपशम।

19/01/20, 1:44 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): उत्पत्ति के भेद से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का होता है

*निसर्गज और अधिमगज*

*निसर्गात् अर्थात् स्वभाव से*

जो पूर्व संस्कार की प्रबलता से पर के उपदेश के बिना स्वयं स्वरुचि से शास्त्र पठन आदि से जीवादि सात तत्वों में श्रद्धा उत्पन्न होती है ,श्रद्धान की उत्पत्ति में गुरुओं को विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

*अधिमगात् अर्थात् पर के उपदेश आदि से*

पर के उपदेश से जो तत्वार्थ का श्रद्धान होता है उसे अधिमगज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

निसर्गज में भव्यात्मा ने पूर्व में किसी भी भव में गुरु का उपदेश सुना है जिसके संस्कार से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।अधिमगज में भव्यात्मा अपनी वर्तमान पर्याय में गुरु का उपदेश पाकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।मात्र पूर्व पर्याय या वर्तमान पर्याय की अपेक्षा भेद है।

इस बात को हम एक छोटे से उदाहरण से समझ सकते हैं।दो बालक हैं जिनमें एक बालक स्वयं पढ़ रहा है , वह निसर्गज है । दूसरा बालक घर पर शिक्षक पढ़ाने आ रहे हैं , उनसे पढ़ रहा है । वह अधिमगज है।

जिस जीव को वर्तमान पर्याय में या पूर्व पर्याय में कभी भी जीवादि पदार्थ विषयक उपदेश नहीं मिला है , उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती।

19/01/20, 3:42 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): एक पोस्ट मिली है जो यहां उद्धृत कर रहा हूं।

निसर्ग का अर्थ स्वभाव है अर्थात आत्मा में ही वह शक्ति हैं जिसका स्वाभाविक गुण सम्यकदर्शन है ऐसा अर्थ लीजिये।

19/01/20, 3:49 pm - Parasji Patni: इसमें थोड़ा सुधार कीजिए। आत्मा की शक्ति तो निसर्ग और अधिगमज दोनों में ही है पर साक्षात इसी भव में या पिछले भवों में प्राप्त किया उपदेश या ज्ञान स्मरण में आने से को सम्यकतव होता है वह निशर्गज और अभी सुनकर जो सम्यकत व हो व अधीगमज होता है ।

20/01/20, 1:33 pm - Ashok Jain: तत्त्वों के नाम या भेद-

*जीवाजीवास्रव बंध संवर निर्जरा मोक्षास्तत्त्वम्॥४॥*

सूत्रार्थ:- जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं।

*जीव*- जीव का स्वभाव चेतना (ज्ञान दर्शन) है।

चेतना: वह शक्ति जिसके सानिध्य से आत्मा ज्ञाता-द्दष्टा अथवा कर्त्ता-भोक्ता होता है,वह चेतना है। (रा वा १४)

(जीव के भेदादि दूसरे अध्याय के दसवें सूत्र से आचार्य श्री उमास्वामी स्वयं बताते हैं)।

जीव, प्राणी,आत्मा ये सब पर्याय वाची है।

*अजीव*- ज्ञान दर्शन वाली चेतना जहां नहीं है वह अजीव है।(द्र सं टीका १५)

*आस्रव*-जिसके द्वारा पुण्य पाप रूप कर्म आते हैं, वह आना मात्र ही आस्रव है।(रा वा ९)

*बंध*- जीव के आत्म प्रदेश और कर्म के स्कंधों का परस्पर एकमेक हो जाना बंध है (वसु श्रा ४१)

*संवर*- नवीन कर्मों के आश्रव के द्वारों का रोकना संवर है।(रा वा १८)

*निर्जरा*- पूर्व संचित कर्मों का एकदेश क्षय होना (आंशिक झड़ जाना निर्जरा है)। (सर्वा १८)

*मोक्ष*- समस्त कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष कहा गया है। उस मोक्ष को प्राप्त करने पर यह जीव अनन्त सुख का अनुभव करता है।(वसु श्रा ४५)

**?** कौन कौन से तत्त्व हेय और उपादेय हैं?

☞

20/01/20, 1:42 pm - Ashok Jain: ☞ सर्वज्ञ भगवान ने हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) ऐसे दो तत्त्व भेद बताए हैं

१) कर्म बंध और उसका कारण (आश्रव) हेय कहा है। क्योंकि ये दोनों संसार के बीज हैं।

२) मोक्ष और उसके साधन (संवर और निर्जरा) ये तीनों तत्त्व उपादेय कहा है। क्योंकि इसी से ही संसार के दुखों से छुटकर मोक्ष के अनन्त सुख का प्रकाश होगा। (त सा १/३-५)

20/01/20, 9:24 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जीवात्मा जीव तत्त्व  है।

पुद्गल ,धर्म , अधर्म , आकाश काल ये अजीव तत्त्व हैं।

विभाव परिणामों का निमित्त पाकर कर्मों का आगमन  आस्रव तत्त्व है।

जीव और कर्मों का एकमेक हो जाना बन्ध तत्त्व है।

कर्मों के आगमन का रास्ता बन्द हो जाना संवर तत्त्व है।

तपस्या आदि के बल से कर्मों का एकदेश क्षय हो जाना निर्जरा तत्त्व है।

आत्मा से कर्मों का पूर्ण रूप से अलग हो जाना मोक्ष तत्त्व है।

20/01/20, 9:33 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इन सात तत्त्वों को हम एक लौकिक दृष्टांत से समझते हैं।

एक सेठ जी फैक्ट्री खोलते हैं। उसमें नया माल आता है। मशीनों द्वारा माल को नया नया रूप दिया जाता है।माल का स्टाक ज्यादा होने के कारण नये माल के आर्डर पर रोक लगा दी जाती है। माल की बिक्री शुरू होती है।एक दिन ऐसा आता है कि पूरा माल बिककर फैक्ट्री खाली हो जाती है।

उपरोक्त दृष्टांत इस बात को इंगित करता है कि

फैक्ट्री के मालिक जीव तत्त्व हैं।

फैक्ट्री अजीव तत्त्व है।

फैक्ट्री में माल का आना आस्रव तत्त्व है।

माल को मशीनों में डाल कर नया नया रूप देना बन्ध तत्त्व है।

स्टाक ज्यादा होने के कारण नये माल का आर्डर बन्द कर देना संवर तत्त्व है ।

माल की धीरे धीरे बिक्री होना निर्जरा तत्त्व है।

अन्त में stock nil हो जाना मोक्ष तत्त्व है ।

20/01/20, 9:45 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): दूसरे दृष्टांत द्वारा समझते हैं

एक श्रावक ने अनेक श्रावकों को भोजन के लिए निमंत्रण दिया।

निमंत्रण देने वाला श्रावक जीव तत्त्व है।

उसका घर अजीव तत्त्व है।

समय पर भोजनशाला में भोजन के लिए प्रवेश आश्रव तत्त्व है।

भोजन प्रारंभ कर देना बन्ध तत्त्व है।

भोजनशाला के पूरे भर जाने के कारण नये लोगों के आने पर रोक लगा देना संवर तत्त्व है।

धीरे धीरे भोजन कर एक एक लोगों का निकलते जाना निर्जरा तत्त्व है।

सभी श्रावकों का भोजन करके चले जाना मोक्ष तत्त्व है।

लिखने का आधार - परम पूज्य गणिनी आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* की प्रश्नोत्तरी टीका से।

21/01/20, 11:19 am - Ashok Jain: <Media omitted>

21/01/20, 11:20 am - Ashok Jain: अमरीश जी, सहारनपुर ने यह जिज्ञासा भेजी है।

21/01/20, 11:32 am - Ashok Jain: उत्तर☞

जैसे मैल युक्त पानी में निर्मल फल (फिटकरी) डालने से मैल नीचे बैठता है और निर्मल, स्वच्छ पानी ऊपर रहता है वैसे ही अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क और सम्यक्प्रकृति इन सात प्रकृतियों को दबाते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है *वह उपशम या औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है।*

21/01/20, 12:12 pm - Ashok Jain: क्षयोपशम- उक्त सात प्रकृतियों में से छः सर्वघाति प्रकृतियों के (अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क और सम्यक्प्रकृति के दो मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व) वर्तमान काल में उदय आने वाले निषेकों का सद्वस्थारूप उपशम (आगामी काल में उदय आने योग्य निषेकों के सत्ता में रहना) तथा सम्यक्त्व प्रकृति नामक देशघाति प्रकृति का उदय रहते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसे क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षय/क्षायिक सम्यग्दर्शन:- उक्त सात प्रकृतियों के क्षय (यानी स्वच्छ निर्मल पानी) से जो सम्यग्दर्शन होता है वह क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।

21/01/20, 1:25 pm - Ashok Jain: 🙏आज के श्री तत्वार्थ सूत्र के पाठ के अनुसार मेरी एक जिज्ञासा है.... आप ने विभाव परिणाम के निमित्त से कर्मों का आगमन होता है... ऐसा कहा है... मेरी जिज्ञासा है कि यह "विभाव परिणाम" क्या है?... कृपया इस जिज्ञासा का समाधान किजिए।

21/01/20, 1:25 pm - Ashok Jain: जीतेंद्र शांतिनाथ जी देवधारे केज जिला बीड महाराष्ट्र

21/01/20, 1:27 pm - Ashok Jain: उत्तर- जीव के जिन भावों से पुद्गल-कर्मों का आश्रव होता है वे राग-द्वेष आदि जीव के विभाव परिणाम होते हैं।

21/01/20, 1:28 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

21/01/20, 2:59 pm - Ashok Jain: तत्त्वों और रत्नत्रय के व्यवहार या ज्ञान का कारण

*नाम स्थापना द्रव्य भावतस्तन्न्यास:*॥५॥

सूत्रार्थ:- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार उपाय से जीवादि सात तत्त्वों और रत्नत्रय का न्यास (निक्षेप या लोकव्यवहार) होता है।

विशेष* - प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित हुए लोकव्यवहार को निक्षेप कहते हैं।[पदार्थ के निरीक्षण करने के उपाय को निक्षेप कहते हैं।(ति प १/८२-८३)]

नाम निक्षेप:- संज्ञा के अनुसार गुण रहित वस्तु में व्यवहार के लिए (जैसे इन्द्रों की क्रिया की अपेक्षा न करके 'इन्द्र') अपनी इच्छा से की गई संज्ञा को नाम निक्षेप कहते हैं।(सर्वा २२)

स्थापना निक्षेप:- इसके दो भेद हैं

१) तदाकार स्थापना- साकार- इन्द्राकार प्रतिमा में 'यह इन्द्र है' ऐसी मूर्ति की स्थापना करना तदाकार या साकार स्थापना निक्षेप है।

२) अतदाकार या निराकार स्थापना- शतरंज के मोहरे में यह वह है, जैसे घोड़ा, राजा आदि ऐसी कल्पना अतदाकर या निराकार स्थापना निक्षेप है।

द्रव्य निक्षेप:- आगे आने वाली पर्याय को ग्रहण करने के सम्मुख हुए द्रव्य को द्रव्य निक्षेप कहते हैं अथवा वर्तमान पर्याय की विवक्षा से रहित द्रव्य को द्रव्य निक्षेप कहते हैं।(ध पु १/२१) जैसे: मनुष्य पर्याय के सम्मुख देव को मनुष्य कहना।(रा वा ४)

भाव निक्षेप:- वर्तमान उस-उस पर्याय से विशिष्ट द्रव्य को भाव निक्षेप कहते हैं, वर्तमान जीवन पर्याय में से उपलक्षित द्रव्य भावजीव है। जैसे सम्यग्दर्शन पर्याय से उपलक्षित जीव भाव सम्यग्दृष्टि है, जैसे इन्द्र नाम कर्म से अपावित इन्दन क्रिया पर्याय से परिणत आत्मा भाव इन्द्र है। (रा वा ८)

21/01/20, 3:01 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

21/01/20, 3:03 pm - Ashok Jain: लिखने का आधार आर्यिका मां विज्ञान मति माताजी द्वारा संकलित तत्त्वार्थ मंजूषा।

22/01/20, 12:45 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): नाम , स्थापना , द्रव्य और भाव के भेद से निक्षेप के चार भेद हैं। नाम , स्थापना , द्रव्य और क्रिया की अपेक्षा के बिना ही किसी का भी नामकरण करना नाम निक्षेप है। जैसे नाम से महावीर है , किन्तु शक्ति से अत्यन्त क्षीण है। नाम से धनपाल है , किन्तु यथार्थ में कंगाल है आदि।

धातु , पाषाण , काष्ठ आदि की प्रतिमा में तथा अन्यान्य पदार्थों में यह वह है -इस प्रकार की कल्पना करना स्थापना निक्षेप है। जैसे पार्श्वनाथ की प्रतिमा में पार्श्वनाथ की कल्पना करना।

नाम निक्षेप में पूज्य अपूज्य का विचार नहीं होता , किन्तु स्थापना निक्षेप में पूज्य अपूज्य का विचार होता है।

भूत भविष्यत पर्याय की मुख्यता लेकर वर्तमान में कहना द्रव्य निक्षेप है ।जैसे पहले कभी पूजा करने वाले को वर्तमान में पुजारी कहना या भविष्य में तीर्थंकर होने वाले राजा श्रेणिक को तीर्थंकर कहना आदि।

केवल वर्तमान पर्याय की मुख्यता से जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूप कहना भाव निक्षेप है।

एक उदाहरण के द्वारा हम चारों प्रकार के निक्षेपों को एकसाथ समझ सकते हैं

जिनेन्द्र के गुणों की अपेक्षा न कर किसी का नाम जिन रखना नाम निक्षेप जिन है। जिन प्रतिमा स्थापना निक्षेप से जिन हैं।भव्यात्मा शक्ति अपेक्षा जिन होने से द्रव्य निक्षेप से जिन हैं तथा साक्षात् समवशरण में विराजमान भगवान ही वास्तव में भाव निक्षेप से जिन हैं।

क्रमशः

22/01/20, 7:29 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गतांक से आगे

इस निक्षेप विधि से व्यवहार में किसी तरह की गड़बड़ी नहीं होती। इससे वक्ता और श्रोता दोनों एक दूसरे के आशय को अच्छी तरह समझ सकते हैं।जैन परम्परा में निक्षेप विधि एक थर्मामीटर है जो नाम -स्थापना -द्रव्य और भाव से वस्तु तत्त्व का ज्ञान कराने में पूर्ण रूप से समर्थ है।

निक्षेप के जो उपरोक्त चारों प्रकार हमने पढ़ें , ये चारों अपनी अपनी जगह उपयोगी हैं।

*नाम निक्षेप* किसी भी वस्तु का विवरण करने या सम्बोधन देने के लिए नाम निक्षेप आवश्यक है।बिना नाम निक्षेप के संसार का कोई कार्य नहीं हो सकता या यों कहें कि जिस वस्तु का कोई नाम निक्षेप नहीं , वह बिल्कुल अनुपयोगी है - महत्वहीन है।

*स्थापना निक्षेप* अपरिचित से परिचित का ज्ञान कराता है।परिचित से स्मृति का व्यवहार कराता है -यह इसकी उपयोगिता है।

*द्रव्य निक्षेप* आधार -आधेय संबंध तथा निमित्त की उपयोगिता बताता है। जैसे जिनवाणी जड़ है फिर भी उसे चेतन कहना द्रव्य निक्षेप से युक्त है क्योंकि जिनवाणी तीर्थंकर के मुख से निकली है , इसलिए यहां आधार चेतन होने से आधेय को भी चेतन कहा है।

कल भगवान आदिनाथ का मोक्ष कल्याणक है -यह कथन भी द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा सत्य है क्योंकि जो भूतकाल में था या भविष्य में होगा , वह वर्तमान में उस पर्याय से अयुक्त होकर भी द्रव्य निक्षेप से सत्य है।

क्रमशः

22/01/20, 10:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गतांक से आगे , भाग ३

द्रव्य निक्षेप भूत और भावी पर्याय को विषय करता है , वर्तमान में उस पर्याय से रहित होता है तथा भाव निक्षेप मात्र वर्तमान पर्याय को विषय करता है।

इसीलिए आचार्य उमास्वामी कहते हैं

*नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास* : अर्थात् नाम , स्थापना, द्रव्य और भाव से *तन्न्यास:* उन सात तत्त्वों का सम्यग्दर्शन आदि का लोक व्यवहार होता है।

नाम आदि चार पदार्थ ही निक्षेप कहलाते हैं या संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अनिश्चय का निराकरण कर , निश्चय की ओर या  निर्णय की ओर ले जाने वाले उपायों को निक्षेप कहते हैं अथवा समीचीन विषय में जो निर्णय पूर्वक स्थिरता प्राप्त कराये , क्षेपण कराये , उसे निक्षेप कहते हैं।

23/01/20, 3:39 pm - Ashok Jain: तत्त्वों ं और रत्नत्रय के जानने के उपाय

*प्रमाणनयै-रधिगम:*॥६॥

सूत्रार्थ:- प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादि तत्त्वों का एवं सम्यग्दर्शन आदि का ज्ञान होता है।

जो पदार्थ के सकल अंश-विधि पक्ष और निषेध पक्ष दोनों को ग्रहण करता है, उसे *प्रमाण* कहते हैं जैसा कि कहा है "सकलादेश: प्रमाणाधीन:"(स्व स्तो ५१टी)

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद हैं।

प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं।

अर्थात् वस्तु के एकदेश को जानने वाले ज्ञान को *नय* कहते हैं। "विकलादेश: नय:"

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार के नय होते हैं।

*अधिगम* का अर्थ ज्ञान होता है।

उदाहरण से समझते हैं-

जैसे आपसे किसी ने पूछा- आप कहां से आये? आपने कहा कलकत्ता शहर से। इसमें कलकत्ता नाम का शहर प्रमाण है।

-कलकत्ता के किस जगह से आये? आपने कहा बड़ा बाजार से।  यह "बड़ा बाजार" बताना नय है।

"सम्यग्दर्शन प्रमाण है उसके भेद प्रभेद नय है।" "अनेकांत प्रमाण है और स्याद्वाद नय है।"

(प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज कृत टीका से)

24/01/20, 2:35 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): तत्त्वार्थ सूत्र के पहले अध्याय के छठे सूत्र में आचार्य देव यह समझाते हैं कि सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वों को जानने का उपाय क्या है ?

गुरुदेव कहते हैं कि यह ज्ञान हमें प्रमाण और आगम से होता है।

जो पदार्थ के सर्वदेश को ग्रहण करे उसे प्रमाण कहते हैं  तथा जो पदार्थ के एकदेश को विषय करे या जाने उसे नय कहते हैं।

प्रमाण के दो भेद हैं -१) प्रत्यक्ष प्रमाण और २) परोक्ष प्रमाण।

आत्मा जिस ज्ञान को किसी बाह्य निमित्त की सहायता के बिना ही स्पष्ट जाने उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं तथा जो इन्द्रिय तथा प्रकाश आदि की सहायता से पदार्थ को जाने उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

नय के दो भेद होते हैं - १) द्रव्यार्थिक २) पर्यायार्थिक

जो उन पर्यायों को प्राप्त होता है , प्राप्त हुआ था या प्राप्त होगा , वह द्रव्य है। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक है।

पर्याय ही जिस नय का प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है।

प्रमाण नय से श्रेष्ठ है क्योंकि प्रमाण से ही नय की उत्पत्ति हुई है ।इसके साथ ही प्रमाण समस्त वस्तु को विषय करता है। इसलिए प्रमाण नय से श्रेष्ठ है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि तथा जीवादिक तत्त्वों को जानने का उपाय है

*प्रमाणनयैरधिगम:*।।६ ।।

सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय और जीवादि तत्त्वों का *अधिगम:* अर्थात् ज्ञान *प्रमाणनयै:* प्रमाण और नयों से होता है।

24/01/20, 5:52 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): प्रश्न - प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर - *प्रमीयते इति प्रमाणं* जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं , उसे प्रमाण कहते हैं अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का समीचीन ज्ञान होता है , उस ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।हित की प्राप्ति और अहित का परिहार ज्ञान से ही होता है , अत: वस्तुत: ज्ञान ही प्रमाण है।

नय किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो कुछ वचन बोला जाता है वह कुछ अपेक्षा को लिए होता है ।उस जगह जो अपेक्षा है वहीं नय है।प्रमाण द्वारा ग्रहण की गयी वस्तु के एक धर्म अर्थात् अंश को ग्रहण कराने वाले ज्ञान को नय कहते हैं अथवा वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं।वस्तु में अनन्त गुण होने से वस्तु के स्वरूप का सम्पूर्ण वर्णन करना अत्यंत जटिल है।उस वस्तु को हम जान तो सकते हैं , मगर कह नहीं सकते ।उसे कहने के लिए उस वस्तु के गुणों का विश्लेषण (analysis ) करके उसके एक एक गुणों को कहना ही सार्थक उपाय है ।ऐसी स्थिति में जब वक्ता एक गुण को मुख्य करके शेष गुणों को गौण कर कथन करता है तो हम उस वस्तु के स्वरूप को आसानी से समझ जाते हैं।इस प्रकार अनन्त गुण वाली वस्तु के अंश को बतलाने वाला कथन *नय* है।

*सम्पूर्ण वस्तु के ज्ञान को प्रमाण और उसके अंश ज्ञान को नय कहते हैं।*

24/01/20, 7:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस संसार में अनन्त वस्तुएं हैं।प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म अवस्थायें होती हैं।हम एक साथ उन अनन्त धर्मों का वर्णन नहीं कर पाते क्योंकि वाणी की क्षमता सीमित है।कुछ धर्मों

का प्रतिपादन करने से वस्तु का बोध अधूरा रह जाता है।इस अधूरे और अपूर्ण अवबोध को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए *नय* का सहारा लिया जाता है।

हमारा सारा व्यवहार वाणी पर आधारित है।हम जो कुछ बोलते हैं , वह सारा *नय* का प्रयोग होता है।वचनों की सारी विवक्षायें नय के द्वारा ही नियंत्रित होती है। जैसे कोई व्यक्ति कवि है , लेखक है , वक्ता है , दार्शनिक है , समालोचक है , और भी बहुत कुछ है । अब हम यदि उसके गुणों का वर्णन करना चाहते हैं तो एक समय में एक ही गुण का वर्णन कर सकते हैं और अन्य गुण गौण हो जाते हैं , अन्यथा विवेचना का कोई आधार ही नहीं बन सकता।अब प्रश्न यह उठता है कि क्या उसके अन्य गुणों का लोप हो गया ? नहीं , जब एक गुण का वर्णन किया जा रहा हो तब वह गुण मुख्य होता है तथा शेष सभी गौण हो जाते हैं, परन्तु उनका अभाव नहीं होता , वे शून्य नहीं हो जाते। जो विषय वस्तु प्रासंगिक है उस समय वह मुख्य है , किन्तु जो प्रासंगिक नहीं है वह गौण है , किन्तु उसका लोप नहीं हुआ है।वस्तु का बोध खण्डश: किया जाता है और इस खण्डश: प्रतिपादन की पद्धति का नाम ही नय है।

क्रमशः

24/01/20, 8:35 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गतांक से आगे

नय कितने हो सकते हैं , इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं है।वस्तु के जितने धर्म होते हैं उन पर विचार करने या बोलने के जितने तरीके होते हैं , वे सब *नय* कहलाते हैं।इस अपेक्षा से नय अनन्त हो सकते हैं।फिर भी मुख्यत: नय के दो भेद माने जाते हैं -

१) *द्रव्यार्थिक नय* २) *पर्यायार्थिक नय*

संसार में छोटी या बड़ी सभी वस्तुएं एक दूसरे से सर्वथा न तो असमान होती हैं , न सर्वथा समान। इनमें समानता और असमानता दोनों अंश रहते हैं। इसलिए वस्तु मात्र समान्य विशेषात्मक अर्थात् उभयात्मक है , ऐसा कहा जाता है। हमारी बुद्धि कभी तो वस्तु के सामान्य अंश की ओर झुकती है और कभी विशेष अंश की ओर। जब वह सामान्य अंश को ग्रहण करती है तब उसका विचार *द्रव्यार्थिक नय* कहलाता है और जब विशेष अंश को ग्रहण करती है तब *पर्ययार्थिक नय* कहलाता है।

उदाहरण के लिए जब हम समुद्र की ओर सामान्य दृष्टि डालते हैं तब केवल समुद्र का जल ही हमारे ध्यान में आता है और यह जल का सामान्य प्रकार द्रव्यार्थिक नय है , किन्तु जब हम उस जल के रंग , गन्ध , स्वाद , गहराई , छिछलापन आदि विशेषताओं की ओर ध्यान देते हैं तब वह विचार जल की विशेषताओं का होने से पर्यायार्थिक नय कहा जाता है।

एक ही तरह की नाना प्रकार की वस्तुओं के विषय में जिस प्रकार सामान्य और विशेष विचार करना संभव है , वैसे ही भूत , वर्तमान और भविष्य त्रिकाल रूप से व्याप्त आत्मा आदि किसी एक पदार्थ आदि के विषय में भी सामान्य और विशेष विचार सर्वथा संभव है।काल तथा अवस्था भेदकृत चित्रों पर ध्यान न देकर जब हम केवल शुद्ध चैतन्य की ओर ध्यान देते हैं तब वह उसके विषय का द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और जब चैतन्य की देश , काल आदि विविध दशाओं का चिंतन करते हैं तब वह चैतन्य विषयक पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

लिखने का आधार - परम पूज्य मुनि श्री १०८ प्रमाणसागर जी महाराज द्वारा लिखित पुस्तक

*जैन तत्त्व विद्या* से।

25/01/20, 10:07 am - Ashok Jain: तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के अन्य उपाय

*निर्देश स्वामित्व साधनाधिकरण स्थिति विधानत:॥७॥*

सूत्रार्थ:- निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति एवं विधान ये छः अनुयोगों (विधियों) के द्वारा भी तत्त्वार्थों एवं सम्यग्दर्शन आदि का ज्ञान होता है।

*विशेष-*

सम्यग्दर्शन में निर्देशादि:

निर्देश- जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा कथन निर्देश है। नामादि के द्वारा सम्यग्दर्शन का कथन करना सम्यग्दर्शन का निर्देश है।

स्वामी- सम्यग्दर्शन सामान्य से जीव के होता है, विशेष रूप से गति आदि मार्गणाओं में आगमानुसार कहना चाहिए।

साधन- अभ्यंतर और बाह्य के भेद से दो प्रकार का है।-

दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय, या क्षयोपशम सम्यग्दर्शन का अभ्यंतर साधन है एवं बाह्य साधन जातिस्मरण आदि जानना चाहिए।

अधिकरण- इसके भी अभ्यंतर और बाह्य दो भेद हैं। जिस सम्यग्दर्शन का जो स्वामी है वही उसका अभ्यंतर अधिकरण है तथा एक राजू चौड़ी एवं चौदह राजू लम्बी लोक (त्रस) नाड़ी बाह्य अधिकरण है

स्थिति- सम्यग्दर्शन की जघन्य स्थिति अन्तर्मूहूत है एवं उत्कृष्ट स्थिति सादि

अनन्त है।

विधान - सम्यग्दर्शन एक, दो, तीन, संखया, असंख्यात एवं अनन्त प्रकार का होता है। (सर्वा. २६-३१)

इसी तरह ज्ञान, चारित्र एवं जीवादी तत्त्वों में निर्देशादी लगा लेना चाहिए।

25/01/20, 11:18 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज क्रमश: हमें सम्यग्दर्शन आदि और जीवादि पदार्थों को हम कैसे जान सकते हैं , इसका सुगम उपाय बता रहे हैं। पांचवे सूत्र में उन्होंने हमें नाम , स्थापना द्रव्य और भाव - ये चार प्रकार के निक्षेप बतलाये जिनके सहारे हम तत्त्वों के बारे में जान सकते हैं। इसके बाद छठी गाथा में उन्होंने **प्रमाण* और *नय* के बारे में बतलाया जो हमें तत्त्वों का *अधिगम* अर्थात् ज्ञान कराते हैं। अब सातवें सूत्र में गुरुदेव हमें और भी उपाय बतलाते हैं जो जीवादि पदार्थो को जानने में सहायक होते हैं।

ये उपाय हैं -

निर्देश , स्वामित्व , साधन , अधिकरण , स्थिति और विधान , - जो सम्यग्दर्शन के विषयों का तथा जीवादि तत्त्वों का ज्ञान कराते हैं।

वस्तु का कथन उसका निर्देश है।

वस्तु का अधिकार स्वामित्व (ownership ) है।

वस्तु की उत्पत्ति का कारण उसका साधन है।

वस्तु का आधार उसका अधिकरण है।

वस्तु के काल की अवधि उसकी स्थिति है।

वस्तु के भेद या प्रकार ( kinds ) उसके विधान हैं।

आइये , हम इस सूत्र के छह अनुयोगों को कुछ सरल उदाहरणों द्वारा समझने का प्रयास करते हैं।

मान लीजिए देवदत्त के पास एक चादर है।

यह वस्तु कौन सी है ? - चादर , निर्देश

इस चादर का स्वामी या मालिक कौन है ? - देवदत्त (स्वामित्व )

यह चादर कैसे बनी है ?- धागे से ( साधन )

यह चादर कहां रहती है ? - पलंग पर ( अधिकरण )

यह चादर कितने दिन तक टिकेगी - दस वर्ष तक ( स्थिति )

यह चादर कितने प्रकार की है ? - दो प्रकार की , सफेद और रंगीन ( विधान )

26/01/20, 8:56 am - Ashok Jain: तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने के उपायान्तर-

*सत्संख्या क्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्पबहुत्वैश्च*॥८॥

सूत्रार्थ:- सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगों (विधियों) के द्वारा भी जीवादि तत्त्वों और रत्नत्रय का ज्ञान या लोकव्यवहार होता है।

*विशेष*

*सत्*- जो सब पदार्थों का अधिगम (ज्ञान) का मूल है, मिथ्यात्वादि गुणों के अस्तित्व वाले सामान्य-विशेषात्मक जीवादि तत्त्वों को जानता है , श्रुतज्ञान का निमित्त है वह "सत्" है। (सुख बो तो वृ २७)

*संख्या*- सत् के परिमाण निश्चय करना, जिसका सद्भाव है उसी का संख्यात, असंख्यात या अनंत रूप से गणना की जाती है।(रा वा ३)

*क्षेत्र*- जिसकी संख्या का ज्ञान हो गया है, उस पदार्थ के ऊपर, नीचे, तिरछै आदि रूप में वर्तमान निवास का ज्ञान होना । (रा वा ४)

*स्पर्शन*- एक जीव और सर्व जीवों की सन्निधि में उसका निश्चय इस प्रकार करना चाहिए। जैसे- कोई जीव इस लोक में तप करके अच्युत स्वर्ग में देव हुआ, वहां से चय कर पुनः इस लोक में उत्पन्न हुआ, उस जीव का त्रिकालविषय गमनागमन छः राजू हुआ। इस प्रकार स्पर्श में लगाना चाहिए।(रा वा ५)

*काल, भाव और अल्पबहुत्व*-

स्थितिमान की अवधि का ज्ञान होना काल है।

परिणाम के प्रकार का निर्णय करने के लिए भाव जानना चाहिए। औपशमिक आदि परिणाम का निर्णय करने के लिए भाव का ग्रहण किया है।

संख्यातादि अन्यतम का निश्चय होने पर भी विशेष की प्रतिपाति के लिए अल्पबहुत्व वचन है। जैसे यह इससे अधिक है, यह बहुत है, आदि।

(रा वा ६-१०)

इस प्रकार भी समझ सकते हैं:-

वस्तु के अस्तित्व (मौजूदगी) को *सत्* कहते हैं।

जैसे- ग्राहक- कपड़ा है क्या?

दुकानदार - "है" (है ये सत् है)

वस्तु की गणना को *संख्या* कहते हैं।

जैसे : दुकानदार- कितना चाहिए?

"कितना" ये संख्या है।

वस्तु का वर्तमान स्थान *क्षेत्र* कहलाता है। जैसे:

ग्राहक- कहां रखा है? "कहां है" ये क्षेत्र है।

वस्तु के त्रैकालिक निवास को *स्पर्शन* कहते हैं। जैसे:

दूकानदार- मील से आया था (भूतकाल), नमूना यहां है (वर्तमान), गोदाम से मंगवा लेंगे।(भविष्य काल)

"इसमें कहां से कहां तक" /"मील से गोदाम तक" ये स्पर्शन है।

26/01/20, 6:31 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य उमास्वामी महाराज हमें क्रमश: यह समझा रहे हैं कि सात तत्त्वों और रत्नत्रय को जानने का ज्ञान किन उपायों से हो सकता है।

सूत्र के आरम्भ में ही गुरुदेव ने बतला दिया था कि *तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्* अर्थात् तत्त्व वस्तु के यथार्थ स्वरूप सहित जीव , अजीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।अब प्रश्न यह उठता है कि हम इन जीव आदि पदार्थों को जानेंगे कैसे ? बिना किसी को जाने उस पर श्रद्धान कैसे हो सकता है ?

इसीलिए पहले उन्होंने नाम , स्थापना द्रव्य और भाव , इन चार निक्षेपों द्वारा इन्हें जानने की विधि समझाई , फिर *प्रमाण और नयों* द्वारा जानने के उपाय बताये , तत्पश्चात् निर्देश , स्वामित्व , साधन , अधिकरण, स्थिति और विधान - इन छह अनुयोगों द्वारा हम कैसे जीवादि तत्त्वों को समझ सकते हैं , यह व्याख्यान दिया , अब उसी कथन को पुनः: अन्य आठ अनुयोगों द्वारा कैसे जाना जा सकता है , यह समझाते हुए आचार्य कहते हैं

*सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च।।८।।*

ये आठ अनुयोग सत्, संख्या , क्षेत्र , स्पर्शन ,काल अन्तर ,भाव और अल्पबहुत्व ये आठ बताये गये - जिनका वर्णन अशोक जी ने उदाहरण सहित कर दिया है।

क्रमशः

26/01/20, 7:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अब प्रश्न यह उठता है कि सातवें सूत्र में आचार्य देव ने निर्देश , विधान आदि अनुयोग बतलाये और आठवें सूत्र में सत् संख्या आदि अनुयोगों के बारे में वे समझा रहे हैं। सातवें और आठवें सूत्र के अनुयोग लगभग एकार्थी लगते हैं तो इन्हें अलग से बतलाने की क्या आवश्यकता थी ? इसका कारण यह है कि आचार्य बहुत करुणावान होते हैं और शिष्य की पात्रता के अनुसार क्रम से उपदेश देते हैं।शिष्य तीन प्रकार के होते हैं -१) अति संक्षेप रुचि वाले २) संक्षेप रुचि वाले और ३) विस्तार रुचि वाले।

अति संक्षेप रुचि वाले शिष्यों के लिए तो *प्रमाणनयैरधिगम:* इतना कथन ही प्रर्याप्त है , निर्देश विधान आदि सूत्र संक्षेप रुचि वालों के लिए बतलाये तथा अब आठवां सूत्र *सत्संख्या.......च* विस्तार रुचि वाले शिष्यों को ध्यान में रखकर उन्होंने बतलाया। इस प्रकार शिष्यों के अभिप्राय के अनुसार आचार्यों की देशना में विविधता पाई जाती है।

क्रमशः

27/01/20, 12:05 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इसी तरह हमारे मन में जिज्ञासा हो सकती है कि सातवें सूत्र में वर्णित *स्थिति* और आठवें सूत्र में *काल* एक ही है , इसे अलग से क्यों कहा गया - इसका उत्तर यह है कि वस्तु के काल की अवधि को *स्थिति* कहते हैं।

स्थिति में तीनों सम्यग्दर्शन की स्थितियां अलग अलग है।

उपशम समयक्तव का काल जघन्य और उत्कृष्ट अंतर्मुहुर्त है। क्षायोपशमिक का जघन्य काल अंतर मुहूर्त और उत्कृष्ट काल ६६ सागर है।

क्षायिक का काल संसार अपेक्षा आठ वर्ष कम दो कोटिपुर्वा अधिक तेतिस सागर है। और यह सम्क्तव होने के बाद छूटता नहीं इसलिए इसका काल अनंत है।

जहां तक काल का सवाल है वह भूत वर्तमान और भविष्य को दर्शाता है

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि तीन रत्नत्रय तथा सात तत्त्वों को हम कुल 20 अनुयोगों द्वारा जान सकते हैं

4 निक्षेप + 2 नय ,प्रमाण + 6 निर्देश आदि + 8 सत् आदि = 20

27/01/20, 1:10 pm - Ashok Jain: अब तक सूत्र संख्या २ से ८ तक सम्यग्दर्शन का स्वरूप जाना।

हमनें जाना कि सामान्य से सम्यग्दर्शन एक प्रकार का है। निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का है और औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से। तीन प्रकार का है।

सम्यक्त्व दश प्रकार का है:-

१) आज्ञा, २)मार्ग, ३) उपदेश,  ४) सूत्र ५) बीज, ६) संक्षेप, ७) विस्तार, ८) अर्थ ९) अवगाढ़ और १०) परमावगाढ़ (आ अ १०-११)

*अब आगे सम्यग्ज्ञान के भेद एवं उनके स्वरुप को जानेंगे।*

27/01/20, 3:03 pm - Ashok Jain: सम्यग्ज्ञान के भेद या नाम

*मति श्रुतावधि मन:प्रयय केवलानि ज्ञानम्॥९॥*

सूत्रार्थ:- मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधाज्ञान, मन:प्रययज्ञान और केवलज्ञान ये पांचों सम्यग्ज्ञान हैं।

सम्यग्ज्ञान- सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान का मोक्षमार्ग में दूसरा स्थान है। *पूज्य मुनि श्री प्रमाण सागर जी महाराज ने जैन तत्वविद्या में पेज १३६* पर सामान्य परिचय देते हुए बताया है कि वस्तुओं को यथारीति से जैसे का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। दृढ़ आत्मविश्वास के अनन्तर ज्ञान में सम्यक्पना आता है। यों तो संसार के पदार्थों का ज्ञान हीनाधिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को होता है, पर उस ज्ञान का आत्मविश्वास के लिए उपयोग करना बहुत ही कम लोग जानते हैं। सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्म विकास का कारण होता है। स्व और पर का भेद विज्ञान यथार्थत: सम्यग्ज्ञान है। हेय-उपादेय का विवेक करना इसका मूल कार्य है।

इसे जानने के बाद अब हम सम्यग्ज्ञान में लगने वाले दोषों को भी जान लेते हैं- संशय विभ्रम और अनध्यवसाय ये तीनों सम्यग्ज्ञान के दोष हैं हमें इनसे बचना चाहिए। *संशय*- अनेक प्रकार के अवलम्बन करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं जैसे- मैं शरीर हूं या जीव, ऐसी डांवाडोल प्रवृत्ति। *विभ्रम*- विपरीत ज्ञान को विभ्रम कहते हैं जैसे- यह शरीर ही आत्मा है। *अनध्यवसाय*- कुछ है इस प्रकार निश्चय रहित ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं जैसे- मैं कुछ भी हूं।

अब हम सम्यग्ज्ञान के पांचों भेदों के बारे में अच्छे से समझते हैं।

*मतिज्ञान*- इन्द्रिय और मन के निमित्त से शब्द, रस, स्पर्श और गंधादि विषयों में अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा रूप जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है।(वृ द्र सं टीका ४४)

*श्रुतज्ञान*- जो परोक्ष रूप से सम्पूर्ण वस्तुओं को अनेकांत रूप दर्शाता है; संशय, विपर्यय आदि से रहित है उस ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। (का अ २६२) मतिज्ञान में जाने हुए विषय को विशेष जानना श्रुत ज्ञान है।

*अवधिज्ञान*- अवधि शब्द मर्यादावाची है इसलिए द्रव्य क्षेत्रादि की मर्यादा से सीमित ज्ञान अवधिज्ञान है।(रा वा ३)

*मन:पर्यय ज्ञान*- परकीय मन में स्थित पदार्थ मन कहलाता है, उसकी पर्यायों-विशेषों को मन:पर्यय कहते हैं।उसको जो जानता है वह मन:पर्यय ज्ञान है।(ध ६/२८) अथवा मन:पर्यय यह संज्ञा रूढिजन्य है। इसलिए चिंतित और अचिंतित दोनों प्रकार के अर्थ में विद्यमान ज्ञान को विषय करने वाली यह संज्ञा है, ऐसा यहां ग्रहण करना चाहिए।(ध १३/२१२)

*केवलज्ञान*- केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त इंद्रियादिक सहायक की अपेक्षा रहित है इसलिए भी वह केवल असहाय है। इस प्रकार केवल, असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान कहते हैं। (ज ध १/२३)

*असहाय यानी बिना किसी सहायता के सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायों को एक साथ स्पष्ट जानना।

27/01/20, 10:15 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सम्यग्ज्ञान के पांच भेदों के बारे में हमें अशोक जी समझा चुके हैं। सूत्र में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को एक साथ रखा गया है क्योंकि दोनों ज्ञान एक साथ रहते हैं । मतिज्ञान होने से ही श्रुतज्ञान होता है।इन्द्रिय और मन के द्वारा जो यथायोग्य पदार्थ मनन किये जाते हैं वह मतिज्ञान है तथा जो मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानता है वह श्रुतज्ञान है। इसीलिए *मतिज्ञान और श्रुतज्ञान* को एक साथ रखा गया है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों का विषय समान होने से इनमें एकपना है फिर भी दोनों के ग्रहण करने में भेद है । मतिज्ञान उसी पदार्थ को अन्य रूप में ग्रहण करता है तथा श्रुतज्ञान अन्य रूप में ग्रहण करता है। इन्द्रिय और मन की सहायता से जाने हुए पदार्थ में मन की प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है जबकि पांचों इन्द्रिय तथा मन से जो पदार्थ को जो यथायोग्य जाने वह मतिज्ञान है।

क्रमशः

28/01/20, 11:31 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *मन:पर्यय ज्ञान*

यह ज्ञान केवल क्षायोपशमिक शक्ति से अपना काम करता है।यह ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही अन्य पुरुषों के मन में स्थित रूपी पदार्थों को स्पष्ट रूप से जानता है , इसलिए इसे मन: पर्यय ज्ञान कहते हैं। मन: पर्यय ज्ञान को आचार्य देव ने केवलज्ञान के समीप रखा है क्योंकि इन दोनों का आधार संयम है।

*अवधिज्ञान* इन्द्रियों की सहायता के बिना ही द्रव्य , क्षेत्र , काल , भाव की मर्यादा लेकर रूपी पदार्थों को ही जानता है । यह ज्ञान अधिकतर नीचे के विषयों को ही जानता है , इसलिए इसे अवधि कहते हैं । स्वर्ग के देव अवधिज्ञान के द्वारा नीचे के सातवें नरक तक जानते हैं , लेकिन ऊपर के भाग में अपने विमान के ध्वजदण्ड पर्यंत ही जानते हैं । इस प्रकार इस ज्ञान का अधोज्ञान का विषय अधिक है।केवलज्ञान से अवधिज्ञान अत्यन्त दूर है। इसलिए आचार्य महाराज ने केवलज्ञान से अवधिज्ञान को दूर रखा है । प्रत्यक्ष से परोक्ष को दूर रखा है क्योंकि परोक्ष की प्राप्ति सुगम है ।

क्रमशः

28/01/20, 11:51 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अब प्रश्न यह उठता है कि *केवलज्ञान* तो पूज्य है , महान है । इसे पहले रखना चाहिए था , लेकिन सबसे अन्त में रखकर ऐसा विपरीत क्रम क्यों रखा गया ?

इसका कारण यह है कि ज्ञान तो सब ही पूज्य हैं, फिर भी केवलज्ञान महान है। यह ज्ञान जीव को सबसे अन्त में प्राप्त होता है , इसलिए इसे अन्त में रखा गया। मन: पर्यय के सबसे समीप केवलज्ञान है , इसलिए इसे मन:पर्यय के समीप रखा गया।ये दोनों ज्ञान संयमी के ही हो सकते हैं, इसलिए इन दोनों में समीपता है। अवधिज्ञान को आचार्य देव ने केवलज्ञान से दूर रखा क्योंकि यह ज्ञान संयमी और असंयमी दोनों को होता है। मति और श्रुतज्ञान सभी प्राणियों द्वारा प्राप्त किया जाता है , इसलिए इन्हें सबसे पहले रखा गया है।

लिखने का आधार - परम पूज्य आर्यिका १०५ स्यायद्वादमती माताजी तथा आदरणीय पण्डित कैलाश चन्द्र जी शास्त्री द्वारा लिखित *तत्त्वार्थ सूत्र* ग्रन्थ की टीकाओं से।

29/01/20, 3:32 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सम्यग्ज्ञान के पांच भेद का वर्णन करने के बाद आचार्य महाराज कहते हैं *तत्प्रमाणे*।

*तत्* अर्थात् उपरोक्त , ऊपर जो कहा गया , पांच प्रकार के जो ज्ञान बताये गये , वही *प्रमाण* है । *

*प्रमाण* की व्याख्या करते हुए हमारे आचार्यों ने कहा है *प्रमिणोति इति प्रमाणं* अर्थात् जो सम्यक् प्रकार से जानता है वह प्रमाण है या प्रमीयते अनेनेति प्रमाणं अर्थात् जिसके द्वारा अच्छी तरह जाना जाता है वह प्रमाण है।

सूत्र में आचार्य देव ने तत्प्रमाण नहीं कह कहकर तत्प्रमाणे क्यों कहा , इसे द्विवचन में क्यों रखा गया , यह प्रश्न हमारे मन में आ सकता है। इसका कारण यह है कि प्रमाण के दो भेद होते हैं - प्रत्यक्ष और परोक्ष।इन दो भेदों को दर्शाने के लिए ही श्लोक में द्विवचन का व्यवहार किया गया।

जैसे दीपक अपना भी प्रकाशक होता है और पर पदार्थों को भी प्रकाशित करता है उसी तरह प्रमाण भी होता है। यदि प्रमाण अपना प्रकाशक न हो और दूसरों के द्वारा ही वेदन किया जाय उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

31/01/20, 4:04 pm - Ashok Jain: प्ररोक्ष प्रमाण के भेद

*आद्ये परोक्षम्॥११॥*

सूत्रार्थ:- आदि अर्थात् प्रारम्भ के दो ज्ञान; परोक्ष प्रमाण है।

मति और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। इन्द्रिय और मन आत्मा से अलग हैं, अत: ये दोनों ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं।

परोक्ष ज्ञान को न्याय शास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

अध्यात्म शास्त्र में इसे स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा है।(तत्वार्थ सार)

31/01/20, 4:24 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

31/01/20, 7:49 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इन दो प्रमाणों में परोक्ष प्रमाण के दो भेद होते हैं , यह व्याख्यान देते हुए गुरुदेव अगले सूत्र में कहते हैं आद्ये परोक्षम् ।।११।।

यह आदि शब्द प्रथम का वाचक है अर्थात् पूर्व में जो सम्यग्ज्ञान के दो भेद पहले बताये गये - मतिज्ञान और श्रुतज्ञान , इन पहले दो ज्ञान को आदि अर्थात् प्रथमज्ञान कहते हुए आचार्य कहते हैं कि ये परोक्ष प्रमाण हैं।

अब हमारे मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि आदि शब्द प्रथम का वाचक है तो फिर प्रथम तो एक ही ज्ञान हो सकता है । यहां एक साथ दो ज्ञान को आदि के अन्तर्गत कैसे गर्भित किया गया ? इसका समाधान यह है कि मतिज्ञान को मुख्य कल्पना से प्रथम कहा गया और श्रुतज्ञान को मतिज्ञान के समीप होने के कारण उपचार से प्रथम कहा गया।

इन्द्रिय , मन , प्रकाश , उपदेश आदि की सहायता से होने वाले पदार्थों के ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं। यह ज्ञान (मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ) निज आत्मा के अलावा अन्य निमित्त से होता है , इसलिए इसे परोक्ष कहते हैं।

मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है तथा श्रुतज्ञान मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थों को विशेष रूप से जानता है , इसलिए ये दोनों ज्ञान पराधीन होने के कारण परोक्ष (अप्रत्यक्ष ) ज्ञान हैं।

01/02/20, 1:39 pm - Ashok Jain: प्रत्यक्ष ज्ञान को कहते हैं-

*प्रत्यक्षमन्यत्॥12॥*

प्रत्यक्षं-अन्यत्। (अन्यत्)शेष बचे हुए (प्रत्यक्ष) प्रत्यक्ष हैं।

सूत्रार्थ - शेष बचे हुए अवधि, मन:पर्यय एवं केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

इन्द्रिय और मन की अपेक्षा बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं, ये ज्ञान मूर्त्त अमूर्त्त पदार्थों को जानता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं:-

१)देश प्रत्यक्ष- जो ज्ञान एकदेश स्पष्ट जानें, वह देश प्रत्यक्ष ज्ञान है। अवधि ज्ञान और मन:प्रर्यय ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं क्योंकि ये दोनों ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल एवं भाव की मर्यादा में रूपी पदार्थों को एक देश प्रत्यक्ष और स्पष्ट जानते हैं।

२) सकल प्रत्यक्ष- जो सर्व देश स्पष्ट जानें वह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान है।केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष ज्ञान है।

*जैसे*- घर की खिड़की से शहर को देखना एक देश प्रत्यक्ष ज्ञान है।

और घर की छत से शहर को देखना सर्वदेश या सकल प्रत्यक्ष ज्ञान है।

01/02/20, 1:41 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

01/02/20, 4:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): परोक्ष प्रमाण की व्याख्या करने के बाद आचार्य अब १२ वें सूत्र में बड़े ही सरल शब्दों में प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन करते हुए कहते हैं

प्रत्यक्षमन्यत् ।।१२।।

अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के अलावा शेष तीनों ज्ञान अवधि , मन: पर्यय और केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जो ज्ञान बाह्य इन्द्रिय आदि की अपेक्षा से न होकर केवल आत्मा से होते हैं वे ज्ञान अवधि , मन:पर्यय और केवलज्ञान हैं।

हम अपनी बाह्य इन्द्रियों से पदार्थों को देखकर , सुनकर , चखकर या स्पर्श आदि कर उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसे मतिज्ञान कहते हैं। छोटा बच्चा आग को देखकर उसके स्वरूप को जान जाता है। फिर उसे जब वह धीरे-धीरे यह जानता है कि यह आग कितनी विध्वंसक है या भोजन आदि बनाने में कितनी उपयोगी है तो वह इसकी हानि लाभ को भी विशेष रूप से समझता है जो उसका श्रुत ज्ञान है , लेकिन उसने यह जो ज्ञान प्राप्त किया यह बाह्य इन्द्रियों या मन की सहायता से किया । ये इन्द्रियां पराई हैं, नाशवान हैं, इसलिए यह परोक्ष ज्ञान है। शरीर से प्राण निकल जाने के बाद न आंख कुछ देख सकती है , न कान कुछ सुन सकते हैं , न मन कुछ सोच सकता है। लेकिन आत्मा हमारी अपनी है , अजर अमर है । इस आत्मा के द्वारा जीव को जो ज्ञान होता है वह direct ज्ञान है , प्रत्यक्ष ज्ञान है।

जब तीर्थंकर बालक का इस धरा धाम पर जन्म होता है तब सुदूर स्वर्ग में बैठे सौधर्म इन्द्र अपनी आंखों से उस दृश्य को नहीं देखते , बल्कि आत्मा के connection से अवधिज्ञान द्वारा जानते हैं कि पृथ्वीलोक में तीर्थंकर बालक का जन्म हुआ है और सात कदम आगे बढ़कर उन्हें झुककर प्रणाम करते हैं।

अवधि ज्ञान होने पर आत्मा से ही मुनिराज दूसरे जीवों के भी पिछले अनेक भवों को भी प्रतयक्ष जैसा देख कर बता देते हैं।

इसीलिए अवधिज्ञान , मन:पर्यय ज्ञान और केवलज्ञान जो बिना इन्द्रियों और मन की सहायता के सीधे आत्मा से होते हैं, उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान की श्रेणी में रखा गया है।

क्रमशः

01/02/20, 5:59 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बहुत से लोगों का यह मानना है कि इन्द्रियों के द्वारा देखा या सुना जाने वाला ज्ञान ही प्रत्यक्ष है तथा जो इन्द्रिय ज्ञान से रहित है - वह परोक्ष ज्ञान है। वे इस धारणा में रहते हैं कि बिना इन्द्रिय के ज्ञान हो ही नहीं सकता।

यदि हम ऐसा मानने लगेंगे तो अरिहन्त भगवान के तो प्रत्यक्ष ज्ञान का अभाव ही हो जायेगा क्योंकि आप्त के इन्द्रिय पूर्वक पदार्थों का ज्ञान नहीं होता।

कोई रथ का बनाने वाला अनजान व्यक्ति उसके उपकरणों( parts ) से उस रथ को तैयार करता है , लेकिन विशेष तप के द्वारा जिसे सिद्धि प्राप्त होती है वह बाहरी उपकरणों के बिना ही अपनी सिद्धि से रथ बना लेता है। उसी तरह हमारी

आत्मा जो कर्मों से मलिन है वह क्षायैपशमिक इन्द्रिय , मन , प्रकाश आदि उपकरणों के द्वारा पदार्थों को जानती है।वही क्षयोपशम जब विशेष और क्षय को प्राप्त होता है तब उसे बाहरी इन्द्रियों या मन आदि की जरूरत नहीं होती और वह अपनी निज की शक्ति से ही पदार्थों को जानता है

02/02/20, 2:45 pm - Ashok Jain: मतिज्ञान के पर्यायवाची

*मति:स्मृति: संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्य नर्थान्तरम्॥१३॥*

सूत्रार्थ:- मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध ये पांचों मतिज्ञान के ही पर्यायवाची हैं।

क्योंकि ये पांचों नाम वाले मतिज्ञान मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से होते हैं। इसलिए निमित्त सामान्य की अपेक्षा सबको एक कहा है, परन्तु इन सब में स्वरूप भेद अवश्य है।

मति: इंन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को मति कहते हैं।

स्मृति: दृष्ट,श्रुत और अनुभूत अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान से विशेषित जीव का नाम स्मृति है (ध पु१३/३३३)

स्मरण को स्मृति कहते हैं।(सर्वा१८२)

संज्ञा: संज्ञान संज्ञा है "यह वही है" इस प्रकार अतीत और वर्तमान ऐसे दो आकारों के अवभासन रूप प्रत्यभिज्ञान संज्ञा है।(सुख बो त वृ ३३)

*अनुभव और स्मरण पूर्वक होने वाले ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।जो सम्यक और मिथ्या के भेद से दो प्रकार का है।

चिंता: चिंतन करना चिंता है।(सर्वा १८२) जैसे अग्नि के बिना धूम(धुआं) नहीं होता है, आत्मा के बिना शरीर के व्यापार, वचन आदि नहीं हो सकते हैं, इस प्रकार विचार कर उक्त पदार्थों में कार्य कारण सम्बंध का ज्ञान कराना चिंता है।(तर्क है)।

अभिनिबोध: अभिनिबोध (अनुमान) है जैसे पर्वत पर प्रत्यक्ष धूम को देखकर उससे सम्बध रखने वाली अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान करना।

साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। साधन धूमादि लिङ्ग से साध्य अग्नि आदिक लिङ्गी में जो ज्ञान होता है वह अनुमान है। क्योंकि वह साध्य ज्ञान ही अग्नि आदि के अज्ञान को दूर करता है।(न्या दी ३/१७)

सूत्र में "इति" शब्द दिया हुआ है। इति शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेघा आदि का ग्रहण किया है, इनको भी मतिज्ञान जानना चाहिए।

नर्थान्तरम्= न+अर्थ+अन्तरम्

अर्थात् मतिज्ञान के पांचों भेदों में नामान्तर है, अर्थान्तर नहीं है।

02/02/20, 4:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अब आगे १३ वें श्लोक में आचार्य देव मतिज्ञान का विशेष वर्णन करते हुए हैं कि मति , स्मृति , संज्ञा , चिन्ता , अभिनिबोध इत्यादि मतिज्ञान के नामान्तर हैं।

*मननं मति:*- पांच इन्द्रिय और मन से जो ज्ञान होता है , वह मति है। अर्थग्रहण की शक्ति रूप बुद्धि मति का प्रकार है।

*स्मरणं स्मृति*- अतीत के स्मरण करने को स्मृति कहते.हैं या पहले जाने हुए पदार्थ को वर्तमान में स्मरण करना स्मृति है।मेधाशक्ति स्मृति का प्रकार है।

*संज्ञानं संज्ञा* - यह वही है , यह उसके समान है - इस प्रकार पूर्व या उत्तर अवस्था में रहने वाले पदार्थ की एकता के ज्ञान को संज्ञा कहते हैं।यह वही देवदत्त है जिसे पहले कभी देखा था , इस प्रकार के स्मृति और प्रत्यक्ष के संयुक्त ज्ञान को भी संज्ञा कहते हैं जिसे प्रत्यभिज्ञान के नाम से भी जाना जाता है।उपमा प्रत्यभिज्ञान रूप संज्ञा का प्रकार है।

*चिन्तनं चिन्ता*- जहाँ जहाँ धुंआ होता है ,.वहाँ वहाँ अग्नि भी अवश्य होती हैं , जैसे रसोईघर- इस प्रकार की व्याप्ति के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं।

*अभिनिबोधनं अभिनिबोध* - साधन से साध्य के ज्ञान को अभिनिबोध कहते हैं। जैसे उस पहाड़ पर अग्नि है क्योंकि वहाँ पर धुंआ दिख रहा है। इसका दूसरा नाम अनुमान भी है। ऊहापोह रूप प्रज्ञा अभिनिबोध का प्रकार है।

सूत्र में वर्णित *इति* शब्द से प्रतिभा बुद्धि , मेधा आदि का ग्रहण होता है जो मतिज्ञान के ही रूप हैं।।

दिन या रात्रि में बिना कारण के ही जो अपने आप आभास हो जाता हैं उसे *प्रतिभा* कहते हैं , जैसे कल मेरा भाई आयेगा।

अर्थ को ग्रहण करने की शक्ति को *बुद्धि* कहते हैं।

पाठ को ग्रहण करने की शक्ति को *मेधा* कहते हैं।

03/02/20, 12:37 pm - Ashok Jain: मतिज्ञान की उत्पत्ति के निमित्त

*तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्॥१४॥*

सूत्रार्थ:- (तत्) वह मति ज्ञान (इन्द्रियानिन्द्रय) पांचों इन्द्रियों और अनिटन्द्रिय अर्थात् मन (निमित्तं) की सहायता से होता है। अर्थात् पांच इन्द्रियां और मन ये छः मति ज्ञान के कारण है।

आत्मा सूक्ष्म है वह दिखाई नहीं देता। अतः जिन चिन्हों से आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है उसे इन्द्रिय कहते हैं।(सर्वा १८५)

मन को अन्त:करण भी कहते हैं, क्योंकि बाह्य स्पर्शनादि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण का अभाव होने से अन्तर का करण अन्त:करण, ऐसा व्युत्पत्तिपरक अर्थ है।(सुख बो त वृ ३४)

मति, स्मृति, संज्ञा आदि ज्ञानों में से पहला मति रूप ज्ञान इंद्रिय और मन के निमित्त से होता है। स्मृति आदिक (संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध आदि) मन से होते हैं, ऐसा विशेष जानना चाहिए।(सुख बो त वृ ३४)

03/02/20, 12:43 pm - Ashok Jain: अनिटन्द्रिय गलत टाइप हो गया है कृपया अनिन्द्रिय पढ़ें।

03/02/20, 9:36 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आगे आचार्य देव हमें समझाते हैं कि मतिज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है , इसका निमित्त क्या है , इसकी व्याख्या करते हुए बहुत ही सरल शब्दावली में कहते हैं *तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्*= तत् + इन्द्रिय + अनिन्द्रिय + निमित्तम्

*तत् अर्थात् वह मतिज्ञान*, कौन सा मतिज्ञान , जिसका वर्णन पूर्व के १३ वें श्लोक में किया गया _ *इन्द्रिय अर्थात् पांचों इन्द्रिय* तथा *अनिन्द्रिय अर्थात् मन* के *निमित्तम* अर्थात् निमित्त से होता है या जो इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानता है वह *मतिज्ञान* है।

जो आज्ञा और ऐश्वर्य से प्राप्त हो वह *इन्द्र* है। यहाँ इन्द्र शब्द का अभिप्राय आत्मा से है। उस आत्मा को जो लिंग है या चिह्न है उसे हम इन्द्रिय कहते हैं।

यहाँ हमारे मन में यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन्द्रियों को आत्मा का लिंग क्यों कहा गया ? इसका उत्तर यह है कि जैसा धुंआ अग्नि का ज्ञान कराने में कारण है उसी तरह उसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ सूक्ष्म आत्मा का ज्ञान कराने.में कारण हैं , इसीलिए इन्हें आत्मा का लिंग कहते हैं।जिस प्रकार अग्नि के बिना धुंआ नहीं हो सकता , उसी प्रकार बिना आत्मा के इन्द्रियों का निर्माण कभी नहीं हो सकता , इसलिए इन्द्रियों को आत्मा का लिंग कहते हैं।

अनिन्द्रिय अर्थात् जो इन्द्रियों से रहित है , वह है हमारा मन जिसे अन्त:करण भी कहते हैं।जिस प्रकार इन्द्रियाँ नियत विषय या नियत देश को ग्रहण करती हैं वेसा मन के साथ नहीं होता । मन का कोई नियत देश , नियत विषय या स्थायी कालान्तर नहीं होता , इसलिए इसे अन्त:करण कहते हैं।

लिखने का आधार - परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित *तत्त्वार्थसूत्र* की प्रश्नोत्तरी टीका से।

04/02/20, 11:34 am - Ashok Jain: मतिज्ञान के भेद

*अवग्रहेहावायधारणा:॥१५॥*

सूत्रार्थ:- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये मतिज्ञान के चार भेद हैं।

*अवग्रह* - 'देवता' इस प्रकार सुनकर जिसके विचार रहित सामान्य से बुद्धि उत्पन्न होती है, वह अवग्रह निर्दिष्ट किया गया है।(ज प १३/६१)

अवधान, सान, अवलम्बना, मेधा तथा अवग्रह ये अवग्रह के पर्यायवाची है।

*ईहा* - अवगृहीत अर्थ में विशेष जानने की इच्छा होना ईहा ज्ञान है, जैसे 'यह पुरुष है' ऐसा अवगृहीत अर्थ में भाषा, वय, रुपादि विशेषों के द्वारा जानने की ओर झुकाव ईहा है।(रा वा २)

ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहा के पर्यायवाची नाम है।

*अवाय*- विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है उसे अवाय कहते हैं, जैसे उत्पतन, निपतन, और पक्षविक्षेप (पंख हिलना) आदि के द्वारा 'यह बकपंक्ति ही है, ध्वजा नहीं है' ऐसा निश्चय होना अवाय है।(सर्वा १९०)

अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुंडा और प्रत्यामुंडा ये अवाय के पर्यायवाची है।

*धारण*- अवाय ज्ञान के द्वारा जानी हुई वस्तु का जिस कारण कालान्तर में विस्मरण नहीं होता, उसे धारणा कहते हैं। जैसे यह वही बंकपंक्ति है जिसे मैंने प्रात: काल देखा था, ऐसा जानना धारणा है।(सर्वा १९०)

धरणी, धारणा, स्थापना,कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये धारणा के पर्यायवाची नाम है।

04/02/20, 4:10 pm - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

04/02/20, 7:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पूर्व के श्लोकों में गुरुदेव ने मतिज्ञान का विशेष वर्णन किया , उसकी उत्पत्ति के कारण समझाये। अब 15 वें श्लोक में वे हमें मतिज्ञान के कितने भेद होते हैं , यह बतलाते हैं

*अवग्रहेहावायधारणा:।।१५।।*

अवग्रह + ईहा + अवाय.+ धारणा , ये चार मतिज्ञान के भेद बतलाये।

*अवग्रह* इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने पर अस्तित्व मात्र का जो आभास होता है , उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन के बाद सामान्य रूप से पदार्थ के ग्रहण का नाम अवग्रह है। जैसे घोर अन्धकार में कुछ स्पर्श होने पर यह ज्ञान होना कि यहाँ कुछ है।

*ईहा* अर्थात् वितर्क या विचारणा । अवग्रह के द्वारा ग्रहण किये हुए सामान्य विषय को विशेष रूप से जो विचारणा होती है उसे ईहा कहते हैं। जैसे ऊपर घोर अन्धकार में हमने जो स्पर्श किया वह रस्सी का स्पर्श है या सांप.का । ऐसा संशय होने पर यह विचारणा होती है कि नहीं , यह स्पर्श तो रस्सी का ही होना चाहिए क्योंकि सांप का होता तो सांप हमें काट लेता या कम से कम फुफकारे बिना नहीं रहता। यह ईहाज्ञान संशय (dought ) रूप नहीं है क्योंकि संशय में अनिश्चित अनेक कोटियों का आलम्बन रहता है जो यहाँ नहीं है।

*अवाय* ऊपर ईहा के स्तर पर यह सोच रहे थे कि स्पर्श तो रस्सी का ही लगता है क्योंकि सांप होने से फुफकार अवश्य मारता , अब कुछ काल तक सोचने और जाँचने के बाद हम एक निर्णय पर पहुंचते हैं कि यह स्पर्श सांप का नहीं रस्सी का ही है। निर्णय पर पहुंचने की इस स्थिति का नाम अवाय है।

*धारणा* अवाय द्वारा हम जिस निर्णय ( decision } पर पहुंचे उसे कालान्तर में नहीं भूलने की योग्यता उत्पन्न करने का नाम धारणा है।

मतिज्ञान के ये चारों भेद - अवग्रह , ईहा , अवाय और धारणा एक साथ भी हो सकते हैं और एक , दो , तीन , चार के क्रम से भी हो सकते हैं, लेकिन इतना निश्चित है कि एक के बाद ही दूसरा ज्ञान होगा। अवग्रह के पहले ईहा नहीं हो सकती , ईहा से पहले अवाय नहीं होगा और अवाय से पहले धारणा नहीं होगी। पहले , दूसरे , तीसरे और चौथे ज्ञान जो क्रम से होते हैं , के अनुसार ही आचार्य महाराज ने क्रम पूर्वक अनुग्रह, ईहा , अवाय और धारणा - ये चार मतिज्ञान के भेद बताये। ये चारों ज्ञान एकसाथ क्षण भर में भी हो सकते हैं और अनेक काल के बाद भी हो सकते हैं।धारणा हो जाने पर बाकी के तीनों ज्ञान का होना निश्चित है।

क्रमशः

04/02/20, 9:00 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बहुत से लोग यह शंका करते हैं कि *अवग्रह और ईहा* प्रमाण नहीं हैं क्योंकि इनके होने पर संशय अर्थात् dought देखा जाता है । अवग्रह के होने पर निर्णय नहीं होता और अवग्रह द्वारा ईहाज्ञान होता है ।ईहा के होने पर भी निर्णय नहीं होता क्योंकि निर्णय तक पहुंचने के लिए ईहाज्ञान होता है , वह स्वयं निर्णय नहीं है। जो ज्ञान निर्णय रूप नहीं है वह संशय जातीय है और वह प्रमाण कैसे हो सकता है ? ऐसे प्रश्न उत्पन्न होते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि अवग्रह संशय नहीं है। *यह पुरुष है* ऐसा ग्रहण करना अवग्रह है। अब वह पुरुष किस उम्र का है , किस रूप रंग का है आदि बातों को जानने की इच्छा होना *ईहा* है। इन दोनों उदाहरणों में संशय नहीं है। संशय तो अनजान रूप होता है जैसे किसी वस्तु को देखकर यह ऊहापोह होना कि यह सीप है या चाँदी है आदि।संशय की स्थिति

होने पर हम किसी निर्णय की स्थिति में नहीं पहुँच सकते और उधेड़बुन में ही लगे रहते हैं , लेकिन अवग्रह और ईहा निर्णय न होते हुए भी निर्णय तक पहुंचने के लिए सहायक रूप होते हैं।अर्थ का अवग्रह होने पर उसके विशेष की प्राप्ति के लिए अर्थ का ग्रहण करना ईहा है। संशय में अर्थ के विशेष का आलम्बन नहीं हो पाता।हाँ , ईहा से पहले संशय अवश्य होता है । यह पुरुष है , ऐसा अवग्रह ज्ञान होने पर भी यह पुरुष उत्तर का है या दक्षिण का , ज्ञान नहीं होने पर संशय होता है , परन्तु उसके विशेष को जानने के लिए जो प्रयत्न होता है , वह *ईहा* है।

संशय का आलम्बन ऐसा कोई अर्थ विशेष नहीं होता , इसीलिए आचार्य देव ने सूत्र में संशय को स्थान नहीं दिया । अवग्रह , ईहा आदि ज्ञान संशय , विपर्यय रूप नहीं हो सकते क्योंकि ये सम्यक्ज्ञान पूर्वक होते हैं और प्राथमिक होते हुए भी ये उस रूप नहीं हैं।

*ईहा* के पश्चात् जीव जब *अवाय* पर पहुंचता है जो निश्चयात्मक ज्ञान पर पहुंचता है कि हां , यह पुरुष उत्तर का ही है।

यही अवायज्ञान यदि निषेधात्मक हो तो *अपाय* कहलाता है , लेकिन दोनों विधि से ही कहने में कोई दोष नहीं है। *यह पुरुष दक्षिण का नहीं है* जब हम ऐसा *अपाय* अर्थात् निषेधात्मक करते हैं तब ऐसा *अवाय* अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि हाँ , यह उत्तर का है और जब ऐसा अवाय करते हैं कि *यह उत्तर का है* तब ऐसा अपाय अर्थात् निषेधात्मक ज्ञान होता है कि *यह दक्षिण का नहीं है* ।

लिखने का आधार - सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाश चन्द्र जी शास्त्री द्वारा लिखित *तत्त्वार्थ सूत्र* की प्रश्नोत्तरी टीका से।

05/02/20, 4:13 pm - Ashok Jain: मति ज्ञान के विशेष भेद

*बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्॥१६॥*

सूत्रार्थः- बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव, और (सेतराणाम्) प्रतिपक्ष सहित अर्थात् अल्प (एक), अल्पविध(एकविध), अक्षिप्र, निःसृत, उक्त, और अध्रुव इन बारह प्रकार के (अवग्रहेहावायधारणा) अवग्रह आदि ज्ञान होते हैं।

*बहु*- बहु शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनों प्रकार का है। इन दोनों का यहां ग्रहण किया है, क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है। संख्यावाची बहु शब्द दो, तीन, बहुत। वैपुल्यवाची बहु शब्द जैसे बहुत भात, बहुत दाल आदि।(सर्वा १९२)

*बहुविध*- 'विध' शब्द प्रकार अर्थ में है।विध, युक्त, गत, और प्रकार ये समान अर्थवाची है।(बहुत प्रकार के भात)

बहुत प्रकार वाले पदार्थ का ज्ञान बहुविध ज्ञान है। (रा वा ९)

*अल्प ज्ञान*- एक पदार्थ का ज्ञान होना एक ज्ञान है। जैसे एक वन है या एक मनुष्य है।(आ सा ४/१७)

*अल्पविध*- एक जाति एकविध ज्ञान कहलाता है। जैसे सब गायें गोत्व जाति से एक प्रकार की है। (आ सा ४/१८)

*क्षिप्र*- शीघ्रता पूर्वक वस्तु को ग्रहण करना क्षिप्र अवग्रह है।(ध पु ६/२०).

*अक्षिप्र*- शनैः शनैः वस्तु को ग्रहण करना अक्षिप्र अवग्रह है।(ध पु ६/२०).

*अनिःसृत*- वस्तु के एकदेश को देखकर पूर्णदेश (पूरी वस्तु) का बोध होना अनिःसृत अवग्रह है। जैसे हाथी के एकदेश रूप सूंड के देखने पर 'यह हाथी है' ऐसा समस्त रूप ग्रहण होता है।(सुख बो त वृ ३६).

*निःसृत*- समस्त अवयवों को देख लेने पर जो ज्ञान होता है वह निःसृत कहलाता है।(सुख बो त वृ ३६).

*अनुक्त*- अनियमित गुणविशिष्ट द्रव्य का ग्रहण करना अनुक्त अवग्रह है, जैसे चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप देखकर गुड़ आदि के रस का ग्रहण करना।(ध पु ६/२०).

*उक्त*- कहे हुए पदार्थ को जानना उक्त अवग्रह है, जैसे 'यह घट है' ऐसा कहने पर घट को जानता है। (गो जी जी ३११)

*ध्रुव*- "वह यही है" इत्यादि प्रकार से ग्रहण करने को ध्रुवावग्रह कहते हैं।(ध १/३५९)

*अध्रुव*- "वह यह नहीं है" इस प्रकार से ग्रहण करने को अध्रुवावग्रह है।(ध १/३५९)

05/02/20, 6:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): हमने मतिज्ञान के चार भेदों को समझा। ये चार प्रकार के मतिज्ञान -अवग्रह , ईहा , अवाय धारणा - इनके विषयभूत पदार्थ कितने हैं , यह आचार्य भगवन् १६ वें सूत्र में बतलाते हुए कहते हैं

*बहुबहुविधक्षिप्रानि:सृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां*

बहु + बहुविध + क्षिप्र + अनि:सृत + अनुक्त + ध्रुव -

ये हुए छ: पदार्थ

इसके बाद *सेतराणां* अर्थात् इन छ: पदार्थ के उल्टे , इनसे विपरीत जो छ; हैं, वे हैं

एक+एकविध+अक्षिप्र+नि:सृत + उक्त + अध्रुव

कुल हुए 6+ उनके उल्टे 6 = कुल बारह पदार्थ आचार्य स्वामी ने बताये जो इन अवग्रह आदि चार मतिज्ञान के आधारभूत हैं।

अब हम क्रम से इन पदार्थों को उनके विपरीतवाचक क्रम से समझते हैं।

*बहु* एक जाति की बहुत सी वस्तुओं का अवग्रह आदि ज्ञान होना बहु है। जैसे - सेना या जंगल आदि को समूह रूप में जानना।

*एक* एक जाति की एक वस्तु का ज्ञान होना। इसे अल्प भी कहते हैं।

*बहुविध* अनेक जाति के बहुत से पदार्थों का ज्ञान होना । जैसे अनेक प्रकार के अनाज का समूह।

*एकविध* एक प्रकार की वस्तु का अवग्रह आदि ज्ञान होना।

*क्षिप्र* शीघ्र गति से चलने वाले पदार्थ का ज्ञान होना , जैसे जल का प्रवाह

*अक्षिप्र* मन्द गति से चलने वाले पदार्थ का ज्ञान होना , जैसे कछुआ , धीरे धीरे चलने वाला घोड़ा , मनुष्य आदि।

क्रमशः

05/02/20, 8:40 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *पहले अध्याय का १६ वाँ सूत्र , गतांक से आगे , भाग २*

*अनिःसृत* छिपे हुए अप्रकट पदार्थों को अनिःसृत कहते हैं। जैसे जल में डूबा हुआ हाथी।

*निःसृत* प्रकट पदार्थ को निःसृत कहते हैं। जैसे सामने खड़ा हुआ हाथी।

*अनुक्त* जो पदार्थ अभिप्राय से समझा जा सके उसे अनुक्त कहते हैं। जैसे किसी के हाथ या सिर के इशारे से हाँ , ना समझा जा सके।

*उक्त* जो शब्द ( words ) के द्वारा समझा जा सके , वह उक्त है। जैसे यह घर है।

*ध्रुव* जैसे का तैसा निश्चल ज्ञान होना ध्रुव है या स्थिर पदार्थ का ज्ञान होना ध्रुव है। जैसे पर्वत आदि।

*अध्रुव* क्षण मात्र में नष्ट पदार्थ का ज्ञान होना अध्रुव है। जैसे बिजली की चमक , पानी का बुलबुला आदि।

06/02/20, 1:42 pm - Ashok Jain: बहु बहुविध आदि किसके विशेषण है-

*अर्थस्य॥१७॥*

सूत्रार्थ:- ये बहु बहुविध आदि पदार्थ (द्रव्य) के विशेषण हैं।

जो अंतरंग और बहिरंग निमित्त के कारण से उत्पत्ति के प्रति तत्पर स्वकीय पर्यायों को प्राप्त होता है वा पर्यायों के द्वारा प्राप्त किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं और वह अर्थ ही द्रव्य है।(रा वा १)

अर्थ के अवग्रह आदि चारों मतिज्ञान से होते हैं।

ये बहु बहुविध आदि बारह भेद पदार्थ के भेद हैं, और मतिज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं।

यहां तक अर्थावग्रह का प्रकरण है अर्थात् मतिज्ञान इंद्रिय और मन (५+१) [सैनी पंचेन्द्रिय के]=६.

अवग्रहेहावायधारणा=४(६ × ४=२४).

बहु बहुविध आदि १२ × २४=२८८.

इस प्रकार २८८ प्रकार का अर्थावग्रह है।

(प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

06/02/20, 7:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ये जो हमने बहु , बहुविध  आदि पदार्थ जाने , ये सभी पदार्थ के भेद होते हैं - यह बतलाते हुए आचार्य देव आगे कहते हैं

*अर्थस्य* ।।१७ ।।

बहु , बहुविध आदि विशेषण से युक्त पदार्थ के ही अवग्रह , ईहा, अवाय और धारणा युक्त चारों मतिज्ञान होते हैं।

अवग्रह आदि मतिज्ञान किसके होते हैं - इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए आचार्य देव ने यह सूत्र रचा है।

07/02/20, 11:00 am - Ashok Jain: अवग्रह ज्ञान में विशेषता

*व्यञ्जनस्यावग्रहः॥१८॥*

सूत्रार्थ:- व्यञ्जन अर्थात् अव्यक्त पदार्थ का अवग्रह ज्ञान होता है। ईहा आदि तीन ज्ञान नहीं होते।(सर्वा २००)

अवग्रह दो प्रकार का होता है-

१) अर्थावग्रह और २) व्यंञ्जनावग्रह।

जैसे कान में एक हल्की सी आवाज का मामूली सा भान होकर रह गया, इसके बाद भी नहीं जान सके कि किसकी आवाज है? ऐसी अवस्था में केवल व्यञ्जनावग्रह ही होकर रह जाता है, परन्तु धीरे धीरे यह आवाज यदि स्पष्ट हो जाती है तो व्यञ्जनावग्रह के बाद अर्थावग्रह और फिर ईहा आदि ज्ञान भी होते हैं, इसलिए अस्पष्ट पदार्थों का केवल व्यञ्जनावग्रह ज्ञान ही होता है और स्पष्ट पदार्थों के चारों ज्ञान ही होते हैं।

(प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

07/02/20, 7:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आगे अवग्रह ज्ञान की क्या विशेषता है , यह बताते हुए आचार्य कहते हैं

*व्यञ्जनस्यावग्रहः।।१८।।*

*व्यञ्जनस्य* अर्थात् अप्रकट रूप शब्दादि का  *अवग्रहः* अर्थात् सिर्फ अवग्रह ज्ञान ही होता है।

पूर्व में आचार्य देव हमें बतला चुके हैं कि अवग्रह , ईहा , अवाय और धारणा - ये चार भेद मतिज्ञान के होते हैं।बहु , बहुविध आदि विशेषण से युक्त पदार्थ के ये चारों प्रकार के मतिज्ञान होते हैं , यह भी आचार्य भगवन् ने हमें १७ वें श्लोक में समझाया। अब १८ वें सूत्र में वे बतलाते हैं कि अव्यक्त या अप्रकट शब्दादि के समूह को *व्यञ्जन* कहते हैं ।

अवग्रह  के दो भेद होते हैं -१) व्यञ्जनावग्रह और २) अर्थावग्रह

अव्यक्त - अप्रकट पदार्थ के अवग्रह को को व्यञ्जनावग्रह कहते हैं ।

व्यक्त - प्रकट पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं।

उदाहरण - जैसे मिट्टी का नया सकोरा जल के कुछ कणों से सींचने पर गीला नहीं होता, उसी प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियों से शब्दादि रूप परिणत पुद्गल आरम्भ में दो - तीन समयों में व्यक्त नहीं होते - यह व्यञ्जनावग्रह है।

जो मिट्टी का नया सकोरा जल के कुछ कणों से गीला नहीं होता , वह बार बार सींचने से गीला हो जाता है उसी प्रकार दो - तीन समयों में जो शब्द व्यक्त नहीं होते  वे बार बार ग्रहण करने से व्यक्त हो जाते हैं - यह अर्थावग्रह है।

इस तरह व्यक्त ग्रहण के पहले व्यंजनावग्रह होता है , व्यक्त - ग्रहण का नाम अर्थावग्रह है।

व्यञ्जन का एक ही प्रकार का मतिज्ञान होता है जो *अवग्रह ज्ञान* है। इसके ईहा , अवाय और धारणा ज्ञान नहीं होते।

08/02/20, 11:11 am - Ashok Jain: व्यंजनावग्रह की विशेषता

*नचक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्॥१९॥*

(न चक्षु: अनिन्द्रियाभ्याम्)

सूत्रार्थ:- व्यञ्जनावग्रह चक्षु इंद्रिय और मन से नहीं होता।

व्यंञ्जनावग्रह अव्यक्त होता है क्योंकि वह चक्षु इंद्रिय और मन के अतिरिक्त अन्य चारों इन्द्रिय से होता है।

एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव (चक्षु इंद्रिय के बिना सहायता से) एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के चक्षु इंद्रिय और मन  रहते हुए भी उनके उपयोग से रहित जो वस्तु का ज्ञान करतें हैं वह व्यञ्जनावग्रह ज्ञान है।

इस प्रकार मतिज्ञान के कुल ३३६ भेद होते हैं- पांच इन्द्रियां और मन= ६,

अवग्रहेहावायधारणा=४,

बहु बहुविध आदि=१२,(६ × ४ × १२=२८८)

इनमें व्यञ्जनावग्रह =

एक अवग्रह ×  चार इन्द्रिय=४

बहु बहुविध आदि १२

(४ × १२= ४८,

[४८+२८८=३३६].

*इस प्रकार सूत्र संख्या १३ से १९ तक मतिज्ञान के विषय में हमनें जाना।*

09/02/20, 7:03 pm - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

09/02/20, 7:04 pm - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

10/02/20, 8:10 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अभी हमने पढा कि *वयंजन* अर्थात् शब्द आदि जो पदार्थ अप्रकट रूप हैं उनका सिर्फ अवग्रह ज्ञान होता है , शेष तीन ईहा , अवाय और धारणा ज्ञान नहीं  होते।अब आचार्य देव यह बताते हैं कि कौन सी इन्द्रियों से यह व्यञ्जनावग्रह ज्ञान नहीं होता कहते हैं

*न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्*

चक्षु अर्थात् नेत्र और अनिन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय रहित जो है हमारा मन - इन दोनों से व्यञ्जनावग्रह नहीं होता है।

चक्षु और मन ये दो वस्तु को दूर से ग्रहण करती हैं छू कर नहीं।बाकी इन्द्रियां वस्तु को छू कर ही ज्ञान करती हैं।  इसीलिए व्यंजनवाग्राह के सिर्फ अवग्रह ज्ञान ही होता है।

गंध जब हमारे नाक में प्रवेश करे तब ही उसका ज्ञान होगा। शब्द भी जब कान में आएंगे तभी हम सब पाएंगे। इसी तरह जिव्हा और स्पर्श का विषय भी छू कर ही जाना जाता है। लेकिन आंख दूर से ही देख सकती है सट कर नहीं। इसी तरह मन भी छू कर नहीं जान सकता है।

आचार्य देव द्वारा रचित इस सूत्र का भाव यह है कि अर्थावग्रह तो मन सहित पाँचों इन्द्रियों से होता है, लेकिन व्यंजनावग्रह *चक्षु और मन* इन दो इन्द्रियों द्वारा नहीं होता।

चक्षु और मन से *व्यंजनावग्रह* क्यों नहीं होता इसका  समाधान करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी *सर्वार्थ सिद्धिः* में कहते हैं कि ये दोनों अप्राप्यकारी हैं , विषय को स्पृष्ट करके नहीं देखते।हमारे नेत्र बाहरी प्रकाश आदि की सहायता से जो पदार्थ व्यक्त होते हैं , उनको  ही देख पाते हैं। अन्धकार में नेत्र कुछ भी देखने में असमर्थ हैं। उसी प्रकार मन भी अप्राप्त अर्थ को ही ग्रहण करता है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यंजनावग्रह प्राप्त अर्थ का ही होता है , लेकिन अर्थावग्रह प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के पदार्थों का होता है।

11/02/20, 2:34 pm - Ashok Jain: श्रुतज्ञान के भेद या स्वरूप

*श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम्॥२०॥*

(श्रुतं-मतिपूर्वं-द्वि-अनेक-द्वादश-भेदम्)

सूत्रार्थ:- श्रुतज्ञान, मतिज्ञान पूर्वक होता है। उसके (श्रुतज्ञान के) दो, अनेक एवं बारह भेद होते हैं।

[श्रुतज्ञान का समस्त वर्णन इस बीसवें सूत्र में ही है इसलिए कुछ भागों में अपन समझेंगे]

*श्रुतं मतिपूर्वं* अर्थात् श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मात्र है।मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। (मुनि श्री अमित सागर जी महाराज के अनुसार श्रुतज्ञान पूर्वक भी श्रुतज्ञान हो सकता है).

*द्वि*- श्रुतज्ञान के दो भेद हैं- उनं

पहला- अंगबाह्य और दूसरा- अंग प्रविष्ट।

*अनेक भेदम्*- पहले अंगबाह्य के अनेक भेद हैं, (कुछ आचार्यों ने अंगबाह्य के चौदह भेद माने हैं।- मुनि श्री अमित सागर जी महाराज)

*द्वादश भेदम्*- अंग प्रविष्ट के बारह भेद होते हैं।

अंगबाह्य के १४ भेद-

१) सामायिक, २) चतुर्विंशति स्तव, ३) वंदना, ४) प्रतिक्रमण, ५) वैनयिक, ६) कृतिकर्म ७) दशवैकालिकोंका, ८) उत्तराध्ययन, ९) कल्प्य व्यवहार, १०) कल्प्याकल्प्य, ११) माहकल्प्य, १२) पुण्डरीक, १३) महापुण्डरीक और १४) निषिद्धिका।

अंग प्रविष्ट के १२ भेद-

१) आचारांग, २) सूतकृतांग, ३) स्थानांग, ४) समवायांग, ५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६) धर्मकथांग, ७) उपासकाध्यनांग, ८) अन्तःकृतदशांग, ९) अनुत्तरोत्पादकदशांग, १०) प्रश्नव्यकरणांग, ११) विपाकसूत्रांग और १२) दृष्टिप्रवाद।

आगे इन भेदों को समझने की चेष्टा करेंगे।

. .. क्रमशः

12/02/20, 1:36 pm - Ashok Jain: आगे...

*अंगबाह्य के भेद:-

१) सामायिक- जो समता भाव के विधान का वर्णन करता है, वह सामायिक है।

२) चतुर्विंशतिस्तव- इसमें चौबीस तीर्थंकरों की वंदना करने की विधि, उनके नाम, संस्थान, उत्सेध, पांचों कल्याणक, चौंतीस अतिशयों के स्वरुप और तीर्थंकरों की वंदना की सफलता का वर्णन है।

३) वंदना- यज्ञ एक जिनेन्द्र सम्बंधी और उन एक जिनेन्द्र देव के अवलम्बन से जिनालय सम्बन्धी वंदना का वर्णन करता है।

४) प्रतिक्रमण- यह सात प्रकार के प्रतिक्रमणों ं का वर्णन करता है।

५) वैनयिक- यह पांच प्रकार के विनयों का वर्णन करता है।

६) कृतिकर्म- यह अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य और साधु की पूजा विधि का वर्णन करता है।

७) दशवैकालिक- यह दसवेंकालिकों का वर्णन करता है और मुनियों की आचार विधि और गोचर विधि का वर्णन करता है।

८) उत्तराध्ययन- जिसमें अनेक प्रकार के उत्तर पढ़ने को मिलते हैं वह उत्तराध्ययन है। इसमें चार प्रकार के उपसर्ग कैसे सहन करने चाहिए, बाईस परिषहों को सहन करने की विधि क्या है, आदि प्रश्नों के उत्तरों का वर्णन है।

९) कल्प्य व्यवहार- यह साधुओं के योग्य आचरण का और अयोग्य आचरण के होने पर प्रायश्चित विधि का वर्णन करता है।

१०) कल्प्याकल्प्य- द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है, इन सबका वर्णन करता है।

११) महाकल्प्य- काल और संहनन का आश्रय कर साधु के योग्य द्रव्य और क्षेत्र आदि का वर्णन करता है।

१२) पुण्डरीक- भवनवासी आदि चार प्रकार के देवों में उत्पत्ति के कारण रूप दान, पूजा, तपश्चरण आदि अनुष्ठानों का वर्णन करता है।

१३) महापुण्डरीक- समस्त इंद्रों और प्रतीन्द्रों में उत्पत्ति के कारण रूप तपोविशेष आदि आचरण का वर्णन करता है। और

१४) निषिद्धिका- बहुत प्रकार के प्रायश्चित के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को निषिद्धिका कहते हैं।

(ध. १/९७-९९)

(तत्त्वार्थ मंजूषा ११९, आर्यिका मां विज्ञान मति माताजी के आधार से)

क्रमशः...

12/02/20, 3:58 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

13/02/20, 10:57 am - Ashok Jain: *अंगबाह्य*- श्रुत अर्थ के ज्ञाता गणदेव के शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा कालदोष से अल्प आयु और अल्प बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गए संक्षिप्त ग्रंथ अंगबाह्य हैं। (रा. वा. १३)

13/02/20, 11:07 am - Ashok Jain: अब आगे अंगप्रविष्ट और उसके भेद प्रभेद का वर्णन समझते हैं।

*अंगप्रविष्ट*- भगवान अर्हन्त सर्वज्ञ देव रूपी हिमाचल से निकली गंगा के अर्थ रुपी निर्मल जल से प्रक्षालित है अंत:करण जिनका ऐसे बुद्धि आदि ऋद्धियों के धनी गणधरों के द्वारा ग्रंथ- रूप से रचित आचारादि बारह अंगों को अंगप्रविष्ट कहते हैं, जैसे आचारांग, सूत्रकृतांग आदि। (रा वा १२).

यह गणधरों द्वारा सर्वज्ञ की वाणी से रचा गया श्रुत है। यह ११अंग और १४ पूर्व रूप होता है।(हरि.पु. २/९२-१००)

13/02/20, 1:12 pm - Ashok Jain: आगे...

अंग प्रविष्ट के भेद-

१) आचारांग- इसमें आठ प्रकार की शुद्धि, पांच समिति, तीन गुप्ति रूप चर्या का विधान किया जाता है।

२) सूत्रकृतांग- इसमें ज्ञान विनय, प्रज्ञापना, कल्प्य-अकल्प्य, छेदोपस्थापना, आदि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का निरूपण है।

३) स्थानांग- इसमें अर्थों के एक-एक, दो-दो आदि अनेक आश्रय रूप पदार्थों का कथन किया जाता है।

४) समवायांग- इसमें सर्व पदार्थों की समानता रुप से समवाय का विचार किया गया है।

५) व्याख्याप्रज्ञप्ति- इस अंग में "जीव है कि नहीं" इत्यादि साठ हजार प्रश्नों का उत्तर या निरूपण  है।

६) ज्ञातृधर्मकथांग- इसमें अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का वर्णन है।

७) उपासकाध्ययनांग- इसमें श्रावक धर्म का विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

८) अंत:कृद्-दशांग- संसार का अंत जिन्होंने कर दिया है वे अन्तकृत् हैं। ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरों के समय में दश-दश मुनि घोरोपसर्ग सहन करके अन्त:कृत् केवली हुए हैं। उन दस दस मूनियों का जिसमें वर्णन है उसको अन्तकृद्दशांग कहते हैं। अथवा अंत:कृतों की दशा अन्तकृद्दशा, उसमें अर्हद्, आचार्य होने की विधि तथा सिद्ध होने वालों की अंतिम विधि का वर्णन है।

९) अनुत्तरोपपादिकदशांग- उपपाद जन्म ही है प्रयोजन जिसका वह औपपादिक है। विजय आदि पांच आनुत्तरों में उत्पन्न होने वालों को अनुत्तरोपपादिख दशा है। इस अंग में विजय आदि अनुत्तर विमानों की आयु, विक्रिया, क्षेत्र आदि का वर्णन है।

१०) प्रश्नव्याकरणांग- इस अंग में युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप, विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर है तथा उसमें सभी लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।

११) विपाक सूत्रांग- इस अंग में पुण्य और पाप के विपाक का विचार है।

१२) दृष्टिवादांग- इसमें तीन सौ त्रेसठ कुंवारियों के मतों का निरूपण पूर्वक खण्डन है।

(रा वा १२)

क्रमशः...

14/02/20, 11:13 am - Ashok Jain: आगे...

दृष्टिवादांग या दृष्टिप्रवाद के पांच भेद हैं-

परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका।

परिकर्म- जिसमें चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि का वर्णन है।

सूत्र- यह अर्थाधिकार जीव अबन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्त्ता ही है, अभोक्ता ही है, आदि रूप तीन सौ त्रेसठ मतों का पूर्व पक्ष रूप से वर्णन करता है।

प्रथमानुयोग- जो पुराण पुरुषों का वर्णन करता है वह प्रथमानुयोग है।

पूर्वगत- जो पूर्वों को प्राप्त हो अथवा जिसने पूर्वों के स्वरूप को प्राप्त कर लिया है। उसे पूर्वगत कहते हैं, यह पूर्वगत गोण्यनाम है।(ध.१/११०-१५)

चूलिका- विशेष व्याख्यान, कहे हुए और न कहे हुए की व्याख्यान, तथा कहे हुए और न कहे हुए से मिश्रित व्याख्यान इस प्रकार तीन प्रकार का व्याख्यान चूलिका शब्द से कहा जाता है।(स. सा. चू.)

क्रमशः...

15/02/20, 12:32 pm - Ashok Jain: परिकर्म के भेद:-

१) चन्द्रप्रज्ञप्ति- इसमें चन्द्रमा की आयु, परिवार, ऋद्धि, गति और बिम्ब की ऊंचाई आदि का वर्णन है।

२) सूर्य प्रज्ञप्ति- इसमें सूर्य की आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, बिम्ब की ऊंचाई आदि का वर्णन है।

३) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति- इसमें जम्बूद्वीपस्थ भोगभूमि और कर्यभूमि में उत्पन्न हुए नाना प्रकार के मनुष्य और तिर्यंच आदि का, पर्वत, द्रह, नदी आदि का वर्णन है।

४)द्वीपसागर प्रज्ञप्ति- इसमें द्वीप और समुद्रों के प्रमाण का तथा द्वीप-सागर के अन्तर्भूत नाना प्रकार के दूसरे पदार्थों का वर्णन है।

५) व्याख्याप्रज्ञप्ति- इसमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध इन सबका वर्णन है। (हरि. पु. १०/६२-६८)

क्रमशः...

16/02/20, 1:19 pm - Ashok Jain: आगे...

*सूत्र*:- जीव अणु प्रमाण है, नास्ति स्वरूप ही है, आस्ति स्वरूप ही है, पृथिवी आदि पांच भूतों के समुदाय रूप से जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, ज्ञान के बिना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से क्रियावादी आदि तीन सौ त्रेसठ मतों का पूर्व पक्ष रूप से वर्णन है। त्रेराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन सूत्र में है। (ध. १/१११-१२)

*पुराण*:- पुरातन महापुरुषों से उपदिष्ट मुक्तिमार्ग की ओर ले जाने वाले त्रेषठ श्लाका पुरुषों के चारित्र के वर्णन से युक्त रचनाएं हैं। ये ऋषि- प्रणीत होने से आर्ष, सत्यार्थ की निरुपक होने से सूक्त, धर्म की प्ररुपक होने से धर्म शास्त्र तथा *'इति-ह-आस्'* यहां ऐसा हुआ, यह बताने के कारण इतिहास कहलाती है। (म. पु. १/२४-२५).

जिनेन्द्र भगवान ने जगत् में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश दिया है। वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंश का वर्णन करते हैं। १) अरिहंत (तीर्थंकरों)का, २) चक्रवर्तियों का, ३) विद्याधरों का, ४) नारायण- प्रतिनारायणों का, ५) चारण ऋद्धिधारी मुनीराजों का, ६) श्रमणों का वंश, ७) कुरुवंश, ८) हरिवंश, ९) इक्ष्वाकुवंश, १०) काश्यपवंश, ११) वादियों का वंश और १२) नाथवंश। (ध.१/११३).

क्रमशः...

17/02/20, 12:39 pm - Ashok Jain: आगे...

*पूर्वगत के भेद*:- १४ प्रकार का है-

१) उत्पादपूर्व: काल, पुद्गल, जीव आदि की जिस काल-क्षेत्र में, जिस पर्याय से उत्पत्ति होती है, इन सबका वर्णन है।

२) अग्रायणी पूर्व: इसमें क्रियावादियों की प्रक्रिया, अग्रणी के समान अंगादि तथा स्वसमय का वर्णन है।

३) वीर्यप्रवाद पूर्व: इसमें छद्मस्थ और केवलियों की शक्ति, सुरेंद्र-असुरेन्द्र आदि की ऋद्धि वा नरेंद्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि के सामर्थ और द्रव्यों के समीचीन लक्षण आदि का वर्णन है।

४) अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व: इसमें पांचों अस्तिकायों का और नयों का अस्ति नास्ति आदि अनेक पर्यायों का वर्णन है।

५) ज्ञानप्रवाद पूर्व: इसमें प्रादुर्भाव विषयों के आयतन स्वरूप ज्ञानियों के पांच ज्ञान का और अज्ञानियों के विषयों के आयतन इन्द्रियों का विभाग किया जाता है।

६) सत्यप्रवाद पूर्व: इसमें वाग्गुप्ति, वचन संस्कार के कारण, वचन प्रयोग, बारह प्रकार की भाषा, वक्ता के अनेक प्रकार, मृषाभिधान और दस प्रकार के सत्य के सद्भाव का वर्णन है।

७) आत्मप्रवाद पूर्व: इसमें आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि धर्म और षट् जीवनिकाय के भेदों का युक्ति से निरूपण किया गया है।

८) कर्मप्रवाद पूर्व: इसमें कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम आदि दशाओं का तथा जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि स्थिति का तथा प्रदेशों के समूह का वर्णन किया गया है।

९) प्रत्याख्यान पूर्व: इसमें व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, आराधना, विशुद्धि का उपक्रम आदि व मुनियों के आचरण का कारण तथा परिमित- अपरिमित, द्रव्य के प्रत्याख्यान आदि का वर्णन है।

१०) विद्यानुवाद पूर्व: इसमें समस्त विद्याएं, आठ महानिमित्त, उनका विषय, रज्जु-राशिविधि, क्षेत्र, श्रेणी, लोक, प्रतिष्ठा, समुद्घात् आदि का विवेचन है।

११) कल्याणवाद पूर्व: इसमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारागणों का गमन क्षेत्र, उपपाद क्षेत्र, शकुन आदि का वर्णन है तथा अर्हन्त, बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि का एवं गर्भ आदि पांच कल्याणकों का वर्णन किया गया है।

१२) प्राणावाय पूर्व: काय चिकित्सा आदि आठ अंग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलिपक्रम, प्राणापान के विभाग का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

१३) क्रियाविशाल पूर्व: लेखन क्रिया आदि पुरुषों की बहत्तर कलाओं का, स्त्रियों की चौंसठ कलाओं का तथा शिल्प, काव्य गुण-दोष, छन्द, क्रिया, क्रिया का फल व उसके भोक्ता आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

१४) लोकबिन्दुसार पूर्व: आठ प्रकार का व्यवहार, चार बीज राशि, परिकर्म आदि गणित तथा सारी श्रुत सम्पति का जिसमें वर्णन है, वह लोकबिन्दुसार पूर्व है। (रा. वा. १२).

क्रमशः...

18/02/20, 1:27 pm - Ashok Jain: आगे...

चूलिका:- चूलिका के पांच भेद होते हैं

१) जलगता चूलिका- इसमें जल में गमन, जलस्तंभन के कारणभूत मंत्र, तन्त्र और तपश्चरण रूप आदि का वर्णन है।

२) स्थलगता चूलिका:- इसमें पृथ्वी के भीतर गमन करते के कारणभूत मंत्र तन्त्र और तपश्चरण रूप आश्चर्य आदि का तथा वास्तु विद्या और भूमि सम्बंधी दूसरे शुभाशुभ कारणों का वर्णन है।

३) मायागता चूलिका:- इसमें इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मंत्र तन्त्र और तपश्चरण का वर्णन है।

४) रुपगता चूलिका:- सिंह, घोड़ा और हरिण आदि के स्वरूप के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मंत्र तन्त्र और तपश्चरण तथा चित्र-काष्ठ- लेप्य-लेन कर्म आदि के लक्षण का वर्णन है।

५) आकाशगता चूलिका- आकाश में गमन करने के कारणभूत मंत्र तन्त्र और तपश्चरण का वर्णन है।

(ध.१/११४)

*सम्पूर्ण अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के समस्त अक्षरों की संख्या- एक लाख कोड़ा-कोड़ी, चौरासी हजार, चार सौ सड़सठ करोड़, चवालीस लाख, सात सौ सैंतीस, पंचानवे लाख इकावन हजार छः सौ पंद्रह है।(गो. जी. ३५४)*

।

18/02/20, 1:27 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

18/02/20, 1:27 pm - Ashok Jain: इस प्रकार श्रुत ज्ञान के भेद एवं स्वरूप का वर्णन हुआ।

18/02/20, 9:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पहलो *आचारांग* बखानो , पद अष्टादश सहस प्रमानो।

दूजो *सूत्रकृतं* अभिलाषं पद छत्तीस सहस गुरु भाषं।।

पहला भेद *आचारांग* कहा गया है जिसमें मुनियों के आचार का निरूपण है । यह अठारह हजार प्रमाण पद वाला है।

दूसरा भेद *सूत्रकृतांग* है जिसमें ज्ञान - विनय और व्यवहार धर्म क्रिया का वर्णन है । इसमें आचार्यों ने छत्तीस हजार पद कहे हैं।

तीजो *ठाना* अंग सु जानं, सहस बियालिस पद सरधानं।

चौथो *समवायांग* निहारं चौसठ सहस लाख इक धारं।।

तीसरा *स्थानांग* है जिसमें एक, दो,तीन आदि एकाधिक स्थानों में षड्द्रव्य आदि का निरूपण है। इसमें बयालीस हजार पद श्रद्धान करने चाहिए।

चौथा *समवायांग* है जिसमें समस्त द्रव्यों के द्रव्य , क्षेत्र, काल , भाव आदि की अपेक्षा सादृश्य का वर्णन है । इसमें एक लाख चौंसठ हजार पद कहे हैं।

पञ्चम *व्याख्या प्रज्ञप्रति* दरसं , दोय लाख अठाइस सहसं।

छठो *ज्ञातृकथा* विस्तारं पाँच लाख छप्पन हज्जारं।।

पाँचवाँ *व्याख्या प्रज्ञप्ति* अंग है जिसमें जीव है कि नहीं , इत्यादि प्रकार से गणधर देव द्वारा किये गये साठ हजार प्रश्नों का समाधान है।इसमें दो लाख अठाइस हजार पद हैं।

छठा *ज्ञातृ धर्मकथा* अंग है जिसमें तीर्थंकरों एवं गणधरों के जीवन सम्बन्धी अनेक आख्यान एवं उपाख्यानों का वर्णन है।इसके पाँच लाख छप्पन हजार पद हैं।

18/02/20, 9:44 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सप्तम *उपासकाध्ययनंगं* सत्तर सहस ग्यारलख भंगं।

अष्टम *अन्तकृतं दश* ईसं, सहस अठाइस लाख तेईसं ।।

सातवाँ *उपासकाध्ययन* अंग है जिसमें श्रावक के आचार का वर्णन है । इसमें ग्यारह लाख सत्तर हजार पद हैं।

आठवाँ *अन्तकृतदश* अंग है जिसमें प्रत्येक तीर्थंकर के काल में उन दश - दश मुनियों की गाथा का वर्णन है जो उपसर्ग सहन कर मोक्ष जाते हैं। इसमें तेईस लाख अठाइस हजार पद हैं।

नवम *अनुत्तरदश* सुविशालं , लाख बानवै सहस चवालं।

दशम *प्रश्न व्याकरण* विचारं लाख तिरानवै सोल हजारं।।

नवाँ *अनुत्तरोपपादिकदश* अंग है जिसमें प्रत्येक तीर्थंकर के काल में उन दश दश मुनियों की गाथाओं का वर्णन है जो उपसर्ग सहन कर पाँच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होते हैं । इसमें बिरानबे लाख चवालीस हजार पद हैं।

दशवाँ *प्रश्न व्याकरण* अंग है जिसमें युक्ति और नयों द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर है।इसमें तिरानबे लाख सोलह हजार पद हैं।

ग्यारम *सूत्रविपाक* सु भाखं एक कोड़ि चौरासी लाखं।

चार कोड़ि अरु पन्द्रह लाखं दो हजार सब पद गुरु शाखं।।

ग्यारहवां *विपाक सूत्र* अंग कहा गया है जिसमें पुण्य पाप के विपाक अर्थात् फल का कथन है। इसमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं।आचार्यों ने सभी पद चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार कहे हैं।

द्वादश *दृष्टिवाद* पनभेदं ,इकसौ आठ कोड़िपन वेदं ।

अड़सठ लाख सहस छप्पन हैं , सहित पञ्चपद मिथ्याहन हैं।।

बारहवें *दृष्टिवाद* के पनभेद अर्थात् पाँच भेद हैं - १) परिकर्म २) सूत्र ३) प्रथमानुयोग ४) चूलिका और ५) पूर्वगत ।

इस दृष्टिवाद अंग में 363 मतों का निरूपण पूर्वक खंडन किया गया है। इसके एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच भेद मिथ्याहन अर्थात् मिथ्यात्व को नष्ट करने वाले हैं।

इक सौ बारह कोड़ि बखानो , लाख तिरासी ऊपर जानो।

ठावन सहस पञ्च अधिकाने , द्वादश अंग सर्व पद माने।।

सभी  बारह अंगों के कुल मिलाकर एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पाँच पद माने गये हैं।

कोड़ि इकावन आठ हि लाखं , सहस चुरासी छह सौ भाखं।

साढे इक्कीस श्लोक बताये , एख एक पद के ये गाये।।

एक एक पद में *कोड़ि इकावन* अर्थात् 51 करोड़ + *आठ हि लाखं*  अर्थात् आठ लाख + *सहस चुरासी छह सौ* अर्थात् चौरासी हजार छः सौ + इक्कीस श्लोक कहे गये हैं।

जा वानी के ज्ञान तै, सूझै लोक- अलोक।

*द्यानत* जग जयवन्त हो , सदा देत हों धोक।।

जिनवाणी के ज्ञान से लोक - अलोक का बोध होता है ।द्यानतराय जी कहते हैं कि जिनवाणी तीनों लोकों में जयवन्त हो। मैं जिनवाणी को हमेशा नमन करता हूँ। हम सभी नमन करते हैं।

🙏🙏🙏🙏🙏

19/02/20, 1:32 pm - Ashok Jain: भव प्रत्यय अवधिज्ञान के भेद या स्वामी

*भव-प्रत्ययोऽवधिर्देव नारकाणाम्॥२१॥*

सूत्रार्थ:- (भवप्रत्यय:) भवप्रत्यय नामक (अवधि:) अवधिज्ञान (देवनाराकणाम्) देवों और नारकियों के (भवति) होता है।

आयु नामकर्म के उदय का निमित्त पाकर जो जीव की पर्याय है, उसे भव कहते हैं।(सर्वा.२१३)

जिस अवधिज्ञान के होने में भव (गति, पर्याय) ही निमित्त है उसे भव प्रत्यय (कारण, निमित्त) है, उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान है।(सर्वा २१३)

(तीर्थंकर पूर्वभव यानी नरक या स्वर्ग से आकर ही उत्पन्न होते हैं और नरक और स्वर्ग में भवप्रत्यय अवधिज्ञान है जो उनके साथ आता है, इसलिए पंचकल्याणक वाले तीर्थंकरों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहा जाता है) (गो.जी.३७१)

20/02/20, 2:52 pm - Ashok Jain: गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के भेद या स्वामी

*क्षयोपशम-निमित्त: षड् विकल्प: शेषाणाम्॥२२॥*

सूत्रार्थ:- (क्षयोपशमनिमित्त:) अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो अवधिज्ञान होता है उसे क्षयोपशमनिमित्तक या गुण प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। यह (षड्विकल्प:) छः भेद वाला (अस्ति) है।वह (शेषाणाम्) मनुष्य और तिर्यंचों के (भवति) होता है।

गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के तीन अन्य भेद होते हैं- देशावधि, परमावधि और सर्वाववधि ज्ञान।

क्षयोपशमिनिमित्तक अवधिज्ञान या गुण प्रत्यय अवधिज्ञान के छः भेद निम्न हैं- १) अनुगामी, २) अननुगामी, ३) वर्द्धमान, ४) हीयमान, ५) अवस्थित और ६) अनवस्थित।

१) अनुगामी: जो अवधिज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान भवान्तर या देशांतर में जाने वाले के पीछे जाता है वह अनुगामी है।

२) अननुगामी: जो अवधिज्ञान दूसरे भव या क्षेत्र में जीव के साथ नहीं जाता है उसे अननुगामी कहते हैं।

३) वर्द्धमान: सम्यग्दर्शन आदि गुणों की विशुद्धी से शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की कलाओं के समान बढ़ता रहता है वह वर्द्धमान है।

४) हीयमान: सम्यग्दर्शन आदि गुणों की हानि, संक्लेश परिणामों की वृद्धि से कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की कलाओं की तरह घटता रहता है उसे हीयमान कहते हैं।

५) अवस्थित: सम्यग्दर्शन आदि गुणों में स्थिरता से जो अवधिज्ञान सदा एक सा रहता है, घटता-बढ़ता नहीं है, उसे अवस्थित कहते हैं।

६) अनवस्थित: किसी परिणाम से सम्यग्दर्शनादि गुणों की वृद्धि या हानि से जो अवधिज्ञान हवा से जल की तरंगों की तरह घटता बढ़ता रहता है, सदा एक सा नहीं रहता उसे अनवस्थित कहते हैं।

*अनुगामी अवधिज्ञान के तीन भेद होते हैं*-

१) क्षेत्रानुगामी- जो अवधिज्ञान एक क्षेत्र में उत्पन्न होकर स्वत: या पर-प्रयोग से जीव के स्वक्षेत्र या परक्षेत्र में विहार करने पर नष्ट नहीं होता वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है।

२) भवानुगामु: जो जीव के साथ अन्य भव में जाता है वह भवानुगामी है।

३) क्षेत्रभवानुगामी: जो भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रों में तथा देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यंच भव में साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी अवधिज्ञान है।

(ध. १३/२९४)

*ये तीनों अननुगामी के भी जानना चाहिए।*

अन्य तीन भेदों का

क्रमशः

20/02/20, 5:14 pm - Ashok Jain: आगे...

देशावधिज्ञान: देश का अर्थ यहां स्मक्त्व है, क्योंकि वह संयम का अवयव है। वह जिस ज्ञान की अवधि अर्थात् मर्यादा है वह देशाववधि ज्ञान है।(ध. १३/३२३)

उत्कृष्ट देशावधिज्ञान असंयतों को नहीं होता है। जघन्य ज्ञान संयमी, असंयमी मनुष्य और तिर्यंच के ही होता है, देव-नारकी को नहीं।

परमावधिज्ञान: परम, असंख्यात लोक मात्र संयमभेद ही जिस ज्ञान की अवधि है अर्थात् मर्यादा है वह परमावधिज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान उसी भव से मोक्ष जाने वाले दिगम्बर मुनिराजों के ही होता है। इस ज्ञान के प्रतिपाति और अप्रतिपाति ऐसे दो भेद और होते हैं।(कहीं कहीं ऊपर लिखे हुए छः भेदों को देशावधि ज्ञान के भेद स्वरूप लिखा है, इसलिए कुल आठ भेद देशावधि ज्ञान के होते हैं, ऐसा भी जानना चाहिए।)

(ध.१३/३२३)

सर्वावधिज्ञान: सर्व का अर्थ केवलज्ञान है, उसका विषय जो जो अर्थ होता है, वह भी उपचार से सर्व कहलाता है। सर्व अवधि अर्थात् मर्यादा जिस ज्ञान की होती है वह सर्वावधिज्ञान है।

यह निर्गंथों के, चरमशरीरी तपोधनों के ही होता है। यह अविकल्प ज्ञान है।

20/02/20, 5:14 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

20/02/20, 9:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पहला भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियों के होता है।

अब 22 वें सूत्र में आचार्य उमास्वामी महाराज दूसरे  क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञान के छह भेद बता रहे हैं जो शेष

अर्थात् मनुष्यों और तिर्यंचों के होता है।मनुष्यों और तिर्यंचों में भी हर किसी के यह नहीं होता , बल्कि जो सामर्थ्यवान ( capable ) होते हैं , उनके ही यह ज्ञान होता है। असंज्ञी और अपर्याप्तकों के तो यह सामर्थ्य होती ही नहीं कि वे यह ज्ञान प्राप्त कर सकें , संज्ञी और पर्याप्तक में भी सबके यह सामर्थ्य नहीं हो सकती।यथोचित सम्यग्दर्शन आदि निमित्त प्राप्त होने के कारण जिनके अवधिज्ञानावरण कर्म शान्त और क्षीण हो गया है , वे ही इस सामर्थ्य को पा सकते हैं।

यह क्षयोपशम निमित्तकअवधिज्ञान अनुगामी , अननुगामी , वर्धमान , हीयमान , अवस्थित और अनवस्थित के भेद से छह प्रकार का होता है तथा देशावधि , परमावधि और सर्वावधि की अपेक्षा से तीन प्रकार का होता है।

क्रमशः

20/02/20, 10:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 1) अनुगामी - यह सूर्य के प्रकाश की तरह अपने स्वामी का भव भव में अनुसरण( follow ) करता है।

अननुगामी - यह अनुगामी का विपरीतार्थक है।यह अपने स्वामी को follow नहीं करता ।जैसे विमुख हुए पुरुष के प्रश्न के उत्तर में दूसरा पुरुष जो कहता है वह वहीं छूट जाता है , विमुख पुरुष उसे ग्रहण नहीं कर पाता - उसी प्रकार यह अवधिज्ञान भी वहीं छूट जाता है।

*वर्धमान* अर्थात् जो निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहे। जिस प्रकार जंगल की आग या सूखे पत्तों के ईन्धन के समूह से अग्नि वृद्धि को प्राप्त होती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन आदि गुणों के विशुद्ध परिणामों से जितने परिमाणों में यह ज्ञान उत्पन्न होता है उससे असंख्यात लोक को जानने की योग्यता होने तक बढता चला जाता है।

क्रमशः

21/02/20, 10:35 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *हीयमान* वर्द्धमान अवधिज्ञान लगातार बढते ही जाता है , इसके ठीक विपरीत यह ज्ञान घटते जाता है।सम्यग्दर्शन के विशुद्ध परिणामों से उत्पन्न वर्द्धमान अवधिज्ञान जंगल की आग की तरह या शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह की तरह अन्तिम सीमा तक वृद्धि को प्राप्त होता जाता है , इसके विपरीत सम्यग्दर्शन आदि गुणों की हानि से हुए संक्लेश परिणामों के बढने से जितने परिमाण में अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उससे मात्र अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जाने की योग्यता होने तक कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा की तरह लगातार घटते चला जाता है जिसे *हीयमान अवधिज्ञान* कहते हैं।

*अवस्थित* अर्थात् ज्यों का त्यों ( as it is ) सम्यग्दर्शन आदि गुणों के समान रूप से स्थिर होने के कारण जितने परिमाण में यह ज्ञान उत्पन्न होता है उतना ही बना रहता है । जिस प्रकार हमारे शरीर में मसा आदि का चिह्न ज्यों का त्यों बना रहता है , न घटता है न बढता है , वैसे ही पर्याय के नाश होने तक या केवलज्ञान प्राप्त होने तक यह ज्ञान एक समान अवस्था में विद्यमान रहता है।

*अनवस्थित* जिस प्रकार हवा के वेग से प्रेरित जल की तरंगें कभी  उछाल खाती हैं कभी नीचे गिरती हैं उसी प्रकार अनवस्थित अवधिज्ञान एक सा नहीं रहता।सम्यग्दर्शन आदि गुणों की वृद्धि होने से जहां तक बढना चाहिए बढता है और इन गुणों की हानि होने से जहाँ तक इसे घटना चाहिए , यह घटता है।

लिखने का आधार -

आचार्य पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* की संस्कृत टीका *सर्वाथसिद्धि* का सिद्धान्ताचार्य पं फूलचन्द जी शास्त्री द्वारा किये गये हिन्दी अनुवाद से।

21/02/20, 1:48 pm - Ashok Jain: अब आगे मन:पर्यय ज्ञान के भेदों के बारे में जानते हैं-

मन:पर्यय ज्ञान के भेद:

*ऋजुविपुलमती मन: पर्यय:॥२३॥*

सूत्रार्थ: (मन: पर्यय:) मन: पर्ययज्ञान (ऋजुविपुलमती) ऋजुमति और विपुलमति के दो भेदरूप (भवति) होता है।

मन: पर्यय: जो द्रव्य क्षेत्र काल एवं भाव की मर्यादा में, बिना अन्य की सहायता के दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जाने, उसे मन: पर्ययज्ञान कहते हैं।(मन: पर्यय ज्ञान का स्वरूप पहले बता चुके हैं)

यहां पर हमें भेदों के बारे में जानना है।

१) ऋजुमति मन: पर्ययज्ञान: मन वचन और काय (त्रियोग) की सरलता से स्पष्ट विचारे गये दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जानने वाला ज्ञान ऋजुमति कहलाता है।

निर्वर्तित और सरल रूप जो मति है वह ऋजु कहलाती है क्योंकि सरल रूप से चिन्तित त्रियोग द्वारा स्मृत ऐसे पर के मन में स्थित पदार्थ को जानती है, वह ऋजुमति मन: पर्यय ज्ञान है।

( सुख बो त वृ ४८)

२) विपुलमति मन: पर्यय ज्ञान: दूसरे के मन में गूढ़ अथवा जटिल रूप में स्थित रूपी पदार्थ को जानने वाला ज्ञान विपुल मतिज्ञान कहलाता है।

विपुल का अर्थ अनिर्वर्तन और कुटिल है, क्योंकि परकीय मनोगत अनिर्वर्तित या वक्र मन-वच-काय सम्बंधी पदार्थ को जानता है वह विपुलमति मन: पर्यय ज्ञान है। दूसरे की मति में स्थित पदार्थ मति कहा जाता है।(रा वा १३)

21/02/20, 1:48 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

21/02/20, 9:41 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): वीर्यान्तराय और मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के आलम्बन से आत्मा में दूसरे के सम्बन्ध से जो उपयोग जन्म लेता है उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान काल की अपेक्षा जघन्य से दो तीन भवों को तथा उत्कृष्ट से सात आठ भवों का कथन करता है।

विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान काल की अपेक्षा से जघन्य से सात आठ भवों को ग्रहण करता है तथा उत्कृष्ट से असंख्यात भवों का कथन करता है।

ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति में मन की अपेक्षा रहती है।यह ज्ञान पहले मतिज्ञान के द्वारा दूसरों के मन में स्थित विषय को जानकर उसका नाम , स्मृति , चिन्ता , जीवन-मरण ,इष्ट- अनिष्ट , सुख- दुख , ग्राम - नगर आदि की समृद्धि या विनाश आदि विषयों को जानता है।

विपुलमति मनःपर्ययज्ञान वर्तमान में चिन्तन किये गये अर्थ को तो जानता ही है , चिन्तन करके भूले हुए विषय को भी जानता है तथा जिसका आगे चिन्तन किया जाना है उसे भी जानता है

22/02/20, 1:48 pm - Ashok Jain: ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता(अंतर)

*विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद् विशेष:॥२४॥*

सूत्रार्थ: (विशुद्धि-अप्रतिपाताभ्याम्) विशुद्धि और अप्रतिपात से (तद्विशेष:) ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता (विद्यते) है।

विशुद्धि: मन: पर्यय ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मपरिणामों में जो निर्मलता आती है उसको विशुद्धि कहते हैं।(रा. वा. उ.)

अप्रतिपाति: चारित्र मोहनीय कर्म के उद्रेक से संयम के शिखर से च्युत हुए उपशांत कषायी जीवों का मन: पर्यय प्रतिपाती होता है परन्तु क्षीणकषायी बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के प्रतिपाति कारणों का अभाव होने से अप्रतीपाती है।(रा. वा. उ.)

ऋजुमति से विपुलमति अधिक विशुद्ध होता है।

ऋजुमति होकर छूट भी सकता है, किंतु विपुलमति केवलज्ञान होने तक बराबर बना रहता है।

सभी गणधर विपुल मतिज्ञान के धारी होते हैं अतः उसी भव से मोक्ष जाते हैं।

गणधर देव उपशम श्रेणी आरोहण नहीं करते इसलिए अप्रतिपाति हैं।

ऋजुमति; विपुलमति बन सकता है लेकिन विपुलमति कभी ऋजुमति नहीं बनता।

विपुलमति ज्ञान वर्द्धमान चारित्र वालों के ही होता है।

(प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

22/02/20, 7:30 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): मनःपर्यय ज्ञान के भेदों का वर्णन करने के बाद आचार्य महाराज अब 24 वें सूत्र में ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं *विशुद्धप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः* ।

*विशुद्धि*+ *अप्रतिपाभ्यां* अर्थात् परिणामों की विशुद्धता + अप्रतिपात इन दो कारणों से *तत्  + विशेषः* अर्थात् ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता है।

1)मनःपर्ययज्ञानावरण के क्षयोपशम होने से आत्मा में जो निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं।

2) गिरने का नाम *प्रतिपात* है और नहीं गिरना *अप्रतिपात* कहलाता है।

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उपशान्त कषाय जीव का चारित्र संयम के शिखर से फिसल जाता है जिससे  उसका मनःपर्यय ज्ञान ( ऋजुमति)प्रतिपाती होता है।

क्षीणकषाय जीव के कोई पतन का कारण नहीं होता जिससे उसका मनःपर्यय ज्ञान ( विपुलमति ) अप्रतिपाती होता है।

*विशुद्धि की अपेक्षा से दोनों ज्ञान में अन्तर*

कार्मण द्रव्य का अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्व अवधिज्ञान का विषय है , उसका भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह ऋजुमति का विषय है।इसका भी अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है , वह विपुलमति का विषय है। ये अनन्त के भी अनन्त भेद उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि विपुलमति ज्ञान सूक्ष्म से भी सूक्ष्म विषय को ग्रहण करने के कारण तथा नीचे नहीं गिरने के कारण ऋजुमति से श्रेष्ठ है, विशिष्ट है।

23/02/20, 11:39 am - Ashok Jain: अवधिज्ञान और मन: पर्यय ज्ञान में अन्तर

*विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मन: पर्यययो:॥२५॥*

सूत्रार्थ: (अवधिमन: पर्यययो) अवधि और मन:पर्यय ज्ञान में (विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्म:) विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी, और विषय की अपेक्षा (विशेष: भवति) विशेषता होती है।

23/02/20, 12:24 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): मनःपर्यय ज्ञान के दोनों भेदों का विशेष ज्ञान कराने के बाद अब गुरुदेव आगे अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में किस अपेक्षा से अन्तर है , यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा से अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में भेद है या विशेषता है।

१) *विशुद्धता* - विशुद्धि का अर्थ है निर्मलता।अवधिज्ञान से मनःपर्यय ज्ञान ज्यादा विशुद्ध है क्योंकि मनःपर्यय ज्ञान का विषय सूक्ष्म है।

२) *क्षेत्र* - अवधिज्ञान का विषय क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर असंख्यात लोक प्रमाण तक है जबकि मनःपर्यय ज्ञान का विषय क्षेत्र ४५ लाख योजनवर्ती मनुष्य लोक तक ही सीमित है।यह ज्ञान अधिक से अधिक मानुषोत्तर पर्वत के भीतर तक के क्षेत्र को ही जानता है। अतः क्षेत्र की अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान का क्षेत्र अवधिज्ञान से कम है।

३) *स्वामी* अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है क्योंकि यह संयम निरपेक्ष ज्ञान है । इसके उत्पन्न होने के लिए संयम की अनिवार्यता नहीं है।लेकिन मनःपर्यय ज्ञान हर किसी को नहीं हो सकता। यह ज्ञान छठे गुणस्थान *प्रमत्त संयत* से लेकर बारहवें *क्षीणकषाय* तक के उत्कृष्ट चारित्रयुक्त जीवों के ही पाया जाता है ।उनमें भी सबको यह ज्ञान नहीं हो सकता। प्रवर्द्धमान चारित्र वालों के ही होता है , घटते हुए चारित्र वालों के नहीं।उत्तरोत्तर वृद्धिगत चारित्र में भी सबके नहीं हो सकता। सात प्रकार की ऋद्धि में कोई एक ऋद्धिधारी मुनिराज के ही हो सकता है।

४) *विषय* अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्यायों सहित रूपी द्रव्य है जबकि मनःपर्यय ज्ञान का विषय उसका अनन्तवाँ भाग है।

23/02/20, 1:26 pm - Ashok Jain: उदाहरण से विशुद्धि समझते हैं:

जैसे एक विद्वान बहुत शास्त्रों को जानता है, परंतु पूरा नहीं जानता, एक देश जानता है। और एक विद्वान एक शास्त्र को जानता है परंतु पूर्ण रूप से जानता है। इन दोनों में अल्प अल्प जानने वाले से एक शास्त्र के सूक्ष्म अर्थों को तलस्पर्शी गंभीर व्याख्याओं से जानने वाल प्रगाढ़ विद्वान माना जाता है, उसी प्रकार अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवें भाग जानने वाला मन:पर्यय ज्ञान विशुद्धतर है क्योंकि वह रूपादि बहुत सी पर्यायों के द्वारा अनन्त भाग का वर्णन करता है।(रा वा १)

क्षेत्र: जैसा ऊपर बताया गया है- क्षेत्रापेक्षा मन:पर्यय ज्ञान से अवधिज्ञान का क्षेत्र परमक्षेत्रपने को प्राप्त हो रहा है।(श्लो ४/३७)

स्वामी: इन दोनों ज्ञानों में भी मन:पर्यय ज्ञान विशिष्ट है क्योंकि वह विशिष्ट जनों के ही होता है।(श्लो ४/३७)

विषय: समस्त रूपी और अरूपी (पुद्गल से बंधे) अर्थों को विषय करने वाला मन:पर्यय ज्ञान अवधिज्ञान से विशिष्ट है।(श्लो ४/३७)

24/02/20, 9:25 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अब आगे मति -श्रुत ज्ञान का विषय समझाते हुए आचार्य देव अगले 26 वें सूत्र में  कहते हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सभी द्रव्यों में होती है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रूपी- अरूपी सभी द्रव्यों को तो जानते हैं , परन्तु उसकी सभी पर्यायों को नहीं जान पाते।

पाँच इन्द्रियों के अलावा एक इन्द्रिय और होती है जिसे हम अनिन्द्रिय या मन कहते हैं।इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर जीव के अनिन्द्रिय के द्वारा धर्मादि द्रव्यों की पर्यायों का अवग्रह आदि रूप से ग्रहण होता है।मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान भी उन विषयों में प्रवृत्त होता है।अतः मति और श्रुति के द्वारा हम धर्मादि अरूपी द्रव्यों की पर्यायों को जानते हैं।

सूत्र में आचार्य महाराज द्वारा वर्णित *द्रव्येषु* बहुवचन पद का निर्देश करते हुए जीव , पुद्गल , धर्म , अधर्म , आकाश और काल इन सभी द्रव्यों के विशेषण रूप से *असर्वपर्यायेषु* पद का ग्रहण करता है।

*असर्वपर्यायेषु* सर्व का अर्थ होता है सभी , असर्व का अर्थ है सभी नहीं , कुछ , सभी पर्यायों से रहित अर्थात्  वे सभी द्रव्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के विषयभाव को प्राप्त होते हुए कुछ पर्यायों द्वारा ही  विषय भाव को प्राप्त करते हैं।सभी पर्यायों के द्वारा नहीं करते और अनन्त पर्यायों के द्वारा भी नहीं करते।

25/02/20, 10:55 am - Ashok Jain: ये दोनों ज्ञान द्रव्य की अनन्त पर्यायों को क्यों नहीं जानते?

।

सर्व अनन्त पर्याय मतिज्ञान का विषय नहीं है, क्योंकि मतिज्ञान चक्षुआदि इन्द्रियों के अवलम्बनभूत है इसलिए जिस द्रव्य में रूपादि है उसी को जानते हैं, उसकी भी सर्व पर्यायों को नहीं जान सकते हैं।

श्रुतज्ञान भी प्राय: शब्द निमित्तक होता है। वे शब्द संख्यात ही हैं और द्रव्य-पर्यायें संख्यात, असंख्यात अनन्त भेद रूप हैं अतः वे संख्यात शब्द सर्व पर्यायों को विषय नहीं कर सकते। कहा भी है- शब्दों के द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थों से वचनातीत पदार्थ अनन्तगुणे हैं और जितने प्रज्ञापनीय (कहने योग्य) पदार्थ हैं उसके अनन्तवें भाग पदार्थ श्रुत में निबद्ध होते हैं।

(रा वा ४)

25/02/20, 11:22 am - Ashok Jain: अवधिज्ञान का विषय

*रूपिष्ववधे:॥२७॥*

सूत्रार्थ: (अवधे:) अवधिज्ञान का (विषय:) विषय सम्बन्ध (रूपिषु) रूपी पदार्थों में (अस्ति) है।

अर्थात् अवधिज्ञान पुद्गल द्रव्य की कुछ पर्यायों को ही जानता है।

25/02/20, 7:05 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के अनन्तर निर्देश के योग्य अवधिज्ञान का विषय क्या है यह आगे के 27 वें सूत्र में आचार्य देव समझाते हैं-

१) पिछले सूत्र से *विषयनिबन्धः* पद की अनुवृत्ति होती है अर्थात् *विषयसम्बन्धः* पद मौन होते हुए भी यहाँ उच्चरित होता है कि अवधिज्ञान का विषय सम्बन्ध *रूपिषु* अर्थात् रूपी द्रव्यों में है अर्थात् अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों को जानता है।

२) इस सूत्र द्वारा *रूपी पदार्थों* में ही अवधिज्ञान का विषय सम्बन्ध है *अरूपी पदार्थों* में नहीं , ऐसा नियम किया गया है।

३) अवधिज्ञान रूपी पुद्गल और कर्मसहित संसारी जीव की कुछ पर्यायों को विषय करता है।

४) अवधिज्ञान रूपी पदार्थों को जानता हुआ भी उनकी अपने योग्य अल्प पर्यायों को विषय करता है।

५) पुद्गल की और संसारी जीव की अनन्त पर्यायों में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। इस अपेक्षा से 26 वें सूत्र का *असर्वपर्यायेषु* पद का यहाँ भी ग्रहण करना चाहिए जो कि मौन होते हुए भी पिछले पद की पुनरावृत्ति करता है कि पुद्गल या पुद्गल से बद्ध *सर्व* पर्यायों को यह ज्ञान विषय नहीं करता , अपितु *असर्व* पर्यायों को अर्थात् कुछ पर्यायों को विषय करता है।

26/02/20, 10:38 am - Ashok Jain: अवधिज्ञान का विषय भी 'असर्वपर्यायेषु' है।

जैसे "जिनदत्त के लिए कम्बल और देवदत्त के लिए गाय दो।" इसमें 'दो' शब्द दोनों के लिए है, उसी प्रकार पूर्व सूत्र से 'असर्वपर्यायेषु' लगा लेना चाहिए।(रा वा ४)

अवधिज्ञान रूपी द्रव्यों की कुछ पर्यायों को और जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भावों को जानता है। क्योंकि इनमें रूपी कर्म का सम्बंध है तथा रूपी कर्म के सम्बंध का अभाव होने से क्षायिक भाव, पारिणामिक भाव तथा धर्मादि द्रव्यों को अवधिज्ञान विषय नहीं करता, अवधिज्ञान इनको नहीं जानता है।

(रा वा ४)

26/02/20, 1:13 pm - Ashok Jain: मन: पर्ययज्ञान का विषय

*तदनन्त-भागे मन:पर्ययस्य॥२८॥*

सूत्रार्थ: (मन: पर्ययस्य) मन: पर्ययज्ञान का (विषय:) विषय सम्बन्ध (तदनन्तभागे) सर्वावधिज्ञान, [अवधिज्ञान का उत्कृष्ट भेद] के विषयभूत रूपी द्रव्य के अनन्तवें [सूक्ष्म] भाग में (अस्ति) है।

26/02/20, 7:23 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अब आगे मनःपर्यय ज्ञान का विषय सम्बन्ध क्या है ? यह बतलाने के लिए आचार्य देव अगला 28 वाँ सूत्र कहते हैं

अभी हमने पढा कि अवधिज्ञान का विषय कतिपय पर्यायों सहित रूपी द्रव्य है और उस रूपी द्रव्य के अनन्त भाग करने पर उसके एक भाग में मनःपर्यय ज्ञान प्रवृत्त होता है।

इसलिए अवधिज्ञान से मनःपर्यय ज्ञान का विषय अत्यंत सूक्ष्म है।

27/02/20, 10:34 am - Ashok Jain: मन: पर्यय ज्ञान भी अनादि अनंत पर्यायों को जानने वाले ज्ञान का आवरण करने वाले ज्ञान का क्षयोपशम होना असम्भव है, इसलिए 'असर्वपर्यायेषु' शब्द यहां भी ग्रहण करना चाहिए।

'सूक्ष्म' ज्ञान मन: पर्ययज्ञान का विषय है इसे उदाहरण से समझते हैं- सर्वावधिज्ञान एक पूरे अनार को जानता है और मन: पर्ययज्ञान अनार के एक-एक दाना को जानता है।

27/02/20, 10:47 am - Ashok Jain: केवलज्ञान का विषय

*सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य॥२९॥*

सूत्रार्थ: (केवलस्य) केवलज्ञान का (विषय:) विषय सम्बन्ध (सर्वद्रव्यपर्यायेषु) सब द्रव्यों में और उनकी सब पर्यायों में (अस्ति) है।

27/02/20, 7:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अब अन्त में केवलज्ञान का विषय क्या है , यह बतलाते हुए कहते हैं कि *केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है।*

जीव द्रव्य अनन्तानन्त है , पुद्गल द्रव्य इससे भी अनन्तानन्त गुणे हैं जिनके अणु और स्कन्ध - ये दो भेद हैं। धर्म , अधर्म और आकाश - ये तीन हैं और काल असंख्यात हैं।इन सभी द्रव्यों की अलग अलग तीनों कालों में होने वाली अनन्तानन्त पर्यायें हैं।

इन सभी द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है।तीनों लोकों में ऐसा कोई द्रव्य या ऐसी कोई पर्याय नहीं है जो केवलज्ञान का विषय न हो।केवलज्ञान का महत्व सीमाहीन है , इस बात का ज्ञान कराने के लिए ही आचार्य देव ने इस सूत्र में *सर्वद्रव्यपर्यायेषु* पद कहा है।

27/02/20, 8:30 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): छहढाला की चौथी ढाल के तीसरे काव्य में महाकवि दौलतराम जी *केवलज्ञान* का वर्णन करते हुए कहते हैं

सकल द्रव्यके गुन अनन्त परजाय अनन्ता।

जानै एकै काल प्रगट केवलि भगवन्ता॥

ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारन।

इहि परमामृत जन्म जरा-मृत-रोग- निवारन॥3॥

तीसरे काव्य में दौलतराम जी कहते हैं कि सभी द्रव्यों के अनन्त गुण और पर्यायों को केवली भगवान एक साथ प्रत्यक्ष जानते हैं।यह केवलज्ञान लोक और अलोक के समस्त चराचर विषयों को जानता है।इसीलिये यह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान है।अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष ज्ञान हैं क्योकि ये दोनों सीमित पदार्थो को ही विषय बनाते हैं । केवलज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायों को एकसाथ स्पष्ट जानता है।

इस संसार में ज्ञान के बराबर सुख और किसी वस्तु में नहीं मिल सकता।जो सम्यग्ज्ञान हमारे जन्म-जरा और मृत्यु रूपी महा भयंकर रोग का समूल विनाश कर हमें मुक्ति महल में विराजित करने में समर्थ है उससे उत्तम अन्य औषधि भला क्या हो सकती है-उससे उत्कृष्ट अन्य कौन सा अमृत हो सकता है अर्थात् कोई भी नहीं।

27/02/20, 9:32 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): यहाँ चार सूत्रों में पाँचों ज्ञानों के विषय का निर्देश किया गया है।यह तो स्पष्ट ही है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मन की सहायता से प्रवृत्त होते हैं , इसलिए इसका विषय मूर्तिक पदार्थ ही हो सकता है , परन्तु मन विकल्प द्वारा रूपी और अरूपी सभी पदार्थों को जानता है, इसीसे इन दोनों ज्ञानों का विषय छहों द्रव्य और उनकी कुछ पर्यायों को बतलाया है।

अवधिज्ञान यद्यपि बाह्य सहायता के बिना प्रवृत्त होता है , पर यह क्षायोपशमिक होने से उसका विषय मूर्तिक पदार्थ ही हो सकता है।इसीलिए अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ कहा है।

मनःपर्यय भी क्षायोपशमिक होता है , इसलिए उसका विषय यद्यपि रूपी पदार्थ है , पर यह रूपी पदार्थों को मन की पर्यायों द्वारा ही ग्रहण करता है, इससे इसका विषय अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग प्रमाण कहा है ।

केवलज्ञान निरावरण होता है, इसलिए उसका विषय सब द्रव्य और उनकी सभी पर्यायें हैं , ऐसा कहा है।

28/02/20, 11:26 am - Ashok Jain: निरविशेष का ज्ञान कराने के लिए 'सर्व' शब्द को ग्रहण किया गया है। लोक और अलोक में त्रिकालविषयक जितने भी अनंतानंत द्रव्य और पर्यायें हैं उन सब में केवलज्ञान के विषय का निबन्ध है। जितने ये अनंतानंत लोक-अलोक द्रव्य हैं इनसे भी अनन्त गुणे लोक और अलोक और भी होते तो भी केवलज्ञान जान सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का महात्म्य अपरिमित है, ऐसा जानना चाहिए।(रा वा ९)

*जैसे आकाश सर्वोत्कृष्ट परिणाम वाला है वैसे हम जैनों का केवलज्ञान सर्वोत्कृष्ट प्रमाण वाला ज्ञान है।*

(सुख बो त वृ ५४-५५)

28/02/20, 12:32 pm - Ashok Jain: एक साथ एक आत्मा में रहने वाले ज्ञानों की संख्या

*एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः॥३०॥*

सूत्रार्थ: (एकस्मिन) एक जीव में (युगपत्) एक साथ (एकादीनि) एक को आदि लेकर (आचतुर्भ्यः) चार ज्ञान तक (भाज्यानि) विभाजित करना चाहिए।

अर्थात् कम-से-कम एक ज्ञान (केवलज्ञान) और अधिक-से-अधिक (शेष) चार ज्ञान एक साथ हो सकते हैं।

28/02/20, 8:57 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): एक आत्मा में एक साथ एक ज्ञान से लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं।

1) यदि एक ज्ञान होता है तो केवलज्ञान होता है।उसके साथ दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते।

2) दो होते हैं तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होता है।

3) तीन ज्ञान होते हैं तो मतिज्ञान , श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान या अवधिज्ञान की जगह मनःपर्यय ज्ञान होता है।

4) चार ज्ञान होते हैं तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान होते हैं।

28/02/20, 9:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): हमने सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद पढे , फिर भी एक आत्मा में पाँचों ज्ञान कभी नहीं हो सकते। केवलज्ञान ज्ञान की सर्वोच्चता है । समस्त ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से ही यह ज्ञान उत्पन्न होता है , जिसके प्रकट होते ही जीव आत्मा से परमात्मा पद को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार महाप्रतापी सूर्य के

प्रकट होते हैं तारागण विलीन हो जाते हैं , उनका कोई अस्तित्व नहीं रह.जाता उसी प्रकार केवलज्ञान प्रकट होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान उसमें समाहित हो जाते हैं और केवलज्ञान अकेला रह जाता है। केवलज्ञान को इन्द्रिय , मन , प्रकाश आदि बाह्य साधनों के आलम्बन की कोई जरूरत नहीं होती , इसीलिए यह ज्ञान असहाय कहलाता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक दूसरे के सहचर हैं। संसार के समस्त प्राणियों को केवलज्ञान की प्राप्ति के पहले तक ये दोनों ज्ञान अनिवार्य रूप से रहते हैं।किन्हीं किन्हीं जीवों को इन दोनों ज्ञानों के साथ अवधिज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान भी होता है और कुछ भव्यों को एक साथ चारों क्षायोपशमिक ज्ञान भी हो सकते हैं।

29/02/20, 9:53 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 30 वें सूत्र में आचार्य देव ने इस बात का निर्देश किया है कि आत्मा में कम से कम और अधिक से अधिक कितने ज्ञान हो सकते हैं। यह बात स्पष्ट है कि ज्ञान एक है , अतः उसकी पर्याय भी एक काल में एक ही हो सकती है। फिर भी यहाँ आत्मा में एक साथ कई ज्ञान होने का निर्देश किया है उसका कारण कुछ और हैं।

जब ज्ञान आवरण रहित अर्थात् निरावरण होता है तब उसमें हम किसी प्रकार का भेद नहीं कर सकते । ऐसी अवस्था में एक केवलज्ञान का ही प्रकाश माना गया है।

इसके विपरीत आवरण सहित जितने भी ज्ञान होते हैं वे सब क्षायोपशमिक ही होते हैं और क्षयोपशम एक साथ कई प्रकार का हो सकता है।इसलिए सावरण अवस्था में दो , तीन या चार ज्ञान की सत्ता युगपत् मानी गयी है।इसका तात्पर्य यह नहीं कि जब दो , तीन या चार ज्ञान की सत्ता रहती है तब वे सभी ज्ञान उपयोग रूप हो सकते हैं।उपयोग तो एक काल में एक ही ज्ञान का होता है , अन्य ज्ञान लब्धि रूप में रहते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसा कोई क्षण नहीं जब ज्ञान की कोई उपयोगात्मक पर्याय प्रकट न हो । सावरण अवस्था में एक काल में प्रारम्भ की चार पर्यायों में से किसी एक पर्याय का उदय रहता है , फिर भी युगपत् दो , तीन और चार ज्ञानों की सत्ता को मानने का कारण एकमात्र निमित्त भेद है ।

जब मति और श्रुत - इन दो पर्यायों के प्रकट होने का क्षयोपशम विद्यमान रहता है तब युगपत् दो ज्ञानों का सद्भाव कहा जाता है , इसी प्रकार तीन पर्यायों के प्रकट होने का क्षयोपशम विद्यमान होने से तीन ज्ञानों का सद्भाव और चार पर्यायों का क्षयोपशम विद्यमान होने से युगपत् चार ज्ञानों का सद्भाव माना जाता है । यही कारण है कि इस सूत्र में एक साथ एक आत्मा के एक , दो , तीन या चार ज्ञान हो सकते हैं , ऐसा कहा गया है।

लिखने का आधार - आदरणीय पण्डित फूलचंद जी शास्त्री द्वारा लिखित *सर्वार्थसिद्धि* की टीका से।

29/02/20, 11:28 am - Ashok Jain: मति आदि ज्ञान सम्यक् ही होते हैं या मिथ्या भी-

*मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च॥३१॥*

सूत्रार्थ: (मति-श्रुत-अवधय:) मति श्रुत और अवधिज्ञान (विपर्यय:) विपरीत यानी मिथ्या होते हैं (च) और सम्यक भी होते हैं।

मिथ्याज्ञान: जो वस्तु के स्वभाव को नहीं पहचानता है अथवा उलटा पहिचानता है या निरपेक्ष मानता है वह मिथ्याज्ञान है।(न च वृ गा. २४०)

संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीनों के कारण सम्यग्ज्ञान में दोष लगता है और ज्ञान मिथ्याज्ञान हो जाता है।

दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जो परिणाम होते हैं उस मिथ्यात्व के साथ एकार्थ समवाय होने पर ये तीनों ज्ञान विपरीत हो जाते हैं।(रा वा १)

*मति और श्रुत ज्ञान में संशय विपर्यय और अनध्यवसाय तीनों प्रकार की विपरीतता पाई जाती है, और अवधिज्ञान में संशय के बिना ही विपर्यय एवं अनध्यवसाय रूप दो प्रकार की विपरीतता होती है* (श्लो.४/११८)

29/02/20, 11:36 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

सम्यग्ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप है।पदार्थो का सत्स्वरूप जानना ही सम्यग्ज्ञान है तथा सम्यग्ज्ञान आत्मा के निज रूप को छोड़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है।जिस ज्ञान में संशय , विपर्यय और अनध्यवसाय भाव रहते हैं वह मिथ्याज्ञान है।

संशय का लक्षण यह है कि जो ज्ञान एक साथ एक पदार्थ का अनेक कोटियों से ग्रहण करे वह संशयज्ञान कहलाता है।जैसे सीप को देखकर यह ज्ञान होना कि यह सीप है या चाँदी है ?.यहाँ पर ज्ञान का निश्चय न तो सीप में है न चाँदी में।दोनों कोटियों में बराबर है,अतः यह संशयज्ञान है।

जो ज्ञान पदार्थ के स्वरूप से विपरीत कोटि को निश्चय रूप से ग्रहण करे उसे विपर्यय ज्ञान कहते हैं।जैसे सीप को देखकर यह निश्चय हो जाना कि यह चाँदी ही है।यहाँ पर वस्तु स्वरूप सीप है ,परन्तु सीप से बिल्कुल विपरीत चाँदी का ज्ञान सीप में निश्चय रूप से हुआ है।अतः यह विपर्यय ज्ञान है।

अनध्यवसाय इन दोनों से भिन्न ज्ञान है।उसमें पदार्थ का बोध ही नहीं हो पाता कि वह क्या है ? अविदित एवं मलिन ज्ञान की कोटि को अनध्यवसाय कहते हैं।जैसे रास्ते चलते किसी तृण आदि का स्पर्श हुआ हो तो यह ज्ञान ही नहीं होता कि किस वस्तु का स्पर्श हुआ है, किन्तु कुछ स्पर्श हुआ है।बस इतना ही ज्ञान रहता है।इसी मलिन या बिना जानी हुई पर्याय को अनध्यवसाय कहते हैं।ये ज्ञान के तीनों ही रूप मिथ्या हैं।वस्तु स्वरूप से विपरीत हैं।इसलिए जो ज्ञान इन तीनों मिथ्याज्ञानों से रहित होता है वही सम्यग्ज्ञान होता है।

आदरणीय पण्डित मक्खन लाल जी शास्त्री द्वारा रचित " पुरुषार्थसिद्ध्युपाय " ग्रन्थ के ३५ वें श्लोक की टीका के कुछ अंश।

29/02/20, 3:41 pm - Ashok Jain: ज्ञानों के मिथ्या होने का कारण

*स-दसतोरवि-शेषाद्-यदृच्छोप-लब्धे रून्मत्तवत्॥३२॥*

सूत्रार्थ: (यद् ऋच्छा उपलब्धे:) अपनी इच्छानुसार जैसा का तैसा जानने के कारण (सद् असतो:) सत्य और असत्य पदार्थों में (अविशेषात्) अन्तर या भेद न होने से (उन्मत्तवत्) पागल- मदमस्त मनुष्य के ज्ञान की तरह (विपर्यय:) मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्या (जायते) होता है।

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त हुआ व्यक्ति कभी माता को पत्नी और कभी पत्नी को माता कहता है और कभी माता को माता और पत्नी को पत्नी भी कहता है। फिर भी वह ठीक समझ कर ऐसा नहीं कहता। इसी तरह मिथ्यादृष्टि भी घट पट आदि पदार्थों को जानता है परंतु मिथ्यात्व के उदय होने से यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञान उसे नहीं होता।

कुश्रुतज्ञान परोपदेश पूर्वक और कुशास्त्रों से होता है इसे *आहार्य विपर्यय* कहते हैं।

और कुमतिज्ञान एवं कुअवधि या विभंगज्ञान (मिथ्या देशावधि ज्ञान) ये दोनों सहज होते हैं और कभी-कभी कुश्रुतज्ञान भी परोपदेश के बिना हो जाता है, इसे *सहज विपर्यय* कहते हैं। (श्लो ४/१३० पर आधारित)

01/03/20, 1:42 pm - Ashok Jain: नयों के भेद

*नैगम-संग्रह-व्यवहा-रर्जु-सूत्र-शब्द-समभिरूढै-वं-भूतानया:॥३३॥*

सूत्रार्थ: (नैगम-संग्रह-व्यवहार-ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ-एवंभूता:) नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय (नया:) ये सात नय हैं।

नय: वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म की मुख्यता कर अन्य धर्मों का विरोध नहीं करते हुए पदार्थ का जानना नय कहलाता है।

शब्द की अपेक्षा नयों के एक से लेकर असंख्यात विकल्प हैं। यहां न तो अति संक्षेप से और न अधिक विस्तार से मध्यम रीति से *प्रमाणनयैरधिगम:* (सूत्र संख्या १/६) में वर्णित दो नयों ( द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक) के सात भेदों का वर्णन समझते हैं।

१) नैगम नय: नैगम का अर्थ संकल्प- मात्र है। जैसे कोई भात पकाने की तैयारी मात्र कर रहा है, सामग्री इकठ्ठा कर रहा है और उससे कोई पूछे क्या कर रहे हो और वह बोले भात पका रहा हूं। जबकि अभी वह संकल्पमात्र है, पका नहीं रहा है। अतः जो पर्याय अभी निष्पन्न नहीं हुई, वह उसका संकल्पमात्र का व्यवहार कर रहा है, उसे नैगमनय कहते हैं।

२) संग्रह नय: व्यवहार की अपेक्षा न करके जो सत्तदि रूप से सकल पदार्थों का संग्रह करता है, वह संग्रह नय है (ध१३/१९९) जैसे द्रव्य कहने से समस्त द्रव्यों का ग्रहण करता है।

३) व्यवहार नय: जो नय संग्रहनय के द्वारा ग्रहण किये हुए ज्ञात पदार्थों का जहां तक भेद हो सके, वहां तक भेद करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं। जैसे द्रव्य के छः भेद करना।

*उक्त तीनों द्रव्यार्थिकनय हैं।*

*अब पर्यायार्थिक नय समझते हैं।*

४) ऋजुसूत्रनय: भूत और भावि पर्यायों को छोड़कर जो वर्तमान *स्थूल पर्यायों* को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

५) शब्दनय: जो नय लिंग, संख्या, साधन, काल, कारक और उपग्रह आदि के भेदों से जो नय भिन्न अर्थ समझता है, वह नय शब्द प्रधान होने से शब्द नय कहा जाता है।

जैसे- वंश(पु.), सन्तति (स्त्री.), कुल(न.)

ये सब 'कुल'(वंश या गौत्र) के नाम है, परन्तु शब्द नय 'कुल-पदार्थ' को लिंग के भेद से तीन भेद रूप मानता है।

६) समभिरूढनय- जो नाना अर्थों को छोड़कर प्रधानता से एक अर्थ में रूढ होता है वह समभिरूढ नय है। यह नय पर्याय के भेद से अर्थ को भी भेद रूप ग्रहण करता है।

जैसे 'गो' शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं तो भी वह 'पशु' इस अर्थ में रूढ है। (समभिरूढ शब्दनय की अपेक्षा पशु, पक्षी, मर्द, औरत वगैरह सभी गोशब्द के वाच्य हो जाते हैं क्योंकि वे सभी चलते हैं। किंतु समभिरूढ नय सिर्फ गो शब्द में ही रूढ होकर 'गो' कहता है।

७) एवंभूतनय: जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है उसी क्रियारुप परणमें पदार्थ को जो नय ग्रहण करता है उसे एवंभूतनय कहते हैं। जैसे किसी को पूजा करते समय पुजारी कहना और वही व्यक्ति अध्यापन का कार्य करता है उस समय अध्यापक कहना।

*इन नयों का विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म होता जाता है।*

*ये नय परस्पर सापेक्ष होते हैं। निरपेक्ष नय मिथ्या माने जाते हैं।*

01/03/20, 4:34 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आगे 32 वें सूत्र में आचार्य देव कहते हैं कि मति , श्रुत और अवधि - ये तीनों ज्ञान *विपर्यय* भी हैं अर्थात् *मिथ्या* भी हैं। यहाँ सूत्र में वर्णित *च* शब्द समुच्चय रूप में आया है जो यह घोषित करता है कि ये तीनों ज्ञान मिथ्या भी हैं और समीचीन भी हैं।

यहाँ कोई यह शंका करे कि सम्यग्ज्ञान के भेद होते हुए भी ये ज्ञान मिथ्या कैसे हो सकते हैं तो इसका समाधान यह है कि रज सहित कड़वी तूम्बड़ी में दूध रखने से दूध भी कड़वा हो जाता है , अपवित्र विष्ठा आदि में मिल जाने पर मणि , सोना आदि पदार्थ भी दूषित हो जाते हैं उसी प्रकार मिथ्यादर्शन का संयोग पाकर मति कुमति हो जाता है , श्रुत कुश्रुत हो जाता है और अवधिज्ञान कुअवधि या विभंगावधि ज्ञान बन जाता है।रूपादिक पदार्थों को सम्यग्दृष्टि भी मति , श्रुत और अवधिज्ञान के द्वारा जानता है और मिथ्यादृष्टि भी जानता है , लेकिन दोनों के निरूपण की विधि ही ज्ञान में विपरीतता का कारण होती है।

01/03/20, 5:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस संसार में अनन्त वस्तुएं हैं।प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म अवस्थायें होती हैं।हम एक साथ उन अनन्त धर्मों का वर्णन नहीं कर पाते क्योंकि वाणी की क्षमता सीमित है।कुछ धर्मों का प्रतिपादन करने से वस्तु का बोध अधूरा रह जाता है।इस अधूरे और अपूर्ण अवबोध को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए *नय* का सहारा लिया जाता है।

हमारा सारा व्यवहार वाणी पर आधारित है।हम जो कुछ बोलते हैं , वह सारा *नय* का प्रयोग होता है।वचनों की सारी विवक्षायें नय के द्वारा ही नियंत्रित होती है। जैसे कोई व्यक्ति कवि है , लेखक है , वक्ता है , दार्शनिक है , समालोचक है , और भी बहुत कुछ है । अब हम यदि उसके गुणों का वर्णन करना चाहते हैं तो एक समय में एक ही गुण का वर्णन कर सकते हैं और अन्य गुण गौण हो जाते हैं , अन्यथा विवेचना का कोई आधार ही नहीं बन सकता।अब प्रश्न यह उठता है कि क्या उसके अन्य गुणों का लोप हो गया ? नहीं , जब एक गुण का वर्णन किया जा रहा हो तब वह गुण मुख्य होता है तथा शेष सभी गौण हो जाते हैं, परन्तु उनका अभाव नहीं होता , वे शून्य नहीं हो जाते। जो विषय वस्तु प्रासंगिक है उस समय वह मुख्य है , किन्तु जो प्रासंगिक नहीं है वह गौण है , किन्तु उसका लोप नहीं हुआ है।वस्तु का बोध खण्डश: किया जाता है और इस खण्डश: प्रतिपादन की पद्धति का नाम ही नय है।

क्रमशः

02/03/20, 11:29 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गतांक से आगे

नय कितने हो सकते हैं , इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं है।वस्तु के जितने धर्म होते हैं उन पर विचार करने या बोलने के जितने तरीके होते हैं , वे सब *नय* कहलाते हैं।इस अपेक्षा से नय अनन्त हो सकते हैं।फिर भी मुख्यत: नय के दो भेद माने जाते हैं -

१) *द्रव्यार्थिक नय*  २) *पर्यायार्थिक नय*

संसार में छोटी या बड़ी सभी वस्तुएं एक दूसरे से सर्वथा न तो असमान होती हैं , न सर्वथा समान। इनमें समानता और असमानता दोनों अंश रहते हैं। इसलिए वस्तु मात्र समान्य विशेषात्मक अर्थात् उभयात्मक है , ऐसा कहा जाता है। हमारी बुद्धि कभी तो वस्तु के सामान्य अंश की ओर झुकती है और कभी विशेष अंश की ओर। जब वह सामान्य अंश को ग्रहण करती है तब उसका विचार *द्रव्यार्थिक नय* कहलाता है और जब विशेष अंश को ग्रहण करती है तब *पर्ययार्थिक नय* कहलाता है।

उदाहरण के लिए जब हम समुद्र की ओर सामान्य दृष्टि डालते हैं तब केवल समुद्र का जल ही हमारे ध्यान में आता है और यह जल का सामान्य प्रकार द्रव्यार्थिक नय है , किन्तु जब हम उस जल के रंग , गन्ध , स्वाद , गहराई , छिछलापन आदि विशेषताओं की ओर ध्यान देते हैं तब वह विचार जल की विशेषताओं का होने से पर्यायार्थिक नय कहा जाता है।

एक ही तरह की नाना प्रकार की वस्तुओं के विषय में जिस प्रकार सामान्य और विशेष विचार करना संभव है , वैसे ही भूत , वर्तमान और भविष्य त्रिकाल रूप से व्याप्त आत्मा आदि किसी एक पदार्थ आदि के विषय में भी सामान्य और विशेष विचार सर्वथा संभव है।काल तथा अवस्था भेदकृत चित्रों पर ध्यान न देकर जब हम केवल शुद्ध चैतन्य की ओर ध्यान देते हैं तब वह उसके विषय का द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और जब चैतन्य की देश , काल आदि विविध दशाओं का चिंतन करते हैं तब वह चैतन्य विषयक पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

क्रमशः

02/03/20, 7:24 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य उमास्वामी महाराज ने नय के सात भेद बताये हैं

१) *नैगम नय* यह नय संकल्प मात्र से पदार्थ को जानता है । इस नय के तीन भेद हैं- भूत, भावी और वर्तमान।

भूतकाल का वर्तमान में आरोपण करना भूत नैगम नय है । जैसे दीपावली के दिन हम कहते हैं आज भगवान महावीर का निर्वाण दिवस है।

भविष्य का वर्तमान में आरोपण करना भावी नैगम नय है , जैसे अरिहन्त भगवान को सिद्ध कहना।

प्रारम्भ किये हुए कार्य को सम्पन्न करना वर्तमान नैगम नय है , जैसे अग्नि जलाते समय यह कहना कि भोजन बना रहा हूँ।

इस प्रकार यह नय अतीत और भविष्य दोनों को वर्तमान में आरोपित कर लोक व्यवहार का संचालन करता है तथा वस्तु के काल्पनिक और वास्तविक सभी धर्मों को स्वीकार कर विचार करता है।

२) *संग्रह नय*  यह नय अपनी जाति का विरोध किये बिना समस्त विषयों को एक रूप से ग्रहण करता है। यह नय विभिन्न वस्तुओं और व्यक्तियों को किसी भी एक सामान्य तत्तत्व के आधार पर एक रूप संकलित कर लेता है।

३) *व्यवहार नय* संग्रह नय के द्वारा पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार नय है।

४) *ऋजुसूत्र नय* ऋजु का अर्थ होता है सरल अर्थात् जो सरल को स्वीकार करता है वह ऋजुसूत्र नय है । यह भूत और भावी काल के विषयों को ग्रहण न करके मात्र वर्तमान काल के विषयों को ग्रहण करता है।

५) *शब्दनय* लिंग , वचन , कारक , काल , पुरुष आदि के भेद से अर्थ को भेदरूप ग्रहण करने वाला नय शब्दनय है। यह नय समान लिंग तथा वचन आदि वाले शब्दों को ही एकार्थवाची मानता है , भिन्न लिंग वालों को नहीं । इस नय के अनुसार वस्तु का वर्तमान पर्याय का ग्रहण तो सत्य है , परन्तु वर्तमान पर्याय भी शब्दनय के द्वारा ही अपने अस्तित्व का सही बोध करा सकती है। जैसे लेखक और लेखिका , ये शब्द हैं जो दोनों ही लिखने का काम करते हैं , लेकिन इनमें कौन पुरुष है तथा कौन स्त्री - इसका बोध शब्दनय के द्वारा ही होता है। इसी प्रकार एकवचन , बहुवचन आदि का बोध भी शब्दनय के द्वारा ही होता है।

६) *समभिरूढ नय* यह नय एक शब्द के अनेक अर्थो में से भी प्रधान अर्थ को ग्रहण करता है।यह नय शब्द भेद से अर्थ भेद को ग्रहण करता है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु स्वरूपनिष्ठ होती है। इस नय की दृष्टि से कोई भी शब्द किसी का पर्यायवाची नहीं होता ।कोशकारों ने पर्यायवाची शब्दों का जो संकलन किया है वह अर्थहीन है । जैसे भिक्षु , साधु , तपस्वी , मुनि आदि एक जैसे शब्द लगते हैं , लेकिन समभिरूढ नय कहता है कि भिक्षा माँगने वाला भिक्षु है , तपस्या करने वाला तपस्वी है और साधना करने वाला साधु है। मात्र साधु होने से कोई भिक्षु या तपस्वी नहीं हो सकता।

*एवंभूत नय*  समभिरूढ नय के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ को भी क्रिया की अपेक्षा भिन्न भिन्न नाम देने वाला नय एवंभूत नय है। यह नय शब्द के वाच्यार्थ को प्रकट करता है।इसके अनुसार शब्द की जो व्युत्पत्ति है , वर्तमान में वही क्रिया हो रही है , तभी उस शब्द का प्रयोग सार्थक है । जैसे भिक्षु भिक्षा लेते समय ही भिक्षु होता है , तपस्वी तपस्या करते समय ही तपस्वी होता है , ध्यानी ध्यान करते समय ही ध्यानी होता है , प्रवचन करते समय ध्यानी नहीं होता।इस नय के अनुसार अतीत और भविष्य की क्रिया के आधार पर शब्द का प्रयोग गलत हो जाता है । केवल वर्तमान काल और उसमें भी वर्तमान क्रिया ही इस नय का विषय बनती है।

इस प्रकार इन सात नयों के द्वारा संसार का समस्त व्यवहार संचालित होता है ।

इन सातों नयों के विषय उत्तरोत्तर सूक्ष्म - सूक्ष्म हैं।

क्रमशः

02/03/20, 9:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *नैगम आदि नयों का उदाहरण*

उदाहरण नं 1

किसी को  पापी मनुष्य की संगति  करते देखकर *नैगमनय* से कहते हैं कि वह पुरुष नारकी है।

जब वह मनुष्य प्राणीवध का विचार कर घातक हथियारों का स

जुगाड़ करता है तब वह *संग्रहनय* से नारकी है।

जब वह मनुष्य हाथ में धनुष बाण लेकर मृगों की खोज में भटकता फिरता है तब वह *व्यवहार नय* से नारकी है।

जब वह आखेट स्थान में बैठकर मृगों को आघात पहुँचाता है तब वह *ऋजुसूत्र नय* से नारकी है।

जब हिंसा में रचपच कर वह मनुष्य मृगों के प्राण पखेरू उड़ा देता है तब वह *शब्दनय* से नारकी है।

जब वह मनुष्य नरकायु का बन्ध कर नारक कर्म से संयुक्त है जाता है तब वह *समभिरूढ नय* से नारकी है।

जब वह नरक गति में जाकर नरकों के दुखों का साक्षात् अनुभव करता है तब वह *एवंभूत नय* से नारकी है।

क्रमशः

03/03/20, 10:28 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): उदाहरण नं 2

कोई व्यक्ति घर से पूजन के लिए मन्दिर की ओर जा रहा है , उसे देखकर *नैगम नय* कहता है कि पुजारी जी मन्दिर जा रहे हैं।

मन्दिर जाकर पूजा योग्य द्रव्य.का संग्रह करते हुए व्यक्ति को *संग्रह नय* से पुजारी कहा जाता है।

पूजा योग्य समस्त द्रव्यों  का जल , चन्दन , अक्षत , पुष्प आदि में विधिवत्  विभाजन करते हुए *व्यवहार नय* से पुजारी कहा जाता है ।

पूजन क्रिया में तल्लीन व्यक्ति को *ऋजुसूत्र* नय की अपेक्षा से पुजारी कहा जाता है।

*शब्दनय* की अपेक्षा से उस व्यक्ति को पुजारी कहा जा सकता है , लेकिन पुजारिन नहीं।हाँ , उसे उपासक , भक्त , अर्चक , आराधक आदि नामों से पुकारा जा सकता है।

*समभिरूढ नय* के अनुसार उस  व्यक्ति को पुजारी ही कहा जा सकता है , उपासक , आराधक आदि नहीं कहा जा सकता।

*एवंभूत नय* का विषय सबसे सूक्ष्म है। इसके अनुसार वह व्यक्ति जितनी देर पूजा कर रहा है , उतनी देर के लिए ही पुजारी है, जब वह दुकान में आकर बैठता है तब व्यापारी है आदि।

03/03/20, 11:38 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अब प्रश्न यह उठता है कि इन नयों की आवश्यकता हमारे जीवन में क्या है ?

इसका उत्तर यह है कि

नय का ज्ञान सुखी सन्तोषी जीवन जीने की एक कला है।नय का ज्ञान एक दूसरे के विचारों का आदान प्रदान करने में सहायक बन किसी को तिरस्कृत नहीं करता।नयों को नहीं समझने के कारण ही मनभेद और मतभेद खड़े होते हैं । जो नयों से अनभिज्ञ है वह बात के अभिप्राय को नहीं समझने के कारण हठवादिता को अपनाता है और मरने मारने पर भी उतारू हो जाता है।

नयापेक्षा वात्सल्य का प्रतीक है तथा एक दूसरे को जोड़ती है।नयापेक्षा से रहित होना ही पतन , द्वेष और आपसी मतभेद का कारण है।नय की सत्यता का ज्ञान जीवन के पग पग पर एक मार्गदर्शक है और सफल जीवन की यह कुंजी है।

उदाहरण सहित छः किश्तों में नयों की विवेचना लिखने का आधार - परम पूज्य मुनि श्री १०८ प्रमाणसागर जी महाराज द्वारा लिखित पुस्तक *जैन तत्त्व विद्या* और परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* की प्रश्नोत्तरी टीका से।

10/03/20, 2:22 pm - Ashok Jain: जीव के असाधारण भाव

*औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिक पारिणामिकौ च॥१॥*

सूत्रार्थ: (जीवस्य) जीव के (औपशमिक-क्षायिकौ) औपशमिक, क्षायिक (भावौ) भाव (मिश्रश्च) मिश्र या क्षायोपशमिक और (औदयिक- पारिणामिकौ) औदयिक और पारिणामिक ये पांच भाव (स्वतत्तम्) स्वतत्त्व या निजी भाव (सन्ति) हैं।

१) *औपशमिक भाव*- मोहनीय कर्म के उपशम से आत्मा में जो भाव होते हैं उसे औपशमिक भाव कहते हैं। यह क्षणिक होता है अन्तर्मूहूत में बदल जाता है, इसके लिए जीव को बार-बार संघर्ष करना पड़ता है।

२) *क्षायिक भाव*- समस्त घातिया कर्म के क्षय से उत्पन्न भाव क्षायिक भाव है, यह एक बार प्रकट हो जाने पर स्थाई बना रहता है। छूटता नहीं।

३) *क्षायोपशमिक भाव*- सर्वघाती स्पर्धकों (अनंतानुबंधी क्रोध,मान, माया, और लोभ एवं दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व,इन छः प्रकृतियों का) कुछ अंशों में क्षय तथा कुछ अंशों में उपशम और देशघाती (सम्यक्प्रकृति) का उदय होने को क्षयोपशम कहते हैं।

इस प्रकार कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न भाव को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं।

४) *औदयिक भाव*- कर्मों के उदय से होने वाले भाव औदयिक भाव कहलाते हैं। उदय एक प्रकार का आत्मा का कालुष्य है जो कर्म के विपाकानुभव से होता है।

५) *पारिणामिक भाव*- कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय के बिना द्रव्य के स्वभाव मात्र से होने वाले भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं।यह भाव किसी बाह्य निमित्त के बिना ही द्रव्य के स्वाभाविक परिणमन से उत्पन्न होता है।

10/03/20, 3:57 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): तत्त्वार्थ सूत्र के दूसरे अध्याय का आरम्भ जीव के असाधारण भाव से हुआ है।पहले अध्याय में ही आचार्य महाराज ने बताया था कि जीवादि पदार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। अब वे दूसरे अध्याय में यह समझा रहे हैं कि इन जीवादि पदार्थों में जो पहला जीव पदार्थ है , उसका स्वतत्त्व क्या है ? जो हमने उपरोक्त विवेचना द्वारा जाना कि औपशमिक , क्षायिक , मिश्र, औदयिक और पारिमाणिक - ये पाँच भाव जीव के स्वतत्त्व हैं।यहाँ भाव का अर्थ पर्याय है जो किसी न किसी निमित्त से होती हैं।जीव आधार है और जिन पाँच भावों का वर्णन किया जा रहा है , वे आधेय हैं। इस प्रकार जीव और भाव का आधार - आधेय सम्बन्ध है। इन पाँच भावों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

*औपशमिक भाव*

उपशम ही जिस भाव का प्रयोजन हो , उसे औपशमिक भाव कहते हैं।कर्मों का उदय में नहीं आना ही उपशम है। जैसे कतक आदि द्रव्य को पानी में डालने पर जल की गन्दगी नीचे बैठ जाती है और जल स्वच्छ हो जाता है वैसे ही आत्मा में कर्म की निज शक्ति का उदय न होने पर जीव के परिणामों में जो निर्मलता आती है उसे उपशम कहते हैं।

*क्षायिक भाव*

क्षय ही जिस भाव का प्रयोजन है उसे क्षायिक भाव कहते हैं या कर्मों के क्षय होने से जो भाव होते हैं उसे क्षायिक भाव कहते हैं।कर्मों का आत्मा से बिल्कुल अलग हो जाना या झड़ जाना क्षय कहलाता है। कीचड़ रहित जल को जब हम दूसरे बर्तन में डाल देते हैं तो जल बिल्कुल स्वच्छ हो जाता है , निर्मल हो जाता है उसी प्रकार आत्मा से कर्मों का अत्यन्त अलग हो जाना क्षय है।

क्रमशः

10/03/20, 6:18 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *मिश्र या क्षायोपशमिक भाव*

कर्मों के क्षय तथा उपशम से जो भाव होते हैं उसे क्षायोपशमिक या मिश्र (mixed) भाव कहते हैं।जिस प्रकार जल में उसकी निर्मलता को बिल्कुल नष्ट करने वाले कीचड़ के परमाणुओं के मिले रहने पर जल में स्वच्छ और अस्वच्छ दोनों अवस्था होती है उसी प्रकार क्षय और उपशम रूप उभय भाव को क्षयोपशम भाव कहते हैं।

*औदयिक भाव*

उदय ही जिस भाव का प्रयोजन हो उसे औदयिक भाव कहते हैं।स्थिति को पूरी करके कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं।

*पारिमाणिक भाव*

जो भाव कर्मों के उपशम , क्षय , क्षयोपशम तथा उदय की अपेक्षा नहीं रखता हुआ आत्मा का स्वभाव मात्र हो उसे पारिमाणिक भाव कहते हैं।

ज्ञानावरण , दर्शनावरण और अन्तराय - इन तीन घातिया कर्मों की उदय , क्षय और क्षयोपशम , तीन अवस्थायें होती हैं।

मोहनीय कर्म की उदय , उपशम , क्षय और क्षयोपशम चार अवस्थायें होती हैं।

शेष कर्मों की उदय और क्षय दो ही अवस्थायें होती हैं।

क्षायिक और औपशमिक भाव सम्यग्दृष्टि को ही होते हैं जबकि क्षायोपशमिक , औदयिक और पारिमाणिक भाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों के होते हैं।

लिखने का आधार -परम पूज्य आर्यिका 105 स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* की प्रश्नोत्तरी टीका से।

11/03/20, 10:57 am - Ashok Jain: ☞ *औपशमिक और क्षायिक भाव भव्य जीवों के ही स्वभाव है अर्थात् अभव्य जीवों के कभी नहीं होते।*

☞ *औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण है।औदयिक भाव बंध के कारण है (सभी नहीं है, जैसे अर्हन्त भगवान का विहार, उपदेश आदि)।पारिणामिक भाव बंध और मोक्ष दोनों के कारण से रहित है। *

☞ *द्रव्यों की अपेक्षा जीवों में पांचों भाव हैं, पुद्गल द्रव्य में औदयिक और पारिणामिक भाव है और शेष द्रव्यों में (धर्म,अधर्म, आकाश और काल) में केवल पारिणामिक भाव ही पाया जाता है।*

11/03/20, 11:13 am - Ashok Jain: भावों के भेद

*द्वि-नवाष्टा-दशैक-विंशति-त्रि-भेदा यथाक्रमम्॥२॥*

सूत्रार्थ: ऊपर बताए हुए पांचों भावों के (यथाक्रमम्) क्रम से (द्वि-नव-अष्टादश-एकविंशति-त्रि-भेदा) दो, नौ, अठारह, इक्कीस, और तीन भेद वाले (संति) हैं।

अर्थात् औपशमिक भाव के दो, क्षायिक भाव के नौ, क्षायोपशमिक भाव के अठारह, औदयिक भाव के इक्कीस और पारिणामिक भाव के तीन भेद होते हैं। इस प्रकार जीव के सम्पूर्ण भाव ५३ होते हैं।

12/03/20, 11:49 am - Ashok Jain: औपशमिक भाव के दो भेद

*सम्यक्त्व-चारित्रे॥३॥*

सूत्रार्थः- औपशमिक भाव के (सम्यक्त्वचारित्रे)

औपशमिक सम्यक्त्व

और औपशमिक चारित्र ये दो भेद हैं।

विशेषार्थ-

औपशमिक सम्यक्त्व- अनादि मिथ्याद्दष्टि के (चारित्र मोहनीय की)अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क (क्रोध,मान, माया और लोभ) और मिथ्यात्व इन ५ प्रकृतियों के उपशम से प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है और चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

और सादि मिथ्याद्दष्टि के अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क और (दर्शनमोहनीय की) मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृत इन सात ७ प्रकृतियों के उपशम से द्वितियोपशम सम्यक्त्व-होता है। चौथे गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है।

औपशमिक चारित्र- चारित्र मोहनीय की शेष २१ प्रकृतियों के उपशम से जो चारित्र होता है उसे औपशमिक चारित्र कहते हैं।

13/03/20, 1:29 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

15/03/20, 7:15 am - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

15/03/20, 10:51 am - Ashok Jain: गुण स्थान की अपेक्षा क्षायिक भाव

४-असंयत- क्षायिक सम्यक्त्व।

५-देशसंयत-। " "

६-प्रमत्तसंयत-। " "

७-अप्रमतसंयत-। " "

८-अपूर्वकरण- " " और क्षायिक-चारित्र

९-अनिवृत्तिकरण- " " " "(दोनों)

१०- सूक्ष्मसांपराय- " " " "(दोनों)

११- उपशांत कषाय-। क्षायिक-सम्यक्त्व (एक)

१२) क्षीणकषाय- क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिकचारित्र (दोनों)

१३) - सयोगकेवली- सभी (नौ भेद)

१४- अयोगकेवली- सभी (नौ भेद)

*सिद्ध परमेष्ठि* के ५ क्षायिकभाव निम्न होते हैं। क्षायिक- सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान चारित्र व वीर्य।

15/03/20, 2:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): क्षायिक भाव के नौ भेद

*ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोग- वीर्याणि च ॥४॥*

सूत्रार्थ:- क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान), क्षायिकदर्शन (केवलदर्शन), क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य और 'च' से क्षायिक सम्यक्त्व, एवं क्षायिकचारित्र।

☞ 'च' शब्द समुच्चयार्थ में है, इससे पूर्व सूत्र में कहे गए *सम्यक्त्व-चारित्रे* अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक चारित्र ग्रहण करना चाहिए।

*क्षायिक सम्यक्त्व-* दर्शनमोहनीय कर्म के क्षीण होने, सात प्रकृतियों के क्षय होने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। *क्षायिक सम्यक्त्व केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में होता है।*

क्षायिक चारित्र- दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की पच्चीस, इन अठाईस प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक चारित्र होता है।(रा वा ७)

क्षायिक ज्ञान- ज्ञानावरण कर्म के क्षय से मूर्त अमूर्त, चेतन अचेतन, आदि जाति वशेषों से असमान सभी पदार्थो को एक साथ एक समय में और सब ओर से, सर्व आत्म प्रदेशों से जो ज्ञान जानता है वह क्षायिक ज्ञान या केवल- ज्ञान होता है।

क्षायिक दर्शन- सहज-शुद्ध अविनाशी आनन्द रूप एक स्वरूप के धारक परमात्म तत्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के बल से केवल दर्शनावरण के क्षय होने पर समस्त मूर्त्त अमूर्त्त वस्तुओं के सत्ता सामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्प रहित देखता है उसको उपादेय रूप क्षायिकदर्शन या केवलदर्शन कहते हैं।

क्षायिकदान- दानान्तराय कर्म के क्षय से, अनन्त प्राणियों को हितकारी भगवान का अहिंसा मय उपदेश, जिससे जीवों को अभयदान मिलता है, ऐसा उपदेश क्षायिक दान क्षायिकदान होता है।

क्रमशः...

15/03/20, 2:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आगे...

क्षायिक लाभ-  लाभान्तराय कर्म के पूर्ण क्षय से परमौदारिक शरीर नोकर्माहार के योग्य सूक्ष्म पुद्गल प्रतिक्षण आते रहते हैं।यही क्षायिक लाभ है।

क्षायिक भोग- भोगान्तराय कर्म के पूर्ण क्षय से पुष्पवृष्टि, सुगंधित शीतल वायु आदि अतिशय होते हैं, वह सातिशय क्षायिक भोग है।(रा वा ४)

क्षायिक उपभोग- उपभोगान्तराय कर्म के सम्पूर्ण नाश हो जाने से प्रकृष्ट उपभोग की प्राप्ति जैसे छत्र-त्रय, सिंहासन आदि प्रातिहार्य सातिशय क्षायिक उपभोग है।(रा वा ५)

क्षायिक वीर्य- वीर्यांतराय कर्म के क्षय से अनन्तवीर्य उत्पन्न होता है वह क्षायिक वीर्य है।(रा वा ६)

केवलज्ञान के विषय में अनन्त पदार्थों को जानने की जो शक्ति है वही अनन्त वीर्य है।(प. प्र.१/६१)

15/03/20, 2:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): दूसरे अध्याय का चौथा सूत्र

आचार्य भगवन् उमास्वामी महाराज ने नौ प्रकार के क्षायिक भावों को बतलाने के लिए  इस सूत्र की रचना की है, फिर भी हम पाते हैं कि सूत्र में क्षायिक ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ,भोग,उपभोग और क्षायिक वीर्य- इन

सात भावों के नाम ही क्रम से दिये गये हैं ।इसके बाद आचार्य देव ने सूत्र को संक्षिप्त करने के भाव से *च* शब्द लगाया है जो तीसरे सूत्र में कहे गये *सम्यक्त्व और चारित्र* इन दो भावों को भी साथ में जोड़ता है ।

*क्षायिक दान* आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने  सर्वार्थ सिद्धि में लिखित संस्कृत टीका में क्षायिक दान की व्याख्या करते हुए कहा है कि दानान्तराय कर्म

के अत्यन्त क्षय से अनन्त प्राणियों के समूह का उपकार करने वाला क्षायिक अभयदान होता है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि दान चार प्रकार के होते हैं , जैसा कि हम सभी जानते हैं , फिर भी यहाँ क्षायिक दान के प्रसंग में मात्र अभयदान को ही क्यों ग्रहण किया गया। इसका समाधान यह है कि जब कोई भव्यात्मा दानान्तराय का क्षय करके तीर्थंकर/अरिहंत अवस्था को प्राप्त करता है तब वह भव्य जीव अपनी पूर्व पर्यायों में तीनों लोकों के अनन्त प्राणियों के कल्याण की भावना भाता है जिसके परिणामस्वरूप तीर्थंकर , अरिहंत अवस्था प्राप्त होती है।अरिहन्त अवस्था प्राप्त होने पर  लगातार अनन्त जीव विराधना से बच जाते हैं और अभयदान को प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि गाय और शेर , साँप और नेवला , सब आपस के बैरभाव भूल जाते हैं , भगवान के विहार के समय सौ सौ योजन तक सुभिक्ष फैल जाता है । यह सब अनन्त अभयता का ही प्रतीक है। अरिहन्त भगवान हमें आहार या औषधि के दान का उपदेश तो दे सकते हैं , लेकिन स्वयं बनाकर हमें नहीं दे सकते । इसी प्रकार दिव्यध्वनि के द्वारा वे ज्ञानदान भी देते हैं , लेकिन उनकी वाणी सब समय नहीं नहीं खिरती, अतः ज्ञानदान में भी व्यवधान होता है । इसलिए एकमात्र क्षायिक अनन्त अभयदान की सिद्धि होती है। अतः यहाँ क्षायिकदान के प्रसंग में  क्षायिक अभयदान को ग्रहण किया गया है।

*क्षायिक लाभ*

केवलज्ञान प्राप्त होते ही तीर्थंकर आदि अरिहन्त अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं और उनकी सामान्य औदारिक देह परम औदारिकता को प्राप्त कर लेती है।पूर्ण लाभान्तराय कर्म के क्षय से उनका कवलाहार नहीं होता है और शरीर को शक्ति प्रदान करने वाले ऐसे परम शुभ और सूक्ष्म परमाणु प्रति समय प्राप्त होते रहते हैं दूसरे साधारण मनुष्यों को कभी प्राप्त नहीं हो सकते।यह व्यवधान रहित , अन्तराय रहित , क्षयरहित अनन्त लाभ की सिद्धि ही  *क्षायिक लाभ* है।

क्रमशः

15/03/20, 7:04 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र की विवेचना , गतांक से आगे , भाग २*

*क्षायिक भोग*

समस्त भोगान्तराय कर्म के क्षय से अतिशय युक्त अनन्त क्षायिक भोग की उपलब्धि होती हैं, जिससे देवकृत पुष्पवृष्टि आदि विशेष अतिशय होते हैं। तीर्थंकर भगवान के भोग में आने वाली पुष्पवृष्टि या पगतल कमल रचना आदि निरन्तर होती रहती है , इसलिए उनके अनन्त क्षायिक भोग सिद्ध होता है।

*क्षायिक उपभोग*

समस्त उपभोगान्तराय कर्म के क्षय  होने से अनन्त क्षायिक उपभोग की प्राप्ति होती है जिसके कारण सिंहासन , चँवर , तीन छत्र आदि विभूतियां उत्पन्न होती हैं।ये विभूतियां भगवान के अतिशय से ही उत्पन्न होती हैं । इसलिए उनके अनन्त क्षायिक उपभोग सिद्ध होता है।

*अनन्त वीर्य*

पूर्ण वीर्यान्तराय कर्म के क्षय होने से क्षायिक अनन्तवीर्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।हम जानते हैं कि अरिहंत भगवान को अनन्तज्ञान , अनन्तदर्शन आदि होते हैं जिन्हें धारण करने की अनन्त वीर्य शक्ति आती है जिसे क्षायिक वीर्य कहते हैं । सभी प्रकार के अनन्तों को झेलने की शक्ति अनन्त वीर्य से ही प्राप्त होती है।

*क्षायिक ज्ञान*

ज्ञानावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक केवलज्ञान होता है।

*क्षायिक दर्शन*

दर्शनावरण कर्म के अत्यन्त क्षय से क्षायिक केवलदर्शन होता है।

*क्षायिक सम्यक्त्व*

अनन्तानुबन्धी की 4 + मिथ्यात्व + सम्यक् मिथ्यात्व + सम्यक् प्रकृति = कुल सात प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

*क्षायिक चारित्र*

चारित्रमोह की इक्कीस प्रकृतियों के क्षय से सम्यक् चारित्र होता है।

लिखने का आधार

परम पूज्य प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री १०८ अमितसागर जी महाराज द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* की टीका से।

15/03/20, 7:36 pm - Ashok Jain: क्षायिक भाव के नौ भेद

*ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोग- वीर्याणि च ॥४॥*

सूत्रार्थ:- क्षायिकज्ञान (केवलज्ञान), क्षायिकदर्शन (केवलदर्शन), क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, क्षायिकवीर्य और 'च' से क्षायिक सम्यक्त्व, एवं क्षायिकचारित्र।

☞ 'च' शब्द समुच्चयार्थ में है, इससे पूर्व सूत्र में कहे गए *सम्यक्त्व-चारित्रे* अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक चारित्र ग्रहण करना चाहिए।

*क्षायिक सम्यक्त्व-* दर्शनमोहनीय कर्म के क्षीण होने, सात प्रकृतियों के क्षय होने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। *क्षायिक सम्यक्त्व केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में होता है।*

क्षायिक चारित्र- दर्शनमोहनीय की तीन और चारित्र मोहनीय की पच्चीस, इन अठाईस प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक चारित्र होता है।(रा वा ७)

क्षायिक ज्ञान- ज्ञानावरण कर्म के क्षय से मूर्त अमूर्त, चेतन अचेतन, आदि जाति वशेषों से असमान सभी पदार्थो को एक साथ एक समय में और सब ओर से, सर्व आत्म प्रदेशों से जो ज्ञान जानता है वह क्षायिक ज्ञान या केवल- ज्ञान होता है।

क्षायिक दर्शन- सहज-शुद्ध अविनाशी आनन्द रूप एक स्वरूप के धारक परमात्म तत्व के ज्ञान तथा प्राप्ति के बल से केवल दर्शनावरण के क्षय होने पर समस्त मूर्त्त अमूर्त्त वस्तुओं के सत्ता सामान्य को सकल प्रत्यक्ष रूप से एक समय में विकल्प रहित देखता है उसको उपादेय रूप क्षायिकदर्शन या केवलदर्शन कहते हैं।

क्षायिकदान- दानान्तराय कर्म के क्षय से, अनन्त प्राणियों को हितकारी भगवान का अहिंसा मय उपदेश, जिससे जीवों को अभयदान मिलता है, ऐसा उपदेश क्षायिक दान क्षायिकदान होता है।

क्रमशः...

15/03/20, 7:36 pm - Ashok Jain: आगे...

क्षायिक लाभ-  लाभान्तराय कर्म के पूर्ण क्षय से परमौदारिक शरीर नोकर्माहार के योग्य सूक्ष्म पुद्गल प्रतिक्षण आते रहते हैं।यही क्षायिक लाभ है।

क्षायिक भोग- भोगान्तराय कर्म के पूर्ण क्षय से पुष्पवृष्टि, सुगंधित शीतल वायु आदि अतिशय होते हैं, वह सातिशय क्षायिक भोग है।(रा वा ४)

क्षायिक उपभोग- उपभोगान्तराय कर्म के सम्पूर्ण नाश हो जाने से प्रकृष्ट उपभोग की प्राप्ति जैसे छत्र-त्रय, सिंहासन आदि प्रातिहार्य सातिशय क्षायिक उपभोग है।(रा वा ५)

क्षायिक वीर्य- वीर्यांतराय कर्म के क्षय से अनन्तवीर्य उत्पन्न होता है वह क्षायिक वीर्य है।(रा वा ६)

केवलज्ञान के विषय में अनन्त पदार्थों को जानने की जो शक्ति है वही अनन्त वीर्य है।(प. प्र.१/६१)

16/03/20, 12:48 pm - Ashok Jain: क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद

*ज्ञानाज्ञान-दर्शन-लब्ध्यश्-चतुस्-त्रि-त्रि-पंच-भेदा: स्मक्त्व-चारित्र- संयमासंयमाश्च॥५॥*

सूत्रार्थ:- क्षायोपशमिक भाव के (चतु:) चार ज्ञान -[मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्यय] (त्रि अज्ञान) तीन अज्ञान- [कुमति, कुश्रुत, कुअवधि] (त्रि दर्शन) तीन दर्शन- [चक्षुदर्शन, अचक्षु दर्शन और अवधि दर्शन] (पांच लब्धय:) पांच लब्धियां- [क्षायोपशमिक-दान- लाभ -भोग-उपभोग और वीर्य] तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र, और संयमासंयम ये अठारह भाव (संति) हैं।

क्रमशः...

16/03/20, 3:27 pm - Ashok Jain: चार क्षायोपशमिक ज्ञान भाव; वीर्यांतराय और अपने २ प्रतिपक्षी मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्यय; ज्ञानावरण सम्बन्धी वर्तमानकालीन सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय, आगामीकालीन उन्हीं का सद्अवस्थारूप उपशम, उनके ही देशघाती स्पर्धकों का उदय, इनके निमित्त में उत्पन्न हुए आत्मा के मति,श्रुत, अवधि,मन: पर्यय चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान भाव होते हैं।

मिथ्यादर्शन के उदय की निमित्त में आत्मा को तीन क्षायोपशमिक अज्ञान-भाव; कुमति कुश्रुत और कुअवधि प्रगट होते हैं। इनके ज्ञान गुण का अंश प्रगट है, प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से ये भाव होते हैं।

अपने-अपने प्रतिपक्षी दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से व्यक्त आत्मा के तीन क्षायोपशमिक दर्शन; चक्षु, अचक्षु और अवधि होते हैं! इनके देशघाती स्पर्धकों के क्षयोपशम से होते हैं। इनमें दर्शन गुण का अंश है इसलिए क्षयोपशम होता है।

आत्मा के पांच क्षयोपशमिक लब्धियां; दान, लाभ,भोग, उपभोग और वीर्य क्रमशः दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम की निमित्त में होते हैं। ये देशघाती स्पर्धकों के क्षयोपशम से होते हैं।

क्रमशः...

17/03/20, 12:58 pm - Ashok Jain: क्षयोपशमिक सम्यक्त्व भाव- मिथ्यात्व रुप तीन दर्शनमोहनीय; मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति और चार अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, और लोभ कषाय; सात कर्म प्रकृतियों के क्षयोपशम की निमित्ता में हुआ तत्वार्थ श्रद्धान रूप आत्मा/जीव का क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भाव होता है।

क्षायोपशमिकचारित्र भाव- चारित्र मोहनीय के अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन कषायों की १२ प्रकृतियों के सर्वघाती स्पर्धकों के उदयाभावी क्षय, उन्हीं का सद्अवस्थारूप उपशम तथा संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्धकों और यथासंभव नो कषाय के उदय रूप क्षयोपशम की निमित्ता में प्रगट हुआ आत्मा का पर द्रव्यों से निवृत्ति रुप स्वरूप- स्थिरतामय भाव क्षयोपशमिक चारित्र है। छठे/सातवें गुणस्थानव्रती मुनिराज के प्रगट चारित्र से आत्मा के यह भाव होता है। और

संयमासंयम भाव- अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदयाभावी क्षय, सद्अवस्थारूप उपशम तथा प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषायों और यथासंभव नोकषायों के उदय रूप क्षयोपशम की निमित्ता में प्रगट हुआ आत्मा का विरताविरतमय भाव क्षायोपशमिक संयमासंयम! पांचवें गुणस्थानव्रती जीवों का यह भाव होता है। संयमासंयम प्रतिपक्षी कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

*अपने प्रतिपक्षी कर्मों के क्षयोपशम की निमित्ता में प्रगट हुए ये क्षयोपशमिक भाव १८ ही हैं, हीनाधिक नहीं।*

17/03/20, 9:29 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य देव ने दूसरे अध्याय के पाँचवे सूत्र में मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक भाव के 18 भेदों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार हैं

1) चार ज्ञान - मति, श्रुत , अवधि और मनःपर्यय

2)तीन अज्ञान - कुमति, कुश्रुत और कुअवधि

3) तीन दर्शन - चक्षु , अचक्षु और अवधि

4 )पाँच लब्धियाँ - दान , लाभ , भोग , उपभोग एवं वीर्य

5) एक संयमासंयम (त्रस जीवों की हिंसा का त्याग होने से संयम तथा स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग न होने से असंयम होता है , अतः देशव्रती के संयम को संयमासंयम भी कहते हैं।

6) एक सम्यक्त्व

7)एक चारित्र

इस प्रकार क्षायोपशमिक भाव के कुल 4+ 3+3+5+1+1+1= कुल 18 भेद बतलाये जिनका वर्णन अशोक जी हमें विस्तार पूर्वक समझा चुके हैं।

18/03/20, 10:35 am - Ashok Jain: औदयिक भाव के इक्कीस भेद:

*गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शनाज्ञा-नासंयताऽसिद्ध-लेश्याश् चतुश् चतुस् त्र्ये-कै-कै-कैक-षड् भेदा:॥६॥*

सूत्रार्थ:- औदयिक भाव के (चतु: गति) चार गति [मनुष्य, तिर्यंच, देव, नरक] (चतु: कषाय) चार कषाय [क्रोध, मान, माया और लोभ] (त्रि लिंग) तीन लिंग या वेद [स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक- वेद] एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञात, एक असंयम, एक असिद्धत्व (षड्- लेश्या) छः लेश्या [ कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, और शुक्ल। ये सभी {४+४+३+१+१+१+१+६} इक्कीस भाव कर्म के उदय से होते हैं,

इसलिए इन्हें औदयिक भाव कहते हैं।

19/03/20, 10:57 am - Ashok Jain: *गति*- नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव; ये चारों गतियां अपने अपने नाम कर्म के उदय से होती है, इसलिए इन्हें औदयिक भाव कहा है।(रा वा १)

*कषाय*- क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषायें एवं इनके उत्तरभेद चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होती है, इसलिए इन्हें औदयिक भाव कहा है।(रा वा २)

*वेद (लिंग)*- वेद कर्म की उदीरणा होने पर यह जीव नाना प्रकार के बाल भाव अर्थात चंचलता को प्राप्त होता है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव और नपुंसक-भाव का वेदन करता है उसे वेद कहते हैं।(पं सं प्राकृत १/१०१).

स्त्री आदि की अभिलाषा चूंकि चारित्र मोह के विकल्प नोकषाय के भेद स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद के उदय से होती है इसलिए वेद औदयिक भाव है।(रा वा ३)

*मिथ्यादर्शन*- दर्शनमोह के उदय से तत्वार्ध में अश्रद्धान परिणाम मिथ्यादर्शन है। तत्त्वरुचि स्वभाव वाले आत्मा के श्रद्धान के प्रतिबन्धक कारण दर्शनमोह के उदय से, तत्त्वार्थ का निरुपण करने पर भी तत्त्व में श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता इसलिए मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है।(रा वा ४)

*अज्ञान*- ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञानस्वभावी आत्मा के ज्ञान गुण की अभिव्यक्ति नहीं होती है, वह अज्ञान-भाव ज्ञानावरण कर्म के उदय से होता है इसलिए औदयिक भाव है।(रा वा ५)

*असंयम*- चारित्र मोह कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों का उदय से होने वाले हिंसादि पापों से एवं इन्द्रिय विषयों से अनिवृत्ति परिणाम असंयम है। यह चारित्र मोह के उदय से होता है, इसलिए औदयिक भाव है।(रा वा ६)

*असिद्धत्व* कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा असिद्धत्त्व भाव होता है । अनादि कर्मबंध संतान के कारण परतंत्र हुए आत्मा के सामान्यतः सभी कर्मों का उदय की अपेक्षा से होती है इसलिए औदयिक भाव है।(रा वा ७)

*लेश्या*- जीव व कर्म का सम्बंध कराती है वह लेश्या कहलाती है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्या हैं।(ध.८/३५६).

यहां भाव लेश्या का ग्रहण करना चाहिए।क्योंकि भावलेश्या कषाय के उदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति का निमित्त पाकर होती है इसलिए इन्हें औदयिकी कहते हैं।(रा वा ८)

20/03/20, 10:35 am - Ashok Jain: पारिणामिक भाव के भेद

*जीव-भव्याभव्य-त्वानि च॥७॥*

सूत्रार्थ:- जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीनों पारिणामिक भाव हैं।

'च' शब्द से अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व आदि सामान्य गुणों का भी ग्रहण होता है।

21/03/20, 11:34 am - Ashok Jain: *जीवत्व*- पदार्थों के सामान्य और विशेष रूप को जानने वाली चेतना लक्षण सहित आत्मा के परिणाम/स्वाभाविक भावों को जीव का पारिणामिक भाव कहा है। जैसे दर्पण में कई प्रकार के रंग दिखते हैं किन्तु वे रंग स्वभाव नहीं है। जो दृष्टि दर्पण की स्वच्छता को देखे वह आत्मा के पारिणामिक भाव है। ये जीवत्व भाव प्रथम गुणस्थान से सिद्ध परमेष्ठि तक सभी जीवों में होता है।

*भव्यत्व* सम्यग्दर्शन आदि पर्याय रूप परिणमित होने की योग्यता, भव्यत्व पारिणामिक भाव है। यह चतुर्थ गुण स्थान से १४वें गुणस्थान तक के सभी जीवों में होता है।

*अभ्यत्व*- सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की योग्यता नहीं होना, अभव्य पारिणामिक भाव है। यह मात्र प्रथम गुणस्थान के जीवों के होता है।

ये तीनों भाव अनादिकालीन है; कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय की अपेक्षा से रहित है। स्वयं द्रव्य के परिणमन रूप है।

जीवत्व भाव तो हमारे है। हमें अपना भव्यत्व भाव मानना चाहिए,

ये केवलीगम्य है।

21/03/20, 11:43 am - Ashok Jain: <Media omitted>

21/03/20, 11:44 am - Ashok Jain: 👆 गुणस्थान की अपेक्षा जीवों के भाव

21/03/20, 12:41 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): दूसरे अध्याय का सातवां सूत्र

आत्मा का वह भाव जो किसी कर्म के उदय , , क्षय , क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं रखता है - *पारिमाणिक भाव* है।

जिसमें ज्ञान, दर्शन, चेतना पाई जाती है उसे *जीवत्व भाव* कहते हैं।

जिस चेतना में सम्यग्दर्शन, ज्ञान , चारित्र प्रगट करने की योग्यता होती है उसे *भव्यत्व भाव* कहते हैं।

जिस चेतना को सम्यक् प्रकार के सभी साधनों के उपलब्ध होने के बावजूद भी रत्नत्रय प्राप्ति की योग्यता नहीं होती उसे *अभव्यत्व भाव* कहते हैं।यह जीव अनन्त बार द्रव्य मुनि बनकर अनन्त बार नव ग्रैवेयक तक की यात्रा करके भी मोक्ष नहीं जा पाता , यह अभव्यत्व भाव है।

जिसके भविष्य में कुछ बनने योग्य शक्ति विद्यमान है , वह भव्य है। जैसे बीज में वृक्ष बनने की सामर्थ्य है । बीज में वृक्ष का अस्तित्व है , लेकिन जब तक उस बीज को उसके योग्य द्रव्य , क्षेत्र, काल आदि वातावरण में नहीं बोयेंगे उसमें वृक्ष प्रकट नहीं हो सकता है।उसी प्रकार इस जीवात्मा में जो भव्यत्व भाव है अर्थात् इसमें भगवान बनने की शक्ति छिपी हुई है , उस योग्यता को द्रव्य , क्षेत्र , काल एवं भाव मिलने पर उसकी भगवत्ता प्रगट हो जाती है। यह भव्यत्व भाव है।

क्रमशः

22/03/20, 9:08 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): भव्य चार प्रकार के होते हैं।

*आसन्न भव्य* इसी भव से मोक्ष जाने वाला जीव आसन्न भव्य है। जैसे पूर्ण गर्भवती स्त्री सन्तान को जनेगी।

*निकट भव्य* जो अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल के अन्दर मोक्ष जाने की योग्यता रखता है , वह निकट भव्य है।जैसे नव विवाहित दम्पति निकट भविष्य में सन्तान उत्पन्न करेंगे या मारीची के समान जीव।

*दूर भव्य* जो पंच परावर्तन संसार को तोड़कर मोक्ष जाने की पात्रता रखते हैं वे दूर भव्य हैं। जैसे कुँआरी कन्या , जब तक ऋतुकाल नहीं आता तब तक सन्तान उत्पन्न नहीं होगी।

*दूरान्दूर भव्य* जो अभव्यों के समान भव्य हैं , वे दूरान्दूर भव्य हैं अर्थात् जिन जीवों के रत्नत्रय उत्पन्न करने की योग्यता होते हुए भी तदनुरूप द्रव्य , क्षेत्र, काल आदि का अभाव होने से रत्नत्रय प्रकट नहीं कर पाते वे दूरान्दूर भव्य हैं । दूरान्दूर भव्य जीव का निवास स्थान नित्य निगोद है जो अनादि से अनन्त काल तक वहीं निवास करते हैं।

22/03/20, 1:26 pm - Ashok Jain: जीव का लक्षण

*उपयोगो लक्षणम्॥८॥*

सूत्रार्थ: जीव का (लक्षणम्) लक्षण (उपयोग:) उपयोग (विद्यते) हैं।

आत्मा के चैत्यन्य गुण के अनुसरण करने वाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। अर्थात् चैतन्य को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता है। ऐसा परिणाम।

उप+योग;

उप यानी समीप, निकट

योग यानी सम्बन्ध

जिसका आत्मा के निकट का सम्बंध है, उसे उपयोग कहते हैं।

22/03/20, 4:27 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के निमित्तो से होता है और चैतन्य का अन्यवयी है वह परिणाम उपयोग कहलाता है।यह चैतन्य को छोड़कर और कहीं नहीं रहता।

यद्यपि उपयोग जीव का लक्षण होने से आत्मा का स्वरूप अर्थात् स्वतत्त्व ही है , फिर भी इनमें लक्ष्य - लक्षण की अपेक्षा महान भेद है। आत्मस्वरूप लक्ष्य है और उपयोग लक्षण है ।लक्ष्य कभी लक्षण नहीं हो सकता।

23/03/20, 11:23 am - Ashok Jain: उपयोग के भेद

*स द्वि-विधोऽष्ट-चतुर्भेद:॥९॥*

सूत्रार्थ:- (स:) वह उपयोग (द्वि विध:) दो प्रकार का [ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप] (अस्ति) है।

और ज्ञानोपयोग (अष्ट भेद:) आठ प्रकार का है। तथा दर्शनोपयोग (चतुर्भेद:) चार प्रकार का है।

*ज्ञानोपयोग* मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्यय, केवलज्ञान और कुमति कुश्रुत और कुअवधि के भेद से आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग है।

*दर्शनोपयोग*- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का दर्शनोपयोग है।

क्रमशः...

23/03/20, 1:33 pm - Ashok Jain: ज्ञानोपयोग- पदार्थों के विशेष प्रतिभास को ज्ञानोपयोग कहते हैं। चैतन्य की शक्ति जिस समय ज्ञानाकार न रहकर ज्ञेयाकार रुप हो जाती है, उस समय शुक्लत्व, कृष्णत्व आदि विशेष रूपों का ग्रहण होने लगता है। यही आठ भेद वाला ज्ञानोपयोग या साकार उपयोग है।

दर्शनोपयोग- पदार्थों के सामान्य प्रतिभास को दर्शनोपयोग कहते हैं। जब चेतना की शक्ति किसी वस्तु विशेष के प्रति विशेष रूप से उपयुक्त न होकर मात्र सामान्य रूप से उसे ग्रहण करती है, तब चार भेद वाला दर्शनोपयोग होता है। इसे निराकार या निर्विकल्प उपयोग भी कहते हैं।

*उपयोग की सर्वप्रथम भूमिका दर्शन है, जिसमें केवल सामान्य सत्ता का भान होता है। इसके पीछे उपयोग क्रमशः विशेषग्राही होता जाता है, यह ज्ञानोपयोग है।*

संसारी जीवों को दर्शनोपयोग पूर्वक ज्ञान होता है, जबकि केवली भगवान को ज्ञान और दर्शन युगपत् होता है।

क्रमशः...

23/03/20, 3:59 pm - Ashok Jain: इसके अतिरिक्त अध्यात्म ग्रंथों की अपेक्षा उपयोग के तीन भेद अन्य भी बताये हैं-
१) विषयानुराग युक्त आत्मा का परिणाम *अशुभोपयोग* है,

२) धर्मानुराग युक्त आत्मा का परिणाम *शुभोपयोग* कहलाता है, और

३) निरुपराग परिणाम *शुद्धोपयोग* है। शुद्धोपयोग ध्यानात्मक परिणति है, वीतराग श्रमणों को ही होता है, इसे वीतराग चारित्र का अविनाभावी कहा है। सरागी के शुद्धोपयोग असम्भव है।

(जैन तत्त्व विद्या, मुनि श्री प्रमाण सागर जी महाराज से उद्धृत)

अशुभोपयोग से पाप का संचय होता है।

शुभोपयोग से पुण्य का संचय होता है।

और शुद्धोपयोग से पाप-पुण्य दोनों का ही संचय नहीं होता है।(प्र. सा. १५६)

गुणस्थान की अपेक्षा-

प्रथम गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान तक घटता हुआ अशुभोपयोग रहता है।

चतुर्थ गुणस्थान से छठवें गुणस्थान तक बढ़ता हुआ शुभोपयोग रहता है।

तथा सप्तम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग रहता है।

तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल रहता है।(प्र. सा. टी.९)

(मुनिश्री प्रशांत सागर जी महाराज द्वारा जिनसरस्वती से उद्धृत)

23/03/20, 6:02 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य देव ने हमें पिछले सूत्र में ही बतला दिया था कि जीव का लक्षण उपयोग है। अब नौवें सूत्र में उन्होंने हमें *उपयोग* के भेद बतलाये हैं जिनकी विवेचना अशोक जी ने बहुत ही अच्छी तरह से समझाई है।

उपयोग के दो भेद बतलाये - *ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग* जो सभी प्रकार के जीवों में पाये जाते हैं । इनके उत्तर भेद अनेक हैं जो निमित्त विशेष से होते हैं।यद्यपि दर्शन पहले होता है फिर भी श्रेष्ठ होने के कारण सूत्र में ज्ञान को दर्शन से पहले रखा गया है।सम्यगग्ज्ञान के प्रकरण में पाँच प्रकार के ज्ञानोपयोग का व्याख्यान कर आये हैं , परन्तु यहाँ उपयोग का ग्रहण होने से विपर्यय का भी ग्रहण होता है , इसलिए वह आठ प्रकार का कहा गया है।

यहाँ आचार्य महाराज ने सूत्र में हमें ज्ञानोपयोग के आठ और दर्शनोपयोग के चार भेद बतलाये।पहले अध्याय में हमने पढा था कि  जीव के एक साथ चार ज्ञान और तीन दर्शन हो सकते हैं। जिसके एक साथ चार ज्ञान होंगे उसके उसी समय तीन दर्शन भी पाये जायेंगे।एक जीव के एक समय में मतिज्ञानावरण आदि चार ज्ञानावरण और चक्षुदर्शनावरण आदि तीन दर्शनावरण - इन सात कर्मों का क्षयोपशम हो सकता है , परन्तु तत्त्वतः उनके उस समय एक ही उपयोग होगा। क्षयोपशम ज्ञान और दर्शन की उत्पत्ति में निमित्त है और उपयोग ज्ञान दर्शन की प्रवृत्ति है।

जीव में ज्ञान और दर्शन की धारा निरन्तर प्रवाहमान होती रहती है जो बाह्य या अभ्यन्तर जब जैसा निमित्त मिलता है उसी रूप काम करने लगती है।इतना अवश्य है कि संसार अवस्था में वह मलिन , मलिनतर और मलिनतम रहती है और कैवल्य अवस्था प्राप्त होने पर विशुद्ध हो जाती है।फिर उनकी प्रवृत्ति के लिए अन्तरंग या बाह्य कारणों की अपेक्षा नहीं रह जाती।इसीलिए यहाँ जीव का लक्षण *उपयोग* कहा गया है।

लिखने का आधार - सिद्धान्ताचार्य पं फूलचन्द शास्त्री द्वारा लिखित *सर्वार्थसिद्धि* ग्रन्थ की विवेचना से।

24/03/20, 11:26 am - Ashok Jain: जीव के भेद

*संसारिणो मुक्ताश्च॥१०॥*

सूत्रार्थ- (जीवा:) वे जीव (संसारिण:) संसारी (च) और (मुक्ता:) मुक्त ये दो भेद वाले (संति) हैं।

संसारी जीव- जो चार गति रुप संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, वे सब संसारी जीव हैं।

यह संसारी जीव सुख पाने की इच्छा से इंन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान,दर्शन, सुख, है वीर्य को शरीर में ही निहित मानता है।इसे उन्हें पाने के लिए पर-वस्तुओं का आश्रय लेना पड़ता है। कर्मबंध से बंधे रहने के कारण यह संसारी जीव गुणस्थान और मार्गणास्थानों में स्थित है। पर्यायों की अपेक्षा अनेक भेद-प्रभेद वाले होते हैं।

संसारी जीवों की विशेषताएं-

१) परतन्त्रता, २) चंचलता, ३) क्षयपना, ४) बाध्यता, ५) परिक्षयत्व, ६) रजस्वलत्व, ७) छेदन, ८) भेदन, ९) मृत्यु, १०) प्रमेयत्व, ११) गर्भवास, १२) विलीनता, १३) क्षुभितत्व, १४) विविधयोग, १५) संसारावास, १६) असिद्धता और १७) विनश्वरता।

*-(महापुराण ४२/८३-९४)

मुक्त जीव- ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित जीवों को मुक्त जीव कहते हैं।

जो द्रव्यबंध और भावबंध से रहित है वह मुक्त जीव है। (रा वा २)

विशेषताएं- १) स्वतंत्रपना, २) अचञ्चलता, ३) अक्षयपना, ४) अव्याबाधपना, ५) अनन्त ज्ञानत्व, ६) अनन्त दर्शनत्व, ७) अनन्त वीर्यत्व, ८) अनन्त सुखत्व, ९) नीरजसत्व, १०) निर्मलत्व, ११) अच्छेद्यत्व, १२) अभेद्यत्व, १३) अक्षरता, १४) अप्रमेयत्व, १५) अगर्भवसत्व, १६) अगौरवलाघवत्व, १७) अक्षोभ्यत्व, १८) अविलीनत्व, १९) योगरूपत्व, २०) लोकाग्रवास और २१) परमसिद्धत्व।

*-(महापुराण ४२/९६-१०७)

24/03/20, 12:34 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): एक स्वाध्यायी ने कुछ प्रश्न पूछे हैं

ज्ञान को श्रेष्ठ क्यों कहा?

उत्तर -क्योंकि ज्ञान से ही दर्शन को जाना जाता है।

24/03/20, 12:37 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पहले से तीसरे तक अशुभोपयोग कहा...सो सामान्य कथन है?..

क्योंकि पहले गुणस्थान में भी महाव्रत पालन संभव है और शुभभाव से ग्रैवेयक भी जा सकते ?

उत्तर -

माननीय श्री पारस जी पाटनी द्वारा

योग संसारी प्राणियों के होता है जिसे हम काय, वचन और मन से जानते हैं। एक इन्द्रिय जीवो के मात्र काय योग होता है। दो इन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेंद्रिय के काय और वचन ये दो ही होते हैं और सैनी पञ्चेंद्रिय के तीनों योग होते हैं।

उपयोग सभी संसारी और मुक्त जीवों के होता है। ये जीव का लक्षण है।

असैनी  तक सभी जीव तो मिथ्यात्व सहित ही होते हैं पर सैनी जीवों में जिनके सम्यक्तव है वे तो शरीर से अपने को अनुभव भिन्न एक शाश्वत आत्म द्रव्य को जानते हैं ।मिथ्या दृष्टि तो शरीर को ही स्व मान रहे हैं।

आत्म कल्याण उन्हें ज्ञान में ही नहीं रहता

24/03/20, 12:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): विशेष - योग और उपयोग में अन्तर

योग संसारी प्राणियों के होता है जिसे हम काय, बचन और मन से जानते हैं। एक इन्द्रिय जीवो के मात्र काय योग होता है। दो इन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेंद्रिय के काय और वचन ये दो ही होते हैं और सैनी पञ्चेंद्रिय के तीनों योग होते हैं। ∪

उपयोग सभी संसारी और मुक्त जीवों के होता है। ये जीव का लक्षण है।

असैंनी  तक सभी जीव तो मिथ्यात्व सहित ही होते हैं पर सैनी जीवों में जिनके सम्यक्तब है वे तो शरीर से अपने को अनुभव भिन्न एक शाश्वत आत्म द्रव्य को जानते हैं ।मिथ्या दृष्टि तो शरीर को ही स्व मान रहे हैं।

आत्म कल्याण उन्हें ज्ञान में ही नहीं रहता

24/03/20, 3:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): वे मुनिराज द्रव्य लिंगी हैं, भेष तो महब्रती का है पर सम्यकतव के अभाव में वे मिथ्या दृष्टि ही है। इसलिए प्रत्यक्ष दृष्टियों के ज्ञान में तो वे प्रथम गुनस्थान वाले ही है पर हम उन्हें मुनि ही मानेंगे।

उनके उपयोग तो अशुभ ही है योग उनका शुभ है और लेश्या भी शुक्ल होने से वे उकृष्टता से नव ग्रैवेयक तक जा सकते हैं।

उपयोग उनका अशुभ ही रहेगा।

उनके कषाय मंद तम होती है। अनंतानुबंधी की

24/03/20, 3:58 pm - Ashok Jain: पहले गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि महाव्रत पालन कर सकते हैं यानी चारित्र का पालन करने में बाधा नहीं है। लेकिन सम्यक्त्व के अभाव में उनके शुभोपयोग नहीं होता है। अशुभोपयोग में रहते हैं। उनकी दृष्टि सांसारिक सुखों में रहती है।

24/03/20, 4:30 pm - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

24/03/20, 6:11 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सब आत्माओं में साधारण उपयोग रूप जिस आत्म परिणाम का पहले नौवें सूत्र में व्याख्यान किया है उससे उपलक्षित सब उपयोग वाले जीव दो प्रकार के होते हैं , इस बात का ज्ञान कराने के लिए आचार्य भगवन् अगले 10 वें सूत्र में कहते हैं कि ये जीव दो प्रकार के होते हैं -1) संसारी और 2) मुक्त।

संसरण करने को संसार कहते हैं।संसरण का अर्थ परिवर्तन है।

कर्म सहित जीवों को संसारी कहते हैं अर्थात् परिवर्तन जिसके पाया जाता है वे संसारी हैं।कर्म रहित जीव मुक्त कहलाते हैं।

द्रव्य परिवर्तन , क्षेत्र परिवर्तन , काल परिवर्तन , भव परिवर्तन और भाव परिवर्तन के भेद से परिवर्तन पाँच प्रकार के हैं।

कर्म सहित जीव के मुख्य रूप से आठ में से सात ज्ञानोपयोग  और तीन दर्शनोपयोग होते हैं।

मुक्त जीव के एक ज्ञानोपयोग , एक दर्शनोपयोग होता है।

सूत्र में आचार्य महाराज ने *संसारी* पद को आगे रखा है क्योंकि संसारी जीव संख्या एवं उपयोग की अधिकता के कारण अधिक हैं। मुक्त जीव संसारियों की अपेक्षा कम हैं तथा उनका उपयोग भी कम है , अतः मुक्त जीव को बाद में रखा है।

सूत्र के अन्त में वर्णित *च* शब्द से हम अरिहंत परमेष्ठी को भी ले सकते हैं क्योंकि वे शरीरधारी सकल परमात्मा होते हुए भी केवलज्ञान और केवलदर्शन - इन दो उपयोगों वाले हैं । समस्त मोहनीय कर्म नष्ट होने से इनका भाव मोक्ष हो चुका है , किन्तु  अघातिया कर्म रहने के कारण द्रव्य मोक्ष नहीं हुआ है।

25/03/20, 11:17 am - Ashok Jain: जीव के भेद

*समनस्कामनस्का:॥११॥*

सूत्रार्थ:- संसारी जीव (समनस्क) सैनी या समनस्क और (अमनस्का) असैनी या अमनस्क के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

मन सहित जीव समनस्क है। समनस्क जीव ही गुण और दोषों का विचार करने वाले होते हैं।

मन रहित जीव अमनस्क है। अमनस्क जीव शिक्षा आदि को ग्रहण नहीं करते। गुण दोषों का विचार नहीं करते हैं।

25/03/20, 12:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): दूसरे अध्याय के ११ वें सूत्र में संसारी जीव को मन सहित और मन रहित की अपेक्षा से दो भागों में बाँटा है।

जिसमें सोचने विचारने की शिक्षा - उपदेश आदि ग्रहण करने की , अपना हित अहित समझने की योग्यता होती है -उसे मन कहते हैं।

यह मन दो प्रकार का होता है -१) द्रव्य मन २) भाव मन।पुद्गल विपाकी सांगोपांग नामकर्म के उदय से द्रव्य मन होता है तथा वीर्यान्तराय और कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भावमन कहते हैं।

यह मन जिन जीवों के पाया जाता है वे *समनस्क* अर्थात् मन सहित हैं और जिन जीवों के मन नहीं होता वे *अमनस्क* अर्थात् मन रहित हैं।

इस प्रकार मन के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से संसारी जीवों को दो भागों में बाँटा गया है।

समनस्क जीव गुण और दोषों का विचार करने में समर्थ होने के कारण श्रेष्ठ हैं। इस श्रेष्ठता की अपेक्षा से समनस्क को सूत्र में पहले स्थान दिया गया है।

25/03/20, 4:08 pm - Ashok Jain: संसारी जीवों के अन्य प्रकार से भेद

*संसारिणस्-त्रस-स्थावरा:॥१२॥*

सूत्रार्थ:- (संसारिण) संसारी जीव (त्रस-स्थावरा:) त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के (संति) हैं।

जीव विपाकी त्रस नाम कर्म के उदय से उत्पन्न वृत्ति विशेष वाले जीव त्रस कहे जाते हैं।(रा वा १)

जीव विपाकी नाम कर्म के उदय से उपजनित विशेष जीव स्थावर संज्ञा को प्राप्त होता है।(रा वा ३)

स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिए उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहते हैं।(ध.१/२४१)

25/03/20, 7:53 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में *स्थावर* से *त्रस* में अल्प अक्षर होने के कारण त्रस को पहले ग्रहण किया गया है। इसके अलावा त्रस स्थावर.से श्रेष्ठ हैं जिसके कारण उनमे सभी उपयोगों का पाया जाना संभव है ।यहाँ तक कि त्रस जीव रत्नत्रय की पूर्णता को भी प्राप्त कर सकता है।द्वि इन्द्रिय से लेकर सयोग केवली तक सभी जीव त्रस हैं। इसी श्रेष्ठता के कारण आचार्य देव ने सूत्र में त्रस को पहले स्थान दिया है।

26/03/20, 11:23 am - Ashok Jain: स्थावर जीवों के भेद

*पृथिव्यप्तेजो-वायु-वनस्पतय: स्थावरा:॥१३॥*

सूत्रार्थ:- (पृथिवी-अप्-तेज: -वायु वनस्पतय:) पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पांच (स्थावरा:) स्थावर हैं। इनके केवल एक ही स्पर्शन इन्द्रिय होती है।

१) पृथ्वीकायिक- पृथ्वी ही जिन जीवों का शरीर है, वे पृथ्वीकायिक जीव हैं। जैसे: मिट्टी, कोयला, पत्थर, सोना चांदी आदि।

२) जलकायिक- जल ही जिन जीवों का शरीर है उन्हें जलकायिक जीव कहते हैं। जैसे: जल, ओस, ओला, कुहरा आदि।

३) अग्निकायिक- अग्नि ही जिन जीवों का शरीर है वे अग्निकायिक जीव हैं। जैसे: ज्वाला, अंगार, लौ, दावानल आदि।

४) वायुकायिक- वायु ही जिन जीवों का शरीर है उन्हें वायुकायिक जीव कहते हैं। जैसे: पवन, घनवातवलय, तनुवातवलय आदि।

५) वनस्पतिकायिक- वनस्पति ही जिन जीवों का शरीर है वे वनस्पतिकायिक जीव हैं। जैसे: पेड़, लता, झाड़ियां आदि।

26/03/20, 5:03 pm - Ashok Jain: त्रसजीव के भेद

*द्वीन्द्रयादयस् -त्रसा:॥१४॥*

सूत्रार्थ: (द्वीन्द्रयादय:) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीव (त्रसा:) त्रस कहलाते हैं।

त्रस जीव त्रस नाली के भीतर होते हैं, बाहर नहीं।(ध.४/१४९) त्रस नाली लोक के मध्य भाग में एक राजू लम्बी चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊंची है।( ति.प.२/६)

त्रस जीवों के चार भेद हैं: दो, तीन, चार और पांच इन्द्रिय।

दो इन्द्रिय जीव- जिसके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां होती है, उसे दो इन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे- लट, केंचुआ, जोंक, सीप, कोड़ी, शंख आदि।

तीन इन्द्रिय जीव- जिसके स्पर्शन, रसना, और घ्राण ये तीन इन्द्रियां होती है, उसे तीन इन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे- चींटी, खटमल, बिच्छू, आदि।

चार इन्द्रिय जीव- जिसके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रिय होती है वे चार इन्द्रिय जीव होते हैं। जैसे- भौंरा, मक्खी, मधुमक्खी, मच्छर, ततैया, टिड्डी आदि।

पञ्चेन्द्रिय जीव- जिसके स्पर्शन, रसना घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांचों इंद्रियां होती हैं वे सब पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं। जैसे- मनुष्य, हाथी, घोड़ा, तोता आदि।

पञ्चेन्द्रिय जीव संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

*उत्कृष्ट आयु की अपेक्षा*

दो इन्द्रिय- बारह वर्ष

तीन इन्द्रिय- उनञ्चास दिन

चार इन्द्रिय- छः महीने

पांच इन्द्रिय- तैंतीस सागर

27/03/20, 9:30 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): एकेन्द्रिय के स्पर्शन , कायबल , आयु और श्वासोच्छवास - चार प्राण होते हैं।

द्विइन्द्रिय के स्पर्शन , रसना, कायबल , वचन बल , आयु और श्वासोच्छवास - छः प्राण होते हैं।

इस प्रकार द्वि इन्द्रिय को एकेन्द्रिय से दो प्राण ज्यादा होते हैं - रसना और वचन बल

तीइन्द्रिय के स्पर्शन , रसना , घ्राण , काय व वचन बल , आयु व श्वासोच्छवास - सात प्राण होते हैं।

इस प्रकार तीइन्द्रिय को द्विइन्द्रिय की अपेक्षा एक घ्राण , यह प्राण ज्यादा होता है।

चतुरिन्द्रिय के स्पर्शन , रसना , घ्राण , चक्षु - ये चार इन्द्रिय

काय और वचन - ये दो बल

आयु तथा श्वासोच्छवास - कुल आठ प्राण होते हैं।

असैनी पंचेन्द्रिय के नौ प्राण होते हैं।चतुरिन्द्रिय की चार इन्द्रिय में एक श्रोत इन्द्रिय और जोड़कर तथा बाकी चतुरिन्द्रिय के आठ प्राण कुल मिलाकर असैनी पंचेन्द्रिय के नौ प्राण होते हैं।

सैनी पंचेन्द्रिय के असैनी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा एक प्राण ज्यादा होता है , वह है मनोबल। इस प्रकार सैनी पंचेन्द्रिय मन सहित होने के कारण उसके दस प्राण होते हैं।ये दस प्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच , मनुष्य , देव और नारकियों के होते हैं।

27/03/20, 11:01 am - Ashok Jain: इन्द्रियों की संख्या

*पञ्चेन्द्रियाणि॥१५॥*

सूत्रार्थ:- (इन्द्रियाणि) इन्द्रियाॅं (पञ्च) पांच होती हैं।

जिसके द्वारा संसारी जीवों की पहचान होती हैं, उसे इन्द्रिय कहते हैं। ये पांच होती हैं।

27/03/20, 11:47 am - Ashok Jain: इन्द्रियों के मूल भेद

*द्विविधानि॥१६॥*

सूत्रार्थ: प्रत्येक इन्द्रियां दो-दो प्रकार की होती हैं।

१)द्रव्य इन्द्रिय और २) भाव इन्द्रिय

27/03/20, 2:00 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पन्द्रहवाँ सूत्र

*पंचेन्द्रियाणि*

जिससे जीव की पहचान हो उसे इन्द्रियाँ कहते हैं । इन्द्र शब्द से आत्मा भी कहा जाता है , इस अपेक्षा से आत्मा का लिंग अर्थात् चिह्न इन्द्रिय कहलाता है।

सूत्र में जो *पंच* पद का ग्रहण किया गया है वह यह मर्यादा निश्चित करने के लिए है कि इन्द्रियाँ पाँच ही होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच होती हैं - स्पर्शन , रसना , घ्राण, चक्षु तथा स्रोत।

क्रिया की साधनभूत इन्द्रियों की कोई मर्यादा नहीं है ।अंगोपांग नामकर्म के उदय से जितने भी अंगोपांगों की रचना होती है, वे सब क्रिया के साधन हैं ,जैसे हाथ , पैर , वचन आदि । इसलिए कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही हैं , ऐसा कोई नियम नहीं किया जा सकता । चूँकि उपयोग का प्रकरण है , इसलिए इस सूत्र में उपयोग की साधनभूत ज्ञानेन्द्रियों का ग्रहण किया गया है , जो पाँच ही होती हैं।

27/03/20, 3:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सोलहवां सूत्र

*द्विविधानि*

पिछले सूत्र में जिन पाँच इन्द्रियों का वर्णन किया गया - वे कितने प्रकार की हैं , यह आचार्य देव इस सूत्र में बतला रहे हैं कि *द्विविधानि*

*द्वि* अर्थात् दो विधि की इन्द्रियों होती हैं। विध शब्द प्रकारवाची है अर्थात् ये इन्द्रियाँ दो प्रकार की ( two kinds, two types ) की होती हैं।

वे दो प्रकार हैं - द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय नामकर्म की रचना है।

भावेन्द्रिय ज्ञानावरण का क्षयोपशम है।

द्रवयेन्द्रिय और भावेन्द्रिय के स्वरूप का विस्तृत विवेचन आचार्य महाराज अगले १७ वें और १८ वें सूत्र में करेंगे।

28/03/20, 11:02 am - Ashok Jain: द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप

*निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्॥१७॥*

सूत्रार्थ:- निर्वृत्ति और उपकरण को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

निर्वृत्ति: नामकर्म के उदय से होने वाली प्रदेशों की रचना विशेष को निर्वृत्ति कहते हैं। इसके दो भेद हैं- आभ्यन्तर निर्वृत्ति और बाह्य निर्वृत्ति।

आभ्यन्तर निर्वृत्ति: आत्मा के प्रदेशों की इन्द्रियाकार रचना विशेष को आभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं।

बाह्य निर्वृत्ति: इन्द्रियों के आकार रूप पुद्गल परमाणुओं की रचना विशेष को बाह्य निर्वृत्ति कहते हैं।

उपकरण: जो निर्वृत्ति का उपकार (रक्षा) करता है, उसे उपकरण कहते हैं। उपकरण दो प्रकार के होते हैं-

बाह्य उपकरण और आभ्यन्तर उपकरण।

बाह्य उपकरण: नेत्रेन्द्रिय के पलक की तरह, जो निर्वृत्ति का उपकार करे, उसे बाह्य उपकरण कहते हैं।

आभ्यन्तर उपकरण: नेत्रेन्द्रिय में कृष्ण-शुक्ल मण्डल की तरह सभी इन्द्रियों में जो निर्वृत्ति का उपकार करे, उसे आभ्यन्तर उपकरण कहते हैं।

28/03/20, 12:25 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जिन दो प्रकार की इन्द्रियों का वर्णन सोलहवें सूत्र में किया गया उनमें से पहली द्रव्येन्द्रिय का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य महाराज सत्रहवें सूत्र में कहते हैं कि *निर्वृत्ति* और *उपकरण* को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

अंगोपांगों नामकर्म के उदय से होने वाली इन्द्रियों की रचना विशेष को *निर्वृत्ति* कहते हैं या कर्मों के द्वारा जिसकी रचना की जाती है उसे *निर्वृत्ति* कहते हैं या पुद्गलविपाकी नामकर्म के उदय से रची गयी नियत आकार वाली पुद्गल की रचना विशेष को *निर्वृत्ति* कहते हैं।

निर्वृत्ति के सहायक या उपकारक को उपकरण कहते हैं।

उदाहरण - हमारी नेत्र इन्द्रिय में जो काला- सफेद मण्डल दिख रहा है , वह आभ्यन्तर उपकरण है तथा नेत्रों के ऊपर की पलकें , भौंहें , रोम आदि बाह्य उपकरण हैं।

28/03/20, 2:05 pm - Ashok Jain: भावेन्द्रिय का स्वरूप

*लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्॥१८॥*

सूत्रार्थ:- (लब्ध्युपयोगौ) लब्धि और उपयोग को (भावेन्द्रियम्) भाव इन्द्रिय कहते हैं।

वे इन्द्रियाॅं शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध नाम के ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से और द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होती है।(ध.१/१३६)

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि अर्थात् शक्ति कहते हैं। (रा वा १)

एवं जिसके संसर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना के लिए उद्यत होता है, तन्निमित्तक आत्मा के परिणाम विशेष को उपयोग कहते हैं।(रा वा २)

*जीव में देखने की शक्ति तो है, किंतु उसका उपयोग दूसरी ओर होने पर भी सामने स्थित वस्तु को भी नहीं देख सकता। इसी प्रकार किसी वस्तु को जानने की इच्छा होते हुए भी यदि क्षयोपशम नहीं हो तो भी वह जान नहीं सकता है*

अतः ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में जो जानने की शक्ति प्रगट होती है वह तो लब्धि है और उसके होने पर आत्मा का पदार्थों की ओर अभिमुख होना उपयोग कहलाता है।

*लब्धि और उपयोग के मिलने से ही पदार्थ का ज्ञान होता है।*

28/03/20, 4:44 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *भावेन्द्रिय* का स्वरूप बतलाते हुए गुरुदेव अठारहवें सूत्र में कहते हैं कि *लब्धि* और *उपयोग* को भावेन्द्रिय कहते हैं।

*लब्धनं लब्धिः* जिसका अर्थ है प्राप्त होना। लब्धि का सार्थक  अर्थ है आत्मा में ज्ञानावरण क्षयोपशम से होने वाली अर्थ ग्रहण करने की शक्ति।

*उपयोग* अर्थात् आत्मिक शक्ति।अर्थ ग्रहण करने के प्रति आत्मा के उद्यम , प्रवर्तन या व्यापार को उपयोग कहते हैं।

जीव में देखने की शक्ति तो है , लेकिन उपयोग यदि दूसरी तरफ है तो वह सामने रखी वस्तु को भी नहीं देख पाता। इसी प्रकार वस्तु को जानने की इच्छा होते हुए भी क्षयोपशम नहीं होने पर मनुष्य वस्तु को नहीं जान पाता।

उपयोग और योग में काफी अन्तर होता है।उपयोग ज्ञान की परिणति है और योग मन-वचन-काय की परिणति है। शुभयोग मिथ्यादृष्टि के भी हो सकता है , परन्तु शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के ही हो सकता है।

29/03/20, 12:42 pm - Ashok Jain: इन्द्रियों के नाम

*स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु:श्रोत्राणि॥१९॥*

सूत्रार्थ: (स्पर्शन) त्वचा, (रसना) जीभ, (घ्राण) नाक,  (चक्षु) आॅंख और (श्रोत्राणि) कान ये पांच इन्द्रियाॅं (संति) हैं।

29/03/20, 1:02 pm - Ashok Jain: जिसके द्वारा किसी वस्तु को छुआ जाता है, वह *स्पर्शन* इन्द्रिय है।

स्पर्शन इन्द्रिय का आकार अनेक रूप है।

जिसके द्वारा चखा जाता है वह *रसना* इन्द्रिय है। इसका आकार अर्द्धचन्द्र अथवा खुरपे के समान है।

जिसके द्वारा सूंघा जाता है वह *घ्राण* इन्द्रिय है इसका आकार अतिमुक्तक पुष्प के समान है।

जिसके द्वारा पदार्थों को देखा जाता है वह *चक्षु* इंद्रिय है और इसका आकार मसूर के समान है।

जिसके द्वारा सुना जाता है वह *श्रोत* (कर्ण) इन्द्रिय है। कर्ण इन्द्रिय का आकार यवनाली के समान है।

(गो जी १७१)

29/03/20, 3:47 pm - Ashok Jain: इन्द्रियों के विषय

*स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास् तदर्था:॥२०॥*

सूत्रार्थ:- (तदर्था) उन इन्द्रियों के विषय क्रमशः (स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दा:) स्पर्श, रस, गंध, रूप, और शब्द ये पांच (सन्ति) हैं।

इन्द्रियों के विषय-

१) स्पर्शन इन्द्रिय:- इसका विषय *स्पर्श* है। स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं- शीत, उष्ण, रूखा, चिकना, कोमल, कठोर, हल्का और भारी।

२) रसना इन्द्रिय- इसका विषय *रस* है। रस पांच प्रकार के होते हैं - खट्टा, मीठा, कड़ुवा, कषायला और चरपरा।

३) घ्राण इन्द्रिय- इसका विषय *गन्ध* है। गन्ध दो प्रकार के होते हैं- सुगन्ध और दुर्गंध।

४) चक्षु इंद्रिय- इसका विषय *वर्ण* है। वर्ण पांच प्रकार के होते हैं- काला, नीला, पीला, लाल और सफेद।

५) श्रोत इन्द्रिय- इसका विषय *शब्द* है। शब्द सात प्रकार के होते हैं- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इन्हें

सा, रे , गा, मा, पा, दा, नि भी कहते हैं।

30/03/20, 11:42 am - Ashok Jain: मन का विषय

*श्रुत-मनिन्द्रियस्य॥२१॥*

सूत्रार्थ:- (अनिन्द्रियस्य) मन का विषय (श्रुतम्) श्रुत ज्ञानागोचर पदार्थ (अस्ति) है। अर्थात् श्रुतज्ञान का विषयभूत पदार्थ मन का विषय है।

अनिन्द्रिय:- मन अनवस्थित है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं है। इस प्रकार जो मन के इन्द्रियपने का निषेध किया गया है, सो यह मन उपयोग का उपकारी है या नहीं? मन भी उपकारी है, क्योंकि मन के बिना स्पर्शं आदि विषयों में इन्द्रियाॅं अपने अपने प्रयोजन की सिद्धि करने में समर्थ नहीं होती तो क्या इन्द्रियों की सहायता करना ही मन का प्रयोजन है या और भी इसका प्रयोजन है, यह बात इस सूत्र के द्वारा कही गई है।(सर्वा. ३०१)

श्रुतज्ञान के द्वारा जानी जा रही सब वस्तु श्रुत है।(श्लो १५/१५२)

मन के जानने योग्य श्रुत ही है ऐसा नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञानों के ज्ञेयों को श्रुतज्ञान से जानने में मन निमित्त कारण बन जाता है। यहां सम्पूर्ण जानने योग्य वस्तुओं को 'श्रुतं' शब्द से कहा गया है अर्थात् विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को जानने में श्रुतज्ञान निमित्त हो सकता है। (श्लो. ५/१५३)

30/03/20, 4:07 pm - Ashok Jain: स्पर्शन इन्द्रिय के स्वामी

*वनस्पत्यन्तानामेकम्॥२२॥*

सूत्रार्थ:- (वनस्पति-अन्तानाम्) वनस्पतिकाय है अन्त में जिनके, ऐसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के (एकम्) एक स्पर्शन इन्द्रिय (जायते) होती है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति कायिक जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है।

सूत्र में दिये गये 'अन्त' पद से जाना जाता है कि इन पृथ्वी, जल आदि जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है क्योंकि अन्त शब्द का अर्थ अवसान होता है (और वह अन्त शब्द आदि की भी अपेक्षा रखता है) अतः सिद्ध है कि पृथ्वी आदि को लेकर वनस्पति पर्यंत जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। (श्लो. ५/१५५)

30/03/20, 4:51 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य श्री ने सूत्र नं 13 में भी पृथ्वी , जल, अग्नि , वायु , वनस्पति - इसी क्रम को ग्रहण किया है । इसका कारण बताते हुए *राजवर्तिक* में लिखा है आचार्य अकलंक देव जी ने लिखा है कि बहुत उपकारी होने से पृथ्वी को सबसे पहले ग्रहण किया है।यदि पृथ्वी नहीं होती तो पानी आदि कहाँ पर स्थित होकर उपकार करते , इसलिए भी पृथ्वी को पहले ग्रहण किया है।

पृथ्वी के बाद जल को ग्रहण किया है क्योंकि पृथ्वी जल का आधार है और जल आधेय है।

पृथ्वी और जल का परिपाक अग्नि के द्वारा होता है , अतः पृथ्वी और जल के बाद अग्नि को ग्रहण किया है।

अग्नि का उपकारक होने से अग्नि के बाद उसके मित्र वायु को ग्रहण किया है।

वनस्पति की उत्पत्ति में पृथ्वी , जल , अग्नि , वायु - चारों ही निमित्त होते हैं तथा सब जीवों की अपेक्षा इनकी संख्या अनन्तागुणी भी है , इसलिए सबके अन्त में वनस्पति का ग्रहण किया जाता है।

लिखने का आधार - परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा लिखित *तत्त्वार्थ सूत्र* की प्रश्नोत्तरी टीका से।

31/03/20, 11:54 am - Ashok Jain: इन पंचस्थावरों के प्रत्येक के ४-४ भेद होते हैं:-

पृथ्वीकायिक-

सामान्यपृथ्वी, पृथ्वीजीव, पृथ्वीकायिक, और पृथ्वीकाय।

जलकायिक-

सामान्यजल, जलजीव, जलकायिक, और जलकाय।

वायुकायिक -

सामान्यवायु, वायुजीव, वायुकायिक और वायुकाय।

अग्निकायिक-

सामान्य अग्नि, अग्निजीव, अग्निकायिक और अग्निकाय।

वनस्पतिकायिक-

सामान्य वनस्पति, वनस्पति जीव, वनस्पतिकायिक और वनस्पतिकाय।

(मू. चा. टी. ५/८)

ये चार भेद कैसे बनेंगे इसके लिए जलकायिक के भेद से समझते हैं-

१. सामान्यजल: वर्षा का जल सामान्य जल है। जिसमें अन्तर्मूहूत तक जीव नहीं आता है। जिस प्रकार हाइड्रोजन+ आक्सीजन के मेल से उत्पन्न H2O जल सामान्य है। इसमें भी अन्तर्मूहूत तक जीव उत्पन्न नहीं होते हैं।

२. जलजीव- जो जीव विग्रह गति (कार्मण काय योग) में है, जो जल को अपनी काया बनाने जा रहा है।वह जलजीव है।

३. जलकायिक- जिस जीव ने जल में आकर जन्म धारण कर लिया है, वह जलकायिक है।

४. जलकाय- जिसमें से जीव चला गया, मात्र काया पड़ी है, वह जलकाय है। जैसे प्रासुक जल।

इसी प्रकार पृथ्वीकायिक आदि के भी भेद जानना चाहिए।

31/03/20, 11:57 am - Ashok Jain: <Media omitted>

31/03/20, 1:19 pm - Ashok Jain: शेष इन्द्रियों के स्वामी

*कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीना-मेकैक-वृद्धानि॥२३॥*

सूत्रार्थ:- (कृमि पिपीलिका भ्रमर मनुष्यादीनाम्) लट आदि, चींटी आदि, भौंरा आदि तथा मनुष्य आदि के क्रम से (एकैक वृद्धानि) एक एक बढ़ती हुई इन्द्रिया होती है।

अर्थात् क्रमशः दो तीन चार और पांच इन्द्रियाॅं होती हैं।

लट केंचुआ जोंक सीप कोड़ी शंख आदि जीव दो इन्द्रिय (स्पर्शन और रसना) के स्वामी होते हैं।

चींटी, खटमल बिच्छू घुन आदि जीव तीन इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना और घ्राण) के स्वामी होते हैं।

भौंरा, मक्खी, मधुमक्खी, मच्छर, ततैया, टिड्डी आदि जीव चार इन्द्रिय (स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षु) के स्वामी होते हैं।

मनुष्य, सर्प,हाथी घोड़ा तोता आदि जीव पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण) के स्वामी होते हैं।

31/03/20, 4:15 pm - Ashok Jain: समनस्क के लक्षण

*सञ्ज्ञिन: समनस्का:॥२४॥*

सूत्रार्थ:- (समनस्का:) मनसहित जीव (सञ्ज्ञिन:) संज्ञी, सैनी या समनस्क (कथ्यन्ते) कहलाते हैं।

जो जीव शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि को ग्रहण करते हैं, वे संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव होते हैं।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं। मनुष्य, देव और नारकी सब संज्ञी ही होते हैं, पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में कुछ संज्ञी और कुछ असंज्ञी होते हैं। तथा एक से चार इन्द्रिय जीव असंज्ञी ही होते हैं।

संज्ञी जीवों को पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त मानसिक संवेदन की क्षमता भी प्राप्त होती है।

मनुष्यों में १२वें गुणस्थान तक के जीव संज्ञी होते हैं। १३ और १४ वें गुणस्थान वर्ती केवली भगवान में संज्ञीपना नहीं घटता, यानी उनके भावमन नहीं होता। द्रव्य इन्द्रिय और द्रव्य मन होने से नोकर्मवर्गणाओं का ग्रहण तो होता है लेकिन अनिच्छापूर्वक।

-( पं. किरण प्रकाश जी)

31/03/20, 4:35 pm - Ashok Jain: केवली भगवान संज्ञी है या असंज्ञी?

☞ सयोग केवली भगवान संज्ञी नहीं है क्योंकि आवरण कर्म से रहित उनके मन के अवलम्बन से बाह्य अर्थ का ग्रहण नहीं पाया जाता है, सयोग केवली भगवान असंज्ञी भी नहीं है क्योंकि जिन्होंने समस्त पदार्थों को साक्षात कर लिया है उन्हें असंज्ञी मानने में विरोध है। केवली भगवान विकलेंद्रियों के समान मन की अपेक्षा ही पदार्थों को ग्रहण करते हैं इसलिए भी उन्हें असंज्ञी नहीं कह सकते क्योंकि यदि मन की अपेक्षा न करके ज्ञान की उत्पत्ति मात्र का आश्रय करके ज्ञानोत्पत्ति की कारण होती तो ऐसा होता (केवली असंज्ञी होते) परंतु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि कदाचित मन के अभाव से विकलेन्द्रिय जीवों की तरह केवली के बुद्धि के अतिशय का अभाव कहा जावेगा। इसलिए केवली भगवान विकलेन्द्रियों के समान मन की अपेक्षा के बिना बाह्य पदार्थों को ग्रहण करते हैं फिर भी वे असंज्ञी नहीं हैं।

(ध. १/४११)

31/03/20, 4:49 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *संज्ञा* के बहुत अर्थ होते हैं।संज्ञा अर्थात् नाम।यदि नाम वाले जीवों को संज्ञी मान लिया जाय तो सभी जीवों के संज्ञीपने का प्रसंग प्राप्त होता है।

संज्ञा अर्थात् आहारादि संज्ञा ।यदि आहार आदि विषयों की अभिलाषा को संज्ञा कहा जाता है तो यह अभिलाषा तो सभी जीवों के पाई जाती है , इसलिए भी सबको संज्ञीपने का प्रसंग प्राप्त होता है।

सूत्र में *संज्ञिनः* इतना लिखने से ही काम चल जाता , लेकिन इन सब अर्थों से बचने के लिए सूत्र में *समनस्क* शब्द रखा है अर्थात् मन सहित या विचार करने की शक्ति जो मन से प्राप्त होती है का नाम *संज्ञा* है।मन सहित सारे जीव *संज्ञी* हैं , बाकी संसार के सारे जीव *असंज्ञी* होते हैं।

हित और अहित की परीक्षा  तथा गुणदोष का विचार या स्मरण आदि करने को *संज्ञी* कहते हैं।

असंज्ञी जीव के शिक्षा , आलाप आदि ग्रहण करने की क्रिया नहीं होती।

जो दार्शनिक सभी संसारी जीवों को मनसहित या मन रहित ही मानते हैं उन दोनों के मतों का खण्डन करने के लिए आचार्य महाराज ने यह २४ वाँ सूत्र रचा है।

01/04/20, 11:44 am - Ashok Jain: # भवान्तर विग्रह गति :

विग्रह गति में होने वाले योग-

*विग्रहगतौ कर्मयोग:॥२५॥*

सूत्रार्थ:- (विग्रहगतौ) विग्रह गति में (कर्मयोग:) कर्मयोग होता है।

विग्रहगति-  विग्रह- देह। विग्रह-  विरुद्ध ग्रह- जिस अवस्था में (कर्मों का ग्रहण होते हुए भी) नोकर्म पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता है वह विग्रह है और ऐसी जो गति है वह विग्रह गति है। विग्रह-  औदारिक शरीर नाम कर्म के उदय से उन शरीरों के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना विग्रह कहलाता है, संसारी को जिससे वह विग्रह है उस विग्रह के लिए जो गमन होता है उसे विग्रह गति कहते हैं। (रा वा १-२)

सामान्य से नवीन शरीर के लिए जो गति होती है उसे विग्रह गति कहते हैं।

कर्मयोग-  कार्मण शरीर के निमित्त से जो योग होता है वह कार्मण काय योग है। अन्य औदारिक आदि शरीर- वर्गणाओं के बिना केवल एक कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य के निमित्त से जो योग होता है वह कार्मण काय योग है।

(ध.१/२९७)

सामान्य से कर्म के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होता है वह कर्मयोग है।

कार्मण काय योग एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सयोग केवली तक होता है। तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त केवली जिन के कार्मण काय योग होता है।  (ध. १/३००,३०९)

कर्म आश्रव का कारण-  पूर्व शरीर को छोड़कर उतर भव सम्बन्धी शरीर के अभिमुख गमन कर रहे जीव के मध्यवर्ती अन्तराल में कार्मण काय योग के द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्मों का आश्रव हो जाता है। यह सिद्ध है।

(श्लो ५/१७२)

01/04/20, 2:26 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अभी तक सूत्र संख्या 10 से 24 तक हमने इन्द्रिय और मन के स्वरूप भेद , उपयोग आदि के बारे में जाना जो हम सबके देखने , सुनने , अनुभव आदि में आता है , लेकिन यह शरीर जब मर जाता है, इन्द्रियाँ जब काम करना बन्द कर देती हैं तब जीव किस प्रकार इस गति को छोड़कर दूसरी गति में जाता है, कौन उसकी सहायता करता है ?

इसका समाधान करते हुए आचार्य देव कहते हैं

कि *विग्रहगति में कार्मण काययोग होता है*।

विग्रह शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे - मोड़ ( turn ) , मूर्ति, विरुध्द, नया शरीर आदि। यहाँ प्रसंग के अनुसार नये शरीर को धारण करने के लिए जो गति होती है उसे *विग्रह गति* कहते हैं।

कर्म शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं , जैसे क्रिया , भाग्य आदि। यहाँ प्रसंग के अनुसार ज्ञानावरण आदि आठ कर्म हैं ।इन कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं या सब शरीरों की उत्पत्ति के निमित्त को *कार्मण शरीर* कहते हैं।

योग शब्द के भी अनेक अर्थ होते हैं , जैसे जोड़ , सम्बन्ध , व्यायाम, निमित्त आदि । यहाँ प्रसंग के अनुसार योग शब्द निमित्त अर्थ में है , अतः कर्म निमित्त अर्थात् कर्म योग जिससे तात्पर्य है कि विग्रह गति में *कार्मण काययोग* होता है।

01/04/20, 4:29 pm - Ashok Jain: जीव या पुद्गल के गमन का क्रम

*अनुश्रेणी गतिः॥२६॥*

सूत्रार्थ:- जीव और पुद्गलों का (गतिः) गमन (अनुश्रेणी) आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार ही (जायते) होता है।

अनुश्रेणी- आकाशप्रदेश पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।

लोक के मध्य से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमशः सन्निविष्ट आकाशप्रदेशों की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं।उस श्रेणी के अनुसार ही गमन होता है।

अनु शब्द की आनुपूर्वी में वृत्ति होती है, श्रेणी की आनुपूर्वी अनुश्रेणी कहलाती है। (रा वा १-२)

गति- यदि जीवों की गति ही इष्ट होती तो सूत्र में गति पद ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि गतिपद का ग्रहण अधिकार (पूर्व सूत्र) से सिद्ध है। दूसरी बात अगले सूत्र में 'जीव' पद का ग्रहण किया है, इसलिए इस सूत्र में पुद्गलों का ग्रहण भी इष्ट है, यह ज्ञान होता है। (सर्वा ३१२)

संसारी जीव एक भव से दूसरे भव में जाते समय छः प्रकार से गमन करते हैं- १) ऊपर से नीचे की ओर, २) नीचे से ऊपर की ओर, ३) पूर्व से पश्चिम की ओर, ४) पश्चिम से पूर्व की ओर, ५) उत्तर से दक्षिण की ओर, और ६) दक्षिण से उत्तर की ओर।

(श्लो ५/१८६)

01/04/20, 7:12 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अनुश्रेणी गति के लिए काल नियम और देश नियम , ये दो नियम होते हैं।

*काल नियम* इसका अर्थ है कितने समय में ? मरण के समय जब जीव एक भव को छोड़कर दूसरे भव के लिए गमन करते हैं और मुक्त जीव जब ऊर्ध्व गमन करते हैं तब उनकी गति अनुश्रेणी ही होती है ।इसमें जो समय लगेगा वह काल नियम है।

*देश नियम* जब कोई जीव ऊर्ध्व लोक से अधोलोक के लिए, तिर्यक् लोक से अधोलोक या अधोलोक से ऊर्ध्व लोक की ओर  आता जाता है  तब उसकी गति अनुश्रेणी ही होती है।

आज के वैज्ञानिक युग में दूरसंचार प्रणाली, टेलीफोन, मोबाइल, टीःवीः , कम्प्यूटर , इलेक्ट्रॉनिक घड़ियां आदि सभी अनुश्रेणी गति के आधार पर काम करते हैं । मिशाइल एवं राडार प्रणाली भी काल नियम एवं देश नियम पर ही संचालित हैं।

लिखने का आधार - परम पूज्य प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री अमितसागर जी महाराज द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्र की टीका से।

02/04/20, 11:41 am - Ashok Jain: मुक्तजीव की गति

*अविग्रहा जीवस्य॥२७॥*

सूत्रार्थ:- (जीवस्य) मुक्त जीव की गति (अविग्रहा) मोड़ रहित सीधी (जायते) होती है।

ज्ञानावर्णादि आठ कर्मों से रहित जीवों को मुक्त जीव कहते हैं।

कर्मों का क्षय करके सिद्धशिला के प्रति गमन करने वाले जीवों की गति अविग्रहा ही होती है।

अविग्रहा गति को ऋजु गति भी कहते हैं।

संसारी जीवों का उत्पत्ति स्थान यदि बिना मोड़ वाला सरल रेखा में होता है तो वह ऋजुमति यानी अविग्रहा गति होती है।

02/04/20, 2:18 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): श्रेणी के अनुसार गति के दो भेद होते हैं -१) विग्रहवती अर्थात् मुड़ने वाली और २) अविग्रह अर्थात् बिना मुड़ने वाली।

विग्रह का अर्थ व्याघात या कुटिलता है अर्थात् मोड़ सहित ( with turn )

अविग्रह का अर्थ कुटिलता रहित है अर्थात् मोड़ रहित।

सूत्र संख्या २६ से जीव और पुद्गलों की विश्रेणी गति भी देखी जाती है , इसलिए उससे अलग करने के लिए यह २७ वाँ सूत्र बनाया गया है कि मुक्त जीव की गति विग्रह रहित होती है।

संसारी जीवों की गति का कथन अधिक है , इसलिए मुक्त जीवों का कथन पहले किया गया है।

02/04/20, 4:50 pm - Ashok Jain: संसारी जीवों की गति और समय

*विग्रहवती च संसारिण: प्राक् चतुर्भ्य:॥२८॥*

सूत्रार्थः- (संसारिणः) संसारी जीव की गति (प्राक् चतुर्भ्यः) चार समय से पहले-पहले (विग्रहवती) विग्रहवती अर्थात् मोड़ सहित (च) और अविग्रहा अर्थात् मोड़ रहित दोनों प्रकार की (जायते) होती है।

संसारी जीव की गति मोड़ सहित और मोड़ रहित भी होती है। जो मोड़ रहित होती है उसमें केवल एक समय लगता है। उसे ऋजुगति या इषुगति कहते हैं।

जिसमें एक मोड़ लेना पड़ता है उसमें दो समय, दो मोड़ वाली में तीन समय और तीन मोड़ वाली में चार समय लगते है। इन गतियों को क्रमशः पाणिमुक्तागति, लाङ्गलिकागति और गोमूत्रिकागति के भेद से जाना जाता है।

यह जीव चौथे समय में कहीं न कहीं नवीन शरीर नियम से धारण कर लेता है। इसलिए विग्रहावती का समय चार समय से पहले-पहले तक कहा गया है।

02/04/20, 6:45 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): काल की सबसे छोटी इकाई को समय कहते हैं।

ऊपर जिन अविग्रह - विग्रह गतियों के चार भेद बताये गये , उनमें ऋजुगति से गमन करने वाले जीव का क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञान आदि बिना किसी व्यवधान के एक भव से दूसरे भव में सुरक्षित पहुंच जाता है।संक्लेश रहित होने से उनका क्षायोपशमिक ज्ञान आदि सुरक्षित रहता है।

मुक्त जीव का गमन ऋजुगति से होता है जिससे सिद्धावस्था में उनका इस मनुष्य पर्याय में उत्पन्न क्षायिक ज्ञान आदि व्यवधान रहित रहता है, सुरक्षित रहता है।

जो जीव मोड़ सहित गमन करते हैं उनमें संक्लेश उत्पन्न होने के कारण पूर्व पर्याय के क्षयोपशम ज्ञान आदि संस्कार नष्ट हो जाते हैं । अतः जीव अपने पूर्व पर्याय के ज्ञान को भूल जाता है।

02/04/20, 7:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *पाणिमुक्तागति* जैसा कि हमें बताया गया कि इस गति में दो समय लगते हैं। पाणि का अर्थ होता है हाथ।सीधे हाथों में वस्तु को रखने से वह पहले अंगुलियों तक सीधे जायेगी , फिर नीचे गिरेगी । इससे हाथ की अंगुलियों के किनारे पर एक मोड़ बन जायेगा।इसीलिए इस गति को *पाणिमुक्ता* अर्थात् सीधे हाथों से मुक्त या छूटी हुई वस्तु की गति पाणिमुक्ता कहा जाता है।

*लांगलिका गति* लांगल का अर्थ होता है हल।हल में ऊपर हत्था होता है और नीचे फाल में मोड़ होते हैं । इस गति में दो मोड़ होने के कारण इसमें तीन समय लगते हैं।

*गोमूत्रिका गति* चलता हुआ बैल जब मूत्र करता है तब उसके कई मोड़ बनते चले जाते हैं , अतः इस गति को *गोमूत्रिका गति* कहते हैं जिसमें तीन मोड़े होने के कारण चार समय लगते हैं।

ये चारों गतियाँ संसारी जीवों को होती है जिनमें से प्रथम ऋजुगति संसारी और मुक्त दोनों जीवों को होती है।

03/04/20, 10:57 am - Ashok Jain: <Media omitted>

03/04/20, 11:19 am - Ashok Jain: निष्कुट क्षेत्र यानी त्रस नाली से बाहर का लोकाकाश का (कोने वाला टेढ़ा-मेढ़ा) क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले, दूसरे निष्कुठ क्षेत्र में स्थित जीव को सबसे अधिक मोड़ लेने पड़ते हैं क्योंकि वहां आनुपूर्वी से अनुश्रेणी का अभाव होने के कारण इषुगति नहीं हो पाती है। अतः वह जीव निष्कुट क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए तीन मोड़ें वाली गति का प्रारंभ करता है। यहां इससे अधिक मोड़ें की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि इस प्रकार का कोई उपपाद क्षेत्र नहीं पाया जाता है इसलिए मोड़ें वाली गति तीन समय तक होती है चौथे समय में नहीं।

(सर्वा. ३१६)

चौथे समय में जीव कहीं न कहीं अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

03/04/20, 1:34 pm - Ashok Jain: मोड़ रहित गति का समय

*एक-समयाविग्रहा॥२९॥*

सूत्रार्थः- (अविग्रहा) मोड़ रहित गति (एक-समया) एक समय मात्र ही (जायते) होती है।

मुक्त जीवों के अनन्त वीर्य प्रगट होने से तथा संसारी जीवों के वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से अन्त में स्थित शरीर (नोकर्म वर्गणाओं) को अविग्रहा गति, एक समय में प्राप्त करा देती है।(श्लो ५/१९३)

- एक समय वाली गति किस किस के होती है?

☞ मध्यलोक से सिद्धालय को जाते समय जीवों के अविग्रहा गति होती है। (सर्वा ३१४)

☞ ऋजुमति से दूसरे भव जाते समय संसारी जीवों के अविग्रहा गति होती है। (रा वा २/२८)

☞ गतिमान जीव और पुद्गलों की गति लोक के अग्रभाग तक एक समय वाली अविग्रहा गति हो जाती है। (रा वा १)

- कौन सा जीव एक समय में चौदह राजू गमन करके जन्म लेता है?

☞ अधोलोक के तनुवातवलय में स्थित कोई जीव मरण कर उर्ध्व लोक के अंत में स्थित तनुवातवलय के अन्त में जन्म लेता है तब एक समय में चौदह राजू गमन कर जन्म ले सकता है। अथवा इससे उलट (यानी ऊपर से नीचे) भी मरण और जन्म एक समय में हो सकता है।

(श्लो. ५/११४ हिंदी)

03/04/20, 5:03 pm - Ashok Jain: विग्रह गति में आहारक अनाहारक की व्यवस्था-

*एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः॥३०॥*

सूत्रार्थः- विग्रह गति में जीव (एकं द्वौ त्रीन् वा) एक, दो अथवा तीन समय तक (अनाहारकः) अनाहारक रहता है।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीर एवं (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, और मन) इन छह प्रर्याप्तियों के योग्य पुद्गल वर्गणाओंं को ग्रहण करने वाला *आहारक* कहलाता है। (रा वा ४)

इस प्रकार आहारक जिसके नहीं पाया जाता है उसे *अनाहारक* कहते हैं।(रा वा ४)

एक समयावली इषुगति में नोकर्म पुद्गलों को ग्रहण करता हुआ ही जाता है। अतः अविग्रहगति में आहारक ही होता है। दो समय और एक मोड़ा वाली पणिमुक्ता गति में प्रथम समय में अनाहारक होता है और द्वितीय समय में आहारक होता है। दो मोड़ा और तीन समय वाली लांगलिकागति में पहले और दूसरे समय में अनाहारक और तृतीय समय में आहारक होता है। तीन मोड़ा और चार समय वाली गोमूत्रिका गति में पहले, दूसरे, एवं तीसरे समय में अनाहारक तथा चतुर्थ समय में आहारक हो जाता है।

(रा वा ६)

विग्रहगति में स्थित चारों गति के जीव (पहले से चौथे गुणस्थान वर्ती) अनाहारक होते हैं। तथा समुद्घात को प्राप्त केवली प्रतर (प्रतर में फैलाते और समेटते समय) और लोकपूरण अवस्था में (इन तीन समयों में भी कार्मण काय योग होता है) तथा १४वें गुणस्थान में भी अनाहारक होते हैं। (गो जी ६६६)

03/04/20, 8:48 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): कर्म बन्ध की परम्परा अनादिकालीन है।अतः मिथ्यादर्शन आदि बन्ध कारणों के वशीभूत होने से कर्मों को ग्रहण करने वाला जीव विग्रहगति में भी आहारक प्राप्त करता है , यह नियम करने के लिए गुरुदेव 30 वें सूत्र में कहते हैं कि *एक, दो या तीन समय तक जीव अनाहारक रहता है।*

जब तक जीव नये शरीर - *औदारिक,वेक्रियिक और आहारक* ये तीन शरीर तथा छह प्राप्तियों के योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण नहीं करता है तब तक अनाहारक कहलाता है। इनके योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करते ही आहारक हो जाता है।

इस प्रकार विग्रह गति को प्राप्त जीव एक समय , दो समय , तीन समय तक अनाहारक होते हैं , आहारक नहीं , इसकी सिद्धि के लिए यह सूत्र बनाया गया है।

त्रस जीवों का जन्म दो मोड़े तीन समय से अधिक में नहीं होता अर्थात् त्रस जीवों के तीन मोड़े , चार समय कभी नहीं होते।

04/04/20, 11:55 am - Ashok Jain: जन्म के भेद

*सम्मूर्च्छन-गर्भोपपादा जन्म॥३१॥*

सूत्रार्थ:- (जन्म) जन्म (सम्मूर्च्छन-गर्भोपपादा) सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपाद के भेद से तीन प्रकार का (जायते) होता है।

जन्म: पूर्व भव समाप्त होने पर संसारी

जीव नया भव धारण करते हैं, इसलिए उन्हें जन्म लेना पड़ता है।

(म पु ३९/१२०)

प्राणों को ग्रहण करना जन्म है।(भ आ वि २५)

जन्म तीन प्रकार का होता है- १) सम्मूर्च्छन, २) गर्भ और ३) उपपाद।

सम्मूर्च्छन जन्म- चारों ओर से मूर्च्छन को सम्मूर्च्छन कहते हैं। तीनों लोकों में ऊपर, नीचे, तिरछे सभी दिशाओं से पुद्गल परमाणुओं का इकट्ठा होकर शरीर अवयवों की रचना होना सम्मूर्च्छन जन्म है।(रा वा १)

स्वेदज, उद्भिज और भी अनेक भेद-प्रभेद हैं।(वृक्ष, घास आदि अनेक प्रकार के जन्म हैं) उन सब का अन्तर्भाव सम्मूर्च्छन जन्म में हो जाता है।(श्लो ५/२०१)

गर्भ जन्म: वीर्य और रक्त (रज) का मिश्रण होना गर्भ है। स्त्री के गर्भाशय में उपगत पिता का वीर्य और माता का रज का मिश्रण गर्भ कहलाता है।

(रा वा २)

गर्भ में आने के प्रथम समय से लेकर कोई सात माह गर्भ में रहकर निकलते हैं, कोई आठ माह, कोई नौ माह और कोई दस महीने रहकर गर्भ से निकलते हैं। (ध १०/२७८)

उपपाद जन्म: जिसमें जाकर उत्पन्न होते हैं वह उपपाद कहलाता है। इस सूत्र से अधिकरण साधन में 'धञ्' प्रत्यय होकर 'उपपाद' शब्द बना है। देव और नारकियों के उत्पत्ति स्थान विशेष को उपपाद संज्ञा है।इन नियत स्थान के पुद्गलों से उपपाद जन्म होता है। (रा वा ४)

04/04/20, 5:00 pm - Ashok Jain: योनियों के भेद

*सचित्त-शीत-संवृता: सेतरा मिश्राश् चैकशस्तद्योनय: ॥३२॥*

(सचित्त-शीत-संवृता:-स-इतरा:-मिश्रा:-च-एकश:-तत्-योनय:)

सूत्रार्थ:- (सचित्तशीतस्रवृता:) सचित्त, शीत, संवृत [ढका हुआ] (सेतरा:) इनकी प्रतिपक्षभूत [उलटी] अचित्त, उष्ण, विवृत [खुला हुआ] (मिश्राश्चैकश:) एक एक की मिश्र- सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृत-विवृत (तद्योनय) उन जन्मों की नौ प्रकार की योनियाॅं (संति) हैं।

योनि: जिसमें जीव औदारिक आदि नोकर्म वर्गणा रूप पुद्गलों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होता है ऐसे जीव के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं।

(गो जी जी ८१)

सचित्त योनि: जो चित्त (चैतन्य) युक्त है, वह सचित्त योनि है।

शीत योनि: जो शीत गुण वाली है वह शीत योनि है।

संवृत योनि: जो भले प्रकार से ढकी हो वह संवृत योनि है।

अचित्त योनि:  जो चेतना रहित है वह अचित्त योनि है।

उष्ण योनि:  जो उष्ण गुण वाली है वह उष्ण योनि है।

विवृत योनि:  जो भले प्रकार खुली है वह विवृत योनि है।

सचित्ताचित्त योनि: जो सचित्त और अचित्त के मिश्र रूप है वह सचित्ताचित्त योनि है।

शीतोष्ण योनि:  जो शीत और उष्णता से मिश्रित है वह शीतोष्ण योनि है।

सवृतविवृत योनि: जो कुछ ढकी हुई एवं कुछ खुली है वह संवृतविवृत योनि है।

04/04/20, 5:01 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

05/04/20, 11:24 am - Ashok Jain: श्री रतन जी, हावड़ा ने ८४ लाख योनियों की जोड़ बताने के लिए लिखा है, जो इस प्रकार है:

पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक प्रत्येक  ७ लाख। ७ × ४=२८ लाख।

वनस्पतिकायिक १० लाख,

विकलत्रय प्रत्येक २-२ लाख यानी दो, तीन, चार इन्द्रिय (२+२+२)=६ लाख,

पंचेन्द्रिय तिर्यंच (सम्मूर्च्छन+ गर्भज) ४ लाख,

मनुष्य (गर्भज+ सम्मूर्च्छन) १४ लाख

देव ४ लाख,  और नारकी ४लाख

नित्य निगोद ७ लाख

इतर निगोद ७ लाख

कुल योग (२८+१०+६+४+१४+४+४+७+७) =८४ लाख योनियां।

05/04/20, 12:39 pm - Ashok Jain: गर्भ जन्म के भेद

*जरायुजाण्डजपोतानां गर्भ:॥३३॥*

(जरायुज- अण्डज- पोतानां- गर्भ:)

सूत्रार्थ:- गर्भ जन्म तीन प्रकार का होता है। १) जरायुज, २)अण्डज और ३) पोत।

(नौ योनियों से युक्त तीन जन्म सब जीवों के अनियम से प्राप्त हुए। )

जरायुज जन्म: जाल के समान प्राणियों के परिवरण को जरायु कहते हैं। गर्भाशय में प्राणी के ऊपर जाल के समान मांस और रक्त का जो आवरण होता है, उसे जरायुज कहते हैं। जरायु में जो पैदा होता है उसे जरायुज कहते हैं।(रा वा १)

इस जरायुज में चक्रवर्ती, वासुदेव आदि महापुरुष पैदा होते हैं मोक्षमार्ग का भी इससे सम्बंध है। मोक्ष की प्राप्ति जरायुज को ही होती है, अन्य को नहीं; इसलिए जरायुज पूज्य है।

(रा वा ७-९)

अण्डज: शुक्र और शोणित से परिवेष्टित नख के ऊपरी भाग के समान कठिन तथा गोलाकार अण्डा होता है। जो नख की छाल के समान कठोर हो, पिता के वीर्य और माता के रक्त से परिवेष्टित हो, तथा श्वेत वर्ण एवं गोलाकार हो, उसका नाम अण्डा है। जो अण्डों से उत्पन्न होते हैं उसे अण्डज कहते हैं।

तोता-मैना आदि पक्षी अक्षर उच्चारण आदि क्रियाओं में कुशल होते हैं, इसलिए पोत की अपेक्षा अण्डज पूज्य है। (रा वा १०)

पोत: सम्पूर्ण अवयव तथा परिस्पन्द के सामर्थ्य से उपलक्षित पोत है, जो गर्भाशय से निकलते ही चलने फिरने के सामर्थ्य से युक्त है, सम्पूर्ण अवयव वाला है और जिसके ऊपर कोई आवरण नहीं है वह पोत कहलाता है। (रा वा ३) जैसे हिरण आदि।

05/04/20, 2:34 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस प्रकार नौ योनियों से युक्त तीन जन्म सब जीवों के अनियम से प्राप्त हुए।इसलिए निश्चय करने के लिए आचार्य महाराज आगे का सूत्र कहते हैं

*जरायुज,अणडज और पोत जीवों का गर्भ जन्म होता है।।33।।*

यहाँ जरायुज तथा अण्डज के पीछे *ज* प्रत्यय लगा है जिसका अर्थ होता है गर्भ से बाहर निकलने के बाद भी उनका जन्म दूसरी बार जेर या जाल से होता है।अतः उसे जरायुज जन्म कहते हैं।

इसी प्रकार अण्डज के पीछे *ज* प्रत्यय लगा है जिसका अर्थ होता है कि गर्भ से अण्डे का जन्म होता है तथा अण्डे से पक्षी का जन्म होता है।

पोत जन्म लेने वाले का एक ही बार गर्भ से जन्म होता है , अतः उसके पीछे *ज* प्रत्यय नहीं लगा है।

05/04/20, 4:47 pm - Ashok Jain: उपपाद जन्म के स्वामी

*देव-नारकाणमुपपाद:॥३४॥*

सूत्रार्थ:- (देवनारकाणाम्) देव और नारकियों के (उपपादः) उपपाद जन्म (एव) ही (जायते) होता है अथवा उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है।

देव और नारकियों की उपपाद शैयायें निश्चित हैं, वहां जन्म लेकर जीव अन्तर्मूहूत में हलन चलन करके पूर्ण यौवन को प्राप्त हो जाता है, यही उपपाद जन्म की विशेषता है।

देवों का जन्म सभी प्रकार के देवों सम्बंधी प्रसूति स्थान पर अति सुगंधित, कोमल, संपुट आकार के आकार की उत्पाद शैया बनी हुई है वहां अन्तर्मूहूत काल में सम्पूर्ण यौवन अवस्था प्राप्त देवों का जन्म होता है। इनकी कांति, लम्बाई, सौंदर्य आयु पर्यंत समान रहता है।

नारकियों का जन्म सातों ही पृथ्वियों के नरक बिलों की छत में मधुमक्खी के छत्ते समान उलटे, अधोमुख रूप उत्पत्ति स्थान पर (उपपाद) जन्म होता है

06/04/20, 1:10 pm - Ashok Jain: सम्मूर्च्छन जन्म के स्वामी

*शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३५॥*

सूत्रार्थ:- गर्भज और उपपाद जन्म को छोड़कर शेष अन्य जीवों के सम्मूर्च्छन जन्म होता है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और कोई पंचेन्द्रिय तिर्यंञ्च और अपर्याप्तक (लब्ध्यप्रयाप्तक) मनुष्य का जन्म सम्मूर्च्छन ही होता है।

(गो जी ९०-९१)

सम्मूर्च्छन मनुष्य स्त्री की योनि, काँख, स्तनों के मूल में तथा चक्रवर्ती की पटरानी के सिवाय मूत्र, विष्टा आदि अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं।

(गो जी जी ९३)

कर्मभूमि में चक्रवर्ती, बलभद्र आदि बड़े बड़े राजाओं की सेना जहां मल मूत्र का क्षेपण करती है ऐसे स्थानों पर, वीर्य, नाक का मल, कफ कान और दांतों का मल तथा अत्यंत अपवित्र प्रदेश इनमें तत्काल सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते हैं। (भ आ वि ४४८)

06/04/20, 1:43 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गर्भ जन्म और उपपाद जन्म वालों की संख्या से सम्मूर्छन जन्म वाले सबसे अधिक हैं , अतः सम्मूर्छन जन्म वाले कौन कौन हैं , ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य देव कहते हैं

*गर्भ और उपपाद जन्म वालों से भिन्न जितने भी जीव हैं ,उन सबका सम्मूर्छन जन्म होता है।।३५।।

इस सूत्र में *शेष* शब्द से तात्पर्य उन जीवों से है जो गर्भ और उपपाद जन्म से नहीं होते, उनका सम्मूर्छन जन्म होता है।

ये तीनों ही सूत्र नियम करते हैं और यह नियम दोनों ओर से जानना चाहिए। जैसे-

सूत्र 33 - गर्भ जन्म जरायुज, अण्डज और पोत जीवों का ही होता है या जरायुज, अण्डज और पोत जीवों के गर्भ जन्म ही होता है।

सूत्र 34 - उपपाद जन्म देव और नारकियों के ही होता है या देव और नारकियों के उपपाद जन्म ही होता है।

सूत्र 35- सम्मूर्छन जन्म शेष जीवों के ही होता है या शेष जीवों के सम्मूर्छन जन्म ही होता है।

हवा , मिट्टी , पानी , गर्मी आदि के संयोग से जिनका जन्म होता है , वे सम्मूर्छन जीव वाले हैं।स्वयम्भूरमण समुद्र में उत्पन्न सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का भी सम्मूर्छन जन्म होता है। जैसे तन्दुल मत्स्य आदि।

06/04/20, 4:50 pm - Ashok Jain: शरीरों के नाम और भेद

*औदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि॥३६॥*

(औदारिक वैक्रियिक- आहारक तैजस कार्मणानि शरीराणि)

सूत्रार्थ:- औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस एवं कार्मण; ये पांच प्रकार के शरीर हैं।

शरीर: जो विशेष (शरीर) नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर शीर्यन्ते अर्थात् गलते हैं, उन्हें शरीर कहते हैं।

(सर्वा ३३१)

औदारिक शरीर: उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थ के वाचक है। उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदयिक शरीर कहते हैं।(ध १/२९२)

मनुष्य और तिर्यंचों का शरीर औदयिक है, क्योंकि इनमें आत्महित करने की पात्रता है अर्थात् महाव्रत, अणुव्रत अंगीकार कर सकता है, यह कथन मुख्यता से है। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक का औदारिक शरीर होता है, लेकिन वे आत्महित नहीं कर सकते, हां प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से साधक-निमित्त बन जाते हैं।

(मुनिश्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

वैक्रियिक शरीर: अणिमा महिमा गरिमा लघिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य के सम्बंध से एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकार के शरीर करना विक्रिया है, वह विक्रिया जिस शरीर का प्रयोजन है वह वैक्रियिक शरीर है। (सर्वा ३३१)

यह शरीर देव और नारकियों के होता है। विक्रिया ऋद्धि इससे भिन्न है वह औदारिक शरीर में होती है।

आहारक शरीर: जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थों को ग्रहण करती है वह आहारक शरीर है।(ध १/२९४)

स्वयं को संदेह होने पर शरीर के द्वारा केवली के पास जाकर सूक्ष्म पदार्थों का आहारण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं।(ध १/२९६)

आहारक शरीर का बंध सातवें गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक होता है एवं उदय छठवें गुणस्थान में ही होता है।

(मुनिश्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

तैजस शरीर: तेज और प्रभा गुण से युक्त होने के कारण इसकी तैजस शरीर संज्ञा है। ( ध १४/३२७)

कार्मण शरीर: ज्ञानावर्णादि आठ कर्मों के कार्य या कर्मों के समूह को कार्मण शरीर कहते हैं। कर्म और उनका समूह यद्यपि अभिन्न पदार्थ है तथापि कथंचित् भेदविवक्षा मान कर यहां उनके समूह को कार्मण शरीर कहा गया है। (रा वा ९)

06/04/20, 7:17 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आगे संसार में जन्म लेने वाले जीव जिन तीन जन्मों को धारण करते हैं , उनके शरीर कितने प्रकार के हो सकते हैं , उनके भेद और नाम बतलाते हुए आचार्य देव अगले ३६ वें सूत्र में पाँच प्रकार के शरीर का वर्णन करते हैं जिनके बारे में अभी हमें समझाया गया।

उदार शब्द महानता का वाचक है।उदार का अर्थ स्थूल भी होता है।उदार शब्द से *ठक्* प्रत्यय होकर *औदारिक* शब्द बनता है।

उदार का अर्थ हम उसे समझते हैं जो स्वयं संकट या कष्ट सहन कर भी दूसरे का उपकार करता है। जैसे हमारे शरीर में पेट में रखा हुआ भोजन पूरे शरीर का उपकार करता है ।पेट भोजन की मेहनत करता है , फिर भी मल के सिवाय उसे कुछ नहीं मिलता।

वैसे ही औदारिक शरीर आत्मा को कर्मों से छुड़ाने के लिए संयम , तप , त्याग , उपसर्ग - परीषहों के कष्ट सहता है , अतः औदारिक शरीर उदार अर्थात् महान है।

सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिए या असंयम को दूर करने की इच्छा से प्रमत्तसंयत जिस शरीर की रचना करता है , वह *आहारक शरीर* है।

औदारिक, वैक्रयिक एवं आहारक शरीर को कान्ति देने वाले शरीर को *तैजस शरीर* कहते हैं।यह तीनों शरीर की दीप्ति का कारण है।

कर्मों का कार्य *कार्मण शरीर* है।यद्यपि सब शरीर कर्मों के निमित्त से ही होते हैं फिर भी रूढि से विशिष्ट शरीर को कार्मण शरीर कहा है।

07/04/20, 11:22 am - Ashok Jain: <Media omitted>

07/04/20, 12:15 pm - Ashok Jain: प्रदेशों को ऐसे भी समझ सकते हैं:-

मान लीजिए पांच प्रकार के लडडू हैं जो आकार में क्रमशः सूक्ष्म है किन्तु उनमें दाने अधिक अधिक हैं। जैसे मक्का के दाने से बना लड्डू,

ज्वार के दाने से बना लड्डू,

बूंदी के दाने से बना लड्डू,

राजगिर का लड्डू

बेसन का लड्डू

इसी प्रकार क्रमशः पांचों शरीर पहले से ज्यादा सूक्ष्म है, किंतु प्रदेश पहले से ज्यादा है।

07/04/20, 2:23 pm - Ashok Jain: शरीरों की क्षमता

*परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥*

सूत्रार्थ: (परं परं) आगे आगे के शरीर (सूक्ष्मम्) सूक्ष्म सूक्ष्म है।

औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक शरीर से आहारक शरीर, आहारक शरीर से तैजस शरीर और तेजस शरीर से कार्मण शरीर सूक्ष्म- सूक्ष्म है।

यानी औदारिक शरीर सबसे स्थूल है, इसके बाद से आगे-आगे के शरीर सूक्ष्म होते गये हैं। अतः औदारिक शरीर के अतिरिक्त आगे के चार शरीर आंखों से दिखाई नहीं देते।

07/04/20, 2:25 pm - Ashok Jain: प्रदेशों और सूक्ष्मता को ऐसे भी समझ सकते हैं:-

मान लीजिए पांच प्रकार के लडडू हैं जो आकार में क्रमशः सूक्ष्म है किन्तु उनमें दाने अधिक अधिक हैं। जैसे मक्का के दाने से बना लड्डू,

ज्वार के दाने से बना लड्डू,

बूंदी के दाने से बना लड्डू,

राजगिर का लड्डू

बेसन का लड्डू

इसी प्रकार क्रमशः पांचों शरीर पहले से ज्यादा सूक्ष्म है, किंतु प्रदेश पहले से ज्यादा है।

07/04/20, 3:36 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ३७ वें श्लोक में आचार्य महाराज ने बतलाया कि आगे आगे का शरीर अर्थात् औदारिक, वैक्रयिक , आहारक , तैजस और कार्मण क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हैं ।यदि ये उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म हैं तो प्रदेशों की अपेक्षा भी उत्तरोत्तर हीन होंगे , इस प्रकार के विपरीत ज्ञान का निराकरण करने के लिए पूज्य गुरुदेव अगले श्लोक में कहते हैं कि *तैजस से पूर्व तीन शरीरों में आगे आगे का शरीर प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात गुणा है।।३८।।*

*प्रदेश* शब्द की व्युत्पत्ति *प्रदिश्यन्ते* होती है जिसका अर्थ होता है परमाणु।सूत्र में वर्णित *असंख्येय* शब्द का अर्थ असंख्यात है अर्थात्  एक से दूसरे के शरीर के प्रदेशों की संख्या कितनी गुणा है , इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता , असंख्य गुणा है।

पहले के श्लोक में *परम्परम्* शब्द का प्रयोग किया गया जो यह दर्शाता है कि असंख्येय गुणत्व का प्रसंग कार्मण शरीर तक प्राप्त होता है।इस बात की निवृत्ति के लिए इस सूत्र में *प्राक् तैजसात्* पद रखा गया है अर्थात् तैजस शरीर से पूर्ववर्ती शरीर हैं - औदारिक से असंख्यात गुणे प्रदेश वैक्रियक शरीर मे़ और वैक्रियक से असंख्यात गुणे प्रदेश आहारक शरीर में होते हैं।

अब यदि कोई यह शंका करे कि यदि शरीर उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे प्रदेश वाले हैं तो उनका परिमाण या आकार भी उसी प्रकार महान होना चाहिए तो इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार लोहे का पिण्ड बहुत प्रदेश वाला होनेपर भी अल्प परिमाण वाला होता है और रूई का ढेर अल्प प्रदेशी होने पर भी महा परिमाण वाला होता है उसी प्रकार उत्तर शरीर के असंख्यात गुणे प्रदेश होने पर भी बन्ध विशेष अल्प परिमाण होता है।

08/04/20, 11:26 am - Ashok Jain: तेजस और कार्मण शरीर के प्रदेश

*अनन्त-गुणे परे॥३९॥*

(परे) शेष दो शरीर (अनन्तगुणे) अनन्त गुणें परमाणु वाले (स्तः) हैं।

अर्थात् आहारक शरीर से अनन्त गुणें परमाणु तैजस शरीर में और तैजस शरीर से अनन्त गुणें परमाणु कार्यमंत्री शरीर में होते हैं।

आहारक शरीर को भी हम नहीं देख सकते, तेजस और कार्मण तो और भी सूक्ष्म है।

जैसा कि ऊपर लोहे और रूई का उदाहरण दिया है उससे यह सिद्ध होता है कि वस्तु (यहां पर शरीर) सूक्ष्म होते हुए भी प्रदेशों की संख्या अधिक से अधिक हो सकती है और वस्तु स्थूल होते हुए भी प्रदेशों की संख्या कम से कम हो सकती है।

इसी प्रकार औदारिक आदि तीन शरीर स्थूल होते हुए भी प्रदेशों की संख्या कम है एवं तैजस-कार्मण शरीर सूक्ष्म होते हुए भी प्रदेशों की संख्या अधिक है।

08/04/20, 4:06 pm - Ashok Jain: तेजस और कार्मण शरीर की विशेषता

*अप्रतिघाते॥४०॥*

सूत्रार्थ:  तेजस और कार्मण शरीर (अप्रतिघाते) बाधा रहित है।

ये दोनों शरीर समस्त लोक में किसी भी मूर्त-अमूर्त पदार्थ से न स्वयं रुकते हैं और न किसी को रोकते हैं। इसी कारण इन्हें बाधा-रहित या अप्रतिघात कहते हैं।

औदारिक शरीर स्थूल है इसलिए वह मूर्त्त अमूर्त्त पदार्थो से बाधारहित नहीं है।

औदारिक शरीर से क्रमशः वैक्रियिक एवं आहारक शरीर सूक्ष्म होते हुए भी तीनों लोकों में गमनागमन नहीं कर सकते, इसलिए इन्हें अप्रतिघात नहीं कहा है।

08/04/20, 4:10 pm - Ashok Jain: सुरेश जी की जिज्ञासा आई उसका उत्तर इस प्रकार है-

वैक्रियिक शरीर को यदि कोई देव दिखाना चाहें तो ही देख सकते हैं, अन्यथा हम नहीं देख सकते।

08/04/20, 6:26 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ४० वाँ सूत्र

तैजस और कार्मण शरीर *अप्रतिघाते* अर्थात् प्रतीघात रहित हैं।

जिस प्रकार सूक्ष्म होने से अग्नि लोहे के गोले में प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीर का वज्रपटल आदि में भी व्याघात नहीं होता।

09/04/20, 11:46 am - Ashok Jain: तैजस और कार्मण शरीर की विशेषता

*अनादि-सम्बन्धे च॥४१॥*

सूत्रार्थ: तैजस और कार्मण शरीर का सम्बन्ध, आत्मा (संसारी जीव) के साथ अनादि काल से है, जैसे चन्द्र, सूर्य के नीचे राहु, केतु अनादि काल से लगे हुए हैं वैसे ही प्रत्येक जीव के साथ तैजस और कार्मण शरीर अनादि काल से लगे हुए हैं।

एवं "च" शब्द से सादी भी है, क्योंकि पुरानी कर्म- वर्गणाओंं का फल भोगने पर वे खिर जाता है तथा नयी वर्गणाएं आ जाती हैं , इस अपेक्षा से सादि भी है।

जिस प्रकार वृक्ष और बीज का अनादि सम्बंध है, हम नहीं कह सकते कि पहले बीज आया या वृक्ष। उसी प्रकार संसारी जीवों का आत्मा और (तैजस कार्मण) कर्मों का अनादि काल से सम्बंध है, लेकिन तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति एवं आहारक द्विक प्रकृति आदि का सादी सम्बंध ही होता है, अतः "च" शब्द से सादी भी सिद्ध होता है।

09/04/20, 4:03 pm - Ashok Jain: तैजस और कार्मण शरीर की और विशेषता

*सर्वस्य॥४२॥*

सूत्रार्थ: ये दोनों समस्त संसारी जीवों के होते हैं।

तैजस शरीर के दो भेद हैं-

१) जो हमेशा संसारी जीवों के साथ रहता है, उसे 'अनिस्सरणात्मक' तैजस कहते हैं। और

२) जो मात्र ऋद्धिधारी मुनीराजों के होता है, उसे 'निस्सरणात्मक तैजस' कहते हैं।यह शुभ तैजस और अशुभ तैजस दो प्रकार का होता है।

ज्ञानिवर्णादि आठ कर्म प्रत्येक संसारी जीव के लगे हैं इसलिए कार्मण शरीर भी समस्त संसारी जीवों के साथ होते हैं।

10/04/20, 11:28 am - Ashok Jain: एक जीव के एक साथ हो सकने वाले शरीर

*तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्याचतुर्भ्य:॥४३॥*

(तदादीनि भाज्यानि युगपदे कस्मिन्ना चतुर्भ्य:) यह सूत्र भी मिलता है।

सूत्रार्थ: (तदादीनि) उन तैजस और कार्मण शरीर को आदि लेकर (युगपद्) एक साथ (एकस्य) एक जीव के (आचतुर्भ्य:) चार शरीर तक (भाज्यानि) विभक्त करना चाहिए, या हो सकते हैं।

एक जीव में दो को आदि लेकर चार शरीर तक हो सकते हैं। किसी के दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण।

तीन शरीर हों तो तैजस, कार्मण और औदारिक, अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रियिक।

चार शरीर हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक और वैक्रियिक शरीर

(ध. १४/२३७-२३८) अथवा तैजस, कार्मण, औदारिक और आहारक शरीर।

तैजस और कार्मण शरीर ये दो शरीर विग्रह गति में एक जीव के एक साथ होते हैं।

मनुष्य और तिर्यंच गति में औदारिक, तैजस और कार्मण ये तीनों शरीर होते हैं, तथा देव और नरक गति में वैक्रियिक, तेजस और कार्मण ये तीनों शरीर होते हैं।

छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त संयत *ऋद्धिधारी मुनिराज* के औदारिक,आहारक, तेजस और कार्मण शरीर अथवा औदारिक, वैक्रियिक, तेजस और कार्मण शरीर होते हैं।

एक साथ पांच शरीर नहीं हो सकते क्योंकि वैक्रियिक तथा आहारक ऋद्धि एक साथ नहीं होती है।

10/04/20, 1:43 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस विषय में कुछ विद्वानों का ऐसा भी मत मिलता है

एक साथ पाँच शरीर नहीं हो सकते।

आहारक और वैक्रियिक दोनों शरीर एक साथ नहीं होते।

जिस संयमी के आहारक शरीर होता है , उसके वैक्रियिक नहीं होता और जिस देव अथवा नारकी के वैक्रियिक होता है , उसके आहारक नहीं होता।

तप विशेष से जो विक्रिया प्राप्त होती है , वह औदारिक शरीर सम्बन्धी ही विक्रिया है।उसे वैक्रियिक शरीर मानना उचित नहीं है।एक साथ वैक्रियिक और आहारक ऋद्धि की प्रवृत्ति नहीं होती।एक साथ आहारक शरीर के साथ वैक्रियिक शरीर का अवस्थान नहीं बन सकता। कर्म साहित्य में वैक्रियिक शरीर नामकर्म के उदय से जो शरीर प्राप्त होता है उसकी गणना ही वैक्रियिक शरीर में की गयी है ।इसलिए अधिकारी भेद होने के कारण औदारिक और आहारक शरीर के साथ वैक्रियिक शरीर नहीं बन सकता। यही कारण है कि अधिक से अधिक चार शरीर बन सकते हैं।

लिखने का आधार -

पूज्य आर्यिका स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र की  प्रश्नोत्तरी टीका से तथा

पं फूलचन्द्र जी शास्त्री द्वारा *सर्वाथसिद्धि* के दूसरे अध्याय के ४३ सूत्र के लिखित विशेषार्थ से

10/04/20, 4:17 pm - Ashok Jain: कार्मण शरीर की विशेषता

*निरुपभोगमन्यम्॥४४॥*

(निर्- उपभोगम् अन्त्यम् )

सूत्रार्थ: (अन्त्यम्) अन्त का कार्मण शरीर (निर् उपभोगम्) उपभोग रहित (जायते) होता है।

जिनके इन्द्रियाॅं होती हैं। जिनके द्वारा जीव विषयों को भोगता है। ऐसे आदि के तीन शरीर भोगने योग्य हैं, औदारिक, वैक्रियिक और आहारक। शेष अन्त के दो शरीर (तैजस तथा कार्मण शरीर भोगने योग्य नहीं है।

-(मुनिश्री प्रशांत सागर जी महाराज)

इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि के ग्रहण करने को उपभोग कहते हैं, वह उपभोग विग्रहगति में कार्मण शरीर से नहीं होता है, अतः निरुपभोग है। इस समय अनाहारक होने से नये शरीर के योग्य नो कर्मवर्गणाओं को भी ग्रहण नहीं करता, अतः निरुपभोग है।

-(मुनिश्री अमित सागर जी महाराज)

11/04/20, 11:00 am - Ashok Jain: औदारिक शरीर का लक्षण

*गर्भ-सम्मूर्च्छनज-माद्यम्॥४५॥*

सूत्रार्थ: (गर्भ-सम्मूर्च्छनजम्) गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न हुआ शरीर (आद्यम्) पहला औदारिक शरीर (कथ्यते) कहलाता है।

जो तीन प्रकार के गर्भ (जरायुज, अण्डज और पोत) तथा सम्मूर्च्छन जन्म से उत्पन्न होता है वह औदारिक शरीर कहलाता है।

11/04/20, 11:07 am - Ashok Jain: वैक्रियिक शरीर का लक्षण

*औपपादिकं वैक्रियिकम्॥४६॥*

सूत्रार्थ: (औपपादिकं) उपपाद जन्म से होने वाला देव नारकियों का शरीर (वैक्रियिकम्) वैक्रियिक शरीर कहलाता है।

11/04/20, 3:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): देवों का जन्म उपपाद शय्या पर होता है , जो अड़तालीस मिनट में सर्वांग सुन्दर १६ वर्ष के नवयुवक की तरह हो जाता है।

नारकियों का जन्म ढोल के समान पोल वाले अनेक प्रकार के मुख आकार के बिलों में होता है जो ४८ मिनट के अन्दर पूर्ण होकर नरक की भूमि का स्पर्श करते हैं।

11/04/20, 4:35 pm - Ashok Jain: क्या तपस्या से और भी कोई शरीर बनता है

*तैजसमपि॥४८॥*

सूत्रार्थ: तैजस शरीर भी लब्धि निमित्तिक (ऋद्धि निमित्तिक) होता है।

यह मुनि अवस्था में ऋद्धि के प्रभाव से निकलता है। इसे निस्सरणात्मक- भिन्न तैजस कहते हैं। भिन्न तेजस शरीर शुभ तैजस और अशुभ तैजस के भेद से दो प्रकार का होता है।

11/04/20, 8:58 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ४७ वें सूत्र में जो *च* शब्द आया है उससे वैक्रियिक शरीर का ग्रहण करना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार आचार्य देव ४६ वें सूत्र में कहते हैं कि वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्म से पैदा हैता है , ४७ वें सूत्र में *च* लगाकर वे कह रहे हैं कि यह शरीर लब्धि से भी प्राप्त होता है।तप विशेष से प्राप्त होने वाली

इस प्रकार की लब्धि से जो शरीर प्राप्त होता है वह *लब्धिप्रत्यय* कहलाता है।

विविध करने का नाम विक्रिया है अर्थात् विविध प्रकार के रूप धारण करने की शक्ति।

विक्रिया दो प्रकार की होती है - एकत्व विक्रिया और पृथकत्व विक्रिया।अपने शरीर से अभिन्न रूप से सिंह , हंस, कुमार आदि रूप से विक्रिया करना एकत्व विक्रिया है।अपने शरीर से भिन्न रूप से महल , मण्डप आदि बनाना पृथकत्व विक्रिया है।

11/04/20, 9:24 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ४८ वें सूत्र में भी आचार्य देव *अपि* अर्थात् *भी* शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं *तैजसम्-अपि* अर्थात् ४७ वें सूत्र में वैक्रियिक शरीर के लिए जिस लब्धि प्रत्यय की बात कही गई थी, उस लब्धि प्रत्यय से तैजस शरीर भी होता है।

भिन्न तेजस शरीर शुभ तैजस और अशुभ तैजस के भेद से दो प्रकार का होता है, यह वर्णन हमने ऊपर पढा।

*शुभ तैजस* उग्र तपस्या वाले भावलिंगी मुनिराज के दयाभाव आदि के निमित्त से दाहिने कन्धे से सफेद रंग का बारह योजन प्रमाण क्षेत्र में सुभिक्ष करने वाला शुभ तैजस पुतला निकलता है।

*अशुभ तैजस* उग्र तपस्या वाले भावलिंगी मुनिराज के क्रोध आदि के निमित्त से बायें कन्धे से सिन्दूरी रंग के बिलाव के आकार का पुतला बारह योजन प्रमाण क्षेत्र को जला देता है तथा पुनः लौटकर उन मुनिराज के शरीर में प्रवेश करता है । अशुभ तैजस के निकलने से लेकर वापस आने तक मुनिराज भावलिंगी ही रहते हैं।शरीर में प्रवेश करते ही मुनिराज मिथ्यादृष्टि होकर मरण को प्राप्त हो जाते हैं।

12/04/20, 12:36 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आहारक शरीर तत्त्व ज्ञान को ग्रहण करता है, इसलिए इसे आहारक शरीर कहते हैं। यह शरीर शुभ ऋद्धि विशेष से उत्पन्न होता है , मन को प्रीति करने वाला है और आहारक काययोग रूप कार्यों का कारण है , इसलिए शुभ है।संदिग्ध अर्थ के निर्णय का कारण होने से तथा संक्लेश रहित होने से यह शरीर विशुद्ध कहलाता है।आहारक शरीर के द्वारा अन्य पदार्थों का व्याघात नहीं होता और अन्य पदार्थों से आहारक शरीर का व्याघात नहीं होता, इसलिए इसे अव्याघाती कहते हैं।

भरत ऐरावत क्षेत्र में किसी मुनि के केवलज्ञान के अभाव में जब संशय उत्पन्न होता है तब तत्त्व का निश्चय करने के लिए पंचविदेह में से किसी भी विदेह में स्थित केवली के पास औदारिक देह से जाने वाले मुनि के महान असंयम होता है ,ऐसा विचार करने वाले मुनि के रोमाग्र के अष्टमभाग प्रमाण सिर स्थित दसवें द्वार से शुभ, विशुद्ध एवं व्याघात रहित एक हाथ प्रमाण पुतला निकलता है , वह आहारक शरीर है। यह अपनी शंकाओं का समाधान करता है , समाधान न होने पर प्रतिप्रश्न भी कर सकता है । तीर्थंकर , केवली आदि सहित तीर्थक्षेत्र की वन्दना करके पुनः औदारिक शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

एक बार में ढाई द्वीप में 56 मुनिराज आहारक शरीर वाले हो सकते हैं।एक बार में एक मुनिराज के 54 आहारक शरीर ऋद्धि के द्वारा निकल सकते हैं।

आहारक ऋद्धि वाले शरीर की यह विशेषता है कि इसका बन्ध सातवें गुणस्थान से लेकर आठवें गुणस्थान के छठवें भाग तक होता है तथा उदय छठवें गुणस्थान में होता है।

लिखने का आधार - परम पूज्य प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री १०८ अमितसागर जी महाराज तथा गणिनी आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित टीकाओं से।

12/04/20, 3:36 pm - Ashok Jain: नारकियों और सम्मूर्च्छनों के लिङ्ग (वेद)

*नारक-सम्मूर्च्छिनों नपुंसकानि॥५०॥*

सूत्रार्थ: (नारक सम्मूरर्च्छिन:) नारकी और सम्मूर्च्छन जन्म वाले (नपुंसकानि) नपुंसक (भवति) होते हैं।

नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नियम से नपुंसक ही होते हैं।

जिस नपुंसक वेद के उदय से द्रव्य चिन्ह भी नपुंसक होता है अर्थात् जिसमें स्त्री या पुरुष का चिन्ह नहीं होता है, भाव से भी नपुंसक होता है। जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों में रमण करने का भाव होता है, उसे नपुंसक लिंग कहते हैं।

विशेष: एक इन्द्रिय से चार इन्द्रिय जीव नियम से नपुंसक ही होते हैं।

(प्रज्ञा श्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से।

12/04/20, 3:57 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जो नरकों में उत्पन्न होते हैं वे *नारकी* कहलाते हैं। जो संमूर्च्छन जन्म से पैदा होते हैं वे *संमूर्च्छिन* कहलाते हैं।

चारित्रमोह के दो भेद हैं - *कषाय और नोकषाय*। इनमें से नोकषाय के भेद से नपुसंक वेद के उदय से और अशुभ नामकर्म के उदय से उक्त जीव स्त्री या पुरुष न होकर नपुंसक होते हैं।इन जीवों के मन लुभावन शब्द , गन्ध , रूप, रस और स्पर्श के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ स्त्री - पुरुष विषयक थोड़ा भी सुख नहीं पाया जाता।

13/04/20, 11:23 am - Ashok Jain: देवों के वेद

*न देवा॥५१॥*

सूत्रार्थ: (देवा: न:) देव नपुंसक नहीं होते। अर्थात् देवों में स्त्री वेद और पुरुष वेद ये दो ही वेद होते हैं।

नारकी और देव दोनों का उपपाद जन्म होता है। उपपाद जन्म वाले नारकियों का नपुंसक वेद होता है और पुण्य प्रकृति वाले देव नपुंसक वेद वाले नहीं होते।

13/04/20, 3:37 pm - Ashok Jain: मनुष्य और तिर्यंचों के वेद

*शेषास् त्रिवेदा:॥५२॥*

सूत्रार्थ: (शेषा:) बाकी सभी, सम्मूर्च्छन, नारकी और देवों के अतिरिक्त (त्रि) तीन (वैदा:) वेद वाले होते हैं।

कर्म भूमि के आर्यखण्ड के पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच (सम्मूर्च्छन के अलावा) स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद इन तीनों में से कोई एक वेद वाले होते हैं।

परन्तु भोगभूमि और म्लेच्छखण्ड के मनुष्य और तिर्यंचों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ये दो में से कोई एक ही वेद होते हैं।

13/04/20, 4:00 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जो वेदा जाये उसे *वेद* कहते हैं।इसका दूसरा नाम लिंग है।इसके दो भेद होते हैं- द्रव्यलिंग और भावलिंग।

जो योनि- मेहन आदि नामकर्म के उदय से रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है।

नोकषाय के उदय से जो विकार होता है , वह भावलिंग है।

स्त्रीवेद के उदय से जिसमें गर्भ रहता है वह स्त्री है , पुंवेद के उदय से जो अपत्य को जनता है , वह पुरुष है तथा नपुंसक वेद के उदय से जो उक्त दोनों प्रकार की शक्ति से रहित है वह नपुंसक है।

इस प्रकार नामकर्म और चारित्र मोहनीय के भेद से नोकषाय के उदय से तीनों वेदों की सिद्धि होती है।ये तीनों वेद गर्भजों के होते हैं।

14/04/20, 11:56 am - Ashok Jain: चारों गतियों के जीवों की पूर्णायु या...

*औपपादिक चरमोत्तमदेहाऽसंख्येय वर्षायुषोऽनपवत्यार्युष:॥५३॥*

(औपपादिक चरम-उत्तमदेहा- असंख्येयवर्ष-आयुष: अन्-अपवर्ति- आयुष:)

सूत्रार्थ:- (औपपादिक) उपपाद जन्म वाले देव नारकी, (चरमोत्तम देहा) चरमशरीरी तद्भवमोक्षगामियों में श्रेष्ठ तीर्थंकर आदि तथा (असंख्येय वर्षा) असंख्यात वर्षों की आयु वाले भोगभूमि के जीव (आयुष:) परिपूर्ण आयु वाले होते हैं। (अनपवर्त्यायुष:) अर्थात् इन जीवों की आयु घटती नहीं है यानी इन जीवों की असमय, अकाल मृत्यु नहीं होती है।

क्रमशः...

14/04/20, 1:48 pm - Ashok Jain: इस सूत्र में अकाल मृत्यु का वर्णन है कि किस जीव का अकाल मृत्यु हो सकती है और उसके क्या कारण है-

अकाल मरण- जिन जीवों की भुज्यमान आयु (जो आयु वर्तमान में भोग रहे हैं) जितनी थी, उससे पहले मरण हो जाना अकाल मरण है।

आचार्य देव श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भावपाहुड़, गाथा २५ में अकाल मरण के निम्न कारण बताये हैं-

*विसवेयण रत्तक्खय भयसत्थग्गहण संकिलेसाणं।आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आउ॥*

अर्थ: विष की वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र की चोट, संक्लेश तथा आहार न मिलने से एवं श्वासोच्छ्वास के निरोध से आयु क्षीण हो जाती है, उसे अकाल मरण या कदलीघात मरण कहते हैं।

उदाहरण: एक मिट्टी का घड़ा है, उसमें पानी भरा हुआ है। उस घड़े में एक छिद्र है, जिसमें एक एक बूंद पानी गिर रहा है, वह घड़ा मान लीजिए २४ घंटे में खाली होता है। उस घड़े को किसी ने पत्थर मार दिया तो पूरा पानी एक साथ बाहर आ गया। उसी प्रकार आयु कर्म के निषेक (एक समय में जितने कर्म परमाणु उदय में आते हैं उनका समूह) हैं, प्रतिसमय खिर (निकल) रहे हैं। इसी प्रकार किसी शरीर का घात आदि कर दिया तो एक साथ सारे निषेक खिर जाते हैं।यही अकाल मरण है।

किस जीव का अकाल मरण नहीं होता-

उपपाद जन्म वाले देव-नारकी, एवं असंख्यात आयु वाले भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंचों का अकाल मरण नहीं होता है।

कर्म भूमि के जिस जीव ने नवीन आयु का बंध कर लिया है, उसका अकाल मरण नहीं होता है। एवं चरमोत्तम (चरम+उत्तम) देह वालों का अकाल मरण नहीं होता, किंतु चरम देह वालों का अकाल मरण हो सकता है, जैसे- पाण्डव आदि। उत्तम देह वालों का भी अकाल मरण हो सकता है जैसे- सुभौम चक्रवर्ती, कृष्ण, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का हुआ था। जो चरम एवं उत्तम देह वाले भी हैं, ऐसे चरमोत्तम देहधारी मात्र तीर्थंकर को छोड़कर सबका अकाल मरण सम्भव है।

(त. वृ. २/५३/११०) किन्तु आचार्य श्री अकलंक देव ने तत्त्वार्थवार्तिक ग्रंथ (२/५३/६-९) में चरम शब्द उत्तम शब्द का विशेषण लिया है। अतः चरम देह वालों की अकाल मृत्यु नहीं होती है।

अधिक तनाव, अत्यधिक परिश्रम एवं पारिवारिक कलह से बढ़ता हुआ संक्लेश भी अकाल मरण का कारण बनता है।

(पूज्य मुनि श्री प्रशांत सागर जी महाराज द्वारा रचित जिनसरस्वती से)

17/04/20, 8:25 am - Ashok Jain: <Media omitted>

17/04/20, 8:25 am - Ashok Jain: 6- घ- विग्रह गति में जीव कैसे गमन करता है।

17/04/20, 8:26 am - Ashok Jain: 👆 छठे प्रश्न में ४ आॅप्शन है।

17/04/20, 9:08 pm - Usha Jain, Nagour: <Media omitted>

17/04/20, 9:08 pm - Usha Jain, Nagour: <Media omitted>

17/04/20, 9:09 pm - Usha Jain, Nagour: <Media omitted>

17/04/20, 9:35 pm - Sanjay (Snehlata): <Media omitted>

18/04/20, 12:45 pm - P C Jain Rafigunj: <Media omitted>

18/04/20, 12:45 pm - P C Jain Rafigunj: <Media omitted>

18/04/20, 12:45 pm - P C Jain Rafigunj: <Media omitted>

18/04/20, 1:45 pm - Ashok Jain: बहुत सुंदर और सही उत्तर पदम भाई साहब👍

19/04/20, 9:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

19/04/20, 9:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

19/04/20, 9:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

19/04/20, 9:12 am - Ashok Jain: अनीता जी द्वारा 👆

19/04/20, 9:23 am - Ashok Jain: *॥इति तत्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) द्वितियोऽध्याये समाप्त:॥*

🙏🙏🙏

19/04/20, 9:25 am - Ashok Jain: *॥अथ तृतीयोऽध्याय:॥*

19/04/20, 8:05 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

19/04/20, 8:06 pm - Ashok Jain: श्री पारस जी पाटनी द्वारा👆

19/04/20, 8:06 pm - Ashok Jain: तीसरे अध्याय का अॉडियो

20/04/20, 10:27 am - Ashok Jain: तृतीय अध्याय- परिचय

इस अध्याय में अधोलोक और मध्यलोक का वर्णन है। कुल ३९ सूत्र हैं।

सबसे पहले नरकों के नाम, बिल, देह की विशेषति, दु:ख तथा आयु का वर्णन है।

इसके बाद मध्य लोक के द्वीप- समुद्र, जम्बूद्वीप के क्षेत्र उनके पर्वत, तालाब,

नदियां, कमल और उनमें रहने वाली देवियां और उनके परिवार का वर्णन है।

तत्पश्चात् भरतादि क्षेत्र, काल परिवर्तन, व्यवस्था, मनुष्यों और तिर्यंचों के स्थान और आयु का वर्णन है।

🙏🙏🙏

20/04/20, 11:05 am - Ashok Jain: अधोलोक का वर्णन

नरक की सात पृथिवियां

*रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्कधूम-तमो-महातम:प्रभाभूमियो घनाम्बु- वाताकाश-प्रतिष्ठा: सप्ताऽधोऽध: ॥१॥*

सूत्रार्थ: [ इस सूत्र में "प्रभा" अन्तदीपक है, यह सभी भूमियों के नाम के साथ लगेगा।]

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूभप्रभा, तमःप्रभा, और महातमःप्रभा (भूमयः) ये भूमियां (घनाम्बु-वाताकाश-प्रतिष्ठाः) घनाम्बु वातवलय, घनवातवलय, तनुवातवलय, तथा आकाश के आधार से प्रतिष्ठित [स्थित] हैं। ( सप्ताऽधोऽधः) तथा ये सातों भूमियां क्रमशः नीचे नीचे (संति) हैं।

इन सात पृथिवियों में सात नरक है-

धर्मा [धम्मा], वंशा, मेघा, अञ्जना, अरिष्ठा, मघवी [मघवा] और माघवी। (ति. प.१/१५३)

क्रमशः...

20/04/20, 11:55 am - Ashok Jain: ये उत्तम जिज्ञासा श्री जितेन्द्र जी भेजी है जो सभी के लिए उपयोगी (जानने योग्य) है।

*जिज्ञासा* सादर जय जिनेंद्र और शुभ प्रभात.... अपने सूत्रों के अनुसार अर्थ बतलाये है... बहुत ही सुंदरता से आप अर्थ को बतलाते है... मेरी जिज्ञासा है अपने अंत दीपक की बात कही है इसकी पहचान कैसे करें... और अंत दीपक क्या है? कृपया हमें मार्गदर्शन करें 🙏🙏

जीतेंद्र शांतिनाथ जी देवधारे केज जिला बीड महाराष्ट्र

*उत्तर:*

न्याय शास्त्र के अनुसार दीपक तीन प्रकार के होते हैं- आदि दीपक, मध्य दीपक और अन्त दीपक।

आदि दीपक- पदार्थ या वस्तु के कथन का प्रतीक है। जैसे

उत्तमक्षमा मार्दव......धर्मः

यहां उत्तम शब्द आदि दीपक है, क्योंकि उत्तम शब्द सभी धर्मों के नाम के साथ लगता है जैसे उत्तमक्षमा से उत्तम ब्रह्मचर्य तक।

मध्य दीपक- पदार्थ के आदि भाग के अंश के पूर्ण-अपूर्ण का तथा अन्त भाग के पूर्ण अपूर्ण होने का कथन करने का प्रतीक है। जैसे-

"औपशमिक क्षायिकौ भावो मिश्रश्च जीवश्य स्वतत्त्व- मौदयिक पारिणामिकौ च।"

इसमें "जीवस्य स्वतत्त्व" मध्य दीपक है। क्योंकि ये सभी भाव जीव के निजी तत्त्व है।

इसी तरह अन्त दीपक पदार्थ की पूर्णता करने का प्रतीक है। जैसे

"णमो लोए सव्व साहूणं" इसमें "लोए सव्व" अंत दीपक है।जो पांचों पदों (परमेष्ठि) के साथ लगता है।

उसी प्रकार- वर्तमान सूत्र में सातों भूमियों के नाम के बाद "प्रभा भूमयो" ... ये "प्रभा" सभी भूमियों के नाम के साथ लगता है।

🙏

20/04/20, 11:55 am - Ashok Jain: सूत्रार्थ क्रमशः...

20/04/20, 2:11 pm - Ashok Jain: अब आगे इन पृथिवियों के बारे में जानते हैं-

रत्नप्रभा- यह पृथ्वी बहुत प्रकार के रत्नों से भरी हुई शोभायमान होती है, इसीलिए निपुण पुरुषों ने इसका 'रत्नप्रभा' यह सार्थक नाम कहा है।

(ति प २/२०)

शर्करा रूप मोटी-मोटी प्रभा के समान होने से शर्करा द्वितीय पृथ्वी का नाम है। बालू की प्रभा के समान प्रभा वाली बालुकाप्रभा, कीचड़ के समान प्रभा वाली पंकप्रभा, धूम के समान प्रभा वाली धूपप्रभा, अंधकार के समान प्रभा वाली तम:प्रभा और महा अंधकार के समान प्रभा से युक्त महातम:प्रभा है। (रा वा ३, ५)

इन पृथिवियों की मोटाई क्रमशः रत्नप्रभा १८०००० योजन, शर्कराप्रभा ३२००० योजन, बालुकाप्रभा २८००० योजन, पंकप्रभा २४००० योजन, धूभप्रभा २०००० योजन, तम:प्रभा १६००० योजन और महातम: प्रभा ८००० योजन मोटी है।

*योजन (महायोजन) दो हजार कोश का और (लघु) योजन चार कोश का होता है।

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग हैं- १) खर भाग १६००० योजन, २) पंक भाग ८४००० योजन और ३) अब्बुहल भाग एक एक योजन छोड़कर ८०००० योजन।

खर भाग के ऊपर और नीचे एक एक योजन छोड़कर मध्य की १४००० मोटी और एक राजू लम्बी चौड़ी चौदह भूमियों में किन्नर आदि सात प्रकार के व्यंतर देव एवं नागकुमार आदि नौ प्रकार के भवनवासी देवों के निवास स्थान है।(रा वा ८)

पंक भाग में असुर कुमार और राक्षस जाति के व्यंतरों का निवास है।( रा वा ८)

अब्बुहल भाग में प्रथम नरक के नारकियों का निवास है।(रा वा ८).

धर्मा नामक पहली पृथ्वी [नरक] के अब्बुहल भाग में ऊपर नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर नारकियों के बिल हैं।

(हरि. ४/७१)

अधोलोक की ये सातों भूमियां घनाम्बु वातवलय के आधार पर, घनाम्बु वातवलय घनवातवलय के आधार पर और घन वातवलय तनुवातवलय के आधार पर और तनुवातवलय आकाश पर स्थित है। और आकाश स्वयं अपना आधार है। इस प्रकार इनका परस्पर आधार-आधेय सम्बंध होने से तीनों वातवलयों की सार्थक संज्ञा है। (रा वा ८)

अधोलोक में इन तीनों वातवलयों का विस्तार बीस-बीस हजार योजन है। और लोक के ऊपर पहुंच कर घनोदधि वातवलय आधा योजन अर्थात् दो कोश, घनवातवलय उससे आधा एक कोश और तनुवातवलय १५७५ धनुष प्रमाण विस्तृत है। (हरि पु ४/३६-४१)

सातवीं पृथ्वी के नीचे कलकला भूमि है जहां निगोदिया जीव और स्थावर जीव रहते हैं।

20/04/20, 5:19 pm - Ashok Jain: सात प्रकृतियों में नरकों (बिलों) की संख्या

*तासु त्रिशत्पंचविंशति पंचदश दश त्रि पंचोनैक नरक- शतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम्॥२॥*

सूत्रार्थ:  (तासु) उन पृथिवियों में (त्रिंशत {शतसहस्राणि}) तीस लाख, (पञ्चविंशति) पचीस लाख, (पञ्चदश) पन्द्रह लाख, (दश) दस लाख, (त्रि) तीन लाख, (पञ्चोनैक) पांच कम एक लाख (च) और (पञ्च एव) पांच ही नरक- बिल हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख, शर्कराप्रभा पृथ्वी में पचीस लाख, बालुका प्रभा पृथ्वी में पन्द्रह लाख, पंकप्रभा पृथ्वी में दस लाख,

धूभप्रभा पृथ्वी में तीन लाख,

तम:प्रभा पृथ्वी में पांच कम एक लाख (९९,९९५) और

महातम:प्रभा पृथ्वी में मात्र पांच बिल है।

इस प्रकार कुल चौरासी लाख बिल (नरक) हैं।

ये बिल जमीन में गड़े हुए ढ़ोल की पोल के समान होते हैं और वे गोल, चौकोण, त्रिकोण आदि अनेक प्रकार के होते हैं।

बिलाव, कूकर, सुअर, गदहा, वानर, ऊंट और हाथी के मल के समान अति दुर्गंध सहित नरक बिल हैं और उनके भीतर सदा अंधकार है। (त्रि सा १७८)

ये बिल तीन प्रकार के होते हैं-

१) इन्द्रक बिल: प्रत्येक पटल के ठीक मध्य में जो बिल हैं वे इन्द्रक बिल हैं।

२) श्रेणीबद्ध बिल:  इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं और विदिशाओं में जो पंक्तिबद्ध बिल हैं वे श्रेणीबद्ध बिल हैं।

३) प्रकीर्णक बिल: दिशा-विदिशाओं के आठ अंतरालों में इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों के सम्बंध से रहित बिना क्रम के जो पुष्प के समान बिखरे हुए बिल हैं वे प्रकीर्णक बिल हैं।

(सि सा दी २/३९-४४)

20/04/20, 5:22 pm - Ashok Jain: *सात पृथिवियों में...

20/04/20, 5:23 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

21/04/20, 10:26 am - Ashok Jain: <Media omitted>

21/04/20, 10:26 am - Ashok Jain: <Media omitted>

21/04/20, 10:26 am - Ashok Jain: <Media omitted>

21/04/20, 10:26 am - Ashok Jain: <Media omitted>

21/04/20, 11:07 am - Ashok Jain: नारकियों के लेश्या आदि के दुःख

*नारका नित्याशुभतरलेश्या परिणाम- देह-वेदना-विक्रिया:॥३॥*

सूत्रार्थ:  वे नारकी (नित्य अशुभतर) हमेशा ही अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रिया के धारक होते हैं।

नारकियों की लेश्या-  तिर्यंचों की अशुभ लेश्या से अत्यधिक अशुभ लेश्या है, और नीचे नीचे के नरकों में लेश्या अशुभ से अशुभतर हो जाती है। इसलिए अशुभतर लेश्या कहा है।

प्रथम नरक में जघन्य कापोत लेश्या,

दूसरे नरक में मध्यम कापोत लेश्या,

तीसरे नरक में ऊपर कापोत एवं नीचे नील लेश्या,

चौथे नरक में नील लेश्या,

पांचवें नरक में ऊपर नील एवं नीचे कृष्ण,

छठे नरक में कृष्ण लेश्या और सातवें नरक में परम कृष्ण लेश्या होती है।

सभी नारकियों की द्रव्य लेश्या तो अपनी अवधृत आयु प्रमाण और भाव लेश्या छहों ही अन्तर्मूहूर्त्त में परिवर्तित हो जाती है। (रा वा ४)

अशुभतर परिणाम: अशुभतर परिणाम से यहां स्पर्श, रस, गंध वर्ण और शब्द लिये गये हैं। ये क्षेत्र विशेष के निमित्त से अत्यंत दुख के कारण अशुभतर हैं।(सर्वा ३७१)

क्रमशः...

21/04/20, 4:49 pm - Ashok Jain: ...अशुभतर परिणाम

स्पर्श:  एक हजार बिच्छुओं के काटने पर जो वेदना होती है उससे भी अधिक वेदना वज्रमय कांटों से व्याप्त नरकभूमि के स्पर्श से होती है।

(सि सा दी ३/५)

दुर्गंध:  पशु-पक्षियों के मृतक शरीरों की राशि समूह से जो दुर्गंध निकलती है उससे भी अति अशुभ और भयंकर दुर्गंध वहां निरंतर व्याप्त रहती है।

(सि सा दी ३/६)

वर्ण और शब्द:  उन नारकियों की आंखें कुछ देखती है तो वह सब अनिष्ट ही होता है, कानों के द्वारा सुने गये स्वर भी अत्यंत कर्णकटु और बुरे होते हैं।

इसी तरह नाक से जो भी सूंघते हैं वह सब दूर्गंधमय हो जाते हैं, हाथ-पैर से जो भी वस्तु छूते हैं वह कठोर और कष्टप्रद मालूम होती है। और जिव्हा द्वारा किसी भी पदार्थ को चखते हैं वही सर्वथा बेस्वाद हो जाता है।

ऐसा लगता है कि मानों कोई अच्छा इन्द्रिय व्यापार करने की शक्ति उनमें नहीं रह जाती है।(व चा ५/८७-८८)

अशुभतर शरीर- नारकियों के शरीर अशुभ नाम कर्म के उदय से अशुभ अंगोपांग, वीभत्स आकृति वाले होते हैं और उनका संस्थान हुण्डक होता है। उनके शरीर क्रूर, वीभत्स और भयंकर दिखते हैं। यद्यपि उन नारकियों का शरीर वैक्रियिक है तथापि उसमें इस औदारिक शरीरगत मल-मूत्र आदि से अधिक खंखार, मल-मूत्र, रूधिर,

मज्जा, पीप, वमन, मांस, केश आदि वीभत्स सामग्री रहती है, इसलिए उनकी देह अति अशुभतर है।

(रा वा ४)

नारकी 'शुभ विक्रिया करेंगे' ऐसा विचार करते हैं परन्तु उत्तरोत्तर अशुभ विक्रिया ही करते हैं "सुखकर हेतुओं को उत्पन्न करेंगे" ऐसा विचार करते हैं परन्तु "दुखकर हेतुओं" को ही उत्पन्न करते हैं।(सर्वा ३७१)

21/04/20, 9:54 pm - Ashok Jain: # अवधृत आयु~ अवधारित आयु= निश्चित आयु या निर्धारित आयु।

22/04/20, 11:49 am - Ashok Jain: नारकियों के और भी दुःख

*परस्परोदीरितदुःखा:॥४॥*

सूत्रार्थ:  वे नारकी (परस्पर) आपस में (उदीरित) उत्पन्न किये गये (दु:खा:) दुःख वाले होते हैं।

नरक में परस्पर के दुःख-

निर्दय होने से कुत्ते के समान एक दूसरे को देखकर नारकियों के क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे कुत्ते शाश्वत रूप से अकारण, अनादिकाल से होने वाले जातिकृत वैर के कारण निर्दय होकर परस्पर भौंकना, छेदना-भेदना आदि उदीरित दुःख वाले होते हैं; उसी प्रकार नारकी भी मिथ्यादर्शन के उदय से विभंग नाम को प्राप्त भवप्रत्यय अवधिज्ञान के द्वारा से ही दुःख के हेतुओं को जानकर उत्पन्न दुःख की आशंका से एक दूसरे को देखने से प्रज्वलित हुई है क्रोधाग्नि जिनकी, ऐसे वे अपने शरीर की विक्रिया से तलवार, वासी, परशु, भिण्डिवाल आदि शस्त्र बनाकर परस्पर देह का घात, छेदन, भेदन, पीड़न आदि के द्वारा उदीरित दुःख वाले होते हैं।(रा वा १)

पूर्व जन्म में किये हुए कार्यों के फल के कारण नरक में परस्पर दुःख होता है-

१) अन्य जीवों के अंगोंपांग का  छेदन- भेदन, नेत्रों को फोड़ना आदि के कारण।

२) सप्त व्यसन सेवन से- मद्यपान सेवन, मांसभक्षण से, परस्त्रीसेवन (वेश्यागमन), आदि आदि के कारण।

३) बिना छने और अधिक जल से स्नान के कारण

४) मद (घमण्ड) , बैर-विरोध रखना, झूठ बोलना आदि आदि के कारण।

22/04/20, 4:46 pm - Ashok Jain: नारकियों के और भी दुःख

*संक्लिष्टासुरोदीरितदु:खाश्च प्राक् चतुर्थ्या:॥५॥*

सूत्रार्थ: (प्राक् चतुर्थ्या:) चौथी पृथ्वी के पहले तक (संक्लिष्ट-असुर-उदीरित) संक्लिष्ट परिणाम वाले असुरों के द्वारा उत्पन्न किये गये (दुःखा च) दुःख वाले हैं।

चौथी पृथ्वी के पहले तक संक्लिष्ट (तीव्र कषाय) परिणाम वाले असुरकुमार भी नारकियों को दुःख उत्पन्न करते हैं।

सिकतानन, असिपत्र, महाबल, महाकाल, श्याम, सबल, रूद्र, अम्बरीष, बिलसित, महारूद्र, महाखर, काल, अग्निरुद्र, कुम्भ और वैतरणी आदिक असुरकुमार जाती के देव तीसरी बालुका पृथ्वी तक जाकर नारकी जीवों को कुपित करते हैं।

(ति प २/३५१-३५२)

इस क्षेत्र में जैसे मनुष्य, मैंढे और भैसे आदि के युद्ध को देखते है, उसी प्रकार में असुर कुमार जाती के देव नारकियों के युद्ध देखते हैं और मन में संतुष्ट होते हैं।(ति प २/३५३)

सूत्र में 'च' शब्द दुःख हेतु के समुच्चयार्थ है। असुरोदिरित दुःख, परस्परोदीरितदुःख और भूमि जन्य शीतोष्ण दुःख भी होता है।

नरकों में चार प्रकार के दुःख हैं-

१) क्षेत्र जनित, २) शारीरिक दुःख, ३) मानसिक दुःख ४) असुर कृत दुःख।

(त्रि सा १९७)

23/04/20, 2:09 pm - Ashok Jain: नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति (आयु)

*तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशति- त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थिति:॥६॥*

सूत्रार्थ: (तेषु) उन नरकों में (सत्त्वानां) प्राणियों की (परा) उत्कृष्ट (स्थिति) आयु (एक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा) एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर, और तैंतीस सागर प्रमाण है।

पहले नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर की होती है।

दूसरे की तीन सागर, तीसरे की सात सागर, चौथे की दस सागर, पांचवें की सत्रह सागर, छठे की बाईस सागर और सातवें नरक के नारकियों की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर की होती है।

नारकियों की जघन्य आयु

पहले नरक के नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष की होती है, दूसरे की एक सागर, तीसरे की तीन सागर, चौथे की सात सागर, पांचवें की दस सागर, छठे की सत्रह सागर और सातवें नरक के नारकियों की जघन्य आयु बाईस सागर की होती है।

सागरोपम- समय की उपमा है, जिससे वृहद आयु आदि की गणना की जाती है। सागरोपम का अर्थ सागर होता है।

सागर- दश कोड़ा-कोड़ी अध्दापल्यों का एक सागर होता है।पल्य तीन प्रकार से होते हैं- व्यवहार पल्य, उध्दारपल्य और अध्यापल्य।

व्यवहार पल्य- दो कोश गहरे- लम्बे-चोड़े गड्ढे को उत्तम भोगभूमि के के मेंढे के बालों के इतने छोटे टुकड़े कैंची से करें कि उनका दूसरा भाग कैंची से न कट सके। उन बालों से उस गड्ढे को इस प्रकार भरें कि उस पर हाथी भी चला जाये तो वह दबे नहीं। पुनः सौ-सौ साल में एक एक बाल निकालें, जितने वर्षों में वह खाली हो उतने वर्षों के समय को व्यवहार पल्य कहते हैं।

व्यवहार पल्य से असंख्यात गुणा उद्धारपल्य होता है और उद्धारपल्य से असंख्यात गुणा अद्धापल्य होता है।

ऐसे दश कोड़ा-कोड़ी अध्दापल्यों का एक सागर होता है।

नारकियों के दाढ़ी मूंछ नहीं होती है। क्योंकि नारकी जीवों का शरीर वैक्रियिक होता है। छिन्न भिन्न होने पर भी पुनः मिल जाता है, जिस तरह तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ नदी का जल फिर से मिल जाता है, उसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छेदा हुआ नारकियों का शरीर भी फिर से मिल जाता है। क्योंकि किसी भी आयु का बंध होने के बाद उसे भोगना अत्यंत आवश्यक है।

हां, वहां उत्पन्न होने से पूर्व पर्याय में विशुद्ध परिणामों के माध्यम से आयु की स्थिति घट भी सकती है और संक्लेष परिणामों से बढ़ भी सकती है।

वर्तमान काल के जीव मरकर पांचवें नरक तक उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु बाहुल्यता से तीसरे नरक तक उत्पन्न हो सकते है।

23/04/20, 5:26 pm - Mrs Latha Jain: Out of four gathi's Narak gathi is the only gathi where jeev *want's to DIE.* In all other gathi's - whatever higest levels be the difficulties, the jeev don't wants to DIE.

23/04/20, 5:26 pm - Mrs Latha Jain: "न रता इति नारका' -

24/04/20, 8:57 am - Usha Jain, Nagour: 🙏🙏🙏जब नारकी उपपाद शैया से निकलते हैं तो कौनसे नरक में कितने ऊंचाई से उछलते **?**

2 मिथ्या दृष्टि नारकी व सम्यक दृष्टि नारकी के परिणामों क्या भिन्नता रहती है **?**

3 नारकी को नीद आती है क्या **?**

24/04/20, 9:40 am - Asha Jain: क्या नारकी बिल के अंदर ही रहते हैं या बाहर भी निकलते हैं

24/04/20, 1:32 pm - Ashok Jain: ऊषा जी एवं आशा जी ने बहुत अच्छे प्रश्न भेजें हैं।

१) नरकों में नारकी जीव उपपाद शैया में अपनी पर्याप्तियों को पूर्ण करके वहां से तलवार, बर्छी आदि छत्तीस प्रकार के शस्त्रों पर गिरते हैं और गिरते ही गेंद की तरह उछलते हैं और पुनः उसी स्थान पर गिरते हैं। प्रथम नरक के नारकी जीव ७ योजन, ६५०० धनुष उछलते हैं। उससे आगे के नरकों के नारकी जीव दूना-दूना उछलते हैं। अर्थात् पहली पृथ्वी के नारकी सात उत्सेध योजन ३-१/४ कोस, दूसरी के १५ योजन २-१/२ कोस, तीसरी पृथ्वी के ३१ यो. १ कोस, चौथी पृथ्वी के ६२-१/२ यो. , पांचवीं के २५० योजन, एवं सातवीं पृथ्वी के ५०० योजन ऊंचे उछलते हैं। (ति प २/३१६)

*उत्सेध यानी ऊंचाई।

२)सम्यक दृष्टि और मिथ्या दृष्टि के परिणामों में बहुत फर्क रहता है। मिथ्यादृष्टि के अनंतानुबंधी क्रोध  है और सम्यकदृष्टि के अप्रत्याख्यानावरण क्रोध । इसलिए क्रोध की क्वालिटी में फ़र्क तो है ही।

सम्यक दृष्टि जब तक दूर रहता है उसके भाव रहते है कि मै नहीं मारूंगा, पर दूसरे नारकी के सामने आते ही भाव बदल जाते हैं और उसी प्रकार लड़ाई करते रहता है।

तीर्थंकर प्रकृति सत्ता वाले भी इसी तरह लड़ते हैं पर मृत्यु के छ मास पूर्व ही देव लोग वज्र मई  परकोटा तैयार कर देते हैं। उसी में वह जीव अपना छः मास का समय शुभ भावों के साथ बिताता है। उस परकोटे में नरक के जमीन की वेदना नहीं होती। (आदरणीय पारस भाई साहब द्वारा)

३) नारकी को नींद नहीं आती, वहां नारकी एक दूसरे से मारपीट करने में ही व्यस्त रहते हैं।

24/04/20, 1:33 pm - Ashok Jain: नारकी अपने बिल से बाहर नहीं जाते। जीवन भर वहीं रहते है।

(आदरणीय पारस भाई साहब द्वारा)

24/04/20, 4:31 pm - Ashok Jain: *नरक में नारकी पांचवीं पृथ्वी में १२५ योजन, छठी पृथ्वी में २५० योजन और सातवीं पृथ्वी में ५०० योजन उछलते हैं।

24/04/20, 7:29 pm - P C Jain Rafigunj: प्रथम नरक में 13 पटल हैं और प्रथम नरक में 30 लाख बिल है

इनकी बनावट कैसी होती है

24/04/20, 8:04 pm - Usha Jain, Nagour: नरको में नदी वृक्ष होते हैं  नारकी जीव विक्रिया से  स्वयं उस रुप होते हैं या अलग से होते है **?**

24/04/20, 8:08 pm - Usha Jain, Nagour: व्यंतर देव मध्य लोक में भी  रहते हैं क्या **?**

24/04/20, 9:13 pm - Ashok Jain: बिलों में स्थित

ति.प./२/३०२-३१२ का सारार्थ-

इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के ऊपर अनेक प्रकार की तलवारों से युक्त, अर्धवृत्त और अधोमुख वाली जन्मभूमियाँ हैं। वे जन्मभूमियाँ धर्मा (प्रथम) को आदि लेकर तीसरी पृथिवी तक उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदंग, और नालि के सदृश हैं।३०२-३०३।

चतुर्थ व पंचम पृथिवी में जन्मभूमियों का आकार गाय, हाथी, घोड़ा, भस्त्रा, अब्जपुट, अम्बरोष और द्रोणी जैसा है।३०४।

छठी और सातवीं पृथिवी की जन्मभूमियाँ झालर (वाद्यविशेष), भल्लक (पात्रविशेष), पात्री, केयूर, मसूर, शानक, किलिंज (तृण की बनी बड़ी टोकरी), ध्वज, द्वीपी, चक्रवाक, शृगाल, अज, खर, करभ, संदोलक (झूला), और रीछ के सदृश हैं। ये जन्मभूमियाँ दुष्प्रेक्ष्य एवं महाभयानक हैं।३०५-३०६।

उपर्युक्त नारकियों की जन्मभूमियाँ अन्त में करोंत के सदृश, चारों तरफ़ से गोल, मज्जवमयी (?) और भंयकर हैं।३०७।

ये बिल बिलाव, कूकर, सुअर, गदहा, ऊंट, और हाथी आदि के मल के समान अति दुर्गंध सहित नरक बिल हैं और उनके भीतर सदा अंधकार है। (त्रि सा १७८)

24/04/20, 9:49 pm - Ashok Jain: नरक में नारकी स्वयं अपने शरीर से नदी, वृक्ष और अनेक प्रकार के आयुध, पशु आदि रूप विक्रिया करते हैं। इनके अपृथक विक्रिया होती है, देवों के समान पृथक विक्रिया नहीं होती है।

24/04/20, 9:57 pm - Ashok Jain: व्यंतर देव  अधिकतर मध्यलोक के सूने स्थानों में रहते हैं। ये अपनी विक्रिया से मनुष्य और तिर्यंचों के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं और उन्हें लाभ-हानि पहुंचाते हैं।

25/04/20, 11:13 am - Ashok Jain: <Media omitted>

25/04/20, 2:11 pm - Ashok Jain: आदरणीय पारस भाई साहब ने बताया -

व्यंतर जाति के देवों की उत्पति तो अपने मूल निवास स्थान रतनप्रभा भूमि के ऊपर के खर और पंक इन दो भागों में जहां उनका महल है वहीं होती है फिर वे अपनी कृदा के लिए वृक्ष, कोटर आदि स्थानों में रहने लगते हैं।

कृपया मेरे द्वारा पहले दिए गए उत्तर में सुधार कर लीजिए ।

25/04/20, 3:55 pm - Parasji Patni: कृपया सुधारें। उपर वाले उत्तर में मुझ से गलती क्रीदा टाइप होगया। यहां क्रीड़ा शब्द होना चाहिए।

इसमें इतना और समझ लें इनका मूल शरीर जन्मस्थान महल में ही रहता है विक्रिया शरीरों से इधर उधर घूमते हैं।

चतुर्थ अध्याय में जब देवों का वर्णन आएगा तब इसका बहुत खुलासा होगा। उस समय आपको से अशोकजी , राजेन्द्र जी बताएंगे।

25/04/20, 4:06 pm - Ashok Jain: द्वीप और समुद्रों का विस्तार और आकार

*द्वि-र्द्वि-र्विष्कम्भा: पूर्व-पूर्व परिक्षेपिणो वलयाकृतय:॥८॥*

सूत्रार्थ: प्रत्येक द्वीप समुद्र (द्विः द्विः) दूने-दूने (विष्कम्भाः) विस्तार वाले (पूर्व-पूर्व) पहिले-पहिले के द्वीप समुद्र को (परिक्षेपिणः) घेरे हुए तथा (वलयाकृतयः) चूड़ी के समान आकार वाले (सन्ति) हैं।

सूत्र में जो "द्विर्द्वि" क्षेत्र के विस्तार के द्विगुणित को बताने के लिए है। जैसे- प्रथम जम्बूद्वीप का जो विष्कम्भ (विस्तार) है उससे दुगुना लवणसमुद्र है। लवणसमुद्र से दुगुना धातकीखण्ड है और उसके दुगुना दूसरा कालोदधि समुद्र है। आदि... इस प्रकार एक दूसरे से दूने विस्तार के लिए "द्विर्द्वि" ऐसा निर्देश किया है (रा वा १)

ये द्वीप समुद्र एक दूसरे से क्रम से सटे हुए हैं। गांव,नगरादि के समान अक्रम से नहीं है। किंतु पूर्व पूर्व को घेरे हुए है। (रा वा २)

इनका आकार गोल चूड़ी के समान है।ऐसी आकृति वाले को वलयाकृति कहते हैं। (रा वा ३)।

26/04/20, 11:57 am - Ashok Jain: जम्बूद्वीप का विस्तार और आकार

*तन्मध्ये मेरू-नाभि-वृत्तो योजन-शत-सहस्र-विष्कम्भो जम्बूद्वीपः॥९॥*

सूत्रार्थ: (तन्मध्ये) उन सब द्वीप समुद्रों के बीच (मेरूनाभिः) मेरू रूपी नाभि के युक्त (वृतः) थाली के समान गोल (योजन-शत-सहस्र विष्कम्भः) एक लाख योजन विस्तार वाला (जम्बूद्वीपः) जम्बूद्वीप (अस्ति) है।

सभी द्वीप समुद्रों के मध्य मेरू रूपी नाभि से युक्त एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है।

जम्बूद्वीप सभी द्वीप समुद्रों के विस्तार और आकार का कथन का आधार है।

26/04/20, 4:56 pm - Ashok Jain: जम्बूद्वीप के क्षेत्र

*भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावत-वर्षाः क्षेत्राणि॥१०॥*

अर्थ: जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत

ये सात क्षेत्र हैं।

(वर्षाः क्षेत्राणि) : वर्ष, देश, जनपद।

जैसे- भरतवर्ष या भरतक्षेत्र।

भरत क्षेत्र:

हिमवान् पर्वत और तीन समुद्रों के मध्य भरत क्षेत्र है। हिमवान् पर्वत के और पूर्व दक्षिण और पश्चिम में इन तीन समुद्रों के मध्य भरत क्षेत्र है। इस क्षेत्र के गंगा-सिंधु और विजयार्ध पर्वत से विभक्त होकर छः खण्ड हो जाते हैं।

(रा वा ३)

हैमवत क्षेत्र:

यह हैमवत क्षेत्र क्षुद्र हिमवन् की उत्तर दिशा में महाहिमवान के दक्षिण में तथा पूर्वापर लवण समुद्र के बीच में है।हिमवन् पर्वत के समीप होने से अथवा इस क्षेत्र में हिमवन् पर्वत है इसलिए "अण्प्रत्यत" से हैमवत यह क्षेत्र का नाम पड़ा है। इसके मध्य में शब्दवान् नाम का वृत्त वैताढ्य पर्वत है।

(रा वा ५-७)

हरिवर्ष क्षेत्र:

यह हरिवर्ष क्षेत्र निषध पर्वत से दक्षिण, महाहिमवान से उत्तर और पूर्व पश्चिम लवणसमुद्र के मध्य में स्थित है। हरिवर्ण मनुष्य के योग से यह हरिवर्ष क्षेत्र कहलाता है। हरि का अर्थ सिंह है और सिंह का परिणाम शुक्ल माना है। सिंह के समान शुक्ल परिणाम वाले मनुष्य इसमें रहते हैं। इसलिए यह हरिवर्ष कहलाता है। इसके मध्य में विकृतवान् नामक वृत्त वैताढ्य पर्वत है। इसका विस्तार शब्दवान् वृत्त- वैताढ्य के समान है। (रा वा ८-१०)

विदेह क्षेत्र:

निषध और नील पर्वत के मध्य विदेह क्षेत्र का सन्निवेश है। निषध से उत्तर, नील पर्वत से दक्षिण और पूर्वापर समुद्रों के मध्य में विदेह की रचना है। (रा वा १२)

रम्यक क्षेत्र:

नील और रुक्मि पर्वत के अन्तराल में रम्यक क्षेत्र की रचना है। नील पर्वत से उत्तर और रुक्मि पर्वत से दक्षिण की ओर पूर्व-पश्चिम समुद्र के बीच में रम्यक क्षेत्र की रचना है।(रा वा १५) रमणीय देश के योग से रम्यक कहलाता है। रमणीय देश, नदी, पर्वत और वन आदि से युक्त होने के कारण इसे रम्यक कहते हैं।(रा वा १४)

हैरण्यवत क्षेत्र:

रुक्मि और शिखरी के अन्तराल में इसका स्थान है। रुक्मि पर्वत की उत्तर दिशा में और शिखरी पर्वत के दक्षिण की ओर पूर्व-पश्चिम के बीच हैरण्यवत क्षेत्र है। उस क्षेत्र के मध्य में माल्यवान् नामक वृत्त वैताढ्य है। हिरण्य वाले रुक्मि पर्वत के समीप होने से इसका नाम हैरण्यवत क्षेत्र पड़ा है।

(रा वा १८-१९)

ऐरावत क्षेत्र:

शिखरी पर्वत और पूर्व-पश्चिम और उत्तर तीनों समुद्रों के मध्य में ऐरावत क्षेत्र है। ऐरावत क्षत्रिय के योग से ऐरावत क्षेत्र कहलाता है। रक्ता और रक्तोदा नदियों के बीचों-बीच अयोध्या नाम की नगरी है।उस नगरी का अनुपालक ऐरावत नाम का राजा हुआ था। उसी के सम्बंध से इस क्षेत्र का नाम ऐरावत पड़ा है।(रा वा २०-२१)

27/04/20, 11:11 am - Ashok Jain: क्षेत्रों का विभाग करने वाले छह कुलाचलों के नाम

*तद्-विभाजिन: पूर्वापरायता हिमवन्- महाहिमवन्- निषध- नील-रुक्मि- शिखरिणो वर्षधर- पर्वता: ॥११॥*

सूत्रार्थ: (तद्विभाजिन:) उन सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले (पूर्व-अपर-आयता:) पूर्व से पश्चिम तक लम्बे 'हिमवन्', 'महाहिमवन्', 'निषध', 'नील', (रुक्मि शिखरिण:) 'रुक्मिन्' और 'शिखरिन्' ये छह (वर्षधर-पर्वता:) वर्षधर कुलाचल/पर्वत हैं।

वर्ष (क्षेत्रों) के विभाग बनाये रखने के कारण इन्हें वर्षधर कहते हैं।

हिमवन पर्वत:

यह भरत और हैमवत क्षेत्र की सीमा में स्थित है।इसे क्षुद्र हिमवन भी कहते हैं क्योंकि महाहिमवन की अपेक्षा यह लघु है।(रा वा २)

महाहिमवन पर्वत:

यह हैमवत और हरिवर्ष क्षेत्र का विभाजक है। हैमवत क्षेत्र से उत्तर और हरिक्षेत्र से दक्षिण में महाहिमवन पर्वत है।(रा वा ४)

निषध पर्वत:

हरिक्षेत्र और विदेह क्षेत्र की मर्यादा का कारण निषध पर्वत है। हरि क्षेत्र के उत्तर में और विदेह क्षेत्र के दक्षिण में इन दोनों की सीमा का कारणभूत निषध नामक कुलाचल है।(रा वा ६)

नील पर्वत:

विदेह क्षेत्र और रम्यक क्षेत्र के बीच में नील पर्वत है। यह पर्वत विदेह और रम्यक क्षेत्र की सीमा पर स्थित है व उनका विभाग करता है।(रा वा ८)

रुक्मि पर्वत:

यह रुक्मि पर्वत रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्र का विभाजक है।(रा वा १०)

शिखरी पर्वत:

हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्र के मध्य सेतुबंध के समान शिखरी पर्वत है।

(रा वा १२).

जिनालय:-

इन सभी कुलाचलों पर आठ-आठ कूट है। उनमें से प्रत्येक कुलाचल के सिद्धायतन कूट पर एक-एक जिनमंदिर है।(रा वा १-१२)

यह जिनमंदिर छत्तीस योजन ऊंचा, दक्षिण एवं उत्तर में पचास योजन लम्बा, पूर्व-पश्चिम में पच्चीस योजन विस्तृत तथा पच्चीस योजन प्रमाण प्रवेशमार्ग का धारक है।(रा वा २)

27/04/20, 3:28 pm - Ashok Jain: कुलाचलों के वर्ण

*हेमार्जुन-तपनीयवैडूर्यरजतहेममया॥१२॥*

सूत्रार्थ: ये पर्वत क्रमशः (हेम) सुवर्ण, (अर्जुन) चांदी, (तपनीय) तपाये हुए सुवर्ण, (वैडूर्य) वैडूर्य, (नील) मणि, (रजत) चांदी और (हेममया) सुवर्ण के समान (वर्ण) रंग वाले (संति) हैं। किंतु ये सुवर्ण आदिक नहीं हैं।

कुलाचलों का वर्ण:

हिमवन् पर्वत- हेम (सुवर्णमय) चीनी रेशम के समान।

महाहिमवन्- अर्जुनमय (चांदी के समान) शुक्लवर्ण।

निषध पर्वत- तपनीय- तपाये हुए सोने के समान, उगते हुए बालसूर्य के वर्ण के समान।

नील पर्वत- वैडूर्यमय- मयूर कण्ठ के समान।

रुक्मि पर्वत- रजत-चांदी के समान।

शिखरी पर्वत- हेम- चीनी रेशम के समान। (सर्वा. ३८९)

28/04/20, 11:53 am - Ashok Jain: पर्वतों की विशेषता

*मणि-विचित्र-पार्श्वा उपरिमूले च तुल्य-विस्तारा:॥१३॥*

सूत्रार्थ: ये कुलाचल-पर्वत (पार्श्वा) दोनों बाजुओं में (मणि-विचित्रा) तरह-तरह की मणियों से खचित (उपरि मूले च) ऊपर, नीचे और मध्य में (तुल्य-विस्तारा:) एक समान बराबर विस्तार वाले (संति) हैं।

इन पर्वतों के पार्श्वभाग नाना रंग और नाना प्रकार की प्रभा आदि गुणों से युक्त मणियों से विचित्र हैं। और इनका मूल में नीचे जो विस्तार है वही विस्तार ऊपर और मध्य में है।(सर्वा ३९१)

28/04/20, 3:25 pm - Ashok Jain: पर्वतों पर स्थित तालाबों के नाम

*पद्म-महापद्म-तिगिंछ-केशरी-महापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि॥१४॥*

सूत्रार्थ: (तेषाम् उपरि) उन पर्वतों के ऊपर क्रम से 'पद्म', 'महापद्म', 'तिगिंछ', 'केशरिन्', 'महापुण्डरीक' और 'पुण्डरीक' ये छह (ह्रदा:) तालाब (संति) हैं।

हिमवन आदि पर्वतों पर यथाक्रम से इन ह्रदों को जानना चाहिए। हिमवन पर्वत पर पद्म ह्रद, महाहिमवान पर्वत पर महापद्म ह्रद, निषध पर्वत पर तिगिंछ ह्रद, नील पर्वत पर केसरी ह्रद, रुक्मि पर्वत पर महापुण्डरीक ह्रद, और शिखरी पर्वत पर पुण्डरीक नाम का (तालाब) ह्रद है।(रा वा १)

29/04/20, 11:26 am - Ashok Jain: प्रथम तालाब की लम्बाई चौड़ाई

*प्रथमो योजन-सहस्रायामस् तदर्थ विष्कम्भो ह्रद:॥१५॥*

सूत्रार्थ: (प्रथम: ह्रद:) प्रथम पद्म तालाब (योजन-सहस्र-आयाम:) एक हजार महायोजन लम्बा और (तद्-अर्ध- विष्कम्भ:) लम्बाई से आधा [पांच सौ योजन] चौड़ा (विद्यते) है।

पहला पद्म सरोवर १००० महायोजन लम्बा और ५०० महायोजन चौड़ा है।

*एक महायोजन दो हजार कोस का होता है।*

विशेषता:

इन सरोवरों का तल वज्रमय और तट मणिजड़ित है। इनके चारों ओर वन खण्ड हैं। निर्मल स्फटिक की तरह स्वच्छ, गंभीर और अक्षय जल वाला विविध जलपुष्पों से चारों ओर शरद्काल में चन्द्रमा और ताराओं की पंक्तियों से चमचमायमान सरोवर ऐसा मालूम होता है मानों आकाश नीचे उतर आया हो।(रा वा १५).

29/04/20, 11:31 am - Ashok Jain: प्रथम तालाब की गहराई

*दश- योजनावगाहा:॥१६॥*

प्रथम तालाब १० (योजन) महायोजन (अवगाह) गहरा है।

29/04/20, 3:43 pm - Ashok Jain: प्रथम तालाब की विशेषता

*तन्मध्ये योजनं पुष्करम्॥१७॥*

सूत्रार्थ: (तन्मध्ये) प्रथम पद्य सरोवर के बीच (योजनम्) एक योजन लम्बा चौड़ा (पुष्करम्) एक कमल (अस्ति) है।

पहले पद्य सरोवर के मध्य में एक योजन विस्तार वाला कमल है।

उस कमल के एक कोस लम्बे पत्ते हैं, दो कोस विस्तृत कर्णिका है। इस रूप में एक योजन लम्बा-चौड़ा कमल है।इसका नाल जल से दो कोस ऊंचा है। और पत्तों का भाग भी दो कोस ऊंचा है।(रा वा १७)

इसका मूल भाग वज्रमय, कन्द अरिष्ट मणिमय, मृणाल रजत मणिमय और नाल वैडूर्यमणिमय है। इसके बाहरी पत्ते सुवर्णमय, भीतरी पत्ते रजतमय, केसर सुवर्णमय और कर्णिका अनेक प्रकार की विचित्र मणियों से युक्त है। अतः यह कमल पृथ्विकायिक है।

(रा वा १७)

*इस कमल के परिवार कमल १,४०,११५ प्रमाण है।* वे इस प्रकार है- १०८ कमल से यह वेस्टित है। इस कमल की ईशान, उत्तर, और वायव्य दिशा में भी श्रीदेवी और सामानिक देवों के ४००० कमल है। आग्नेय दिशा में आभ्यन्तर परिषद् के देवों के ३२००० कमल है। दक्षिण दिशा में मध्यम परिषद् दैवों के ४०००० कमल है। नैत्रत्य दिशा में बाह्य परिषद् देवों के ४८००० कमल है। पश्चिम दिशा में सात अनीकों के ७ कमल है। चारों महादिशाओं में आत्मरक्ष देवों के १६००० कमल है। ये सब परिवार-कमल मुख्य कमल से आधे ऊंचे हैं। (रा वा १७)

30/04/20, 10:51 am - Ashok Jain: https://youtu.be/t71xk3DvsmE

30/04/20, 10:53 am - Ashok Jain: ,☝ जम्बूद्वीप की रचना देखें

30/04/20, 11:40 am - Ashok Jain: द्वितियादि तालाबों और कमलों का विस्तार

*तद्-द्विगुण-द्विगुणा ह्रदा: पुष्कराणि च॥१८॥*

सूत्रार्थ: (ह्रदा: पुष्कराणि च) आगे के तालाब और कमल क्रम से (तद्-द्विगुण-द्विगुणा:) प्रथम तालाब से तथा उसके कमलों से दूने-दूने विस्तार वाले (संति) हैं।

*दूने-दूने का क्रम तिगिंछ नामक तीसरे तालाब तक ही है। उसके आगे तीन तालाब और तीन कमल दक्षिण के तालाबों और कमलों के समान विस्तार वाले हैं।

दूसरे महाहिमवन पर्वत पर बहुमध्य प्रदेश में महापद्म सरोवर है। वह सरोवर दो हजार (२०००) योजन लम्बा, १००० योजन चौड़ा और २० योजन गहरा है।

उस तालाब के मध्य में जल के तल भाग से दो कोस ऊंचा और एक योजन मोटे पत्तों के समूह वाला महापद्म नाम का कमल है ।

यह कमल दो कोस लम्बे पत्तों से युक्त और एक योजन लम्बी कर्णिका से शोभित दो योजन विस्तार वाला है। इस कमल के परिवार कमलों की संख्या पूर्वोक्त कमल प्रमाण १०८ है और विशेष कमल पूर्वोक्त कमल के समान १४०११५ हैं। (रा वा ४)

30/04/20, 11:41 am - Ashok Jain: क्रमशः...

30/04/20, 3:29 pm - Ashok Jain: निषध पर्वत के मध्य में तिगिंछ सरोवर है, इसका विस्तार ४००० योजन लम्बा, २००० योजन चौड़ा और चालीस योजन गहरा है। उस सरोवर के मध्य में जल के तल भाग से दो कोस पर्यंत ऊंचा उठा हुआ, दो योजन मोटे पत्तों के समुच्चय वाला, एक योजन पत्ते एवं दो योजन की कर्णिका वाला चार योजन विस्तृत कमल है। इसके परिवार कमलों की संख्या पद्म सरोवर के तुल्य है। (रा वा ४)

नील कुलाचल के ऊपर ठीक मध्य भाग में केसरी नामक सरोवर है। उसका तथा उसमें स्थित कमलों का वर्णन तिगिंछ सरोवर के सदृश है। (रा वा ४)

रुक्मि पर्वत पर मध्य भाग में महापुण्डरीक नाम का सरोवर है तथा उसमें स्थित कमल भी उसी के तुल्य है। (रा वा ४)

शिखरी पर्वत पर मध्य भाग में पुण्डरीक सरोवर है। वह पद्म सरोवर के समान हैऔर उसमें स्थित कमल भी उसी के समान प्रमाण वाले हैं। (रा वा ४)

01/05/20, 11:50 am - Ashok Jain: कमलों पर निवास करने वाली देवियां

*तन् निवासिन्यों देव्य: श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्य: पल्योपमस्थितय: ससामानिक-परिषत्का:॥१९॥*

सूत्रार्थ: (पल्योपमस्थितय:) एक पल्य की आयु वाली तथा (ससामानिक-परिषत्का:) सामानिक और परिषद् जाति के देवों से सहित 'श्री', 'ह्री', 'धृति', 'कीर्ति, 'बुद्धि', और (लक्ष्म्य:) लक्ष्मी नामक (देव्य:) देवियां क्रम से (तन्निवासिन्य:) उन सरोवरों के कमलों पर निवास करती हैं।

उन कमलों पर निवास करने वाली देवियों के नाम श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी है। इन सबकी आयु एक पल्योपम है और ये ससामानिक एवं पारिषद् देवों के साथ रहती हैं।

क्रमशः...

01/05/20, 3:03 pm - Ashok Jain: हिमवन पर्वत पर स्थित पद्म ह्रद में श्री देवी,

महाहिमवन पर्वत पर बने महापद्म सरोवर में ह्री देवी,

निषध पर्वत पर तिगिंछ सरोवर में धृति,

नील पर्वत पर केसरी सरोवर में कीर्ति,

रुक्मि पर्वत पर महापुण्डरीक ह्रद में बुद्धि और

शिखरी पर्वत पर स्थित पुण्डरीक ह्रद में लक्ष्मी नामक देवी रहती है।

ये सभी व्यंतर जाति की देवियां हैं और सभी ब्रह्मचारिणी हैं। इनमें तीन सौधर्म इन्द्र की आज्ञा में है और तीन ईशान इन्द्र की आज्ञा में रहती हैं। जिनमाता के गर्भ शोधन आदि क्रियाओं में आती हैं।

01/05/20, 4:19 pm - Ashok Jain: सात क्षेत्रों की चौदह महानदियां

*गंगासिंधु-रोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारीनरकान्ता-सुवर्ण-रुप्यकूला-रक्तारक्तोदा: सरितस्तन्मध्यगा:॥२०॥*

सूत्रार्थ: गंगा, सिंधु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रुप्यकूला, रक्ता, और रक्तोदा ( सरित:) ये चौदह नदियां (तन्मध्यगा:) जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों का विभाजन करने वाली हैं।

भरत क्षेत्र के मध्य में गंगा-सिंधु नदी,

हैमवत क्षेत्र के मध्य में रोहित्- रोहितास्या, हरिवर्ष क्षेत्र के मध्य में हरित्- हरिकान्ता, विदेह क्षेत्र के मध्य में सीता-सीतोदा, रम्यक क्षेत्र में नारी-नरकान्ता, हैरण्यवत क्षेत्र में सुवर्णकूला-रुप्य कूला, ऐरावत क्षेत्र के मध्य में रक्ता और रक्तोदा नदियां बहती हैं।

(श्लो.५/३३६).

नदियों का उद्गम स्थान:

प्रथम पद्म सरोवर से गंगा, सिंधु और रोहितास्या ये तीन नदियां निकलती हैं।

और अंतिम पुण्डरीक सरोवर से सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तोदा नदियां निकलती हैं।

महापद्म सरोवर से रोहित और हरिकान्ता, तिगिंछ सरोवर से हरित् और सीतोदा, केसरी सरोवर से सीता और नरकान्ता तथा महापुण्डरीक सरोवर से नारी और रूप्यकूला नदियां निकलती हैं।

02/05/20, 10:42 am - Ashok Jain: नदियों के बहने की दशा

*द्वयोर्द्वयो: पूर्वा: पूर्वगा:॥२१॥*

सूत्रार्थ: (द्वयोर्द्वयो:) दो-दो नदियों में से (पूर्वा:) पूर्व पूर्व की नदी (पूर्वगा:) पूर्व दिशा में जाती है।

(द्वयो:द्वयो:) दो-दो नदियों में से पहले- पहले की नदियां पूर्व समुद्र की ओर जाती हैं।(रा वा २)

गंगा, रोहित, हरित्, सीता, नारी, सुवर्णकूला, और रक्ता नदियां पूर्व समुद्र में बहती (जाती) हैं।

02/05/20, 10:48 am - Ashok Jain: नदियों के विभाग

*शेषास्त्वपरगा:॥२२॥*

सूत्रार्थ: (शेषा: तु) शेष नदियां (अपरगा:) पश्चिम दिशा में जाती हैं।

सिंधु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा ये सात नदियां पश्चिमी समुद्र में जाकर मिलती है।

02/05/20, 11:44 am - P C Jain Rafigunj: पद्म आदि द्रह में 140115कमलों के भवन में सामानिक और परिषद देव रहते हैं वे कौन देव हैं ।

02/05/20, 2:56 pm - Ashok Jain: तत्त्वार्थसूत्र के चौथे अध्याय में सूत्र 4 और 5 में इसका उत्तर इस प्रकार है:

चारों निकाय के देवों में प्रत्येक निकाय में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंस, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक भेद हैं।(४/४)

व्यंतर और ज्योतिष देवों में त्रायस्त्रिंस और लोकपाल नहीं होते हैं, इनमें इन दो भेदों के सिवाय आठ भेद होते हैं। (४/५). (सर्वा ४५१)

*सामानिक और परिषद् देव सभी निकायों में होते हैं, ये व्यंतर जाति के देव हैं।*

02/05/20, 3:01 pm - Usha Jain, Nagour: यह देवियां सौधर्म इन्द्र व ईशान इन्द्र कौनसी आज्ञा  का पालन करती है **?**

02/05/20, 3:07 pm - Usha Jain, Nagour: भरत क्षेत्र कौनसे तीन समुद्र के मध्य है नाम बतायेगा **?**

02/05/20, 3:22 pm - Ashok Jain: जिन बालक जब जिनमाता के गर्भ में आते हैं उस वक्त उनके गर्मशोधन आदि क्रियाएं एवं माता की विशुद्धि, श्रृंगार आदि करती हैं।

02/05/20, 3:36 pm - Usha Jain, Nagour: आपने इसमे लिखा है। तीन समुद्र मध्य भरत क्षेत्र है 🙏वो ही जानना चाहती हूँ 🙏

02/05/20, 4:03 pm - Ashok Jain: भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में अवस्थित है, इसके उत्तर में हिमवान पर्वत है और शेष तीन दिशाओं में लवणसमुद्र है।

(मुनिश्री प्रमाणसागर जी द्वारा रचित जैन तत्त्व विद्या से)

इसे इस प्रकार पढ़ें।

03/05/20, 10:40 am - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

03/05/20, 11:03 am - Ashok Jain: 🙏

जम्बूद्वीप में जम्बू वृक्ष, घातकीखण्ड में घातकी वृक्ष इस प्रकार ...

मेरा प्रश्न है:

ये वृक्ष पृथ्वीकाय हैं या पृथ्वीकायिक??

03/05/20, 11:03 am - Ashok Jain: तो यह चेतन है ???

03/05/20, 11:03 am - Ashok Jain: पृथ्वीकायिक आदि पंचस्थावरों के चार चार भेद पहले  बताये गये हैं।

सामान्यपृथ्वी, पृथ्वीजीव, पृथ्वीकायिक और पृथ्वीकाय।

पृथ्वीकायिक: जिस जीव ने पृथ्वी में आकर जन्म धारण कर लिया।

इस अपेक्षा से इन्हें चेतन ही समझना चाहिए।

03/05/20, 11:43 am - Ashok Jain: आगे...

महानदियों की सहायक नदियां

*चतुर्दश-नदी-सहस्र-परिवृता गङ्गा-सिन्ध्वादयो नद्यः॥२३॥*

सूत्रार्थ: (गंङ्गासिन्धवादयो नद्यः) गंगा और सिंधु आदि नदियों के युगल (चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृताः) चौदह-चौदह हजार सहायक नदियों से (परिवृता)  घिरे हुए हैं।

गङ्गा सिंधु नदियों की चौदह-चौदह हजार परिवार नदियां हैं। उसके आगे सीतोदा नदी तक द्विगुणी-द्विगुणी ग्रहण करना चाहिए और उसके आगे आधा-आधा कम करना चाहिए।

गंगा-सिंधु की चौदह-चौदह हजार,

रोहित-रोहितास्या की अट्ठाईस- अट्ठाईस हजार,

हरित-हरिकान्ता की छप्पन-छप्पन हजार,

सीता-सीतोदा की एक लाख बारह हजार, एक लाख बारह हजार परिवार नदियां हैं। (रा वा ३).

नारी-नरकान्ता की छप्पन-छप्पन हजार,

सुलर्णकूला-रूप्यकूला की अट्ठाईस-अट्ठाईस हजार और

रक्ता-रक्तोदा की चौदह-चौदह हजार परिवार नदियां हैं।।

क्रमशः...

03/05/20, 3:06 pm - Ashok Jain: भरतक्षेत्र का विस्तार

*भरत: षड् विंशति पञ्चयोजन-शत-विस्तार: षट् चैकोन- विंशति- भागा योजनस्य॥२४॥*

सूत्रार्थ: (भरत:) भरतक्षेत्र (षड् विंशति पञ्चयोजनशतविस्तार:) पांच सौ छब्बीस योजन विस्तार वाला (च) और (योजनस्य) एक योजन के (एकोनविंशतिभागा:) उन्नीस भागों में से (षट्) छह भाग अधिक है।

भरतक्षेत्र का विस्तार दक्षिण से उत्तर तक ५२६.६/१९ योजन है। तथा एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग अधिक प्रमाण है।

04/05/20, 11:37 am - Ashok Jain: द्वितीयादिक क्षेत्रों और पर्वतों का विस्तार

*तद्-द्विगुण-द्विगुण विस्तारा वर्षधर-वर्षा विदेहान्ता:॥२५॥*

सूत्रार्थ: (विदेहान्ता) विदेह क्षेत्र पर्यंत के (वर्षधर-वर्षा:) पर्वत और क्षेत्र (तद्-द्विगुण-द्विगुण विस्तारा: ) भरतक्षेत्र से दूने- दूने विस्तार वाले (संति) हैं।

प्रथम भरत क्षेत्र का विस्तार ५२६-६/१९ योजन है उसके बाद विदेह क्षेत्र तक पर्वत और क्षेत्र क्रमशः दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

हिमवान कुलाचल का विस्तार १०५२-१२/१९ योजन प्रमाण है। हैमवत क्षेत्र का विस्तार २१०५-५/१९ योजन है।

महिहिमवान पर्वत का विस्तार ४२१०-१०/१९ योजन प्रमाण है।

हरिक्षेत्र का विस्तार ८४२१-१/१९ योजन है।

निषध पर्वत का विस्तार १६८४२-२/१९ योजन प्रमाण है।

विदेह क्षेत्र का विस्तार तैंतीस हजार छह सौ चौरासी योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में चार भाग (३३६८४-४/१९) योजन प्रमाण है।

(रा वा २)

04/05/20, 11:59 am - Ashok Jain: विदेह क्षेत्र से आगे के पर्वत और क्षेत्रों का विस्तार

*उत्तरा दक्षिण-तुल्या:॥२६॥*

सूत्रार्थ: (उत्तरा:) उत्तर के ऐरावत से लेकर नील तक जितने क्षेत्र और पर्वत हैं उनका विस्तार (दक्षिणतुल्या:) दक्षिण के क्षेत्र और पर्वत के समान है।

भरतक्षेत्र आदि दक्षिण क्षेत्र के विस्तार के बाद उत्तर क्षेत्र का विस्तारक्रम इस प्रकार है-

निषध पर्वत के समान नील पर्वत (१६८४२-२/१९ योजन), हरिक्षेत्र के समान रम्यक क्षेत्र (८४२१-१/१९ योजन), महाहिमवान पर्वत के समान रुक्मि पर्वत (४२१०-१०/१९ योजन),

हैमवत क्षेत्र के समान हैरण्यवत क्षेत्र (२१०५-५/१९ योजन), हिमवान पर्वत के समान शिखरी पर्वत (१०५२-१२/१९ योजन) तथा भरतक्षेत्र के समान ऐरावत क्षेत्र (५२६-६/१९) पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग प्रमाण है। (श्लो. ५/३४६)

04/05/20, 4:54 pm - Ashok Jain: भरत और ऐरावत क्षेत्र में कालचक्र का परिवर्तन

*भरतैरावतयो-र्वृद्धिह्रासौ षट्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्॥२७॥*

सूत्रार्थ: (षट्-समयाभ्याम्) छह कालों से युक्त (उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा (भरतैरावतयो:) भरत और ऐरावत क्षेत्र में (वृद्धिह्रासौ) जीवों की ऊंचाई, भोगोपभोग, सम्पदा और सुख आदि की वृद्धि और घटती (जायते) होती रहती है।

बीस कोड़ा कोड़ी सागर का एक कल्पकाल होता है। उसके दो भेद हैं। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी।

जिस काल में अनुभव, आयु, शरीर आदि उत्तरोत्तर उन्नत हो वह उत्सर्पिणी काल है।(रा वा ५) इसके छह भेद हैं-

१) दुषमा-दुषमा, २) दुषमा, ३) दुषमा-सुषमा, ४) सुषमा-दुषमा, ५) सुषमा और ६) सुषमा-सुषमा।

(ति प ४/१५७६/७७)

जिसमें आयु, अनुभव, शरीर आदि की उत्तरोत्तर हानि-अवनति होती है या उत्तरोत्तर आयु आदि का घटना जिसका स्वभाव है, वह अवसर्पिणी काल है। (रा वा ४) इसके भी छह भेद हैं- १) सुषमा-सुषमा, २) सुषमा, ३) सुषमा-दुषमा, ४) दुषमा-सुषमा, ५) दुसमा और ६) दुषमा-दुषमा।

(रा वा ५)

असंख्यात अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल के बीत जाने पर प्रसिद्ध एक हुण्डावसर्पिणी आती है। उसके चिन्ह विशेष-

१) इसमें सुषमा-दुषमा काल की स्थति में कुछ काल अवशिष्ट रहने पर भी वर्षा आदि पड़ने लगती है और विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होने लगती है।

२) इसी तीसरे काल में कल्पवृक्षों का अंत और कर्मभूमि का व्यापार प्रारम्भ हो जाता है।

३) इसी काल में प्रथम तीर्थंकर एवं प्रथम चक्रवर्ती भी उत्पन्न हो जाते हैं।

४) इसी काल में चक्रवर्ती की विजय भंग होती है।

५) इसी में कुछ जीवों का मोक्षगमन भी होता है।

६) इसी में चक्रवर्ती के द्वारा की गई द्विजों के वंश की उत्पत्ति भी होती है।

७) दुषमा सुषमा काल में अट्ठावन ही श्लाका पुरुष होते हैं।

८) इसी में नौवें से सोलहवें तीर्थंकर पर्यंत सात तीर्थों में धर्म की व्युच्छित्ति होती है।

९) इसी में ग्यारह रूद्र और कलहप्रिय नौ नारद होते हैं।

१०) सातवें, तेईसवें और अंतिम तीर्थंकर पर उपसर्ग होता है।

११) तीसरे, चतुर्थ और पंचम काल में धर्म के नाश के विविध प्रकार के दुष्ट, पापिष्ठ, कुदेव और कुलिङ्गी भी दिखने लगते हैं।

१२) चाण्डाल, शबर, पाण, पुलिन्द, लाहल और किरात आदि जातियां उत्पन्न होती हैं।

१३) दुषमा काल में ब्यालीस कल्की और उपकल्की होते हैं।

(ति प ४/१६३८-४४)

क्रमशः

05/05/20, 11:43 am - Ashok Jain: अवसर्पिणी उत्सर्पिणी कालों की विशेषता-

*सुषमा-सुषमा काल*:

१) यह अवसर्पिणी का पहला और उत्सर्पिणी का छठा काल है।

२) इसका समय चार कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है।(ति प ४/३२१)

३) यहां के जीवों की जघन्य अवगाहना चार हजार धनुष और उत्कृष्ट अवगाहना ६००० धनुष प्रमाण होती है। (रा वा ५)

४) यहां के जीवों की जघन्य आयु एक समय अधिक दो पल्य एवं उत्कृष्ट आयु तीन पल्य प्रमाण है। (ति प ५)

५) यहां के जीवों के शरीर का वर्ण उदयकालीन सूर्य के सदृश है।

(ति प ४/३९७)

६) यहां के जीव शय्या पर सोते हुए अपना अंगूठा चूसने में तीन दिन, उपवेशन, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य प्राप्ति एवं सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता में क्रमशः तीन तीन दिन व्यतीत करते हैं।

(ति प ४/३८३-३८४)

७)यहां के जीव अष्टम भक्त में (चौथे दिन) बेर के बराबर आहार करते हैं। (ति प ४/३३८)

८) इनको रोग-पसीना, मल-मूत्र, की बाधा एवं मानसिक पीड़ा नहीं होती है।

(म पु ३/३१)

९) पति-पत्नी एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ मरकर स्वर्ग में जाते हैं। (म पु ९/४२)

१०) इच्छा करते ही इन्हें समस्त भोगोपभोग की सामग्री कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाती है।(म पु ३/३५)

११) यहां के मनुष्य-तिर्यंचों की नौ माह आयु शेष रहने पर गर्भ रहता है और मृत्यु समय आ जाने पर युगल बालक-बालिका जन्म लेते हैं।

(ति प ४/३८०)

१२) यहां के पुरुषों का जम्हाई और स्त्रियों का छींक लेकर मरण होता है। (म पु ३/४२)

१३) यहां शंख, चींटी, खटमल, गोमिक्षिका, डांस, मच्छर, असंज्ञी और कृमि आदि विकलेन्द्रिय जीव नहीं होते हैं।(ति प ४/३३५/३६)

१४) यहां स्त्रिया् चौदह और पुरुष सोलह प्रकार के आभरण धारण करते हैं। (ति प ४/३६५-६६)

१५) इनका शरीर धातुमय होते हुए भी अशुचिता से रहित होता है।

(ति प ४/३८७)

१६) यहां मिथ्यादृष्टि जीव मरकर भवनत्रिक में एवं सम्यग्दृष्टि जीव मरकर सौधर्म-ईशान स्वर्ग में जाते हैं। (ति प ४/३८२)

क्रमशः...

05/05/20, 3:58 pm - Ashok Jain: *सुषमा काल*

१) यह अवसर्पिणी का दूसरा एवं उत्सर्पिणी का पांचवां काल है।

२) इसका काल तीन कोड़ा कोड़ी सागर का है (ति प ४/३२२)

३) यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना ४००० धनुष और जघन्य अवगाहना २००० धनुष प्रमाण है।

(रा वा ५)

४) यहां के मनुष्यों की जघन्य आयु एक समय अधिक एक पल्य और उत्कृष्ट आयु दो पल्य प्रमाण है।

(ति प ५/२९१)

५) इस काल में मनुष्य दो दिन के अंतर से कल्पवृक्ष से प्राप्त बहेड़े के बराबर आहार करते हैं।(ति प ४/४०२)

६) यहां के मनुष्यों का वर्ण पूर्णचन्द्र के समान होता है। (ति प ४/४००)

७) इस काल में उत्पन्न बालक सोते हुए अपना अंगूठा चूसने में पांच दिन व्यतीत करते हैं। पश्चात् उपवेशन (बैठना), अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुण प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व की योग्यता, इनमें से प्रत्येक में पांच पांच दिन जाते हैं। (ति प ४/४०३-०४)

*सुषमा सुषमा काल में बताई गई ८ से लेकर १६ तक की विशेषताएं यहां पर भी पाई जाती हैं।*

*सुषमा-दुषमा*

१) यह अवसर्पिणी का तीसरा और उत्सर्पिणी का चौथा काल है।

२) इसका समय दो कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है। (ति प ४/३२२)

३) यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना दो हजार धनुष और जघन्य अवगाहना पांच सौ धनुष प्रमाण है। (रा वा ५)

४) यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य और जघन्य आयु एक समय अधिक एक पूर्व कोटि वर्ष है।

(ति प ५/२९०)

५) ये एक दिन के अंतराल से आंवले के बराबर अमृतमय आहार ग्रहण करते हैं। (ति प ४/४१०)

६) इस काल में बालकों के शय्या पर सोते हुए सात दिन व्यतीत होते हैं। इसके बाद बैठना, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, कलागुणप्राप्त, तारुण्य, और सम्यक्त्व ग्रहण आदि क्रियाएं सात सात दिन तक होती है।

(ति प ४/४११-१२)

७) अवसर्पिणी के सुषमा दुषमा काल में कुछ कम पल्य के आठवें भाग प्रमाण तृतीय काल के शेष रहने पर कुलकर उत्पन्न होते हैं। फिर क्रमशः चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं।

(ति प ४/४२८)

८) यहां मनुष्यों का वर्ण प्रियंगुफल के समान (हरितश्याम) है।(ति प ४/४०८)

एवं

*सुषमा सुषमा काल में बताई गई ८ से लेकर १६ तक की विशेषताएं यहां पर भी पाई जाती हैं।*

क्रमशः...

06/05/20, 12:01 pm - Ashok Jain: *दुषमा-सुषमा काल*

१) यह अवसर्पिणी का चौथा और उत्सर्पिणी का तीसरा काल है।

२) इस काल में ब्यालीस हजार  कम एक कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण है।

(ति प ४/३२३)

३) यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ धनुष और जघन्य अवगाहना सात हाथ प्रमाण है।

(रा वा ५)

४) यहां के मनुष्यों की आयु एक पूर्व कोटि प्रमाण है (रा वा ५)

५) यहां के मनुष्य प्रतिदिन भोजन करते हैं।

६) यहां के मनुष्यों के छहों संस्थान एवं छहों संहनन होते हैं।

७) त्रेषठ श्लाका पुरुषों का जन्म इसी काल में होता है।

८) रूद्र, कामदेव, गणधर देव, और चरमशरीरी मनुष्य हैं, उनकी उत्पत्ति दुषमा-सुषमा काल में जानना चाहिए। (ज प २/१८५)

*दुषमा काल*

१) यह अवसर्पिणी का पांचवां और उत्सर्पिणी का दूसरा काल है।

२) इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है।

३) यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष और जघन्य आयु बीस वर्ष है।

४) यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना सात हाथ और जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ प्रमाण होती है।

५) यहां के मनुष्य अनेक बार भोजन करते हैं।

६) यहां के मनुष्य कांतिहीन पंचवर्ण वाले होते हैं।

७) वीर भगवान का निर्वाण होने के पश्चात तीन वर्ष, आठ माह, और एक पक्ष के व्यतीत हो जाने पर दुषमा काल प्रवेश करता है।(ति प ४/१४८६).

८) इस काल में हजार वर्ष में एक कल्की एवं प्रति पांच सौ वर्ष में एक उपकल्की होता है।(ति प ४/१५३८)

९) इस काल में अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चोर, परचक्र एवं एवं कीड़ों आदि से सभी जनपदों को विषम बाधा होती है। (ति प ४/१५३८)

१०) इस काल में संयम गुण से विशिष्ट मनुष्यों के विराम दोष (अभाव) के कारण चारणऋद्धिधारी मुनिराज, देव और विद्याधर भी नहीं आते हैं।

(ति प ४/१५३७)

११) यहां काल दोष से सभी धर्मों का परित्याग करते हुए अज्ञान युक्त परदारा -सक्त और कूलहीन राजा प्रजा का पालन करते हैं। (ति प ४/१५३६)

१२) परिग्रहासक्ति, अत्यंत मोह एवं मदवेग से अनेक प्रकार के संक्लेशों में डूबते हुए कितने ही जीव चारित्र को छोड़ देते हैं। (ति प ४/१५३४)

१३) इस काल में विनयहीन और चिंता से युक्त मनुष्य राग, दम्भ, मद, क्रोध एवं लोभ से क्लेशित होते हुए निर्दयता एवं ईर्ष्या की मूर्ति होते हैं।

(ति प ४/१५३३)

१४) इस काल में मिथ्यात्व, मोह, में ग्रस्त नर-नारी माया एवं भय के कारण मर्यादा और लज्जा को भी नहीं गिनते हैं।(ति प ४/१५३२)

१५) इस काल में मनुष्य कुल क्रमागत शील, सत्य, बल, तेज तथा यथार्थ ज्ञान आदि गुणों से हीन पुरुषों की सेवा करते हैं।

१६) इस काल में सभी औषधियां नीरस हो जाती है तथा चोर, राजकुल, शत्रु, मारी (महामारी) आदि अनेक प्रकार के उपसर्ग होने लगते हैं। (ति प ४/१५३०)

06/05/20, 4:29 pm - Ashok Jain: इस अवसर्पिणी के पंचम काल में जब इक्कीसवां अंतिम कल्की होता है। वह कल्की राजा मुनियों के आहार पर भी शुल्क मांगता है तब मुनि अंतराय करके निराहार लौट जाते हैं। उन्हें अवधिज्ञान हो जाता है। उस समय में *वीरांगज* नामक मुनि, *सर्वश्री* नामक आर्यिका तथा *अग्निदत्त और पंगुश्री* नामक युगल श्रावक होते हैं।

उस कल्की राजा के द्वारा शुल्क मांगने पर वह मुनि उन आर्यिका एवं श्रावक-श्राविका को बुलाकर प्रसन्नचित होते हुए कहते हैं कि अब दुषमा काल का अंत आ चुका है। हमारी और तुम्हारी आयु मात्र तीन दिन की शेष है। तब वे चारों ही सन्यास मरण पूर्वक कार्तिक कृष्ण अमावस्या को यह देह छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में देव होते हैं। उस दिन क्रोध को प्राप्त हुआ असुरदेव कल्की को मारता है और सूर्यास्त के समय में अग्नि विनष्ट हो जाती है। इस प्रकार धर्मद्रोही इक्कीस कल्की एवं इक्कीस उपकल्की एक सागर आयु से युक्त होकर धर्मा नरक में जाते हैं। (ति प ४/१५२८-५५)

*दुषमा दुषमा काल*

१) अवसर्पिणी का छठा और उत्सर्पिणी का पहला काल है। इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है। (ति प ४/३२३)

२) यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष और जघन्य आयु पन्द्रह-सोलह वर्ष प्रमाण है।

३) यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन या साढ़े तीन हाथ और जघन्य अवगाहना एक हाथ प्रमाण है।(इस काल के प्रारम्भ में शरीर की ऊंचाई दो  हाथ और आयु १६ वर्ष प्रमाण है।)

४) यहां के मनुष्यों का वर्ण धुएंवत् श्याम होता है।

५) यहां के मनुष्य खूब खाने वाले, जूं-लीख आदि से आच्छन्न, दुर्गंधयुक्त शरीर वाले होते हैं।

६) उस समय वस्त्र, वृक्ष और मकान आदि मनुष्यों को दिखाई नहीं देते हैं।

७) यहां के जीव कुबड़े, बौने, बंदर जैसे रूप वाले होते हैं।

८) उस समय मनुष्यों का आहार मूल, फल और मत्स्यादिक होते हैं। (ति प ४/१५५७-१५७५)

९) इस काल में नरक और तिर्यंच गति से आये हुए जीव ही यहां जन्म लेते हैं तथा यहां से मरकर घोर नरक व तिर्यंच गति में जन्म लेते हैं। (ति प ४/१५६३)

१०) उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षों के बीत जाने पर जन्तुओं को भयदायक घोर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है। (ति प ४/१५-६५)

११) इसके अंतिम उनचास दिन में सात सात दिनों तक सात प्रकार की कुवृष्टियां होती हैं। (ति प ४/१५७०)

अवसर्पिणी का अंत होते समय पृथक-पृथक संख्यात एवं बहत्तर युगल गङ्गा सिंधु नदियों की वेदी और विजयार्ध वन के मध्य प्रवेश करते हैं। देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यंचों में से संख्यात जीवराशि को उन प्रदेशों में ले जाकर रखते हैं। उत्सर्पिणी काल के प्रारम्भ में सुवृष्टि होती हैं। इन सुवृष्टियों से विविध रसपूर्ण औषधियों से भरी हुई भूमि सुस्वाद रूप परिणत हो जाती है। पश्चात् शीतल गंध को ग्रहण कर वे मनुष्य और तिर्यंच गुफाओं से बाहर निकल आते हैं। उस समय स्त्री-पुरुष और तिर्यंच नग्न रहकर पशुओं जैसा आचरण करते हुए क्षुधित होकर वन-प्रदेशों में मत्त (धतूरे आदि) वृक्षों के फल, मूल एवं पत्ते आदि खाते हैं। इस प्रकार सृष्टि का प्रारम्भ होता है। (ति प ४/१५६८-८४)

07/05/20, 4:04 pm - Ashok Jain: अन्यभूमियों की काल व्यवस्था

*ताभ्या-मपरा भूमयोऽवस्थित:॥२८॥*

सूत्रार्थ: (ताभ्याम्) उन भरत और ऐरावत श्रेत्र से (अपरा:) अन्य (भूमय;) क्षेत्र (अवस्थित:) घटती-बढती रहित (भवन्ति) होते हैं। अर्थात् शेष क्षेत्रों में काल परिवर्तन अथवा हानि और वृद्धि नहीं होती है।

हेमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में तीसरा (सुषमा-दुषमा) काल एवं जघन्य भोगभूमि, हरि और रम्यक क्षेत्र में द्वितीय(सुषमा) काल एवं मध्यम भोगभूमि तथा विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत देवकुरू और उतरकुरु क्षेत्र में हमेशा प्रथम (सुषमा-सुषमा) काल एवं उत्तम भोगभूमि के हैं।

शेष विदेह क्षेत्र (देवकुरू और उतरकुरु क्षेत्र के अतिरिक्त) में हमेशा कर्मभूमि का है। इन क्षेत्रों में हुण्डावसर्पिणी काल के समान कोई दोष नहीं रहता है।

07/05/20, 4:08 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

07/05/20, 9:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): भरत ऐरावत क्षेत्र को छोड़कर शेष भूमियों में कैसी व्यवस्था है , इस जिज्ञासा के समाधान हेतु आचार्य देव ने यह 28 वाँ सूत्र रचा है।

ढाई द्वीप में कुल 30 भोगभूमियाँ हैं ।जम्बू द्वीप में छः भोगभूमियाँ हैं जिनका वर्णन हमने ऊपर पढा।

धातकी खण्ड में बारह भोगभूमियाँ हैं - दो हैमवत , दो हैरण्यवत , दो हरि , दो रम्यक , दो देवकुरु एवं दो उत्तरकुरु।

इसी प्रकार पुष्करार्ध में भी बारह भोगभूमियाँ होती हैं ।इस प्रकार कुल 6+12+12=30 भोगभूमियाँ होती हैं जहाँ काल परिवर्तन नहीं होता।सदा एक सी व्यवस्था रहती है।

इन भोगभूमियों की भूमि सुसज्जित सुन्दर स्त्री के समान आकर्षक लगती है।महामहेन्द्र नील , मणियों से , रुचकप्रभ रत्नों से , कर्कतनों द्वारा , अत्यन्त जगमगाते हुए सूर्यकान्त मणियों द्वारा तथा चन्द्रकान्त मणियों से परिपूर्ण पृथ्वी सभी ऋतुओं और सभी बेलाओं में अत्यन्त सुशोभित होती है।किसी स्थान पर पृथ्वी का रंग बन्धूक पुष्प के समान लाल है तो दूसरे स्थान की छटा अंजन और सोने के रंग की है।कहीं बगुला पक्षी के पंखों के समान कान्ति बिखर रही है तो किन्हीं स्थलों की छवि चन्द्रमा के अंकुर के समान अत्यंत मनमोहक और धवल है।

वहाँ जिस प्रकार मनुष्यों के लिए भोग होते हैं उसी प्रकार गाय , हाथी , मगर , शूकर , कबूतर , राजहंस आदि तिर्यंचों के लिए भी अपनी योग्यतानुसार फल , कन्द , तृण , अंकुर आदि के भोग होते हैं।बाघ आदि भूमिचर और काक आदि नभचर प्राणी भी मांसाहार के बिना ही कल्पवृक्षों के मधुर फल भोगते हैं।

किसी भी भोगभूमिया का शरीर ऐसा नहीं होता जिस पर शुभ लक्षण नहीं पाये जाते हों।उनमें जन्म से ही ललित कलाओं का प्रेम , ज्ञान तथा शुभगुण होते हैं ।

लिखने का आधार -परम पूज्य आर्यिका १०५ विज्ञानमती माताजी द्वारा रचित टीका से।

08/05/20, 11:54 am - Ashok Jain: हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु

*एकद्वित्रि पल्योपमस्थितयो हैमवतक-हारिवर्षकदैवकुरवका:॥२९॥*

सूत्रार्थ: (हैमवतक) हैमवत, (हारि) हरि और (देवकुरका:) देवकुरु [विदेह क्षेत्र के अन्तर्गत एक विशेष स्थान] के निवासी मनुष्य और तिर्यंचों की आयु क्रमशः (एकद्वित्रि पल्योपमस्थितय:) एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की (भवति) होती है।

हेमवत क्षेत्र में निरंतर उत्सर्पिणी का चौथा और अवसर्पिणी का तीसरा काल अर्थात् सुषमा-दुषमा काल रहता है। यहां मनुष्यों और तिर्यंचों की आयु एक पल्य प्रमाण होती है।

हरिवर्ष क्षेत्र में निरंतर उत्सर्पिणी का पांचवां और अवसर्पिणी का दूसरा काल अर्थात् सुषमा काल रहता है। यहां पर मनुष्यों और तिर्यंचों की आयु दो पल्य प्रमाण होती है।

देवकुरू क्षेत्र में निरंतर उत्सर्पिणी का छठा और अवसर्पिणी का पहला काल अर्थात् सुषमा-सुषमा काल रहता है और यहां मनुष्यों और तिर्यंचों की आयु तीन पल्य प्रमाण होती है।

~ [इन क्षेत्रों के जीवों की आयु, शरीर की ऊंचाई, उनके आहार के परिमाण आदि का वर्णन सूत्र २७ में एवं सूत्र २९ के चार्ट में विशेष रूप से कर आये हैं।]

08/05/20, 12:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ढाई द्वीप में जो ये पाँच हैमवत क्षेत्र हैं , यह शाश्वत जघन्य भोगभूमि हैं जहाँ के मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई दो हजार धनुष है , उनका आहार एक दिन के अन्तराल से होता है और शरीर का रंग नीलकमल के समान है।

पाँच हरिवर्ष नामक क्षेत्र मध्यम भोगभूमि हैं जहाँ के मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष है , इनका आहार दो दिन के अन्तराल से होता है  और शरीर का रंग शंख के समान सफेद है।

पाँच देवकुरु नामक क्षेत्र में शाश्वत उत्तम भोगभूमि है। यहाँ के मनुष्य के शरीर की ऊँचाई छह हजार धनुष है , उनका भोजन तीन दिन के अन्तराल से होता है और शरीर का रंग सोने के समान पीला है।

08/05/20, 12:34 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): हैमवत आदि भोगभूमियों की विशेषताएं

१) वहाँ की वापिकायें जल जन्तुओं से रहित और समस्त व्याधियों को नष्ट करने वाले अमृतोपम जल से व्याप्त होती है।

२) वहाँ विकलत्रय और असंज्ञी जीव नहीं होते।

३) वहाँ रोग , कलह , ईर्ष्या आदि का अभाव है।

४) वहाँ अन्धकार , सर्दी गर्मी की बाधा एवं रातदिन का भेद नहीं होता है।

५) वहाँ के पुरूषों में नौ हजार हाथियों का बल  होता है।

६) वहाँ 363 प्रकार के खाद्य पदार्थ होते हैं।

७) वहाँ की स्त्रियों की आयु तथा ऊँचाई वहाँ के पुरुषों के समान ही होती है।

८) वहाँ के पुरुष स्त्री को आर्या तथा स्त्रियाँ पुरुषों को आर्य कहती हैं।

९) वहाँ अषि मषि आदि षट् कर्म तथा ब्राह्मण आदि वर्ण व्यवस्था नहीं होती।

१०) वहाँ कोई शत्रु मित्र नहीं होते, न ही कोई स्वामी सेवक होते हैं।

११) वहाँ के जीव अल्पकषायी होते हैं। वहाँ के सिंह भी हिंसा नहीं करते।

१२) वहाँ के जीवों को भोग सामग्रियां कल्प वृक्षों से प्राप्त होती.हैं।

१३) वहाँ जरा, रोग , शोक , विषाद , चिन्ता , दीनता , नींद , आलस्य , मल , लार , पसीना नहीं होते हैं।

१४) वहाँ उन्माद , कामज्वर , भोगविच्छेद , भय , ग्लानि , अरुचि , क्रोध , कृपणता और अनाचार नहीं होता है।

१५) वहाँ के सम्यग्दृष्टि मरकर सौधर्म -ईशान स्वर्ग में एवं मिथ्यादृष्टि मरकर भवनत्रिक में ही जाते हैं।

08/05/20, 3:29 pm - Ashok Jain: हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु

*तथोत्तरा:॥३०॥*

सूत्रार्थ:(तत्) दक्षिण के क्षेत्रों के समान (उत्तरा:) उत्तर के क्षेत्रों में जानना चाहिए।

हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्यों की आयु, वर्ण, शरीर की ऊंचाई आदि हैमवत क्षेत्र के समान है।

रम्यक क्षेत्र के मनुष्यों की आयु आदि हरिक्षेत्र के समान है।

उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्यों की आयु आदि देवकुरु के मनुष्यों की आयु आदि के समान है। (रा वा ३/३०)

08/05/20, 4:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): उत्तम , मध्यम या जघन्य पात्रों को दान देने से या दान की अनुमोदना करने से जीव का जन्म इन भोगभूमियों में होता है।

इन भोगभूमियों में जन्म लेने वाले मनुष्य या तिर्यंच मरकर नियम से देवगति में दूसरे स्वर्ग तक के देव बन सकते हैं।

09/05/20, 4:39 pm - Ashok Jain: विदेह क्षेत्र में आयु

*विदेहेषु संख्येय काला:॥३१॥*

सूत्रार्थ: (विदेहेषु) विदेह क्षेत्र में मनुष्यों और तिर्यंचों की आयु (संख्येयकाला:) संख्यात वर्ष की होती है।

विदेह क्षेत्र में उत्सर्पिणीकाल का तीसरा अथवा अवसर्पिणी काल का चौथा काल सदैव अवस्थित है।

विदेह क्षेत्र में स्थित जीव संख्यात वर्ष वाले होते हैं।

संख्येयकाल से एक पूर्व कोटि वर्ष लेना चाहिए। एक पूर्व कोटि वर्ष में सत्तर लाख करोड़ और छप्पन लाख करोड़ हैं।(७,०५,६०००००००००) को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्त होते हैं। *नोट* चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख पूर्वांग का एक पूर्व होता है। (सु.बो.त.वृ. १७१)

पांचों विदेह क्षेत्र में मनुष्यों की आयु संख्यात वर्ष प्रमाण है, उनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण एवं जघन्य आयु अन्तर्मूहूत प्रमाण है। और यहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना पांच सौ धनुष प्रमाण है।(सर्वा ४२६)

विदेह क्षेत्र की विशेषताएं: यहां दुर्भिक्ष आदि सात ईतियों ( अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, टिड्डी, शुक, स्वचक्र, परचक्र), मारि रोग, कुदेव, कुलिंग (कुगुरु) और कुमतों का अभाव है। तथा केवलज्ञानी, तीर्थंकर आदि श्लाका पुरुषों एवं साधुओं का निरंतर सद्भाव रहता है। (त्रि सा ६८०)

09/05/20, 5:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): विदेह क्षेत्र में चोर, चूहे, तोते, टिड्डी आदि का कोई भय नहीं है।वहाँ न तो कुदेवों के मन्दिर हैं , न वहाँ पाखंड या कुधर्म है।वहाँ तीर्थंकरों की पूजा देवगण करते हैं तथा गणधर ,केवलज्ञानी तथा मुनिराज प्रतिदिन विहार करते हैं।वहाँ सत् धर्म सदा विराजमान रहता है।जिनालय , जिनप्रतिमा तथा मोक्षमार्ग सदा रहता है।

प्रत्येक विदेह क्षेत्र में अलग अलग 96 करोड़ ग्राम हैं , 26 हजार नगर हैं , सोलह खेट हैं , 24 हजार खर्वट हैं , चार हजार मटंब हैं , 48 हजार पत्तन हैं , 99 हजार द्रोण हैं 14 हजार संवाह हैं तथा 28 हजार दुर्ग अटवियाँ हैं।

क्रमशः

09/05/20, 5:38 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): प्रश्न - ग्राम , नगर और खेट आदि किसे कहते हैं ?

ग्राम - जिनमें बाड़ से घिरे हुए घर हों , जिनमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हैं तथा जो बागीचा और तालाबों से सहित हो , उसे ग्राम कहते हैं।

गाँव - जिसमें सौ घर हों उसे निकृष्ट अर्थात् छोटा तथा जिसमें पाँच सौ घर हों और जिसके किसान धन सम्पन्न हों उसे बड़ा गाँव कहते हैं।

नगर - जो परिखा , गोपुर ,.अटारी , कोट आदि से सुशोभित हो , जिसमें अनेक भवन बने हुए हों ,जो बागीचे और तालाब से सहित हो , जो उत्तम रीति से अच्छे स्थान पर बसा हो , जिसमें पानी का प्रवाह पूर्व और उत्तर के बीच वाली ईशान दिशा की ओर हो और जो प्रधान पुरुषों के रहने योग्य हो, जो प्रशंसनीय हो , वह पुर अथवा नगर कहलाता है।

खेट - जो नगर , नदी और पर्वत से घिरा हो उसे बुद्धिमान पुरुष खेट कहते हैं।

खर्वट - जो केवल पर्वत से घिरा हो उसे खर्वट कहते हैं।

मटम्ब - जो पाँच सौ गाँवों से घिरा हो उसे पण्डित जन मटम्ब कहते हैं।

पत्तन - जो समुद्र के किनारे हो तथा जहाँ पर लोग नावों के द्वारा उतरते हों उसे पत्तन कहते हैं।

द्रोणमुख - जो किसी नदी के किनारे पर बसा हो उसे द्रोणमुख कहते हैं।

संवाह - जहाँ मस्तक पर्यन्त ऊँचे ऊँचे धान्य के ढेर लगे हों उसे संवाह कहते हैं।

11/05/20, 1:13 pm - Ashok Jain: प्रश्न - क्या म्लेछखण्ड में कुदेव आदि होते हैं ?

उत्तर - हुण्डावसर्पिणी के दोष से तृतीय, चतुर्थ और पंचमकाल में अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित हो जाते हैं। कुदेव और कुलिंगी साधु भी दिखने लगते हैं। विदेह क्षेत्र में आज भी द्रव्य मिथ्यात्व नहीं है। यथा- "उदुंबरफलों के सदृश धर्माभास वहाँ नहीं सुने जाते। शिव, ब्रह्मा, विष्णु, चण्डी, रवि, शशि व बुद्ध के मंदिर वहाँ नहीं हैं। यह देश पाखंड संप्रदायों से रहित और सम्यग्दृष्टि जनों के समूह से व्याप्त है। विशेष इतना है कि वहाँ किन्हीं जीवों के भाव मिथ्यात्व विद्यमान रहता है।'
'

निष्कर्ष यह निकलता है कि *स्वर्गों में, भोगभूमियों में, विदेह क्षेत्रों में और विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों पर होने वाली विद्याधर नगरियों में कुदेव, कुगुरु आदि रूप द्रव्य मिथ्यात्व नहीं रहता है।*

भरत-ऐरावत क्षेत्रों में भी अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी के चतुर्थ पंचमकाल में भी द्रव्य मिथ्यात्व नहीं रहता है। चूँकि हुण्डावसर्पिणी के दोष से ही इसकी उत्पत्ति मानी है। अत: अनादिकाल से लेकर अनन्तकाल तक सर्वत्र जैनधर्म और दिगम्बर सम्प्रदाय ही रहती है। हाँ, भाव मिथ्यात्व तो नवग्रैवेयक तक सर्वत्र सर्वकाल रहता ही है।

"पांच म्लेच्छ खण्ड और विद्याधर की श्रेणियों में (विजयार्ध पर्वत पर) अवसर्पिणी काल में से चतुर्थ काल के प्रारम्भ से अन्त तक हानिरूप परिवर्तन होता रहता है। उत्सर्पिणी काल में से तृतीय काल के आदि से अन्त तक वृद्धिरूप परिवर्तन होता है। *यहाँ अन्य कालों की प्रवृत्ति नहीं है। ' '*

इसलिए म्लेछखण्ड में कुदेवादि का अभाव जानना चाहिए।

12/05/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

12/05/20, 10:38 am - Ashok Jain: हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर से निकलकर गंगा और सिंधु ये दोनों नदियां पर्वत के मूल में स्थित गंगाकूट और सिंधुकूट में क्रमशः गिरती है। वहां से निकलकर पूर्व व पश्चिम दिशा में उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हुई विजयार्ध पर्वत तक पहुंचती है। विजयार्ध पर्वत के मूल में खण्डप्रपात और तिमिस्र नामक दो गुफाएं हैं। गंगानदी खण्डप्रपात गुफा से और सिन्धुनदी तिमिस्र गुफा से निकलकर भरतक्षेत्र के दक्षिण भाग में प्रवेश करती है। उत्तर दक्षिण बहती हुई ये दोनों नदियां दक्षिण भरत के अर्ध भाग तक जाकर पूर्व और पश्चिम समुद्र की ओर मुड़ जाती है और अपने-अपने समुद्रों में समाहित हो जाती है। इस प्रकार इन दोनों नदियों और विजयार्ध पर्वत से विभक्त, भरत क्षेत्र के षट् खण्ड हो जाते हैं।

विजयार्ध के दक्षिण के तीन खण्डों में मध्य का खण्ड आर्यखण्ड और शेष पांच म्लेच्छ खण्ड कहलाता है। आर्यखण्ड में ही धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है। विजयार्ध पर्वत के उत्तर तीन खण्डों में मध्य वाले म्लेच्छ खण्ड के बीचों-बीच वृषभगिरी नामक एक गोल पर्वत है। दिग्विजय के बाद चक्रवर्ती इसी पर्वत पर अपनी प्रशस्ति लिखता है।

(मुनिश्री प्रमाणसागर जी द्वारा रचित जैन तत्त्व विद्या के आधार से)

12/05/20, 10:40 am - Ashok Jain: धातकीखण्ड द्वीप की रचना

*द्विर्धातकी-खण्डे॥३३॥*

सूत्रार्थ: (धातकीखण्डे) धातकीखण्ड नामक (द्विः) दूसरे द्वीप में कुलाचल, मेरू, नदी आदि समस्त पदार्थ जम्बूद्वीप से दूने-दूने हैं।

जम्बूद्वीप के बाद दो लाख योजन का लवणसमुद्र है, इसके बाद चार लाख योजन विस्तार वाला धातकीखण्ड है।(सर्वा ४२९)

धातकी खण्ड में धातकी वृक्ष है। यह वलयाकृति है।

जैसे चक्र के आरे होते हैं उसी प्रकार के आकार वाले धातकी खण्ड के हिमवन आदि पर्वत हैं और चक्र के बीच भाग में भरत आदि क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र और पर्वत दोनों तरफ समुद्रों का स्पर्श करते हैं अर्थात् एक तरफ लवणसमुद्र और एक तरफ कालोधदि समुद्र, दोनों के बीच धातकीखण्ड होने से दोनों तरफ समुद्र का स्पर्श होता है। उस धातकी खण्ड को चारों तरफ से घेरे हुए कालोदधि समुद्र है।(रा वा ६)

धातकी खण्ड के पूर्वार्द्ध और पश्चिमार्द्ध दो विभाग हैं। यह विभाग इष्वाकार नाम वाले दो पर्वत करते हैं।जो उत्तर से दक्षिण तक द्वीप के विष्कम्भ प्रमाण लम्बे हैं। दोनों भाग के प्रत्येक भाग में एक मेरू, सात क्षेत्र, छह वर्षधर, चौदह नदियां और छह ह्रद हैं।

विशेषता-

जम्बूद्वीप में क्षेत्र आदि के जो नाम है वे ही नाम धातकी खण्ड में है। हिमवान आदि पर्वतों की ऊंचाई और गहराई जम्बूद्वीप के पर्वतों के समान हैं परन्तु विस्तार दुगुना है।

धातकी खण्ड के चारों ओर वृत्तवैताढ्यों की ऊंचाई और अवगाहना तो जम्बूद्वीप के पर्वतों के समान है और चौड़ाई दो हजार योजन प्रमाण है।

यमकगिरी का उत्सेध और अवगाहना तो जम्बूद्वीप के यमकगिरी के समान है परन्तु विस्तार मूल में दो हजार योजन, मध्य में १५०० योजन और ऊपरी भाग एक हजार योजन है। कांचनगिरी की ऊंचाई और अवगाहना तो जम्बूद्वीप के कांचनगिरी के समान है परन्तु विस्तार दुगुना है। पद्म, महाफद्म आदि छहों सरोवरों की लम्बाई, चौड़ाई और गहराई जम्बूद्वीप के सरोवरों से दुगुना है। और इन सरोवरों में स्थित कमल, द्वीप आदि भी दुगने लम्बे, चौड़े और गहरे हैं।(रा वा ५)

जम्बू वा शाल्मली वृक्ष को छोड़कर शेष सबके नाम वही हैं।(ति प ४/२८३९). दक्षिण इष्वाकार के दोनों तरफ दो भरतक्षेत्र है तथा उत्तर इष्वाकार के दोनों तरफ ऐरावत क्षेत्र है। दोनों कुरुओं में दो दो करके चार धातकी वृक्ष है।

धातकी खण्ड में पूर्व और पश्चिम दिशा में दो मेरु है। (रा वा ६)

12/05/20, 3:47 pm - Ashok Jain: पुष्कर द्वीप का वर्णन

*पुष्करार्द्धे च॥३४॥*

सूत्रार्थ: पुष्कर द्वीप के आधे भाग में भी क्षेत्र और पर्वत आदि की रचना जम्बूद्वीप से दूने-दूने हैं।

जम्बूद्वीप में जिस तरह जम्बू वृक्ष है, उसी प्रकार परिवार, ऊंचाई आदि वाला पुष्कर द्वीप में पुष्कर वृक्ष है।

कालोदधि समुद्र को घेरे हुए सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्कर द्वीप है।

(चूड़ी के समान गोल) मानुषोत्तर पर्वत के कारण इस पुष्कर द्वीप के दो विभाग हो जाने से इस द्वीप को "पुष्करार्ध" संज्ञा प्राप्त है।(रा वा ६)

पुष्करार्ध (आठ लाख योजन) के कुलाचल, विजयार्ध, वृतवेदिढ्य आदि की ऊंचाई और भूमितल में गहराई तो जम्बूद्वीप के कुलाचल आदि के समान है। दोनों इष्वाकारों और दोनों मेरू (मन्दर मेरु और विद्युन्माली ) की ऊंचाई, विस्तार आदि का प्रमाण धातकी खण्ड के इष्वाकारों और मेरु के समान है। (रा वा ५).

13/05/20, 12:03 pm - Ashok Jain: मनुष्य क्षेत्र

*प्राङ् मानुषोत्तरान्मनुष्या:॥३५॥*

सूत्रार्थ: (मानुषोत्तरात् प्राक्) मानुषोत्तर पर्वत के पहले अर्थात् अढ़ाई द्वीप में ही (मनुष्या:) मनुष्य (संति) होते हैं।

[मानुषोत्तर पर्वत के आगे ऋद्धिधारी मुनि तथा विद्याधर भी नहीं जा सकते।]

मानुषोत्तर पर्वत: यह पर्वत पुष्करवर द्वीप के मध्य भाग में कुण्डलाकर रूप में स्थित है। इसका भीतरी भाग दीवार की तरफ सीधा है, तथा बाह्य भाग ऊपर से नीचे क्रमशः घटता हुआ है। इस पर्वत पर २० कूट हैं। इन कूटों की अग्रभूमि में अर्थात् मनुष्य लोक में चारों दिशाओं में चार सिद्धायतन कूट हैं। सिद्धायतन कूटों पर जिनमन्दिर हैं और शेष पर व्यन्तर देव परिवार सहित रहते हैं। मनुष्य इस पर्वत को लांघ नहीं सकते। इसलिए "मानुषोत्तर" यह इसकी सार्थक संज्ञा है। यह पर्वत ही मनुष्य लोक की सीमा है। इसी कारण अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों को मनुष्य लोक कहते हैं।

क्रमशः...

13/05/20, 1:56 pm - Ashok Jain: मनुष्य लोक का विस्तार: जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित मेरू पर्वत से पूर्व दिशा की ओर चलकर मानुषोत्तर पर्वत को स्पर्श करे तो (१/२+२+४+८+८= २२-१/२ लाख योजन पार करना पड़ेगा, इसी प्रकार पश्चिम की ओर चलकर मानुषोत्तर पर्वत को स्पर्श करेगा तो २२-१/२ लाख योजन क्षेत्र पार करना पड़ेगा। अतः पूरे मनुष्य लोक का व्यास (२२-१/२+२२-१/२= ४५०००००(पैंतालीस लाख योजन) हो जाता है। (ति प ४/९)

शंका- क्या मानुषोत्तर पर्वत के आगे किसी भी अवस्था में मनुष्य नहीं पाये जाते

समाधान- नहीं, उपपाद और समुद्घात की अपेक्षा मानुषोत्तर पर्वत के बाहर भी मनुष्य पाये जाते हैं-

१) उपपाद- मानुषोत्तर पर्वत के बाहर के जीव यदि मरकर मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होते हैं तो विग्रहगति में मनुष्य आयु का उदय होने से मानुषोत्तर पर्वत के बाहर मनुष्य का अस्तित्व है।

२) समुद्घात- केवली समुद्घात में केवली के आत्म-प्रदेश सारे लोकाकाश में फैल जाते हैं। उनके मनुष्य आयु का उदय है।

मरणांतिक समुद्घात में मनुष्य के प्रदेश मानुषोत्तर पर्वत के उस ओर जन्म लेना हो तो जाते हैं। तब मनुष्य आयु का उदय रहता है। (रा वा टिप्पणी)

ये तीन अवस्थाएं हैं जब मनुष्य, मनुष्यलोक के बाहर पाये जाते हैं, इन अवस्थाओं को छोड़कर मनुष्यों का मनुष्यलोक से बाहर जाना सम्भव नहीं है।

13/05/20, 4:18 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पुष्कर द्वीप के मध्य में चूड़ी के समान गोल मानुषोत्तर नाम का पर्वत है।मानुषोत्तर पर्वत 1721 योजन ऊँचा और 430 योजन भूमि के अन्दर है , मूल में 122 योजन , मध्य में 733 योजन ,ऊपर 424 योजन विस्तार वाला है।

जम्बूद्वीप , धातकीखण्ड द्वीप और आधा पुष्कर द्वीप ये ढाई द्वीप हैं जिसे मनुष्य लोक भी कहते हैं।मनुष्य इसी क्षेत्र में पाये जाते हैं, इसके बाहर जाना संभव नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि माँ के गर्भ में आने के बाद से मरण पर्यन्त औदारिक शरीर या आहारक शरीर के साथ मनुष्य इस क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकते।सम्मूर्छन मनुष्य तो इसके औदारिक शरीर के आश्रय से होते हैं , इसलिए इनका मनुष्य लोक से बाहर जाना संभव नहीं है।पर इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी भी अवस्था में मनुष्य इस क्षेत्र के बाहर नहीं पाये जाते। तीन अवस्थाओं में मनुष्य इस क्षेत्र के बाहर भी पाये जाते हैं जिसका बहुत ही सुन्दर वर्णन अशोक जी ने ऊपर बतलाया है।

14/05/20, 3:49 pm - Ashok Jain: मनुष्य के भेद

*आर्या म्लेच्छाश्च॥३६॥*

सूत्रार्थ: मनुष्य के दो भेद हैं १)आर्य और २) म्लेच्छ।

आर्य: जो संतोष आदि गुणों को धारण करते हैं,वे आर्य कहलाते हैं।

पुण्य क्षेत्र में जन्म लेने वाले आर्य कहलाते हैं।(नि सा १६ टी) गुण और गुणवानों से जो सेवित हैं, वे आर्य कहलाते हैं।(रा वा १) जिनके उच्च गोत्र का उदय है वे आर्य कहलाते हैं।(श्लो ५/३७०)

इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, उग्रवंश, कुरु वंश, आदि अग्रगण्य कुलों में उत्पन्न हुए राजा आदि, उनके मंत्री, पुरोहित, सेनापति, दण्डनायकादि सब आर्य ही थे। क्योंकि इन्हें सत् थर्म अत्यंत प्रिय है। फलत: इनका आचरण भी अनार्यों के असंयममय चारित्र से सर्वथा विपरीत (संयत) होता है। (व चा ८/४)

आर्य दो प्रकार के होते हैं-१) ऋद्धि प्राप्त आर्य- जिनको ऋद्धि प्राप्त है। २) ऋद्धि रहित आर्य- जिनको ऋद्धि प्राप्त नहीं है, वे अनृद्धि प्राप्त आर्य हैं।(श्लो ५/३७१)

ऋद्धि प्राप्त आर्य आठ प्रकार के होते हैं -१) बुद्धि ऋद्धि २) क्रिया ऋद्धि

३) विक्रिया ऋद्धि ४) तपो ऋद्धि

५) बल ऋद्धि ६) औषध ऋद्धि

७) रस ऋद्धि और ८) क्षेत्र ऋद्धि-

प्राप्त-आर्य।

ऋद्धि रहित आर्य- पांच प्रकार के बतलाये गये हैं। १) क्षेत्रार्य २) जात्यार्य ३) चारित्रार्य ४) कर्मार्य और ५) दर्शनार्य

म्लेच्छ मुख्यत: धर्म-कर्म व्यवस्था से रहित होते हैं, इसी से ये म्लेच्छ कहलाते हैं। ये अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज इस प्रकार से दो प्रकार के होते हैं। लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र के मध्य में स्थित अन्तर्द्वीपों में निवास करने वाले कुभोगभूमिज मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ कहलाते हैं। तथा कर्मभूमि में पैदा हुए आर्य संस्कृति से हीन मनुष्य कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

15/05/20, 11:50 am - Ashok Jain: <Media omitted>

16/05/20, 11:40 am - Ashok Jain: मनुष्य की उत्कृष्ट आयु और जघन्य आयु

*नृस्थिति परावरे त्रिपल्यो-पमान्तर्मुहूर्ते॥३८॥*

सूत्रार्थ: (नृस्थिती) मनुष्यों की (पर) उत्कृष्ट आयु (त्रिपल्योपम) तीन पल्य और (अवरे) जघन्य आयु (अन्तर्मुहूर्ते) अन्तर्मुहूत की है।

मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की उत्तम भोगभूमि की अपेक्षा तथा जघन्य अन्तर्मुहूर्त कीआयु लब्धि अपर्याप्त मनुष्यों की कर्मभूमि की अपेक्षा से है। ऐसा जानना चाहिए।

कर्मभूमि के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण होती है। और जघन्य भोगभूमि में एक करोड़ वर्ष से कम आयु नहीं होती है।

16/05/20, 4:08 pm - Ashok Jain: तिर्यंचों की आयु

*तिर्यग्योनिजानां च॥३९॥*

सूत्रार्थ: मनुष्यों की तरह ही तिर्यंचों की आयु जानना चाहिए। जघन्य आयु अन्तर्मूहूत (लब्धि अपर्याप्त की अपेक्षा) और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य (भोगभूमि की अपेक्षा) होती है। कर्मभूमि की अपेक्षा तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु पूर्व कोटि की होती है।

तिर्यंचों की उत्कृष्ट भवस्थिति: पृथ्विकायिकों की बाईस हजार वर्ष, जलकायिकों की सात हजार वर्ष,

अग्निकायिकों की तीन दिन-रात,

वायुकायिकों की तीन हजार वर्ष,

वनस्पतिकायिकों की दस हजार वर्ष,

द्वीन्द्रियों की बारह वर्ष, त्रीन्द्रियों की उन्चास दिन-रात, चतुरिन्द्रियों की छह महीने, पंचेन्द्रियों में मछली आदि जलचरों की पूर्वकोटि प्रमाण, गोह व नकुल आदि परिसर्पों की नौ पूर्वाङ्ग,। सर्पों की ब्यालीस हजार वर्ष, पक्षियों की बहत्तर हजार वर्ष, और चतुष्पदों आदि की तीन पल्योपम उत्कृष्ट भवस्थिति है।

17/05/20, 1:37 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जो तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं वे *तिर्यग्-योनिज* कहलाते हैं। इसीलिए सूत्र में *तिर्यग्योनिजानां* शब्द रखा गया है।

आयु अर्थात् स्थिति दो प्रकार की होती है-पहली भव स्थिति और दूसरी काय स्थिति।

एक पर्याय में जितना काल लगे वह भव स्थिति है।विवक्षित पर्याय के सिवा अन्य पर्याय में उत्पन्न नहीं होकर पुनः पुनः उसी पर्याय में निरन्तर उत्पन्न होने से जो स्थिति प्राप्त होती है , वह काय स्थिति है।

इस सूत्र में मनुष्यों तथा तिर्यंचों की भव स्थिति का वर्णन है।

17/05/20, 10:35 am - P C Jain Rafigunj: इष्वाकार पर्वत के बारे में लिखे हैं विष्कम्भ प्रमाण लम्बे हैं।बिष्कम्भ का क्या मतलब है ।

यमक गिरी क्या है? कितने हैं, कहा ँ हैं?

का ँचन गिरी क्या है?

मानुषोत्तर पर्वत का आकार मूल में 122योजन,मध्य में 733 योजन ,उपर 424 योजन है।यह आकार अटपटा लगता है

17/05/20, 11:19 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पुष्करद्वीप के बीच में जो मानुषोत्तर नामक सुवर्णमय उत्तम पर्वत स्थित है वह कोट के घेरे के समान है।यह पर्वत सत्रह सौ इक्कीस (1721) योजन ऊँचा है। उसका अभ्यन्तर तट टांकी से छेदे गये के समान और बाह्य पार्श्वभाग क्रम से ऊँचा है।।

इस पर्वत का विस्तार मूल में एक हजार बाईस (1022) योजन, ऊपर शिखर पर चार सौ चौबीस (424) योजन और मध्य में उन दोनों के अर्धभाग अर्थात् (1022 + 424 ) ÷ 2 = सात सौ तेईस 723 योजन प्रमाण माना गया है।

आर्यिका स्याद्वादमती माताजी द्वारा लिखित टीका में मध्य में 723 की जगह 733 योजन लिखा है। हो सकता है टाइप की भूल हो।

17/05/20, 1:30 pm - Usha Jain, Nagour: सभी को जय जिनेन्द्र 🙏🙏

सभी के लिए मंगलभावना भाती हूँ सभी कुशलमंगल रहै👋👋

मेरा प्रश्न क्षेत्रार्य जात्यार्य चारित्रार्य

कर्मार्य वदर्शनार्य इनकी परिभाषा बतायेगा **?** 🙏👋

17/05/20, 2:02 pm - Ashok Jain: ये पांच प्रकार के ऋद्धि रहित आर्य हैं-

१)जात्यार्य: इक्ष्वाकु आदि उत्तम वंशों में उत्पन्न मनुष्य जात्यार्य हैं।

२) क्षेत्रार्य: आर्यखण्ड के उत्तम देशों में उत्पन्न मनुष्य क्षेत्रार्य कहलाते हैं।

३) कर्मार्य: असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, और शिल्प रूप कर्म करने वाले कर्मार्य हैं।

४) दर्शनार्य: व्रतरहित सम्यग्दृष्टि मनुष्य दर्शनार्य हैं।

चारित्रार्य: संयमधारी मनुष्य चारित्रार्य हैं।

17/05/20, 2:03 pm - Ashok Jain: विष्कम्भ का मतलब विस्तार होता है।

17/05/20, 2:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ढाई द्वीप के पांचों देवकुरुओ और उत्तरकुरुओं में सीतोदा और सीता नदी के दोनों तटों पर उत्तर दक्षिण दिशा की ओर एक एक करके कुल २० यमक गिरि हैं । इन पर्वतों पर यमक नाम के व्यन्तर देव परिवार सहित रहते हैं ।

मेरु पर्वत की चारों दिशाओं में सीता और सीतोदा नदी के तट पर जो पांच पांच सरोवर हैं उन सरोवरों के दोनों तटों पर कुल एक हजार कांचनगिरि हैं जिन पर कांचन नाम के देवों का आवास है।

17/05/20, 2:16 pm - Ashok Jain: धातकी खण्ड को दो भागों में विभाग करने वाले, दक्षिण से उत्तर की ओर लम्बे दो इष्वाकार (इनका आकार इषु या इक्षु (गन्ने) के समान होता है) पर्वत है।उन दोनों पर्वतों के दोनों छोर (किनारे) लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र को स्पर्श करते हैं, इस कारण धातकी खण्ड दो भागों में विभाजित है, इन दोनों खण्डों को पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड कहते हैं।

17/05/20, 2:30 pm - Asha Jain: घातकी खंड द्वीप में क्या मुख्य नदियाँ 14 हैं या जम्बू द्वीप की दोगुनी 28 हैं

आशा जैन ,लखनऊ

17/05/20, 3:01 pm - Ashok Jain: धातकी खण्ड में 14 क्षेत्र, 12 कुलाचल, 2 मेरु, 28 नदियां अर्थात् समस्त पदार्थ जम्बूद्वीप से दूने-दूने हैं

18/05/20, 9:33 am - Ashok Jain: जय जिनेन्द्र, भाई साहब!

आपने 3 अवस्थाएं बतायीं हैं, जब मनुष्य, मनुष्य लोक के बाहर जा सकतें हैं ।

पहली उपपाद अवस्था है।

मेरा प्रश्न है:

वैसे तो उपपाद जन्म केवल देवों व नारकी के होता है। तो यहाँ मनुष्य जन्म को उपपाद में कैसे लेंगें ।

या यहाँ उपपाद word को जन्म के रूप में लिया है।

🙏🙏🙏

18/05/20, 9:33 am - Ashok Jain: कोई उपपाद जन्म वाले देव मानुषोत्तर पर्वत के बाहर आयु पूर्ण कर के मनुष्य पर्याय में जन्म लेने के लिए विग्रह गति (एक दो तीन समय के लिए-मनुष्य आयु का उदय जिसका हो गया है,) उनका अस्तित्व मानुषोत्तर पर्वत के बाहर माना जाता है।

18/05/20, 9:35 am - Ashok Jain: <Media omitted>

20/05/20, 10:41 am - Ashok Jain: जय जिनेन्द्र

आप सभी ने बहुत सही और अच्छे उत्तर दिये हैं।

ऊषाजी, पदमजी, आशाजी, अनीता जी (पाण्डी) अनीता जी (रोहिणी) और संजोत जी आप सब को बहुत बहुत धन्यवाद 🙏

इसी प्रकार सभी सदस्यों से आशा है कि वे भी आगे अपनी जिज्ञासा भेजेंगे एवं प्रश्नोत्तर में भी भाग लेंगे।

आप सब की जिज्ञासा और प्रश्नोत्तर के लिए एक बार फिर बहुत बहुत धन्यवाद

20/05/20, 10:57 am - Ashok Jain: ॥ इति तत्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) तृतीयोऽध्याय:॥

20/05/20, 11:16 am - Ashok Jain: *अथ चतुर्थोऽध्याय:*

चतुर्थ अध्याय- संक्षिप्त परिचय

इस अध्याय में ४२ सूत्र है। इस अध्याय में चतुर्निकाय के देवों के बारे में जानकारी दी गई है। देवों के भेद, संख्या, शरीर, आयु, परिवार, लेश्या, प्रवीचार, एवं नरक में जघन्यतम आयु

के बारे में हम सब आगे समझेंगे।

20/05/20, 11:17 am - Ashok Jain: <Media omitted>

20/05/20, 11:18 am - Ashok Jain: 👆 आदरणीय पारस भाई साहब द्वारा चौथे अध्याय का वाचन

20/05/20, 3:02 pm - Ashok Jain: देवों के भेद

*देवाश्चतुर्णिकाया:॥१॥*

सूत्रार्थ: (देवा:) देव (चतुर्णिकाया:) चार निकाय [समूह, भेद या जाति] वाले (सन्ति) हैं।

☞ देवगति नामकर्म के उदय से जो अपनी इच्छानुसार नाना द्वीपों, समुद्रों, पर्वतों आदि रमणीय स्थलों में क्रीड़ा करते हैं, उन्हें देव कहते हैं।

ये देव चार निकाय वाले होते हैं

१) भवनवासी देव, २) व्यन्तर देव,

३) ज्योतिष्क देव और ४) वैमानिक देव। इन चारों श्रेणियों के देवों की व्याख्या और भेद आगे के सूत्रों में कहे जायेंगे।

20/05/20, 3:27 pm - Ashok Jain: १) भवनवासी- जिनका स्वभाव भवनों में निवास करना है, वे भवनवासी कहलाते हैं।(सर्वा ४६१)

२) व्यन्तर- जिनका नाना प्रकार के देशों में निवास करना है, वे व्यंन्तर कहलाते हैं। (सर्वा ४६३)

३) ज्योतिषी- जो देव ज्योतिर्मय हैं इसलिए इनकी ज्योतिषी यह सामान्य संज्ञा सार्थक है तथा सूर्य आदि विशेष संज्ञाएं विशेष नामकर्म से उत्पन्न होता है।( सर्वा ४६५)

४) वैमानिक- जो विमानों में होते हैं, वे वैमानिक देव हैं। (सर्वा ४७३).

देवगति नामकर्म के उदय से स्वधर्म विशेष के सामर्थ्य से चयन होता है, संघात होता है उसे निकाय कहते हैं। (रा वा १)

ये सभी देव पवित्र शरीर के धारक होते हैं और गर्भावास, मांस-हड्डी तथा स्वेद आदि से रहित, टिमकार विहीन नेत्रधारी, इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ, वृद्धावस्था से रहित, रोगविहीन, यौवन से सम्पन्न, तेजयुक्त, सुख और सौभाग्य के सागर, स्वाभाविक विद्याओं से सम्पन्न, अवधिज्ञानी, धीर, वीर और स्वच्छन्द विहारी होते हैं। (म पु २८/१३८)

20/05/20, 4:38 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): देव शब्द *दिव्* धातु से बना है जिसके कि क्रीड़ा , व्यवहार , द्युति , स्तुति, मोद , मद आदि अनेक अर्थ होते हैं। *दिव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः*।

ये देव अपनी इच्छानुसार द्वीप समुद्र आदि में क्रीड़ा कौतुक करते रहते हैं। यहाँ देवगति नामकर्म भी विवक्षित है , अन्यथा कोई भी व्यक्ति क्रीड़ा आदि करने से देव हो जायेगा।सामान्य अर्थ में *देव* शब्द *देने* अर्थ में आता है या जिनसे कुछ मिल सकता है , ये देव हैं।

आचार्य देव ने पहला सूत्र *देवश्चतुर्निकायः* नहीं कहकर बहुवचन रूप में *देवश्चतुर्निकायाः* कहा ।यह बहुवचन का निर्देश देवों के अन्तर्गत अनेक भेदों का ज्ञान कराने के लिए किया गया है।इन्द्र , समानादिक आदि की अपेक्षा से बहुत भेद हैं तथा स्थिति आदि की अपेक्षा भी अनेक भेद हैं जिनको सूचित करने के लिए ऐसा किया गया है।

जैसे नारकियों का प्रतिनियत आधार अधोलोक ही है और मनुष्यों का मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मध्य लोक ही है , वैसा देवों का केवल ऊर्ध्व लोक ही नहीं है।भवनवासी तथा व्यन्तरों का निवास मध्यलोक तथा अधोलोक है ।इस प्रकार तीनों लोकों में निवास करने की सामर्थ्य से सूत्रकार ने आधार को न कहकर निकायों के बोध के लिए सूत्र रचा है।,

अपने अवान्तर कर्मों से भेद को प्राप्त होने वाले देवगति नामकर्म के उदय से जो संग्रह किये जाते हैं , वे निकाय कहलाते हैं । निकाय का अर्थ संघात है।

देवगति में होने वाले परिणामों से देव सदा सुखी रहते हैं। अणिमा , महिमा , लघिमा , गरिमा , प्राप्ति , प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व - इन आठ गुणों या ऋद्धियों से युक्त सदा विहार करते रहते हैं तथा रूप , लावण्य , यौवन आदि से सदा प्रकाशमान रहते हैं।इनका शरीर वैक्रियिक, धातुमल दोषों से रहित और अविच्छिन्न रूप लावण्य से युक्त सदा यौवन अवस्था में रहा करता है।

21/05/20, 11:59 am - Ashok Jain: भवनत्रिक देवों के लेश्या

*आदितस् - त्रिषु पीतांत- लेश्या:॥२॥*

सूत्रार्थ: (आदितस्त्रिषु) पहले के तीन निकायों में (पीतांतलेश्या:) पीतान्त अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत और पीत ये चार लेश्याएं (संति) होती हैं।

भवनत्रिक: भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के द्रव्य लेश्या तो पीत ही होती है। किंतु ऐसा नियम है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के मध्यम अंश के साथ मरे हुए कर्मभूमियां मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच और पीत लेश्या के मध्यम अंश के साथ मरे हुए भोगभूमियां मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं इसलिए इनके अपर्याप्त अवस्था में कृष्ण नील और कापोत ये तीनों लेश्या पाई जाती है। इसी से इनके पीत लेश्या तक चार लेश्या बतलाई हैं। अभिप्राय यह है कि भवनत्रिक देवों के अपर्याप्त अवस्था में कृष्ण आदि चार लेश्या और प्रर्याप्त अवस्था में एक पीत लेश्या पाई जाती हैं।

21/05/20, 3:15 pm - Ashok Jain: निकिता जी ने पर्याप्ति और अपर्याप्ति किसे कहते हैं यह जानना चाहा है-

पर्याप्ति: जन्म के समय पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण कर जीवन धारण में उपयोगी विशिष्ट प्रकार की पौद्गलिक शक्ति की प्राप्ति को प्रयाप्ति कहते हैं।

संसारी जीव किसी भी जीव योनि में उत्पन्न हो, वह जब तक जीवित रहता है, तब तक उसे किसी पुष्ट आलम्बन की अपेक्षा रहती है, वह आलम्बन प्राण-शक्ति तो है ही, पौद्गलिक शक्ति भी है।

यह शक्ति जीव उस समय ग्रहण करता है, जब वह एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है।

प्रर्याप्ति छः प्रकार की होती है-

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा और मन:प्रयाप्ति।

जो जीव अपनी पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेते हैं वे प्रर्याप्त तथा जिनकी पर्याप्तियां अपूर्ण रहती हैं वे अर्याप्त कहलाते हैं।

21/05/20, 3:29 pm - Ashok Jain: चार निकाय के देवों के प्रभेद

*दशाष्ट-पञ्च-द्वादस-विकल्पा: कल्पोपपन्न-पर्यन्ता: ॥३॥*

सूत्रार्थ: (कल्पोपपन्न-पर्यंता:) सोलहवें स्वर्ग तक के उक्त चार प्रकार के देवों के क्रमशः दश, आठ, पांच और बारह भेद होते हैं।

भवनवासियों के दस, व्यन्तर देवों के आठ, ज्योतिषी देवों के पांच और वैमानिक देवों के बारह भेद हैं।

वैमानिक देवों के मूल भेद दो हैं- कल्पोपन्न और कल्पातीत। सोलह स्वर्ग तक उत्पन्न होने वाले देवों को कल्पोपन्न और उससे ऊपर उत्पन्न होने वाले देवों को कल्पातीत कहते हैं।

22/05/20, 12:15 pm - Ashok Jain: चारों देवों के सामान्य भेद

*इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्मरक्ष-लोक-पालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य- किल्विषिकाश्चैकश:॥४॥*

सूत्रार्थ: उक्त चार प्रकार के देवों में (एकश:) प्रत्येक के 'इन्द्र', 'सामानिक', 'त्रायस्त्रिंश', (पारिषत्) 'पारिषद्', 'आत्मरक्ष', (लोकपालानीक) 'लोकपाल', 'अनीक', 'प्रकीर्णक', 'आभियोग्य', और (किल्विषिका:) किल्विषिक ये दश-दश भेद होते हैं।

☞ इन्द्र: दूसरे देवों में रहने वाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धियों से परम ऐश्र्वर्य को प्राप्त देवों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं।

☞ सामानिक: आयु, शक्ति, परिवार, भोग, उपभोग, आदि में इन्द्र के समान किंतु आज्ञा और ऐश्वर्य से रहित देवों को सामानिक कहते हैं।

☞ त्रायस्त्रिंश: जो देव, पिता, मंत्री, पुरोहित, या गुरु के समान होते हैं उन देवों को त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्र के परिवार में इनकी संख्या ३३ होती है, अधिक नहीं।

☞ परिषद्: इन्द्र की सभा के अभ्यंतर, मध्य और बाह्य पारिषदों के

सदस्य होते हैं।

☞ आत्मरक्ष: इन्द्र के अङ्गरक्षक के समान देवों को आत्मरक्ष कहते हैं।

☞ लोकपाल: कोतवाल के समान रक्षक का कार्य करने वाले देवों को लोकपाल कहते हैं।

☞ अनीक: पैदल आदि सात प्रकार की सेना में विभक्त देवों को अनीक कहते हैं।

☞ प्रकीर्णक: नगर निवासी सामान्य जनता के समान देवों को प्रकीर्णक कहते हैं।

☞ आभियोग्य: हाथी घोड़ा आदि बनकर दासों के समान संवारी (वाहन) आदि के काम आने वाले देवों को आभियोग्य कहते हैं।

☞ किल्विषिक: अन्तज्य-तुल्य चाण्डालादि की भांति दूर ही रहने वाले पापी देवों को किल्विषिक कहते हैं। ये भेद प्रत्येक निकाय में होते हैं और इन्द्र के ऐश्वर्य का द्योतक है। (किल्विष का अर्थ पाप है)

22/05/20, 12:53 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सूत्र में *त्रायंस्त्रिंश* कहने का हेतु है कि एक इन्द्र के परिवार में इन देव , मन्त्री , पुरोहित , गुरु आदि के समान देवों की कुल संख्या 33 ही होती है , इसलिए ये *त्रायंस्त्रिंश* कहलाते हैं।

कोतवाल के रक्षक देव लोक का पालन करते हैं , इसलिए *लोकपाल* कहलाते हैं।

*आभियोग्य* जाति का देव तीर्थंकर भगवान के जन्म कल्याणक के समय ऐरावत हाथी बनता है।

22/05/20, 3:57 pm - Ashok Jain: व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में दश भेदों में कमी

*त्रायस्त्रिंशलोकपाल-वर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्का:॥५॥*

सूत्रार्थ: (व्यन्तरज्योतिष्का:) व्यन्तर और ज्योतिष देवों में (त्रायस्त्रिंशलोकपाल) त्रार्यस्त्रिंश और लोकपाल ये भेद (वर्ज्या) नहीं होते, अर्थात् शेष आठ भेद ही होते हैं।

(जैसे राजाओं को विशिष्ट जाति का पुण्य होने पर ही हितशासक मन्त्री, बलशाली रक्षक सेना आदि की प्राप्ति होती है तथा राजा योग्य मन्त्री, कोटवाल आदि के बल से ही बलवान माना जाता है।)

[इन दोनों निकायों में] त्रायस्त्रिंश और लोकपाल की प्रतीति कराने के लिए विशिष्ट पुण्य का अभाव है। भवनवासी और कल्पवासी (वैमानिक) देवों में वैसा पुण्य विशेष है, जिससे उनमें उनमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल देव होते हैं। (श्लो ५/५१८)

23/05/20, 12:02 pm - Ashok Jain: देवों में इन्द्रों की व्यवस्था

*पूर्वयो र्द्वीन्द्रा:॥६॥*

सूत्रार्थ: (पूर्वयो:) पहले के भवनवासी और व्यन्तर इन दो निकाय के प्रत्येक भेद में (द्वीन्द्रा:) दो-दो इन्द्र (सन्ति) होते हैं।

प्रथम निकाय: भवनवासियों देवों के दश भेदों में  बीस इन्द्र:

१) असुर कुमार के  चमर और वैरोचन

२) नाग कुमार के धरण और भूतानन्द

३) विद्युत कुमार के हरिसिंह और हरिकान्ता

४) सुपर्ण कुमार के वेणुदेव और वेणुधारी

५) अग्नि कुमार के अग्निशिख और अग्निमानव

६) वात कुमार के वैलम्ब और प्रभञ्जन

७) स्तनित कुमार के सुघोष और महाघोष

८) उदधि कुमार के जलकान्त और जलप्रभ

९) द्वीप कुमार के पूर्ण और विशिष्ट

१०) दिक् कुमार के अमितगति और मित्रवाहन (रा वा ३)

द्वितीय निकाय के व्यंन्तर देवों के सोलह इन्द्र:

१) किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष

२) किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष

३) महोरोगों के अतिकाय और महाकाय

४) गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश

५) यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र

६) राक्षसों के भीम और महाभीम

७) भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप

८) पिशाचों के काल और महाकाल

(रा वा ३)

[ भवनवासियों के २० इन्द्र और २० प्रति-इन्द्र कुल ४० इन्द्र। और व्यन्तरों के १६ इन्द्र और १६ प्रति-इन्द्र कुल ३२ इन्द्र होते हैं।~ मुनिश्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से]

पूर्व के दो निकायों के देव हीनपुण्य वाले होते हैं अथवा दो-दो इन्द्र स्वयं हीन पुण्य वाले होते हैं क्योंकि अधिक पुण्य वाले जीव या तो स्वयं स्वामी होते हैं या एक ही स्वामी के अधीन होकर रहते हैं। अथवा जिस पदार्थ के दो अधिकारी हैं वे स्वयं दोनों स्वल्प पुण्यवान हैं। क्योंकि छोटा या बड़ा यथायोग्य कार्य हो उसका अधिकार एक व्यक्ति को ही प्राप्त होने पर

आधिपत्य का कर्त्तव्य पूर्ण रीति से सफल हो सकता है अतः असुरकुमार, किन्नर आदि देवों के एक एक ही स्वामी नहीं होने से देव स्तोक पुण्य वाले होते हैं। (श्लो हि ५/५२०-२१)

23/05/20, 4:15 pm - Ashok Jain: देवों में कामसेवन की विधि

*काय-प्रवीचारा आ ऐशानात्॥७॥*

सूत्रार्थ: (आ ऐशानात्) ऐशान स्वर्ग पर्यंत के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैज्ञानिकों में पहले और दूसरे स्वर्ग तक के देव (कायप्रवीचारा:) अपनी-अपनी देवियों के साथ मनुष्यों के समान शरीर से कामसेवन करते हैं।

मैथुन के द्वारा उपसेवन को प्रवीचार कहते हैं। (सर्वा ४५५)

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी सौधर्म और ऐशान स्वर्ग तक के देवों के काय से प्रवीचार होता है।

मोह का तीव्र उदय होने से ज्योतिषी, भवनवासी, व्यन्तर और सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देव काय से मैथुन करते हैं। (हरि पु ३/१६२)

वे सब असुर आदि भवनवासी देव कायप्रवीचार से युक्त होते हैं तथा वेद नोकषाय की उदीरणा होने पर मनुष्यों के समान कामसुख का अनुभव करते हैं परन्तु सप्तधातुओं से रहित होने से उन देवों के वीर्य का क्षरण नहीं होता। केवल वेद नोकषाय की उदीरणा शान्त होने पर उन्हें संकल्प सुख ही होता है। (ति प ३/१३०-३१)

24/05/20, 11:59 am - Ashok Jain: शेष स्वर्गों के देवों में कामसेवन की रीति

*शेषा: स्पर्श-रुप-शब्द-मन: प्रवीचारा:॥८॥*

सूत्रार्थ:  (शेषा:) पहले और दूसरे स्वर्ग से ऊपर के स्वर्गों में क्रमशः देव, देवियों के 'स्पर्श' से, 'रूप' देखने से 'शब्द' सुनने से और (मन:) मन में विचारने से (प्रवीचारा:) कामसेवन (कुर्वन्ते) करते हैं।

चारित्र मोहनीय सम्बंधी वेद कर्म के उदय- उदीरणा स्वरूप कर्मोदय के विनाश की तरतमता रूप से विशेषता देखी जाती है अतः काय, स्पर्श, रूप, शब्द और मन इन उत्तरोत्तर विप्रकृष्ट हो रहे सहकारियों द्वारा ऊपर-ऊपर के देवों में मैथुन प्रवृत्ति उत्तरोत्तर न्यून होती गयी है।(श्लो ५२७/हि.)

स्पर्श: (तीसरे और चौथे) सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देव-देवियों के आलिंगन मात्र से,

रूप: (पांचवें से आठवें) ब्रह्म,ब्रह्मोत्तर, लातव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव- देवङ्गनाओं के रूप; श्रृंगार-विलास आदि देखने से,

शब्द: (नोवें से बारहवें) शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार स्वर्ग के देव; देवांङ्गनाओं के कोमल शब्दों, मधुर संगीत सुनने मात्र से,

मन:  (तेरहवें से सोलहवें) आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्ग के देव में अपनी देवाङ्गनाओं का मन में चिंतवन मात्र से प्रवीचार होता है।

"देवियों का प्रवीचार भी अपने अपने देवों के समान इसी प्रकार जानना चाहिए।"

*यद्यपि देवियां दूसरे कल्प तक ही उत्पन्न होती हैं परन्तु नियोगवश ऊपर के कल्पों में पहुंच जाती है।*

24/05/20, 1:27 pm - Ashok Jain: *विप्रकृष्ट अर्थात् दूरस्थ

24/05/20, 3:27 pm - Ashok Jain: कल्पातीतों में मैथुन का निषेध

*परेऽप्रवीचारा:॥९॥*

सूत्रार्थ: (परे) सोलहवें स्वर्ग से ऊपर ग्रैवेयिक, अनुदिश और अनुत्तरों में देवों के (अप्रवीचारा:) कामसेवन नहीं होता। और वहां देवियां भी नहीं होती।

उन कल्पातीत देवों के काम-वेदना से उत्पन्न पीड़ा का परिक्षय हो जाने से और प्रकृष्ट सुख की प्राप्ति होने पर उनके प्रवीचार नहीं है। जिस प्रकार मनुष्यों के काम वेदना की तरतमता और अभाव देखा जाता है उसी प्रकार उन अहमिन्द्रों के प्रवीचार का अभाव सम्भव है। (श्लो ५/५३२)

कल्पातीत (नवग्रैवेयक से संवर्थिसिद्धि पर्यन्त) देव मोह का उदय अव्यक्त होने से प्रवीचार रहित है। वहां के अहमिन्द्र शांति प्रधान सुख से युक्त होते हैं।

(हरि पु ३/१६७)

25/05/20, 10:50 am - Ashok Jain: मनुष्य पर्याय में इन देवों ने ऐसा क्या पुण्य किया होता है कि उच्च जाति के देव बनतें हैं या क्या पुण्य किया होता है कि बनतें तो देव हैं पर नीच जाति के जैसे आभियोग्य आदि।

एवं स्वर्गों में होने वाले दु:ख के बारें में बताएं ।

🙏🙏

25/05/20, 10:50 am - Ashok Jain: क्या उर्ध्वलोक में बाल मरण हो सकता है ? यदि हां तो ऐसा क्यों होता है??

25/05/20, 10:51 am - Ashok Jain: ये जिज्ञासा अनिता जी रोहिणी ने की है।👆

25/05/20, 10:51 am - Ashok Jain: मनुष्य पर्याय में इन देवों ने ऐसा क्या पुण्य किया होता है कि उच्च जाति के देव बनतें हैं या क्या पुण्य किया होता है कि बनतें तो देव हैं पर नीच जाति के जैसे आभियोग्य आदि।

एवं स्वर्गों में होने वाले दु:ख के बारें में बताएं ।

🙏🙏

किसी जीव ने संयम अवस्था में उपरिम स्वर्गों की देवायु का बंध किया, पश्चात् संक्लेश परिणामों के निमित्त से संयम की विराधना कर दी और अपवर्तनाघात अर्थात् बध्यमान आयु का घात कर अधस्तन स्वर्गों या भवनत्रिक में उत्पन्न होता है, उसे घातायुष्क कहते हैं।  घातायुष्क बारहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं।

भावों की विचित्रता इसका मुख्य कारण हैं। असंख्यात तरह के भाव होते हैं देव आयु बंधने पर भी निकृष्ट भावों के कारण उसका क्षीण हो जाता है और निकृष्ट देव बन जाता है।

तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय में देव आयु बंध के कारणों में एक सूत्र आया है  *निःशीलव्रतत्वम च सर्वेषाम्।।१९।।*

अव्रती और शील रहित जीव चारों आयु का बंधक हो जाता है भावों के कारण। अतः बहुत कारण मिलते हैं

सम्यग्दृष्टि श्रावक जब बारह व्रतों को अतिचार रहित पालन करता हुआ अन्त समय में सल्लेखना के साथ समता भाव से समाधि मरण करता है तो उसके पुण्य से वह सोलहवें स्वर्ग तक के देवों में जन्म लेता है। दौलतराम जी ने छहढाला में लिखा भी है

बारह व्रत के अतीचार पन पन न लगावै।

मरण समय सन्यास धार , तसु दोष नशावै।।

यों श्रावक व्रत पाल , स्वर्ग सोलम उपजावै।

चहँतैं चय नर्-जन्म पाय , मुनि ह्वै शिव जावै।।

स्वर्ग में देवों का संयम का अभाव होता है तथा साथ ही ये अपने से ज्यादा सामर्थ्यवान देवों को देखकर ईर्ष्या की आग में जलते रहते हैं जो इनका बहुत बड़ा दुख है।

25/05/20, 10:52 am - Ashok Jain: 👆 उत्तर राजेन्द्र भाई साहब द्वारा

25/05/20, 10:52 am - Ashok Jain: "अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के मरण को बालमरण कहते हैं और मिथ्यादृष्टि जीव के मरण को बालबालमरण कहते हैं। अथवा रत्नत्रय का नाश करके समाधिमरण के बिना मरना बालमरण है।"

उर्धलोक में देवगण या तो अविरत सम्यग्दृष्टि होते हैं अथवा मिथ्यादृष्टि होते हैं। उनके संयम नहीं होता है।

इसलिए उनका मरण बालमरण अथवा  बालबाल मरण कहलायेगा।

25/05/20, 11:54 am - Ashok Jain: भवनवासियों के दश भेद

*भवन-वासिनोऽसुरनाग विद्युतसुपर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्ककुमारा॥१०॥*

सूत्रार्थ:  (भवनवासिन:) भवनवासियों देवों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युतकुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ये दश भेद हैं।

१) असुरकुमार: ये प्रथम तीन नरक पृथिवियों तक जाकर नारकियों को उनके पूर्वभव सम्बन्धी वैर का स्मरण कराकर परस्पर लड़ाते हैं।(ये न केवल स्वयं नारकियों को मारते हैं अपितु सेवकों से भी दण्डित कराते हैं।

(म पु १०/४१)

जिनकी अहिंसा आदि में रति है वे सुर हैं, इनसे विपरीत असुर हैं।

(ध १३/३९१)

२) नागकुमार: ये पाताल लोकवासी भवनवासी देव हैं, फण से उपलक्षित (भवनवासी देव) नाग कहलाते हैं।

(ध १३/३९१)

३) वातकुमार: ये वातकुमार वायुकुमार जाति के देव हैं। ये तीर्थंकरों के दीक्षाकल्याणक में शीतल और सुगंधित वायु का प्रसार करते हैं।

(वी व च १२/४९)

जो तीर्थंकर के विहारमार्ग को शुद्ध करते हैं। (म पु २५/२५३)

४) स्तनितकुमार: ये तीर्थंकर की समवशरण भूमि के चारों ओर और विद्युन्माला आदि से युक्त होकर गन्धोदकमय वर्षा करते हैं (हरि पु ३/२३), ये पाताल लोक में निवास करते हैं।(हरि पु ४/६५) जो शब्द को करते हैं अथवा जिनके शब्द उत्पन्न होता है, वे स्तनित कहलाते हैं।

५) अग्निकुमार: ये सदैव जाज्वल्यमान होकर पाताल में रहते हैं। जो पाताल लोक को छोड़कर क्रीड़ा करने के लिए ऊपर आते हैं वे अग्निकुमार देव कहलाते हैं।

(शेष देवों का वर्णन यदि किसी के पास हो तो अवश्य बताएं)

इनके वेशभूषा और वार्तालाप वगैरह कुमार की तरह होते हैं, इससे इन्हें कुमार कहते हैं। ये देव भवनों में निवास करते हैं इसलिए इन्हें भवनवासी कहते हैं।

इनके भवनों की संख्या: असुर कुमार चौंसठ लाख, नागकुमार ८४ लाख, सुपर्णकुमार ७२ लाख, वातकुमार ९६ लाख और शेष देवों के ७६-७६ लाख होते हैं। कुल संख्या (६४+८४+७२+९६+७६+७६+७६+७६+७६+७६= ७७२०००००) इस प्रकार भवनवासियों में प्रत्येक भवन में एक एक और कुल सात करोड़ बहत्तर लाख जिनालय हैं।

25/05/20, 3:58 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

25/05/20, 4:37 pm - Ashok Jain: व्यंतर देवों के आठ भेद

*व्यन्तरा:किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचा:॥११॥*

सूत्रार्थ: (व्यन्तरा:) व्यंतर देवों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ये आठ भेद होते हैं।

व्यन्तर देव- मध्यलोक में रहते हैं। तीर्थंकरों के जन्म की सूचना देने के लिए इन देवों के भवनों में स्वयमेव भेरियों की ध्वनि होने लगती है। इनका सर्वत्र गमनागमन रहता है। द्वीपों और समुद्रों की आभ्यन्तर स्थिति का इन्हें ज्ञान होता है।

व्यन्तरों में किम्पुरूष आदि क्रिया निमित्तिक संज्ञा मानना उचित नहीं। यह सब तो देवों का अवर्णवाद है। ये देव पवित्र वैक्रियिक शरीरधारी होते हैं। ये कभी अशुचि औदारिक शरीर वाले मनुष्य आदि की कामना नहीं करते हैं और न ही मांस-मदिरा के खान-पान में ही प्रवृत्त होते हैं, लोक में जो व्यन्तरों की मांसादि ग्रहण करने की प्रवृत्ति सुनी जाती है, वह केवल उनकी क्रीड़ा मात्र है, उनके तो मानसिक आहार होता है।(रा वा ४)

किन्नर देव दश प्रकार के होते हैं।

(ति प ६/३४-३५)

किम्पुरुष देव प्राय: मैथुन में रुचि रखते हैं। (ध १३/३९१).

ये देव दश प्रकार के होते हैं। (ति प ६/३६)

महोरग: सर्पाकार रूप से विक्रिया करना इन्हें प्रिय है, इसलिए महोरग कहलाते हैं।(ध १३/३९१).

महोरग देव दश प्रकार के होते हैं। (ति प ६/३८)

गंधर्व: इन्द्रादिकों के गायकों को गंधर्व कहते हैं।(ध १३/३९१)

[भवनवासी और व्यन्तर देव के इन्द्रों का वर्णन ऊपर सूत्र संख्या ६ में कर आये हैं।]

यक्ष: जिनके लोभ की मात्रा अधिक होती है और जो भाण्डागार में नियुक्त किए जाते हैं वे यक्ष कहलाते हैं।(ध १३/३९१) जो जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक के समय सपत्नीक मनोहर गीत गाते हैं वे यक्ष कहलाते हैं। (प पु ३/१७९)

यक्ष देव बारह प्रकार के होते हैं।

(ति प ६/४२)

राक्षस: जिन्हें भीषण रूप की क्रिया करना प्रिय है, वे राक्षस कहलाते हैं। (ध १३/३९१)

राक्षस के सात भेद होते हैं।(ति प ६/४४)

भूत: ये देव सात प्रकार के होते हैं। (ति प ६/४६)

पिशाच: ये चौदह प्रकार के होते हैं। (ति प ६/४८-४९)

व्यंतर लोक के जिनालय :

जगत्प्रतर/ संख्यात × (३००)२

(ति प ६/१०२)

25/05/20, 4:38 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

26/05/20, 12:01 pm - Ashok Jain: ज्योतिषी देवों के पांच भेद

*ज्योतिष्का: सूर्या-चन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च॥१२॥*

सूत्रार्थ: (ज्योतिष्का:) ज्योतिषी देव सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे ये पांच भेद हैं।

ज्योतिष्क: देवगति नामकर्म की उत्तर प्रकृति ज्योतिष्क नामकर्म के उदय से ज्योति (कान्ति) का आश्रय होने से ये देव ज्योतिष्क कहलाते हैं। इस प्रकार उन देवों की ज्योतिष्क यह सामान्य रूप से संज्ञा होती है। (श्लो ५/५४४)

सूर्य आदि पांचों प्रकार के ज्योतिष देव ज्योतिष् अर्थात् प्रकाशमान विमानों में रहते हैं, इसलिए ज्योतिष्क कहलाते हैं।

मेरू के समतल भूभाग से सातसौ नब्बे योजन की ऊंचाई से नौ सौ योजन तक अर्थात् ११० योजन ज्योतिष्क मण्डल पाया जाता है। तिरछे रूप में यह स्वयम्भूरमण समुद्र तक फैला हुआ है। सात सौ नब्बे योजन की ऊंचाई पर सर्वप्रथम तारों के विमान है। उससे दश योजन अर्थात् समतल से ८०० योजन की ऊंचाई पर सूर्य का विमान है। सूर्य से ८० योजन ऊपर अर्थात् समतल से ८८० योजन ऊपर चन्द्रमा का विमान है। उससे चार योजन ऊपर नक्षत्रों के विमान है, उससे चार योजन ऊपर बुध ग्रह का विमान है, वहां से तीन योजन ऊपर शुक्र ग्रह का विमान है, उससे तीन योजन ऊपर वृहस्पति ग्रह का विमान है, उससे तीन योजन ऊपर मंगल ग्रह का विमान है और मंगल से तीन योजन ऊपर शनि ग्रह का विमान है। शनि का विमान सबसे अंत में है।

(मुनि श्री प्रमाण सागर जी महाराज द्वारा रचित जैन तत्व विद्या से)

26/05/20, 4:45 pm - Ashok Jain: ज्योतिषी देवों का गमनागमन

*मेरू-प्रदक्षिणा नित्य-गतयो नृ लोके॥१३॥*

सूत्रार्थ: ज्योतिषी देव (नृ-लोके) मनुष्य लोक में (मेरु-प्रदक्षिणा) मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए (नित्य गतय:) हमेशा घूमते रहते हैं।

ढाई द्वीप में जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड, और पुष्करार्ध और दो समुद्र (लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र) में ज्योतिष देव हैं।वे ही ज्योतिषी देव मेरु की परिक्रमा देते हुए नित्य भ्रमण करते हैं, बाहर नहीं। इस क्षेत्र की अवधारणा के लिए (नृलोके) मनुष्य लोक लिखा गया है। (रा वा ४)

ढाई द्वीप में ज्योतिष देव:

जम्बूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा है, ५६ नक्षत्र है, १७६ ग्रह और एक कोड़ा कोड़ी लाख, तैंतीस कोड़ा कोड़ी हजार, नौ कोड़ा कोड़ी सैकड़ा, पचास कोड़ा कोड़ी प्रमाण तारागण हैं।

लवणसमुद्र में चार सूर्य, चार चन्द्रमा, १७२ नक्षत्र, ३५२ ग्रह, दो कोड़ा कोड़ी लाख सड़सठ कोड़ा कोड़ी हजार नौ सौ कोड़ा कोड़ी तारागण हैं।

धातकी खण्ड में बारह सूर्य, बारह चन्द्रमा, ३३६ नक्षत्र, १०५६ ग्रह, और आठ लाख कोड़ा कोड़ी सैंतीस सौ कोड़ा कोड़ी तारा हैं।

कालोदधि समुद्र में बयालीस सूर्य, बयालीस चन्द्रमा, ११६७ नक्षत्र, ३६९६ ग्रह अठाईस कोड़ा कोड़ी लाख,बारह कोड़ा कोड़ी हजार, नौ कोड़ा कोड़ी सैकड़ा, पचास कोड़ा कोड़ी तारा हैं।

पुष्करार्ध में बहत्तर सूर्य, बहत्तर चन्द्रमा, २०१६ नक्षत्र, ६३३६ ग्रह और अड़तालिस कोड़ा कोड़ी लाख, बाईस कोड़ा कोड़ी हजार, दो कोड़ा कोड़ी सैकड़ा तारागण हैं।(रा वा ६)

प्रदक्षिणा: जम्बूद्वीप में सब ज्योतिष देवों के समूह मेरु की परिक्रमा करते हैं तथा धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीप में आधे ज्योतिषी देव मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं।(ति प ७/६१६)

मनुष्य लोक में ८८,४०,७०० कोड़ा कोड़ी अस्थिर एवं ९५,५३५ स्थिर तारा हैं। (ति प ७/६०४-६१४)

ज्योतिर्विमान के उदय-अस्त की व्यवस्था मानुषोत्तर पर्वत के इस ओर की है। आगे के समस्त विमान आकाश में स्थिर ही हैं, संचार नहीं करते। इसी आधार से उपर्युक्त उत्तर लिखा हुआ है। (हरि पु ६/२३)

27/05/20, 12:11 pm - Ashok Jain: ज्योतिषी देवों से लाभ

*तत्कृत: कालविभाग:॥१४॥*

सूत्रार्थ: (कालविभाग:) घड़ी घन्टा दिन रात आदि व्यवहार काल का विभाग (तत्कृत:) उन्हीं गतिशील ज्योतिषी देवों के द्वारा किया जाता है। अर्थात् व्यवहार काल सूर्य चन्द्रमा आदि की गति से जाना जाता है।

ज्योतिषी देवों की गति से समयादि और आवलि आदि रूप व्यवहार काल का विभाग होता है। (सर्वा. ४६९)

घड़ी, प्रहर, दिवसादि रूप स्थूल व्यवहार काल, समय, निमिषादि सूक्ष्म व्यवहार काल की भांति यद्यपि समय, घड़ी आदि विवक्षित भेदों से रहित अनादि अनंत कालाणु द्रव्यमय निश्चयकाल रूप उपादान से उत्पन्न होता है तो भी निमित्तभूत कुम्हार द्वारा उपादान रूपी मिट्टी के पिंड में से बने हुए घड़े की भांति चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के विमानों के गमनागमन से व्यवहार काल प्रगट होता है तथा ज्ञात होता है, इस कारण उपचार से ज्योतिषी देवों से कृत है, ऐसा कहा जाता है। निश्चय काल तो कुम्हार के चाक के भ्रमण में नीचे की कीली सहकारी होती है, उसी प्रकार विमानों के गमन रूप परिणाम का बहिरंग सहकारी कारण होता है।

(वृ द्र सं टी ३५)

27/05/20, 4:30 pm - Ashok Jain: मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिषी देवों की स्थिति

*बहिरवस्थिता:॥१५॥*

सूत्रार्थ: (बहि:) मनुष्यलोक अर्थात् अढ़ाईद्वीप के बाहर के ज्योतिषी देव (अवस्थिता:) स्थिर हैं। अर्थात् वे गमन नहीं करते।

अढ़ाईद्वीप के बाहर ज्योतिषी देवों के विमान गतिशील नहीं है, अतः वहां पर व्यवहारिक दिन-रात्रि के समय का भेद भी नहीं है।

पिछले सूत्र नंबर १३-१४ में ज्योतिषी देवों के विमान, आभियोग्य जाति के देव, चार प्रकार के रूप धारण करके मनुष्यलोक में भ्रमण करते हैं यह कहा गया है, लेकिन इस सूत्र में यह कहा है कि ढाईद्वीप के बाहर के ज्योतिषी देवों के विमान गतिशील नहीं है अर्थात् स्थिर हैं, जिसके कारण वहां दिन-रात का विभाग नही होता है।

मनुष्यलोक के बाहर ज्योतिषी देवों के विमानों में अभियोग्य जाति के देव चारों प्रकार का रूप तो धारण करके विमानों में जुते तो रहते हैं लेकिन भ्रमण नहीं करते।

(मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

28/05/20, 11:45 am - Ashok Jain: वैमानिक देवों का वर्णन

*वैमानिका: ॥१६॥*

अब आगे वैमानिक देवों का वर्णन शुरू होता है।

चौथे निकाय के देव वैमानिक देव हैं।

जो विमान में रहते हैं उन्हें वैमानिक कहते हैं।

विमान: जो विशेषत: अपने में रहने वाले जीवों को पुण्यात्मा मानते हैं, वे विमान हैं। (रा वा १) बलभि और कूट से युक्त प्रासाद विमान कहलाते हैं और जो विमान में रहते हैं उन्हें वैमानिक कहते हैं। (ध पु १४/४९५)

विमान तीन प्रकार के होते हैं

१) इन्द्रक २) श्रेणीबद्ध

३) पुष्पप्रकीर्णक (सर्वा ४७३)

वे विमान दो प्रकार के हैं-

१) एक विक्रिया से उत्पन्न हुए- ये विमान विनश्वर हैं।

२) स्वभाव से। (ति प ८/४४५)- ये परम यान-विमान नित्य व अविनश्वर होते हैं। (ति प ८/४४६)

- इन्द्र के समान जो मध्य में अवस्थित विमान है वह इन्द्रक विमान है।

- इस इन्द्रक विमान को चारों दिशाओं में आकाश प्रदेशों की श्रेणी के समान क्रमबद्ध विमान हैं वे श्रेणीबद्ध विमान हैं।

- विदिशाओं में प्रकीर्णक (बिखरे हुए) पुष्प के समान अक्रमी पुष्प प्रकीर्णक विमान हैं। (सर्वा ४७३)

28/05/20, 3:59 pm - Ashok Jain: वैमानिक देवों के भेद

*कल्पोपपन्ना: कल्पातीताश्च ॥१७॥*

सूत्रार्थ: वैमानिक देवों के दो भेद हैं (कल्पोपपन्ना:) कल्पोपपन्न (च) और (कल्पातीता:) कल्पातीत।

इन्द्र आदि दश प्रकार की कल्पनाएं जिनमें पाई जाती हैं, वे कल्पोपन्न देव हैं।(रा वा १)

सौधर्म से अच्युत स्वर्ग पर्यंत स्वर्गों में रहने वाले वैमानिक देव कल्पवासी हैं।

मिथ्यात्व से मलिन, बालतप करने वाले तापसियों के अतिरिक्त अकामनिर्जरा से युक्त बन्धनबद्ध तिर्यंच भी ऐसे देव होते हैं।( म पु)

कल्पों की संख्या: १) सौधर्म, २) ईशान, ३) सानत्कुमार, ४) माहेन्द्र, ५) ब्रह्म, ६) लान्तव, ७) महाशुक्र, ८) सहस्रार, ९) आनत, १०) प्राणत, ११) आरण और १२) अच्युत। ये बारह कल्प हैं। (ति प ८/११५-२२)

कल्पातीत देव: जहां पर इन्द्र आदि की कल्पना नहीं की जाती, सभी अहमिन्द्र हों, वे कल्पातीत हैं। (रा वा १)

नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानवासी देव कल्पातीत हैं। ये अहमिन्द्र होते हैं। संसार के सर्वाधिक सुखों को पाकर भी विरागी होते हैं। (म पु ५७/१६)

"मैं ही इन्द्र हूं" मेरे सिवाय कोई इन्द्र नहीं है, इस प्रकार वे निरंतर अपनी प्रशंसा करते रहते हैं और इसलिए वे उत्तम देव अहमिन्द्र नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं। (म पु ११/१४३)

29/05/20, 11:35 am - Ashok Jain: कल्पों की स्थिति का क्रम

*उपर्युपरि॥१८॥*

सूत्रार्थ: वै सब कल्प अर्थात् विमान ऊपर-ऊपर हैं।

ये कल्पोपन्न और कल्पातीत वैमानिक तिरछे रूप से रहते हैं, इसका निषेध करने के लिए यह सूत्र कहा गया है। ये ज्योतिषियों के समान तिरछे रूप में नहीं रहते हैं, उसी प्रकार व्यंतरों के समान विषम रूप से नहीं रहते हैं किन्तु ऊपर-ऊपर हैं।(सर्वा ४७७).

नोट: स्वर्गों में परस्पर समीपता तो नहीं है क्योंकि इनमें असंख्यात योजन का व्यवधान अर्थात् अन्तर है।

29/05/20, 4:38 pm - Ashok Jain: वैमानिक देवों के रहने का स्थान

*सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयो-र्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त- जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च॥१९॥*

सूत्रार्थ: (सौधर्मेशान) सौधर्म-ऐशान, सानत्कुमार-माहेन्द्र, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ, शुक्र-महाशुक्र, (सतार सहस्रारेषु) सतार-सहस्रार, (आनत प्राणतयो:) आनत-प्राणत, (आरण-अच्युतयो:) आरण-अच्युत, (नवसु ग्रैवेयकेषु) नवग्रैवियको में, नव अनुदिशों में और विजय-वैजयन्त, (जयन्तापराजितेषु) जयन्त-अपराजित (च) एवं (सर्वार्थसिद्धौ) सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं। (इस सूत्र में नवसु पद से नौ अनुदिश भी ग्रहण होते हैं।)

पिछले सूत्र में कथित 'उपर्युपरि' सूत्र के साथ दो-दो स्वर्गों का सम्बन्ध है:

सर्वप्रथम सौधर्म-ऐशान स्वर्ग है। उन दोनों के ऊपर द्वितीय सानत्कुमार- माहेन्द्र है। उन दोनों के ऊपर लान्तव कापिष्ठ स्वर्ग है। उन दोनों के ऊपर पञ्चम शुक्र-महाशुक्र है। उन दोनों के ऊपर शतार-सहस्रार है। उन दोनों के ऊपर आनत-प्राणत है। और उन दोनों के ऊपर अष्टम आरण-अच्युत कल्प है। (रा वा ६)

इन स्वर्गों में इन्द्र के नाम:

प्रत्येक स्वर्ग में एक एक इन्द्र है, मध्य में दो-दो स्वर्गों में एक-एक इन्द्र है-

सोधर्म-ऐशान कल्प में दो इन्द्र है- सौधर्म-ऐशान।

सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में दो- सानत्कुमार, माहेन्द्र।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में एक- ब्रह्म।

लान्तव-कापिष्ठ में एक- लान्तव।

शुक्र-महाशुक्र में एक- शुक्र।

शतार-सहस्रार में एक- शतार।

आनत-प्राणत में दो- आनत-प्राणत।

आरण-अच्युत में दो- आरण, अच्युत।

(इस प्रकार २+२+१+१+१+१+२+२=१२ इन्द्र हैं।

वैमानिक देवों के ऊपर नव ग्रैवेयक:

लोकाकाश को पुरुषाकार माना गया है। उस पुरुषाकार की ग्रीवा के स्थानीय होने से ग्रीवा और ग्रीवा में होने वाले ग्रैवेयक विमान हैं और उनका साहचर्य होने से वहां के इन्द्र भी ग्रैवेयक कहलाते हैं।(रा वा २)

ग्रैवेयक के नाम: १) सुदर्शन, २) अमोघ, ३) सुबुद्ध, ४) यशोधर, ५) सुभद्र, ६) सुविशाल, ७) सुमन, ८) सौमनस और १०) प्रियंकर। ये नव ग्रैवेयक हैं।(रा वा २)

अनुदिश: प्रत्येक दिशा में विद्यमान होने से इनको अनुदिश कहते हैं।अनुदिश का अर्थ प्रतिदिश है।

*नव ग्रैवेयक के ऊपर नव अनुदिश विमान और होते हैं। इन नव ग्रैवेयकों में निर्गंथ जिनलिंग का धारक अभव्य (मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान वाला) भी उत्पन्न हो जाता है, किन्तु इससे ऊपर तो शुद्ध सम्यकदृष्टि साधु ही जा सकते हैं।*

नव अनुदिशों के नाम: १) आदित्य, २) अर्चि, ३) अर्चमालि, ४) वैरोचन, ५) प्रभाष, ६) अर्चप्रभ, ७) अर्चमध्य, ८) अर्चिरावर्त और ९) अर्चिविशिष्ट।

सबके ऊपर पांच अनुत्तर विमान हैं-

१)विजय,२) वैजयंत,३) जयंत,४) अपराजित और ५) सर्वार्थसिद्धि।

इन विजयादि नामों की सार्थकता: अभ्युदय के विघ्नों के कारणों को जीत लेने से विजयादि की सार्थक संज्ञा है। इसके साहचर्य से इन्द्रों के नाम भी विजयादि है। सर्व अर्थों की सिद्धि हो जाने से इसका नाम 'सर्वार्थसिद्धि' है। (रा वा २)

29/05/20, 6:02 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

30/05/20, 9:04 am - Ashok Jain: <Media omitted>

30/05/20, 9:05 am - Ashok Jain: <Media omitted>

30/05/20, 3:53 pm - Ashok Jain: वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता

*स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिका:॥२०॥*

सूत्रार्थ: ऊपर-ऊपर के वैमानिक देवों में (स्थिति) आयु, प्रभाव, सुख, (द्युति) कान्ति, (लेश्याविशुद्धि) लेश्या की विशुद्धता, (इन्द्रियविषय) इन्द्रियों का विषय और (अवधिविषत:) अवधि ज्ञान का विषय (अधिका:) अधिक-अधिक हैं।

स्थिति: अपनी देव आयु के उदय से रहना स्थिति है। इसे आगे २९वें से ३४ सूत्र वें तक बतलाई गई है।

प्रभाव: शाप और अनुग्रह (उपकार) शक्ति को प्रभाव कहते हैं। यह ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक पाया जाता है। यद्यपि यह बात ऐसी है तो भी ऊपर-ऊपर के देव अभिमान कम होने से इसका उपयोग नहीं करते हैं।

सुख: दृष्ट विषयों का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करना सुख है। यद्यपि ऊपर-ऊपर के देवों का नदी, पर्वत आदि में विहार करना कम-कम होता जाता है और देवियों की संख्या एवं परिग्रह भी कमती-कमती होता जाता है तो भी उत्तरोत्तर सुख की मात्रा अधिक-अधिक होती है।

द्युति: शरीर आदि की कान्ति को द्युति कहते हैं। ऊपर-ऊपर के देवों का शरीर छोटा होता जाता है, वस्त्र आभूषण भी कम-कम होते जाते हैं, परंतु इन सबकी दीप्ति (कांति) उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होती जाती है।

लेश्याविशुद्धि: लेश्या की विशुद्धि- निर्मलता लेश्या विशुद्धि है। यह आगे २२वें सूत्र में बतलाया गया है।

इन्द्रिय विषय: ऊपर-ऊपर के देवों की इन्द्रिय द्वारा विषय को ग्रहण करने की सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ती गई है।

अवधि विषय: पहले और दूसरे स्वर्गों के देव अवधि ज्ञान के माध्यम से पहले नरक भूमि तक, दूसरे तीसरे स्वर्ग के देव दूसरे नरक तक, पांचवें से आठवें स्वर्ग तक के देव तीसरे नरक तक, तेरहवें से सौलहवें स्वर्ग के देव पांचवें नरक तक, नवग्रैवियको के देव छठे नरक तक, नौ अनुदिश के देव सातवें नरक तक और पांच अनुत्तर विमानों के देव १४राजू प्रमाण सम्पूर्ण लोक की बात जान सकते हैं।

30/05/20, 7:22 pm - Usha Jain, Nagour: जहां ज्योतिषी देव नहीं होते हैं वहां प्रकाश कहां से आता है।

क्या सभी नरको अंधेरा होता है क्या **?**

क्या स्वर्ग में कल्पवृक्ष के द्वारा सब जगह रोशनी रहती है क्या **?** ढाई द्वीप के बारह ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं तो किस स्थान पर अधेंरा रहता है किस स्थान पर प्रकाश **?**

31/05/20, 11:20 am - Ashok Jain: ढाईद्वीप के बाहर  लोकांत तक स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त ज्योतिष्क देव अवस्थित है अर्थात वे गमन नहीं करते,इसलिय वहां मनुष्य लोक की भांति व्यवहार काल समय मिनट दिन रात आदि नहीं है !वहां कल्पवृक्षों के प्रकाश से सदा प्रकाश ही रहता है अन्धकार नहीं होता।

31/05/20, 5:04 pm - Ashok Jain: आदरणीय श्री पारस भाई साहब द्वारा-

इस अढ़ाई द्वीप में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं होता जहां उनका प्रकाश नहीं जाता।

सभी नर्कों घोर अन्धकार होता है।

स्वर्गों में सब जगह प्रकाश रहता है वहां सूर्य चंद्र की मौजूदगी की जरूरत नहीं।

विशेष किसी को जानना हो तो तिलॉय पन्नती आदि ग्रंथों को देखना चाहिए। वैसे जैनेन्द्र सिद्धांत कोष में भी अच्छा मार्गदर्शन मिल जाएगा।

31/05/20, 5:05 pm - Ashok Jain: सूत्र 13. के संदर्भ में:

आपने बताया कि जम्बूद्वीप में 2 सूर्य होतें हैं।  और जैसा हमने सुना है कि 24 घंटे बाद दूसरे सूर्य का उदय होता है । 48 घंटे बाद पहला सूर्य पृथ्वी पर दिखायी देगा।

तो जैसा सूत्र में लिखा है कि लवण समुद्र में 4 , घातकी खण्ड में 12 सूर्य हैं तो

(1) वहाँ दिन रात की अवधि में वे सूर्य  किस turn से आतें हैं ? या एक साथ 2 या अधिक सूर्य होतें हैं?

सूत्र में बताया गया है कि घातकी खण्ड व पुष्कार्ध द्वीप के आधे ज्योतिष देव मेरू की प्रदक्षिणा करतें हैं तो

(2) क्या वे पृथ्वी से दिखाई नहीं देतें??

31/05/20, 5:05 pm - Ashok Jain: 1. एक समय में एक ही सूर्य और चंद्रमा दिखेंगे। सब का अपना चर इलाका है उन्हीं गलियों में होकर घूमते हैं। क्षेत्र भारत क्षेत्र से बहुत बड़ा होता गया है अतः वे अपनी अपनी गलियों में घूमते हैं।

2. वहां के निवासियों को दिखने में कहां बाधा है।

विशेष जानने के लिए तिलोय पणति ग्रंथ देखना चाहिए।

31/05/20, 5:09 pm - Ashok Jain: वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता :

*गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीना:॥२१॥*

सूत्रार्थ:  गति, शरीर, (परिग्रहाभिमानत:) अपरिग्रह और अभिमान की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव हीन-हीन हैं।

गति: सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देव विषयों की अधिक अभिलाषा होने से विषयक्रीड़ा आदि के निमित्त बार-बार इधर-उधर: घूमते रहते हैं, वैसे ऊपर के देव विशेष रूप से इधर उधर गमन नहीं करते, क्योंकि उनके विषयाभिलाशा क्रमशः कम हो जाती है अतः विषयों के निमित्त उनका गमन कम हो जाता है। (रा वा ८)

अहमिन्द्रों का परक्षेत्र में विहार नहीं होता, क्योंकि शुक्ल लेश्या के प्रभाव से अपने ही भोगों द्वारा संतोष को प्राप्त होने वाले अहमिन्द्रों को अपने निरुपद्रव सुखमय स्थान में जो उत्तम प्रीति होती है, वह उन्हें अन्य कहीं नहीं प्राप्त होती है। यही कारण है कि उनकी परक्षेत्र में क्रीड़ा करने की इच्छा नहीं होती है।(म पु ११/१४१-४२)

शरीर: उत्तम वर्ण, गंध,रस,स्पर्श आदि गुणों से युक्त ऐसे वैक्रियिक वर्गणा के दिव्य अनन्त परमाणुओं से देवों के शरीर की रचना होती है। (मू चा १०५५)

देवों के शरीर की ऊंचाई की अपेक्षा हीनता:

१९वें सूत्र में अवगाहना का चार्ट देखें।

परिग्रह और अभिमान: मन्द कषाय, अल्प संक्लेष परिणाम, अवधिज्ञान की विशुद्धि, तत्त्वालोकन और संवेग परिणामों की उत्तरोत्तर अधिकता होने से अभिमान की हानि होती है।

अवधिज्ञान की विशुद्धि से ऊपर-ऊपर के देव नारकी-तिर्यंच और मनुष्यों के विविध दुखों को स्पष्ट रूप से बार-बार देखते रहते हैं। उनके दुखों को देखकर उनके संवेग परिणाम और संसार से भीरुता होती है। अतः दुरन्त दुःख के कारण परिग्रह में अभिमान ऊपर-ऊपर हीन होता जाता है।

01/06/20, 11:40 am - Ashok Jain: वैमानिक देवों में लेश्याएं

*पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रिशेषेषु॥२२॥*

सूत्रार्थ: (द्वित्रिशेषेषु) दो युगलों में, तीन युगलों में तथा शेष के समस्त विमानों में क्रम से (पीतपद्मशुक्ललेश्या:) पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याएं (भवन्ति) होती हैं।

सौधर्म-ऐशान कल्प में पीत लेश्या होती है। सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्प में पीत और पद्य दो लेश्याएं होती हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, लान्तव-कापिष्ठ कल्पों में पद्म लेश्या होती हैं। शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार कल्पों में पद्म और शुक्ल लेश्याएं होती हैं। आनत-प्राणत, आरण-अच्युत कल्पों में शुक्ल लेश्या होती है। नवग्रैवेयक में शुक्ल लेश्या होती है। नव अनुदिश एवं पञ्च अनुत्तर विमानों में परम शुक्ल लेश्या होती है। (स. सि. ४/२२/४८५)

[राजवार्तिक कार के अनुसार अनुत्तर विमानों में ही परम शुक्ल लेश्या होती है।]

01/06/20, 3:40 pm - Ashok Jain: कल्पसंज्ञा कहां तक है

*प्राग्ग्रैवेयकेभ्य: कल्पा:॥२३॥*

सूत्रार्थ: (ग्रैवेयकेभ्य: प्राक्) ग्रैवेयकों से पहले-पहले अर्थात् सोलह स्वर्ग (कल्पा:) कल्प (कथ्यन्ते) कहलाते हैं।

पहले सौधर्म स्वर्ग से लेकर सौलहवें अच्युत स्वर्ग तक इन्द्र आदि की भेद कल्पना है। अतः यहीं तक कल्पवासी हैं। इनसे आगे नव ग्रैवेयक से इन्द्र आदि की भेद कल्पना नहीं होने से वे सब अहमिंद्र कहे जाते हैं अतः उनकी कल्पातीत संज्ञा नहीं है।

02/06/20, 12:12 pm - Ashok Jain: लौकांतिकों का लक्षण

*ब्रह्म-लोकालया लौकांतिका:॥२४॥*

सूत्रार्थ: (ब्रह्मलोकालया) ब्रह्मलोक- पांचवें स्वर्ग में निवास स्थान है, जिनका ऐसे देव (लौकांतिका:) लौकांतिक देव (कथ्यन्ते) कहलाते हैं।

प्रश्न- क्या ब्रह्म स्वर्ग के सभी देव लौकांतिक हैं?

उत्तर:- नहीं, ब्रह्मलोक सामान्य पद होने पर भी पांचवें स्वर्ग के निवासी सभी लौकांतिक नहीं होते, क्योंकि ब्रह्मलोक के अंत में रहने वाले लौकांतिक हैं। अथवा त्रिताप- जन्म, जरा, मरण से व्याप्त लोक है, उस लोक का अंत करना जिसका प्रयोजन है वे लौकांतिक हैं।

वे लौकांतिक निकट संसारी हैं। वहां से च्युत होकर गर्भवास प्राप्त कर नियम से मोक्ष चले जाते हैं। (रा वा २)

लौकांतिक देवों की विशेषताएं:

१) वे ब्रह्म लोक के अंत में रहने से लौकांतिक कहलाते हैं।(म पु १७/५०)

२) परम पवित्र भावों से देवों में ऋषि कहलाते हैं।

३) तीर्थंकर की दीक्षा के समय उन्हें प्रतिबोधन देने आते हैं।(रा वा ३)

४) स्वभाव से ब्रह्मचारी होते हैं। (मल्लि.६/२)

५) इनके शरीर का रंग शंख के समान सफेद है।(भ आ १४५ टीका)

६) सब लौकांतिक देव नियम से ग्यारह अंग के धारी, सम्यग्दर्शन से शुद्ध और स्वभाव से ही तृप्त होते हैं।(ति प ८/६६४)

७) इनके महिलादिक रुप परिवार नहीं होते हैं, इसलिए ये निरंतर संसार क्षय के कारणभूत वैराग्य की भावना भाते हैं।(ति प ८/६६५)

८) द्विचरम शरीर के धारक अर्थात् एक ही मनुष्य जन्म लेकर मोक्ष जाने वाले होते हैं।(ति प ८/६६७)

९) अनेक विषम क्लेशों से रहित वे सब देव तीर्थंकरों के दीक्षा-कल्याणकों में जाते हैं। (ति प ८/६६७)

१०) देवर्षि नाम वाले वे सब देवों से अर्चनीय, भक्ति में प्रसक्त और सर्वकाल स्वाध्याय में स्वाधीन होते हैं। (ति प ८/६६८)

११) इन देवों के शरीर का उत्सेध (ऊंचाई) ५ हाथ प्रमाण है। (ति प ८/६६३)

१२) वे देव शुक्ल लेश्या से शोभायमान होते हैं।(ति प ८/६६३)

१३) हीनाधिकता का अभाव होने से ये सभी स्वतंत्र हैं अर्थात् कोई किसी के अधीन नहीं है। (सुख बो त वृ २३२)

१४) सतत ज्ञानोपयोगी, सतत ज्ञान भावना से अविहित मन वाले, संसार से नित्य उद्विग्न, अनित्य-अशरण आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का निरंतर चिंतन करने वाले और अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं।

१५) लौकांतिक देव अत्यंत शांत, दीक्षाकल्याणक को सूचित करने वाले देवर्षि, ब्रह्मचारी, निर्मल हृदय, एकावतारी, प्रवीण, ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्व के पारगामी एवं दिव्यमूर्तिधारी होते हैं।(शा पु १५/१४६-१४९)

१६) वे सभी देवों में उत्तम होते हैं तथा उनकी भावनाएं शुभ रहती हैं।

(म पु १७/४९)

१७) वे देव बड़ी बड़ी ऋद्धियों को धारण करने वाले होते हैं।

(म पु १७/५०)

१८) वे पूर्व भव में श्रुतज्ञान का अभ्यास करते हैं। (म पु १७/४९-५०)

02/06/20, 3:39 pm - Ashok Jain: लौकांतिक देवों के नाम

*सारस्वतादित्य-वह्न्यरुण-गर्दतोय-तुषिताव्या बाधारिष्टाश्च॥२५॥*

सूत्रार्थ: लौकांतिक देवों के

(सारस्वतादित्य) सारस्वत, आदित्य (वह्न्यरुण) वह्नि, अरुण 'गर्दतोय', (तुषिताव्या बाधारिष्टाश्च) तुषित, अव्याबाध, और अरिष्ट ये आठ भेद हैं।

ब्रह्मलोक के अंत में पूर्व उत्तर आदि आठ दिशाओं में सारस्वत आदि देव रहते हैं।

पूर्वोत्तर कोण में सारस्वत (७००), पूर्व दिशा में आदित्य(१००), पूर्व-दक्षिण में वह्नि (७०००), दक्षिण में अरुण (७०००), दक्षिण-पश्चिम में गर्दतोय (९०००), पश्चिम में तुषित (९०००) और उत्तर-पश्चिम दिशा में अव्याबाध (११०११) देवों के विमान हैं। और उत्तर में अरिष्ट देव भी (११०११) हैं।

"च" शब्द से उक्त युगल देवों के मध्य में दो-दो देवों का निवास है।-

१) सारस्वत और आदित्य के मध्य अग्नाभ्य और सूर्याभ हैं।

२) आदित्य और वह्नि के मध्य चन्द्राभ और सत्याभ हैं।

३) वह्नि और अरुण के मध्य श्रेयस्कर और क्षेमंकर हैं।

४) अरुण और गर्दतोय के मध्य में वृषभेष्ट और कामचर हैं।

५) गर्दतोय और तुषित के मध्य

निर्माण और रजस् हैं।

६) तुषित और अव्याबाध देवों के मध्य आत्मरक्षित और सर्वरक्षित हैं।

७) अव्याबाध और अरिष्ट के मध्य मरुत और वसु हैं।

८) अरिष्ट और सारस्वत के मध्य में अश्व और विश्व हैं।

ये सब देव स्वतंत्र हैं, इनमें हीनाधिकता नहीं पाई जाती है।

(मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

03/06/20, 11:30 am - Ashok Jain: अनुदिश तथा अनुत्तर विमानों के देवों की विशेषता

*विजयादिषु द्विचरमा:॥२६॥*

सूत्रार्थ: (विजयादिषु) विजय, वैजयंत, जयंत, अपारिजत विमानों के अहमिन्द्र (द्विचरमा:) द्विचरम होते हैं।

विजयादि में 'आदि' शब्द (देवों के) प्रकार के अर्थ में लेना चाहिए। अतः इस आदि शब्द से विजय वैजयंत जयंत और अपराजित तथा (९) अनुदिश विमानों का ग्रहण सिद्ध होता है। इनमें द्विचरम उत्पन्न होते हैं, इनमें एकप्रकारता इसलिए है कि इनमें सभी सम्यग्दृष्टि और अहमिन्द्र होते हैं।

(रा वा १)

द्विचरम: यह देह का द्विचरमपना मनुष्य भव की अपेक्षा लिया है। जिसमें दो चरम भव होते हैं वे द्विचरम कहलाते हैं। जो विजयादिक से चयकर मनुष्य होते हैं। संयम धारण कर पुनः विजयादिक में जन्म लेते हैं, फिर वहां से चयकर मनुष्य होकर मोक्ष जाते हैं। इस प्रकार अधिक से अधिक मनुष्य के दो जन्म लेकर अवश्य ही मोक्ष जाते हैं। सिद्ध होते हैं। इस प्रकार यहां मनुष्य भव की अपेक्षा द्विचरमपना है। (सर्वा ४९३)

(अधिक से अधिक दो भव में मोक्ष प्राप्त होता है।)

कौन कौन से जीव कितने भव से मोक्ष जाते हैं-

लौकांतिक देव एक भव लेकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। सौधर्म इन्द्र एवं उसकी शची एक भवातारी हैं। सर्वार्थसिद्धि एवं लोकपाल एक भव लेकर मोक्ष जाते हैं। (श्लो ५/६४५)

दक्षिणेन्द्र एक भव लेकर मोक्ष जाते हैं।

03/06/20, 3:05 pm - Ashok Jain: तिर्यंच का लक्षण

*औपपादिक-मनुषेभ्य: शेषास्तिर्यग्योनय:॥२७॥*

सूत्रार्थ: (औपपादिक मनुष्येभ्य:) उपपाद जन्म वाले देव और नारकी तथा मनुष्यों से (शेषा:) भिन्न जीव (तिर्यग्योनय:) तिर्यंच (संति) हैं।

तिरोभाव होने से 'तिर्यग्' कहलाते हैं। तिरोभाव, न्यग्रभाव, उपबाह्य सब एकार्थवाची है। अतः कर्मोदय से अपादित भाव अर्थात् कर्मोदय से जिनमें तिरोभाव हैं, वे तिर्यग्योनि हैं। तिर्यंच योनि जिनके है वे तिर्यग्योनि कहलाते हैं। योनि का अर्थ जन्म होता है। तिर्यंचों में जन्म लेने वाले तिर्यग्योनिज कहलाते हैं। इसके त्रस-स्थावर भेद पहले बताये जा चुके हैं। (रा वा ३)

सूक्ष्म और बादर के भेद से तिर्यंच दो प्रकार के हैं। ये दोनों सूक्ष्म और बादर नामकर्म के उदय से अपादित भाव की अपेक्षा से हैं। उनमें सूक्ष्म पृथ्वी-अप-तेज-वायुकायिक और वनस्पति जीव सर्वलोकव्यापी हैं परन्तु बादर पृथ्वी-जल-तेज-वायु-वनस्पति, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लोक के कुछ भागों में पाये जाते हैं, सर्वत्र नहीं। (रा वा ५)

03/06/20, 3:08 pm - Ashok Jain: ** निगोदिया जीव को साधारण वनस्पतिकायिक जीवों में रखा गया है इसलिए वे भी तिर्यंच हैं।

04/06/20, 10:12 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): तीसरे अध्याय में गुरुदेव ने हमें बतलाया है कि तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की है। ये तिर्यंच कौन हैं , यह समझाने के लिए चौथे अध्याय का 27 वें सूत्र में कहते हैं कि उपपाद जन्म लेने वाले नारकी और मनुष्यों के सिवाय सभी संसारी जीव तिर्यंच योनि वाले हैं।

कुलकरों से मनुओं से उत्पन्न होने वाले मनुष्य कहलाते हैं।

जो मन-वचन -काय की कुटिलता को प्राप्त हैं , जो निकृष्ट अज्ञानी हैं और जिनके अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जाती है , वे तिर्यंच कहे गये हैं।

ये तिर्यंच दो प्रकार के होते हैं - सूक्ष्म और बादर। सूक्ष्म यथा पृथ्वी , जल , अग्नि , वायु और वनस्पतिकायिक जीव सर्व लोक व्यापी हैं।

बादर पृथ्वी , जल , अग्नि , वायु और वनस्पतिकायिक तथा विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सर्वत्र नहीं रहते।

आचार्य देव को दूसरे अध्याय में ही तिर्यंचों का निर्देश करना चाहिए था , किन्तु चूँकि समस्त लोक तिर्यंचों का आधार है , इसलिए देव , मनुष्य और नारकी आदि सबका आधार बतलाकर , उससे अन्य शेष तिर्यंच हैं , इस प्रकार शेष का बोध कराते हुए युक्तिसंगत रूप से यहाँ उनका निर्देश किया है।

04/06/20, 11:38 am - Ashok Jain: भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु

*स्थितिरसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्ध-हीनमिता: ॥२८॥*

सूत्रार्थः [भवशवासिषु] भवनवासियों में (असुर,नाग,सुपर्ण,द्वीप,शेषाणां) असुर कुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार और शेष छः कुमारों की (स्थिति) उत्कृष्ट आयु क्रमशः (सागरोपम) एक सागर, (त्रिपल्योपमधार्थ-हीनमिता:) तीन पल्य, तथा आधा-आधा पल्य कम अर्थात् २-१/२ पल्य, २ पल्य, तथा शेष की १-१/२ पल्य की आयु की है।

भवनवासी देवों में उत्कृष्ट आयु:

असुरकुमार देव: १ सागरोपम,

नागकुमार देव: ३ पल्य,

सुपर्णकुमारः ढाई पल्य,

द्वीपकुमारः दो पल्य,

शेष- विद्युतकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार और दिक्ककुमार देवों की उत्कृष्ट आयु डेढ़-डेढ़ पल्य है।

04/06/20, 4:04 pm - Ashok Jain: सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु

*सौधर्मैशानयो: सागरोपमे अधिके॥२९॥*

सूत्रार्थ: (सौधर्मैशानयो:) सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु (सागरोपमे) दो सागर से कुछ (अधिके) अधिक है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की उत्कृष्ट आयु घातायुष्क की अपेक्षा आधा सागर अधिक है। यह सौधर्म और ऐशान स्वर्ग से सहस्रार स्वर्ग तक आधा-आधा सागर अधिक है। क्योंकि घातायुष्क जीव सहस्रार के ऊपर उत्पन्न नहीं होते हैं।(मू आ ११२१).

सौधर्म स्वर्ग और ऐशान स्वर्ग में इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक तथा त्रायस्त्रिंश की उत्कृष्ट आयु ढाई सागर है। इन दोनों स्वर्गों में अन्य देवों की उत्कृष्ट आयु इनसे कम है।

विशेष:

"घातायुष्क" उस जीव को कहते हैं जो पहले आयु बंध के अपकर्ष काल में विशुद्ध परिणामों के कारण अधिक आयु की स्थिति बंध कर किसी उपरिम स्वर्ग की आयु का बंध करता है किन्तु किसी बाद के अपकर्ष काल में परिणामों की विशुद्धता में कमी के कारण कम स्थिति कर लेता है यह उस जीव की घातायुष्क कहलाती है।

05/06/20, 11:56 am - Ashok Jain: सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु

*सानत्कुमार-माहेन्द्रयो: सप्त॥३०॥*

सूत्रार्थ: (सानत्कुमारमाहेन्द्रयो:) सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु (सप्त) सात सागर से कुछ अधिक है।

सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु ७-१/२ सागर है।

(यहां भी घातायुष्क की अपेक्षा से लगाना है। और उनमें उत्पन्न अन्य देवों की आयु इनसे कम है।)

05/06/20, 4:30 pm - Ashok Jain: ब्रह्म से अच्युत स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु

*त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥*

सूत्रार्थ: [उपर्युक्त सूत्र में सात सागर की आयु बताया है] उसमें (त्रि-सप्त-नव-एकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभि:) ३/७/९/११/१५ सागर (अधिकानि तु) जोड़ देने से आगे के छह कल्पयुगलों में देवों की उत्कृष्ट आयु होती है।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के इन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक-एवं त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु १०-१/२ सागर।

लान्तव-कापिष्ठ स्वर्ग के इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु १४-१/२ सागर।

शुक्र-महाशुक्र स्वर्ग के इन्द्र, प्रतीन्द्र सामानिक, त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु १६-१/२ सागर।

शतार-सहस्रार स्वर्ग में इन्द्र, प्रतीन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु १८-१/२ सागर।

(👆यहां तक घातायुष्क की अपेक्षा से आयु लगाना है।)

आनत-प्राणत स्वर्ग में इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु २० सागर।

आरण-अच्युत स्वर्ग में इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश देवों की उत्कृष्ट आयु २२ सागर।

नोट: सूत्र में 'तु' शब्द का अर्थ है कि पूर्व सूत्र में कथित अधिक शब्द का सम्बन्ध चार युगल के साथ करना चाहिए। उसके आगे के स्वर्गों में आयु सागरों से कुछ अधिक नहीं है। इस 'तु' शब्द से अधिक का अन्वय सहस्रार स्वर्ग तक ही होता है। (रा वा २)

06/06/20, 11:34 am - Ashok Jain: ग्रैवयिक, अनुदिश और अनुत्तर देवों की उत्कृष्ट आयु

*आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयिकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च॥३२॥*

सूत्रार्थ: (आरणाच्युतादूर्ध्वम्) आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर (नवसु ग्रैवेयिकेषु) नव ग्रैवेयिकों और नव अनुदिशों में (विजयादिषु) विजय आदि चार विमानों में (च) और (सर्वार्थसिद्धौ) सर्वार्थसिद्धि विमान में (एकैकैन) एक-एक सागर बढ़ती हुई आयु है।

नवग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु:

अधोग्रैवेयकों में प्रथम ग्रैवेयक- २३ सागर।

दूसरे ग्रैवेयक में २४ सागर।

तीसरे ग्रैवेयक में २५ सागर।

मध्यम ग्रैवेयकों में प्रथम ग्रैवेयक में - २६ सागर।

दूसरे ग्रैवेयक में २७ सागर।

तीसरे ग्रैवेयक में २८ सागर।

उपरिम ग्रैवेयकों में प्रथम ग्रैवेयक में २९ सागर।

दूसरे ग्रैवेयक में ३० सागर।

तीसरे ग्रैवेयक में ३१ सागर।

विजय, वैजयंत, जयंत और अपारिजत

चारों अनुत्तरों में ३३ सागर।

सर्वार्थसिद्धि में ३३ सागर ।

*सर्वार्थसिद्धि में उत्कृष्ट आयु ही है, जघन्य नहीं। (रा वा ३)

**अर्थात् सर्वार्थसिद्धि विमान के अतिरिक्त अन्य विमानों की जो आयु लिखी है वह उत्कृष्ट आयु है और वहां जघन्य आयु उस विमान से ठीक नीचे वाले विमान की उत्कृष्ट आयु होती है।

06/06/20, 3:53 pm - Ashok Jain: सौधर्म ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु

*अपरा पल्योपमधिकम् ॥३३॥*

सूत्रार्थ: सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में (अपरा) जघन्य आयु (पल्योपमम् अधिकम्) एक पल्य से कुछ अधिक होती है।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु एक पल्य और एक समय अधिक एक लाख वर्ष प्रमाण है। क्योंकि ज्योतिष्क देवों की जो उत्कृष्ट आयु है, वह सौधर्म-ऐशान स्वर्ग के देवों की एक समय अधिक जघन्य आयु है। (मू. ११२० आ.)

07/06/20, 11:37 am - Ashok Jain: शेष देवों में जघन्य आयु

*परत: परत: पूर्वापूर्वाऽनन्तरा॥३४॥*

सूत्रार्थ: उर्ध्वलोक में (पूर्वापूर्वा) पहले-पहले देवों की उत्कृष्ट आयु (परत: परत:) आगे-आगे के देवों में (अनन्तरा) जघन्य आयु है।

सानत्कुमारादि स्वर्गों के देवों की जघन्य आयु:

सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु - एक समय अधिक ढाई सागर।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर- एक समय अधिक ७-१/२ सागर।

लान्तव-कापिष्ठ- एक समय अधिक १०-१/२ सागर।

शुक्र-महाशुक्र- एक समय अधिक १४-१/२ सागर।

शतार-सहस्रार- एक समय अधिक १६-१/२ सागर।

आनत-प्राणत- एक समय अधिक १८ सागर।

आरण-अच्युत- एक समय अधिक २० सागर।

इसी प्रकार एक समय अधिक होकर आगे पूर्व पूर्व के स्वर्गों की उत्कृष्ट आयु आगे आगे के स्वर्गों की जघन्य आयु हो जाती है।इस प्रकार तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु पर्यंत यही व्यवस्था समझनी चाहिए। (मू ११२० आ.)

07/06/20, 3:46 pm - Ashok Jain: द्वितीयादि नरकों में जघन्य आयु

*नारकाणां च द्वितीयादिषु॥३५॥*

सूत्रार्थ: (द्वितीयादिषु) दूसरे आदि नरकों में (नारकाणां च) नारकियों की जघन्य आयु भी देवों के समान है। अर्थात् पहले नरक में जितनी उत्कृष्ट आयु है उतनी ही दूसरे नरक में जघन्य आयु है। इसी प्रकार समस्त नरकों में समझना चाहिए।

दूसरे नरक में जघन्य आयु एक समय अधिक एक सागर।

तीसरे नरक में जघन्य आयु एक समय अधिक तीन सागर।

चौथे नरक में जघन्य आयु एक समय अधिक सात सागर।

पांचवें नरक में जघन्य आयु एक समय अधिक दस सागर।

छठे नरक में जघन्य आयु एक समय अधिक सत्रह सागर। और

सातवें नरक में नारकी जीव की जघन्य आयु एक समय अधिक बाइस सागर।

(मू ११९७-१८आ.)

09/06/20, 11:37 am - Ashok Jain: प्रथम नरक में जघन्य आयु

*दश-वर्ष-सहस्राणि प्रथमायाम॥३६॥*

सूत्रार्थ: (प्रथमायाम) पहले नरक में नारकियों की जघन्य आयु (दश-वर्ष-सहस्राणि) दश हजार (१०,०००) वर्ष की है।

प्रथम नरक के प्रथम पटल के नारकियों की जघन्य आयु १०,००० वर्ष है।

दूसरे और तीसरे पटल के  - ९०,००० वर्ष।

चौथे पटल के - असंख्यात कोटि पूर्व।

पांचवें पटल के - १/१० सागर।

छठे पटल के - १/५ सागर।

सातवें पटल के - ३/१० सागर।

आठवें पटल के - २/५ सागर।

नवें पटल के - १/२ सागर।

दसवें पटल के - ३/५ सागर।

ग्यारहवें पटल के - ७/१० सागर।

बारहवें पटल के - ४/५ सागर। और

तेरहवें पटल के नारकियों की जघन्य आयु - ९/१० सागर है। (त्रि सा ११८-२००)

09/06/20, 11:41 am - Ashok Jain: भवनवासी देवों की जघन्य आयु

*भवनेषु च ॥३७॥*

सूत्रार्थ: (च) और (भवनेषु) भवनवासी देवों की भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

भवनवासी देवों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है।

09/06/20, 11:46 am - Ashok Jain: व्यंतरदेव की जघन्य आयु

*व्यन्तराणां च॥३८॥*

सूत्रार्थ: (च) और (व्यन्तराणाम्) व्यन्तर देवों की भी जघन्य आयु दश हजार वर्ष की है।

व्यन्तर देवों की जघन्य आयु भी दश हजार वर्ष की है।

10/06/20, 3:29 pm - Ashok Jain: व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट

*परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥*

सूत्रार्थ: (व्यन्तरेषु) व्यन्तर देवों में (परा) उत्कृष्ट आयु (पल्योपममधिकम्) एक पल्य से कुछ अधिक है।

व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक, मध्यम आयु असंख्यात वर्ष प्रमाण और जघन्य आयु दश हजार वर्ष प्रमाण है। (ति प ६/८३)

व्यन्तरों में किन्नर आदिक देवों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण है तथा घातायुष्क की अपेक्षा डेढ़ पल्य है।

(मू. १११९ आ.)

11/06/20, 11:14 am - Ashok Jain: ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु

*ज्योतिष्काणां च॥४०॥*

सूत्रार्थ: ज्योतिष देवों की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्य है।

ज्योतिषी देवों में चन्द्रमा की उत्कृष्ट आयु- एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य।

सूर्य- एक हजार वर्ष अधिक एक पल्य।

शुक्र- सौ वर्ष अधिक एक पल्य।

वृहस्पति- सौ वर्ष कम एक पल्य।

मंगल, बुध, शनैश्चर और केतु आदि ग्रहों की तथा किन्हीं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु- आधा पल्य।

ताराओं की तथा किन्हीं नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु- पाव पल्य। (मू. आ. ११२४-२५)

चन्द्र आदि की उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्य तथा घातायुष्क की अपेक्षा डेढ़ पल्योपम प्रमाण है। (मू.आ. ११२०).

11/06/20, 11:23 am - Ashok Jain: ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु

*तदष्टभागोऽपरा॥४१॥*

सूत्रार्थ: ज्योतिषी देवों की (अपरा) जघन्य स्थिति (तत्) उसके [उत्कृष्ट आयु के] (अष्टभाग:) आठवें भाग प्रमाण है।

ज्योतिषी देवों में तारा तथा नक्षत्रों की जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण है। शेष सूर्य, चन्द्रमा, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि की जघन्य स्थिति पल्य के चतुर्थ भाग प्रमाण जानना चाहिए। (रा वा ८-९).

11/06/20, 3:14 pm - Ashok Jain: लौकांतिक देवों की आयु

*लौकान्तिकाना-मष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥*

सूत्रार्थ: (सर्वेषाम्) समस्त (लौकान्तिकानाम्) लौकांतिक देवों में जघन्य और उत्कृष्ट आयु (अष्टौ सागरोपमाणि) आठ सागर प्रमाण (अस्ति) है।

लौकांतिक देवों की उत्कृष्ट और जघन्य आयु आठ सागर प्रमाण जाननी चाहिए। (रा वा १) इनमें अरिष्ट कुल के लौकांतिक देवों की आयु ९ सागर की होती है।(त्रि सा ५/५४०)

इन सभी लौकांतिक देवों के शरीर का उत्सेध पांच हाथ प्रमाण है और ये सभी लौकांतिक देव शुक्ल लेश्या के धारक होते हैं।

11/06/20, 3:16 pm - Ashok Jain: *॥इति तत्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्याय:॥*

11/06/20, 3:23 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

11/06/20, 3:54 pm - Ashok Jain: जय जिनेन्द्र

हम सब साथ साथ जुड़कर स्वाध्याय कर रहे हैं। स्वाध्याय के लिए जिन प्राचीन शास्त्रों का उल्लेख किया जा रहा है वे सब पूज्य आर्यिका मां १०५ श्री विज्ञानमति माताजी द्वारा संकलित श्री तत्त्वार्थ मंजुषा से साभार उद्धरित हैं। धन्यवाद 🙏

11/06/20, 3:57 pm - Ashok Jain: आपकी जिज्ञासा हेतु ग्रुप आपन कर रहे हैं। कृपया सूत्र को टेग करके ही जिज्ञासा भेजें।

सबसे निवेदन है कृपया अन्य कोई मैसेज न भेजें।

11/06/20, 3:57 pm - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

11/06/20, 4:26 pm - Suresh Kumar Jain (Bhanu Father): Pepar kab raha h

11/06/20, 4:29 pm - Ashok Jain: रविवार शाम ८ बजे

11/06/20, 4:34 pm - P C Jain Rafigunj: <Media omitted>

11/06/20, 4:47 pm - P C Jain Rafigunj: चारों देवों के सामान्य भेद

*इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्मरक्ष-लोक-पालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य- किल्विषिकाश्चैकश:॥४॥*

सूत्रार्थ: उक्त चार प्रकार के देवों में (एकश:) प्रत्येक के 'इन्द्र', 'सामानिक', 'त्रायस्त्रिंश', (पारिषत्) 'पारिषद्', 'आत्मरक्ष', (लोकपालानीक) 'लोकपाल', 'अनीक', 'प्रकीर्णक', 'आभियोग्य', और (किल्विषिका:) किल्विषिक ये दश-दश भेद होते हैं।

☞ इन्द्र: दूसरे देवों में रहने वाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धियों से परम ऐश्र्वर्य को प्राप्त देवों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं।

☞ सामानिक: आयु, शक्ति, परिवार, भोग, उपभोग, आदि में इन्द्र के समान किंतु आज्ञा और ऐश्वर्य से रहित देवों को सामानिक कहते हैं।

☞ त्रायस्त्रिंश: जो देव, पिता, मंत्री, पुरोहित, या गुरु के समान होते हैं उन देवों को त्रायस्त्रिंश कहते हैं। एक इन्द्र के परिवार में इनकी संख्या ३३ होती है, अधिक नहीं।

☞ परिषद्: इन्द्र की सभा के अभ्यंतर, मध्य और बाह्य पारिषदों के

सदस्य होते हैं।

☞ आत्मरक्ष: इन्द्र के अङ्गरक्षक के समान देवों को आत्मरक्ष कहते हैं।

☞ लोकपाल: कोतवाल के समान रक्षक का कार्य करने वाले देवों को लोकपाल कहते हैं।

☞ अनीक: पैदल आदि सात प्रकार की सेना में विभक्त देवों को अनीक कहते हैं।

☞ प्रकीर्णक: नगर निवासी सामान्य जनता के समान देवों को प्रकीर्णक कहते हैं।

☞ आभियोग्य: हाथी घोड़ा आदि बनकर दासों के समान संवारी (वाहन) आदि के काम आने वाले देवों को आभियोग्य कहते हैं।

☞ किल्विषिक: अन्तज्य-तुल्य चाण्डालादि की भांति दूर ही रहने वाले पापी देवों को किल्विषिक कहते हैं। ये भेद प्रत्येक निकाय में होते हैं और इन्द्र के ऐश्वर्य का द्योतक है। (किल्विष का अर्थ पाप है)

11/06/20, 4:50 pm - Usha Jain, Nagour: ऊपर स्वर्ग की आयु का बंध किया। घातायुष्क के कारण उसके नीचे स्वर्ग में जन्म होगा क्या **?**

11/06/20, 4:50 pm - Usha Jain, Nagour: 🙏🙏🙏

11/06/20, 4:52 pm - Ashok Jain: देव किसे कहते हैं ?

आभ्यन्तर कारण देवगति नाम कर्म का उदय होने पर जो नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप समुद्रादि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं।

जो दिव्य भाव-युक्त अणिमादि आठ गुणों से नित्य क्रीड़ा करते रहते हैं और जिनका प्रकाशमान दिव्य शरीर है, वे देव कहलाते हैं।

दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । (स.सि., 4/1/443)

11/06/20, 4:54 pm - Usha Jain, Nagour: घातायुष्क चारों गतियों में होता है क्या **?**

11/06/20, 4:58 pm - Ashok Jain: इन्द्र: दूसरे देवों में रहने वाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धियों से *परम ऐश्र्वर्य को प्राप्त* देवों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं।

माताजी ने लिखा जो लिखा है, वह भी सही है, कथन का अन्तर है।

11/06/20, 5:02 pm - Ashok Jain: सूत्र २९ में परिभाषित किया है।

12/06/20, 5:32 am - +91 90343 31521: आप सभी को सादर जय जिनेन्द्र जी🙏☺🙏

12/06/20, 8:28 am - Ashok Jain: बीना जी

कृपया इस प्रकार के मैसेज इस ग्रुप में न भेजें।

स्वाध्याय में विघ्न होता है।

12/06/20, 2:03 pm - Ashok Jain: जय जिनेन्द्र

आशा है आप सब चतुर्थ अध्याय का रिविजन कर रहे होंगे। आगामी रविवार शाम 8 बजे प्रश्न पत्र भेजूंगा। अवधि एक घंटा।

किसी को समय के लिए यदि असुविधा हो तो मुझे सम्पर्क करें।

धन्यवाद 🙏

12/06/20, 4:21 pm - +91 79755 75081 left

12/06/20, 7:22 pm - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 🙏🙏🙏

12/06/20, 7:45 pm - P C Jain Rafigunj: <Media omitted>

12/06/20, 7:46 pm - P C Jain Rafigunj: 9000योजन की जगह 90000होगा

12/06/20, 7:55 pm - Usha Jain, Nagour: 1000 योजन चित्रा पृथ्वी के अन्दर चित्रा पृथ्वी के बोटम तक। 99000योजन ऊंचा और 40 योजन की चुलिका इतना विस्तार है मध्यलोक का

7राजु में 1लाख 40 योजन कम उर्ध्व लोक का विस्तार होता है।

🙏 सही जानकारी तो विद्वान जन देंगे। 🙏

12/06/20, 9:46 pm - Ashok Jain: उर्ध्वलोक- सात राजू में से एक लाख चालीस योजन घटाने से जो क्षेत्रफल आयेगा, उसे उर्ध्वलोक का क्षेत्र कहते हैं। लोकाकाश के अंत तक।

ज्योतिषी देव का क्षेत्र -मध्य लोक एक लाख चालीस योजन क्षेत्र में ही एक सो दश योजन का है।

सात राजू का अधोलोक है।

12/06/20, 10:33 pm - +91 88889 57928 left

13/06/20, 5:41 am - +91 90343 31521: आप सभी को सादर जय जिनेन्द्र जी🙏🙏

13/06/20, 6:08 am - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

13/06/20, 12:56 pm - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

13/06/20, 7:31 pm - P C Jain Rafigunj: ऊर्द्वव लोक में 63 पटल हैं ।वो केसे है?

13/06/20, 9:49 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

13/06/20, 9:50 pm - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

14/06/20, 1:28 pm - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

14/06/20, 1:29 pm - Ashok Jain: जय जिनेन्द्र

आशा है आप सब चतुर्थ अध्याय का रिविजन कर रहे होंगे। आज रविवार शाम 8 बजे प्रश्न पत्र भेजूंगा। अवधि एक घंटा।

किसी को समय के लिए यदि असुविधा हो तो मुझे सम्पर्क करें।

धन्यवाद 🙏

14/06/20, 2:55 pm - Asha Jain: उस समय करणानुयोग की अरदास चलती है

14/06/20, 2:55 pm - Asha Jain: क्लास

14/06/20, 2:56 pm - Ashok Jain: पहले का समय बता दें

14/06/20, 8:00 pm - Ashok Jain: https://docs.google.com/forms/d/e/1FAIpQLSeo4WHCXSnceVaI7_7pWTLJ_qnJFwuVTgbXoRpmwK0rNO-imA/viewform

14/06/20, 9:36 pm - Ashok Jain: कल सुबह ११ बजे के पहले तक जो भी उत्तर देना चाहें, दे सकते हैं।

14/06/20, 9:38 pm - Asha Jain: धन्यवाद

15/06/20, 5:27 am - +91 90343 31521: आप सभी को सादर जय जिनेन्द्र जी🙏🙏🌹

15/06/20, 10:20 am - Ashok Jain: अंतिम 40 मिनट

15/06/20, 11:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

15/06/20, 11:17 am - Ashok Jain: आप सभी देख सकते हैं 41.08/50 औसत मार्क हैं, बहुत संतोषजनक है।

कोई भी यदि किसी कारण भाग नहीं ले पाये और आगामी शनिवार-रविवार तक भाग लेना चाहते हैं तो मुझे पर्शनल सम्पर्क करें। #9903049783

15/06/20, 11:29 am - Ashok Jain: 30 से 45 नम्बर जिनके भी आये हैं। आप सब को बहुत बहुत धन्यवाद और बधाई।

30 से कम और 45 से ज्यादा जिनके आये हैं वे सभी अपने-अपने पेपर में नाम के नीचे देखें। कुछ है आपके लिए।

आप सब को बहुत बहुत धन्यवाद 🙏🙏🙏

15/06/20, 11:29 am - Ashok Jain: पांचवां अध्याय कल सुबह से 11 बजे बाद शुरू करेंगे।

15/06/20, 5:18 pm - Asha Jain: सानतकुमार माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की आयु में कन्फ्यूजन है

सूत्र - सानत्कुमार माहेन्द्रयो सप्त:

तो साढ़े सात सागर कैसे माने

15/06/20, 5:46 pm - Ashok Jain: 29 वें सूत्र से "अधिके' शब्द लगता है। और घातायुष्क आयु है इसलिए साढे सात सागर की आयु बनती है।

सूत्र ३० में मैंने लिखा है।

16/06/20, 10:42 am - Ashok Jain: <Media omitted>

16/06/20, 10:42 am - Ashok Jain: Is audio me sanyaggyan ke 8 angon ka varnan h

16/06/20, 10:47 am - Ashok Jain: 👆 इसे सबको सुनना चाहिए। इसका वर्णन श्री दर्शनपाहुड़ जी ग्रंथ में आचार्य भगवंत श्री कुंदकुंद देव ने किया है। आवाज SSsjain की है।

16/06/20, 10:49 am - Asha Jain: बहुत सुंदर

16/06/20, 10:50 am - Ashok Jain: *सम्यग्ज्ञान के आठ अंग

16/06/20, 11:10 am - Ashok Jain: अबतक हमने चार अध्याय पूर्ण कर लिये हैं। आप सब का बहुत अच्छा साथ है। ग्रुप को आगे खुला रखना चाहते हैं लेकिन यह आप पर निर्भर होगा कि आप किसी भी तरह का अनावश्यक मैसेज जैसे जय जिनेन्द्र आदि तथा अन्य ग्रुप से फारवर्ड मैसेज (चाहे कितना भी अच्छा हो) नहीं भेजेंगे। 🙏

ग्रुप में जिस सूत्र का स्वाध्याय चल रहा है उससे संबंधित जिज्ञासा तथा अन्य जानकारी का स्वागत है।

16/06/20, 11:15 am - Sanjay (Snehlata): I would request to keep it admin only,so that our swadhyay remain uninterrupted

16/06/20, 11:22 am - Ashok Jain: *अथ पंचमोध्याय:*

अब आगे द्रव्यों के बारे में समझेंगे।। द्रव्य कितने हैं, कहां अवस्थित हैं, जीव के प्रति उपकार क्या है, उत्पत्ति कैसे होती है, लक्षण क्या है, प्रदेश कितने हैं, ये द्रव्य कायवान है या बिना कायवान, तथा इनके गुण आदि के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे।

16/06/20, 11:22 am - Ashok Jain: कुछ दिन देखते हैं।

16/06/20, 11:25 am - Ashok Jain: <Media omitted>

16/06/20, 11:26 am - Ashok Jain: 👆 पांचवें अध्याय का वाचन

आदरणीय पारस भाई साहब द्वारा

16/06/20, 1:01 pm - +91 94140 42415: Need this chat 👍🙏

16/06/20, 2:01 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

16/06/20, 2:40 pm - +91 99931 80905 left

16/06/20, 4:02 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

16/06/20, 4:02 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

16/06/20, 4:02 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

16/06/20, 4:02 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

16/06/20, 4:02 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

16/06/20, 4:55 pm - Ashok Jain: अजीव तथा बहुप्रदेशी द्रव्य

*अजीवकाया धर्माधर्माकाश-पुद्गला:॥१॥*

सूत्रार्थ: (धर्माधर्माकाश-पुद्गला:) धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल (अजीव-काया) अजीव और बहुप्रदेशी [कायवान] द्रव्य है।

धर्मादि द्रव्यों में कायत्व: जैसे औदारिक शरीर नामकर्म के उदय के वश/कारण से पुद्गलों का संचय करने के कारण काय कहलाता है, उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्यों के भी अनादि पारिणामिक प्रदेशों के संचय होने से कायत्व है। काय अर्थात् शरीर के समान ये बहुत प्रदेशों के धारक हैं। (रा वा ७) इस कारण से जिनेन्द्रदेव ने इनको 'काय' कहा है। (वृ.द्र.सं.२४टी.)

आगे सूत्र ८ में विशेष समझेंगे।

धर्मद्रव्य: गमन में परिणत (चलते हुए) जीव और पुद्गल को गमन में सहकारी धर्मद्रव्य है। जैसे मछलियों को गमन में जल सहकारी है। गमन न करते हुए पुद्गल और जीवों को धर्मद्रव्य गमन नहीं कराता है। (द्र सं १७)

अधर्म द्रव्य: ठहरे हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहकारी कारण अधर्म द्रव्य है। जैसे छाया यात्रियों को ठहरने में सहकारी है। गमन करते हुए जीव और पुद्गलों को अधर्म द्रव्य नहीं ठहराता है। (द्र सं १८)

आकाश द्रव्य: पदार्थों के अवगाह (रहने का स्थान देने की योग्यता) का जो कारण है, वह आकाश है। आकाश स्थित है, नित्य है, चौकोर है (चारों ओर से समान घनाकार रुप है) तथा अनन्तानन्तप्रदेशी है (आ सा ३/२४)

पुद्गल द्रव्य: जैसे भा-प्रभा को करने वाला भास्कर है। इस प्रकार भासन रूप अर्थ को अन्त:प्रविष्ट कर भास्कर संज्ञा सार्थक है। उसी प्रकार जो भेद से, संघात से और भेद-संघात से पूरण और गलन को प्राप्त हो वे पुद्गल कहलाते हैं। अथवा पूरण-गलन रूप सार्थक नाम वाला पुद्गल है। (रा वा २४)

16/06/20, 5:04 pm - +91 94140 42415: Thank You ? *Ashok ji*

17/06/20, 5:55 am - +91 90343 31521: आप सभी को सादर जय जिनेन्द्र जी🙏🙏🙏

17/06/20, 8:24 am - Ashok Jain: आपको बार-बार मना किया जा रहा है।

ऐसे कोई मैसेज न भेजें।

कृपया ध्यान रखें

17/06/20, 8:39 am - +91 81051 45817 left

17/06/20, 11:28 am - Ashok Jain: द्रव्यों की गणना

*द्रव्याणि॥२॥*

सूत्रार्थ: उपर्युक्त धर्मादि चार पदार्थ द्रव्य हैं।

द्रव्य: स्व [उपादान] और पर प्रत्ययों [कारणों] से होने वाले उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों को जो प्राप्त होते हैं वा पर्यायों के द्वारा जो प्राप्त किये जाते हैं वे द्रव्य कहलाते हैं। (रा वा १)

स्व और पर प्रत्यय: द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप बाह्य कारण पर-प्रत्यय कहलाते हैं। तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति स्व-प्रत्यय है। बाह्य कारणों के रहने पर भी यदि द्रव्य में स्वयं उस पर्याय की योजना न हो तो वह पर्यायान्तर को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः स्वप्रत्यत ही समर्थ कारण है। (रा वा १)

स्व और पर दोनों कारण मिलकर ही पदार्थो के उत्पाद और व्यय में कारण होते हैं, एक के भी अभाव में उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते। जैसे- पकने योग्य उड़द यदि बोरे में पड़ा हुआ है तो भी पाक नहीं हो सकता (पक नहीं सकता) और यदि घोटक (नहीं पकने योग्य उड़द बटलोई में उबलते हुए पानी में भी डाला जाय तो भी वह नहीं पकता। अतः उभय हेतुक उत्पाद-व्यय है।(रा वा १)

17/06/20, 4:19 pm - Ashok Jain: जीव के द्रव्यपना

*जीवाश्च॥३॥*

सूत्रार्थ: जीव भी द्रव्य है।

जीवा:- जीवों की विविधता का सूचन करने के लिए 'जीवा:' बहुवचन किया है। संसारी और मुक्त जीव अनेक प्रकार के हैं। संसारी जीव भी गति, इन्द्रिय, चौदह मार्गणास्थान, मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान, सूक्ष्म-बादर आदि जीवस्थान की अपेक्षा विविध प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव भी एक दो तीन संख्यात, असंख्यात और अनन्त समय सिद्ध पर्याय के आश्रय से तथा मुक्ति-प्राप्ति के कारण भूत शरीर के आकार की अनुविधायी स्वक्षेत्र-परक्षेत्र, अवगाहन आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। (रा वा ४).

३८ वें सूत्र में कालद्रव्य का भी कथन होगा। इसलिए इन सबको मिलाने पर जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आकाशशद्रव्य और कालद्रव्य ये छह द्रव्य होते हैं। इनसे अतिरिक्त द्रव्य नहीं होते।

17/06/20, 8:10 pm - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

18/06/20, 10:25 am - Ashok Jain: अनुविधायी- विशेषण [संस्कृत अनुविधायिन्]  अर्थात् मिलता जुलता या तद्रूप को कहते हैं

18/06/20, 12:04 pm - Ashok Jain: द्रव्यों की विशेषता

*नित्यावस्थितान्यरूपाणि॥४॥*

सूत्रार्थ: पूर्वोक्त सभी द्रव्य (नित्य) नित्य हैं , (अवस्थितानि) अवस्थित हैं, एवं (अरूपाणि) अरूपी हैं।

ये द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी हैं।

नित्य: नित्य शब्द का अर्थ ध्रौव्य है। 'ने ध्रुवे' नि धातु ध्रुव अर्थ में है इसलिए 'नित्य' शब्द का ध्रौव्य जानना चाहिए। अथवा जिस भाव से पदार्थ उपलक्षित है उसका उसी रूप में रहना द्रव्य है। द्रव्य के भाव का नाश नहीं होना ही नित्यत्व है, धर्मादि द्रव्य जिन-जिन गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व आदि विशेष लक्षणों से तथा अस्तित्व आदि सामान्य लक्षणों से युक्त है, उन-उन स्वभावों का द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा कभी नाश नहीं होता। इसी तद्भावव्यय को नित्य कहते हैं। (रा वा १-२)

अवस्थित: धर्मादि छहों द्रव्य कभी भी (छह) इस संख्या का उलंघन नहीं करते, इसलिए ये अवस्थित कहे जाते हैं। (सर्वा ५३३)

अरूपी: सूत्र में 'अरूपी' विशेषण द्रव्य

के स्वतत्व का ज्ञान कराने के लिए दिया है। अथवा रूपादि का निषेध करके धर्मादिक के अमूर्त्तत्व स्वभाव की सूचना करने के लिए है। नहीं है रूप जिसके वह अरूप कहलाता है। रूप को निषेध से रूप के अविनाभावी रस, गन्ध, स्पर्शादि का भी निषेध जानना चाहिए। (रा वा ८)

*(पुद्गल द्रव्य रूपी है, आगे सूत्र कहेंगे।)

18/06/20, 3:16 pm - Ashok Jain: पुद्गल द्रव्य के रूपित्व का वर्णन

*रूपिण: पुद्गला:॥५॥*

सूत्रार्थ: (पुद्गला:) पुद्गल द्रव्य (रूपिण:) रूपी होते हैं।

पुद्गल द्रव्य रूपी अर्थात् मूर्तिक हैं।

रूपादि एवं मूर्ति: रूप, रस, गंध और स्पर्श- गोल, त्रिकोण, चौकोर, लम्बा-चौड़ा आदि आकृतियों को रूपादि कहते हैं। और उन रूप रसादि और गोल चौकोरादि संस्थान (आकृति) रूप जिसका परिणमन है उसे मूर्त्ति कहते हैं। (रा वा २ - ३)

पुद्गल को रूपी कहने से रसादि का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि रस, गंध और स्पर्श का रूप के साथ अविनाभावि सम्बन्ध है। अतः रूप के कहने से रसादि का ग्रहण हो ही जाता है।। (रा वा ४)

19/06/20, 11:02 am - Ashok Jain: अविनाभवी संबंध एक द्रव्य का उसही द्रव्य के गुण या पर्याय के साथ होता है।इसका कथन अन्वय और व्यतिरेक दो रूप में होता है।

जैसे-जीव और ज्ञान गुण में अविनाभाव संबंध है।

1.जहाँ -जहाँ जीव वहाँ-वहाँ ज्ञान।यह अस्ति की अपेक्षा,यानी अन्वय।

2.और जहाँ ज्ञान नहीं वहाँ जीव भी नहीं।यह व्यतिरेक यानी नास्ति की अपेक्षा कथन।

19/06/20, 11:29 am - Ashok Jain: धर्मादिक द्रव्यों की संख्या

*आ आकाशादेकद्रव्याणि॥६॥*

सूत्रार्थ: (आ-आकाशात्) आकाश द्रव्य पर्यंत (एक द्रव्याणि) एक-एक द्रव्य हैं।

द्रव्यों में एक-अनेक की अपेक्षा:

गति, स्थिति आदि परिणाम वाले विविध जीव-पुद्गलों की गति आदि में निमित्त होने से भाव की अपेक्षा, प्रदेश भेद से क्षेत्र की अपेक्षा तथा काल भेद से काल की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य में अनेकांत होने पर भी धर्मादि द्रव्य, द्रव्य की अपेक्षा अखण्ड एक- एक ही द्रव्य हैं। अवगाही अनेक द्रव्यों की अनेक प्रकार की अवगाहना के निमित्त से भाव की अपेक्षा और प्रदेश से क्षेत्र की अपेक्षा आकाश में अनेक प्रकार की अवगाहना के निमित्त से भाव की अपेक्षा और प्रदेश से क्षेत्र की अपेक्षा आकाश में अनन्तता होने पर भी आकाश एक ही है।

जीव और पुद्गल की तरह धर्म, अधर्म और आकाश अनेक नहीं है और न जीव और पुद्गल धर्म, अधर्म और आकाश की तरह एक हैं। (रा वा ६)

सामान्य से धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक-एक हैं। जीव द्रव्य अनन्त हैं। पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं। कालद्रव्य असंख्यात (अणुरूप) हैं।

19/06/20, 11:44 am - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

19/06/20, 11:54 am - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

19/06/20, 3:21 pm - Ashok Jain: बहुत सुंदर👏👏👏

19/06/20, 4:08 pm - Ashok Jain: धर्मादिक तीन द्रव्यों की निष्क्रियता

*निष्क्रियाणि च॥७॥*

सूत्रार्थ: धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य ये चारों द्रव्य निष्क्रिय हैं।

बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों से होने वाली देश से देशान्तर की प्राप्ति में कारण भूत द्रव्य की पर्याय विशेष को क्रिया कहते हैं। (रा वा १)

गति स्थिति और अवगाह ये तीन क्रियाएं जीव और पुद्गल में होती हैं। धर्म, अधर्म, आकाश में क्रिया नहीं होती क्योंकि न तो ये अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थान में जाते हैं और न इनके प्रदेशों में ही चलन होता है। किंतु ये धर्मादि द्रव्य गति आदि क्रियाओं में मुख्य साधक होते हैं। (गो जी जी ५६६).

आकाश द्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य एवं काल द्रव्य निष्क्रिय हैं तथा बहिरंग साधन के साथ रहने वाले जीव सक्रिय हैं, बहिरंग साधन के साथ रहने वाले पुद्गल सक्रिय हैं। जीव पुद्गलों की सहायता से एवं पुद्गल काल द्रव्य के कारण क्रियावान हैं। (पं का स १८)

20/06/20, 10:22 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जीव और पुद्गल , ये द्रव्य सक्रिय हैं। शेष द्रव्य धर्म , अधर्म , आकाश , निष्क्रिय हैं।काल द्रव्य भी सक्रिय नहीं है , लेकिन इसका कथन आचार्य देव आगे प्रसंग के अनुसार करेंगे।

द्रव्य की जो पर्याय द्रव्य

को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्राप्त कराने में कारण नहीं है , उसे निष्क्रिय कहते हैं।धर्मादि द्रव्य यद्यपि निष्क्रिय हैं फिर भी उनमें उत्पाद व्यय बनता है।द्रव्य उत्पाद , व्यय और ध्रौव्य तीन रूप ही होते हैं।यद्यपि इन धर्मादिक द्रव्यों में क्रिया निमित्तक उत्पाद नहीं है फिर भी इनमें अन्य प्रकार से उत्पाद माना गया है ।

दो प्रकार का उत्पाद होता है - स्वनिमित्तक उत्पाद और परप्रत्यय उत्पाद।धर्मादिक द्रव्यों का उत्पाद व्यय स्वभाव से होता है , अतः इन्हें स्वनिमित्तक उत्पाद माना गया है।ये धर्मादि द्रव्य मानव , ऊँट , बैल आदि विभिन्न प्रकार के जीवों की गति , स्थिति और अवकाश दान में कारण होते हैं और इन गति आदि में क्षण क्षण में अन्तर पड़ता है , इसलिए इनके कारण भी भिन्न भिन्न होते हैं । इस प्रकार इन धर्मादिक द्रव्यों में परप्रत्यय की अपेक्षा भी उत्पाद और व्यय का व्यवहार उपचार से किया जाता है।जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय रूप ग्रहण करने में निमित्त है , जो नहीं देखना चाहता उसको देखने की प्रेरणा नहीं करती उसी प्रकार धर्मादिक द्रव्य भी जीवों के बलाधान में निमित्त मात्र हैं , प्रेरक नहीं।

जैसे आयु क्षय होने पर आत्मा के शरीर से निकल जाने पर द्रव्य चक्षु इन्द्रिय रूप की उपलब्धि में समर्थ नहीं होता , इससे यह ज्ञात होता है कि यह आत्मा की ही सामर्थ्य है , इन्द्रियाँ तो सहायक मात्र है । उसी प्रकार स्वयं ही गति , स्थिति , अवगाहन पर्याय रूप परिणामी जीव को धर्म , अधर्म और आकाश द्रव्य गति आदि के होने में सहायक मात्र रूप से विवक्षित हैं ,स्वयं क्रिया परिणामी नहीं हैं। जैसे आकाश नहीं जाता हुआ भी सब द्रव्यों से सम्बद्ध है , वैसे ही द्रव्यों के निष्क्रिय होने पर भी गति आदि क्रिया में सहायक मात्र होना असाधारण है।

20/06/20, 10:26 am - Ashok Jain: 🙌🙌🙌

20/06/20, 12:17 pm - Ashok Jain: धर्म अधर्म और एक जीव द्रव्य के प्रदेश

*असंख्येया: प्रदेशा: धर्माधर्मैक- जीवानाम्॥८॥*

सूत्रार्थ: (धर्माधर्मैकजीवानाम्) धर्म, अधर्म और एक जीव के (असंख्येया:) असंख्यात (प्रदेशा:) प्रदेश होते हैं।

प्रदेश: जितने क्षेत्र को एक पुद्गल परमाणु रोकता है उतने क्षेत्र को एअक प्रदेश कहते हैं। वह दूर और निकट व्यवहार में कारण होता है। (गो जी जी ५७३)

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य के अवस्थित- स्थायी रूप से लोकाकाश प्रमाण असंख्यात-प्रदेशता है। जीव के व्यवहार से शरीर के बराबर आकार वाला होने पर भी निश्चय से लोकाकाश प्रमाण असंख्यात-प्रदेशता है। (प्र सा ता १३५)

असंख्येय: संख्या विशेष से अतीत्व होने से वे असंख्येय हैं। संख्यान, संख्या और गणना ये एकार्थवाची है। स्वलक्षण से परस्पर विशेष्य-विशेष है, संख्या का विशेष संख्या विशेष है और संख्या का अतिक्रांत असंख्येय हैं, जो गिनती की सीमा को पार कर गये हैं, जो किसी के द्वारा गिने नहीं जा सकते हैं, उनको असंख्येय (असंख्यात) कहते हैं। (रा वा १)

20/06/20, 4:46 pm - Ashok Jain: आकाश द्रव के प्रदेश

*आकाशस्यानन्ता॥९॥*

सूत्रार्थ: (आकाशस्य) आकाश द्रव के (अनन्ता:) अनन्त प्रदेश हैं।

जीव राशि से अनन्तवें भाग प्रमाण सिद्ध राशि है, सिद्धों से अनन्त गुणी निगोद राशि है। इससे अनन्तगुणी पुद्गल राशि है। इससे अनन्तगुणे काल के समय हैं। इनसे भी अनन्तगुणें आकाश के प्रदेश हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश हैं।

*लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश ही हैं।

20/06/20, 8:59 pm - +91 94510 87456 left

20/06/20, 9:02 pm - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

20/06/20, 9:39 pm - Ashok Jain: 👌🙌🙌🙌

21/06/20, 7:49 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जिसका कोई अन्त नहीं , वह अनन्त है तथा जो केवलज्ञान का विषय है वह अनन्त है या जिसके प्रदेशों का अवसान - अन्त या समाप्ति नहीं है , वह अनन्त है ।

केवली भगवान का क्षायिक ज्ञान अनन्तानन्त परिमाण वाला है जिसके द्वारा यह अनन्त जाना जाता है। उनका उपदेश सुनकर अन्य लोग अनुमान से जानते हैं। अनन्तज्ञान के द्वारा अनन्त को अनन्त रूप से जाना जाता है।

जो चारों तरफ लोक और अलोक में व्याप्त होकर रहता है वह आकाश है। आकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं।जितने क्षेत्र में एक परमाणु रहता है उसे प्रदेश कहते हैं।

ऊपर दिखाई देने वाला पिण्ड आकाश नहीं है।यह पुद्गल महास्कन्ध है।

21/06/20, 7:51 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏👏👏👏

21/06/20, 3:55 pm - Ashok Jain: पुद्गल द्रव्य के प्रदेश

*सख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम्॥१०॥*

सूत्रार्थ: (पुद्गलानाम्) पुद्गलों के (संख्येय असंख्येया: च) संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।

योगीश्वरों ने पुद्गलद्रव्य के एक प्रदेश को आदि ले संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रदेश कहें हैं। (ज्ञा ६/४४)

?-यहां प्रश्न हो सकता है कि लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है तो उसमें अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध कैसे रह सकता है:

☞ सूक्ष्म भाव से परिणत परमाणु एक-एक आकाश प्रदेश पर अनन्तानन्त अवस्थित है अतः पुद्गलोंं के सूक्ष्म परिणमन और आकाश की अवगाहना शक्ति के कारण अनन्तानन्त पुद्गलों के स्कन्ध का भी अवगाह हो जाता है। जैसे- संकुचित *चम्पा की कली* में सूक्ष्म रूप से बहुत से गन्ध के अवयव रहते हैं और जब वे फैलते हैं, विस्तरित होते हैं, स्थूल प्रचय परिणाम से बाहर निकलते हैं तब सब दिशाओं को व्याप्त कर लेते हैं। अथवा लकड़ी आदि जलने से उसका धुआं सारे दिगमण्डल में फैल जाते हैं, ऐसा देखा जाता हैं।

उसी प्रकार संकोच-विस्तार रूप परिणमन होने से अल्प लोकाकाश में भी अनन्तानन्त जीव-पुद्गलों का अवस्थान हो जाता है। (रा वा ३-६).

21/06/20, 4:16 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पुद्गल द्रव्य के अणु - स्कन्ध आदि भेद होने से कोई संख्यात प्रदेशी , कोई असंख्यात प्रदेशी और कोई अनन्त प्रदेशी होने से इनमें संख्यात ,असंख्यात , अनन्त प्रदेश सिद्ध हो जाते हैं ।

अनन्त संख्या केवलज्ञान का विषय है। इस सूत्र में अनन्त सामान्य का ग्रहण किया गया है। अनन्त तीन प्रकार का है - परीतानन्द , युक्तानन्त और अनन्तानन्त । इन तीनों का सामान्य अनन्त में ग्रहण हो जाता है।

सूक्ष्म परिणमन होने से और अवगाहन शक्ति के निमित्त से अनन्त या अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल स्कन्धों का आकाश आधार हो जाता है। सूक्ष्म रूप से परिणत हुए अनन्तानन्त परमाणु आकाश के एक एक प्रदेश में ठहर जाते हैं ।इनकी यह अवगाहन शक्ति व्याघात रहित है , इसलिए आकाश के एक प्रदेश में भी अनन्तानन्त परमाणुओं का अवस्थान विरोध को प्राप्त नहीं होता।

22/06/20, 10:46 am - Ashok Jain: पपमाणु के प्रदेश

*नाणोः॥११॥*

सूत्रार्थ: (न अणोः) पुद्गल परमाणु के  प्रदेश नहीं होते अर्थात् वह स्वयं एक प्रदेश मात्र है, उसमें प्रदेश भेद नहीं है।

अणु प्रदेश मात्र है। जैसे- आकाश का एक प्रदेश अन्य प्रदेश रूप न होने से अप्रदेशी है, उसी प्रकार परमाणु के भी प्रदेश मात्र होने से अन्य प्रदेश नहीं है। परमाणु से छोटी कोई वस्तु ही नहीं है जिससे परमाणु के प्रदेशों का भेद किया जावे। अतः स्वयं में आदि-अंत परिणाम वाला होने से परमाणु अप्रदेशी है। (रा वा १-२).

22/06/20, 10:50 am - Ashok Jain: एवं  अणु अप्रदेशी या एक प्रदेशी होने से काय नहीं है। 'अस्तिकाय' नहीं है।

22/06/20, 4:02 pm - Ashok Jain: समस्त द्रव्यों के रहने का स्थान

*लोकाकाशेऽवगाहः॥१२॥*

सूत्रार्थ: इन द्रव्यों का (अवगाहः) अवगाहन-स्थान (लोकाकाशे) लोकाकाश में है।

कमर पर हाथ रख कर और पैर फैलाकर अचल-स्थिर खड़े हुए मनुष्य का जो आकार है उसी आकार को यह लोक धारण करता है। (हरि पु ४/८)

जो अनन्त अलोकाकाश के मध्य में स्थित है तथा जहां बन्ध और मोक्ष का फल भोगा जाता है उसे लोक कहते हैं। (हरि पु २/११०)

धर्म एवं अधर्म द्रव्य के सद्भाव और असद्भाव की अपेक्षा से आकाश के दो विभाग होते हैं, अर्थात् धर्म, आधर्म द्रव्य जहां तक पाये जाते हैं वह असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश और इससे बाहर अनन्त अलोकाकाश है। (सर्वा ५४९)

असंख्यात प्रदेशी लोक में अनन्त जीव,

अनन्तानन्त पुद्गल असंख्यात अन्य द्रव्यों का अवगाहन?: -

जिनेन्द्र भगवान उत्तर देते हैं- एक दीपक के प्रकाश में अनेक दीपकों का प्रकाश, एक गूढ़ रस की शीशी में बहुत सा स्वर्ण, राख से भरे हुए घड़े में सूई और ऊंटनी का दूध समा जाता है, इत्यादि दृष्टान्तों से विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण असंख्य प्रदेशी लोक में भी अनन्त जीव, उनसे भी अनन्त गुणे पुद्गल, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात काल द्रव्य, प्रत्येक लोकाकाश प्रमाण धर्म और अधर्म दो द्रव्य इन सबके अवगाह में विरोध नहीं आता है। तथा यदि इस प्रकार की अवगाहन शक्ति न हो तो लोक के असंख्य प्रदेशों में असंख्य परमाणुओं का ही समावेश होता है और ऐसा होने पर जिस प्रकार शुद्ध निश्चय नय से शक्ति रूप से सब जीव निरावरण और शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव युक्त हैं उसी प्रकार व्यक्ति रूप से व्यवहार नय से भी हो जाते। परन्तु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष और आगम दोनों प्रकार से उसमें विरोध है। (वृ द्र सं टी २०)

23/06/20, 10:43 am - Ashok Jain: धर्म और अधर्म द्रव्य के रहने का स्थान

*धर्माधर्मयोः कृत्स्ने॥१३॥*

सूत्रार्थ: (धर्माधर्मयोः) धर्म और अधर्म का अवगाहन (कृत्स्ने) समग्र लोकाकाश में है।

धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह तिल में तैल की तरह समस्त लोकाकाश में है।

जिस प्रकार घर में एक कोने में घट रहता है वैसे लोकाकाश के एकदेश में धर्म अधर्म द्रव्य नहीं है अपितु तिलों में तैल के समान सर्व लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं। इसलिए निरवशेष व्याप्ति का प्रर्दशन कराने के लिए सूत्र में कृत्स्न वचन का ग्रहण किया है। क्योंकि धर्म और अधर्म द्रव्य निरन्तर लोकाकाश में व्याप्त होकर रहते हैं। (रा वा १)

23/06/20, 10:53 am - Ashok Jain: आपकी जिज्ञासा के लिए ग्रुप आपन कर रहे हैं।

कृपया अन्य कोई मैसेज न भेजें।

23/06/20, 10:53 am - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

23/06/20, 3:28 pm - Ashok Jain: पुद्गल के रहने का स्थान

*एक-प्रदेशादिषु भाज्य: पुद्गलानाम्॥१४॥*

सूत्रार्थ: (पुद्गलानाम् ) पुद्गल द्रव्यों का अवगाहन (एक-प्रदेशादिषु) लोकाकाश के एक प्रदेश को लेकर संख्यात असंख्यात प्रदेशों में (भाज्य:) विभाग करने योग्य है।

पुद्गलों का अवगाह एक प्रदेश को लेकर विभाग करने योग्य है।

एक परमाणु का एक ही आकाश प्रदेश में अवगाह है। दो पुद्गल परमाणु यदि परस्पर बद्ध है तो एक प्रदेश में, और यदि अबद्ध है तो दो प्रदेशों में उनका अवगाह होता है। उसी प्रकार बद्ध तीन परमाणु की और अबद्ध तीन परमाणु की अवस्था में एक, दो एवं तीन प्रदेशों में उनका अवगाह होता है। इसी प्रकार बन्ध विशेष के कारण संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशी पुद्गल स्कन्धों का लोकाकाश में एक, संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेशों में अवगाह जानना चाहिए। (रा वा २).

23/06/20, 9:16 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): एक और प्रदेश इन दोनों का इस सूत्र में द्वन्द्व समास है। जिनके आदि में एक प्रदेश है वे एक प्रदेश आदि कहलाते हैं । उनमें पुद्गलों का अवगाह विकल्प से है।

यदि यहाँ कोई यह शंका करे कि मूर्तिक पुद्गलों का विरोध रहित एक जगह अवस्थान कैसे रह सकता है तो इसका समाधान यह है कि अवगाहन इनका स्वभाव है और सूक्ष्म रूप से परिणमन हो जाता है। जिस प्रकार एक झक्कन में अनेक दीपकों का प्रकाश रह जाता है उसी प्रकार मूर्त पुद्गलों का एक जगह अवगाह होने में कोई विरोध नहीं आता।

23/06/20, 9:44 pm - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

24/06/20, 11:12 am - Ashok Jain: एक जीव के रहने का स्थान

*असंख्येय-भागादिषु जीवानाम्॥१५॥*

सूत्रार्थ: (जीवानाम) जीवों का अवगाह (असंख्येयभागादिषु) लोकाकाश के

असंख्यातवे भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक क्षेत्र में (अस्ति) है।

लोकाकाश असंख्येय प्रदेशी है तथा उसमें असंख्यात का भाग देने पर लोक का असंख्यात भाग आता है। उसमें एक जीव रहता है तथा दो, तीन आदि असंख्येय भागों में तथा सम्पूर्ण लोक में

जीवों का अवगाहन है। नाना जीवों का अवगाह क्षेत्र तो सर्वलोक है।(रा वा ३).

24/06/20, 4:40 pm - Ashok Jain: जीवद्रव्य का लोक के असंख्यातवें भाग में रहने का स्पष्टीकरण

*प्रदेश-संहार विसर्पाभ्या प्रदीपवत्॥१६॥*

सूत्रार्थ: (प्रदीपवत्) दीपक के प्रकाश की तरह (प्रदेशसंहारविसर्पाभ्याम्) प्रदेशों के संकोच और विस्तार द्वारा जीव लोकाकाश के असंख्यातवें आदि भागों में रहता है।

दीपक के समान आत्मा के प्रदेश संकोच-विस्तार होने के कारण जीव लोक के असंख्यातवें भाग में रह जाता है।

संकोच-विस्तार के कारण जीव दीपक के समान लोक के असंख्येय आदि भागों में रहता है। जैसे- निरावरण आकाश प्रदेश में रखे हुए दीपक का प्रकाश बहुप्रदेशव्यापी होने पर भी सिकोरा, मानिका और कमरे आदि आवरण के कारण सिकोरा आदि परिणाम वाला हो जाता है अर्थात् निरावरण आकाश प्रदेश में बहुत दूर तक व्याप्त होकर रहने वाला सकोरा आदि आवरण में संकुचित होकर जहां रखा गया है उसी प्रमाण होता है, उसी प्रकार विसर्प स्वभाव होने के कारण दीपक के समान आत्मा के असंख्येय एक भाग आदि में परिछिन्न वृत्ति जानना चाहिए। (रा वा २)

सर्वज्ञ भगवान से प्रतिपादित सिद्धांत में संसारी जीवों के प्रदेश में संकोच-विस्तार का कथन किया गया है तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाने गये अर्थ का प्रतिपादक आगम अप्रमाणिक नहीं हो सकता है क्योंकि बाधक प्रमाणों के अभाव में उसका अच्छा निर्णय हो चुका है। अतः आगम प्रमाण से भी आत्म-प्रदेशों का संकोच-विस्तार सिद्ध है। (श्लो.६/१२३)

25/06/20, 1:39 pm - Ashok Jain: धर्म और अधर्म द्रव्य का कार्य और लक्षण

*गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरूपकार:॥१७॥*

सूत्रार्थ: (गतिस्थित्युपग्रहौ) गति और स्थिति रूप सहायता करना (धर्माधर्मयो:) धर्म और अधर्म द्रव्य का (उपकार:) उपकार है।

गति एवं स्थिति:

द्रव्य के देशान्तर की प्राप्ति का हेतु परिणाम गति है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से परिणमन करने वाले द्रव्यों को देशान्तर में प्राप्त कराने वाली पर्याय गति है।(रा वा १)

गति से विपरीत स्थिति है। द्रव्य को स्वस्थान से अप्रच्युति का कारण गति की निवृत्ति रूप स्थिति को जानना चाहिए।(रा वा २)

उपग्रह: उपग्रह का अर्थ अनुग्रह है। द्रव्यों की उपादान शक्ति के आविर्भाव में जो कारण बनता है, सहायक बनता है, उसको उपग्रह-अनुग्रह कहते हैं। (रा वा ३)

धर्म-अधर्म द्रव्य उदासीन निमित्त:-

धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के हेतु होने पर भी अत्यंत उदासीन हैं। जिस प्रकार गति परिणत पवन ध्वजाओं के गति परिणाम का हेतुकर्त्ता दिखाई देता है उस प्रकार धर्म द्रव्य नहीं है। वह वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गति परिणाम को प्राप्त नहीं होता, तो उसे सहकारी की भांति पर के गति परिणाम का हेतुकर्तृत्व कहां से होगा? किंतु जिस प्रकार पानी मछलियों को गमन में (मात्र) आश्रयरूप कारण की भांति गति का उदासीन ही प्रसारक है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को मात्र आश्रयरूप कारण की भांति गति का उदासीन ही प्रसारक (निमित्त) है।

-- जिस प्रकार गतिपूर्वक स्थिति परिणत अश्वसवार के स्थिति परिणाम का हेतुकर्त्ता दिखाई देता है उस प्रकार अधर्म द्रव्य नहीं है। वह वास्तव में निष्क्रिय होने से कभी गतिपूर्वक स्थिति परिणाम का हेतुकर्तृत्व कहां से होगा, किन्तु जिस प्रकार पृथ्वी अश्व को मात्र आश्रयरूप कारण की भांति गतिपूर्वक स्थिति की उदासीन ही प्रसारक है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गलों को मात्र आश्रयरूप कारण की भांति गतिपूर्वक स्थिति का उदासीन ही प्रसारक (निमित्त) है। (पं का ता ८८)

25/06/20, 4:24 pm - Ashok Jain: आकाश द्रव्य का उपकार

*आकाशस्यावगाहः॥१८॥*

सूत्रार्थ: (अवगाहः) अवगाह देना (आकाशस्य) आकाश द्रव्य का उपकार है।

सहज शुद्ध सुखामृतरस के आस्वाद वाले परम समरसी भाव से भरितावस्थ, केवलज्ञानादि अनन्त गुण के आधार रूप, लोकाकाश प्रमाण असंख्यात निज शुद्ध प्रदेशों में यद्यपि निश्चय नय से सिद्ध भगवंत रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से 'सिद्ध भगवान मोक्षशिला पर रहते हैं' ऐसा कहा जाता है। ऐसा मोक्ष जिस प्रदेश में परमध्यान द्वारा आत्मा स्थित होकर कर्मरहित होता है, अन्यत्र नहीं; ध्यान करने के स्थान में कर्मपुद्गलों को छोड़कर उर्ध्वगमन स्वभाव से गति करके मुक्तामयें लोकाग्र में स्थित होती हैं अतः उपचार से लोक के अग्रभाग को भी मोक्ष कहते हैं। तीर्थ स्वरूप पुरुष के द्वारा सेवित भूमि-जलादि रूप स्थान भी उपचार से तीर्थ हैं, इस प्रकार सरलता से बोध होने के लिए कहा जाता है। उसी प्रकार सर्व द्रव्य यद्यपि निश्चय नय से अपने प्रदेशों में रहते हैं तो भी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से लोकाकाश में रहते हैं। (वृ द्र सं टी १९)

25/06/20, 10:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

25/06/20, 10:41 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में *उपकार* शब्द अनुवृत्ति से आया है। अवगाहन करने वाले जीव और पुद्गलों को अवकाश देना आकाश का उपकार जानना चाहिए।

जो चारों ओर से देदीप्यमान है , व्याप्त है वह आकाश कहलाता है।

यद्यपि धर्म और अधर्म द्रव्य में अवगाह रूप क्रिया नहीं पाई जाती है फिर भी वे द्रव्य लोकाकाश में चारों ओर व्याप्त देखे जाते हैं। अतः निष्क्रिय धर्म और अधर्म द्रव्य को उपचार से अवगाह घटित होता है। मुख्य अवगाह क्रिया के अभाव में भी लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त होने के कारण ऐसा कहा जाता है कि धर्म अधर्म का लोकाकाश में अवगाह है। आकाश द्रव्य सभी पदार्थों को अवकाश देने में साधारण कारण है , यही उसका असाधारण लक्षण है।

अलोकाकाश में अवगाह पाने वालों का अभाव है , लेकिन अलोकाकाश की भी अवकाश दान की सामर्थ्य में कोई कमी नहीं है।

लोकाकाश असंख्यात प्रदेशी है , फिर भी इसमें असंख्यात प्रदेश वाले धर्म अधर्म द्रव्य तथा संख्यात , असंख्यात एवं अनन्त प्रदेशों वाले पुद्गल द्रव्य समा सकते हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति जंगल में जाकर एक हजार प्रकार की वनस्पति के एक एक पत्ते को लाकर उसका काढा बनाये और उस काढे में से सूई की नोक बराबर काढा निकाले तो उस सूई की नोक बराबर काढे में एक हजार प्रकार की वनस्पति का सत्व है उसी प्रकार पाँच हजार प्रकार की , दस हजार प्रकार की , या एक लाख प्रकार की वनस्पतियों के पत्तों से तैयार काढे की सूई की नोक बराबर काढे में भी उन समस्त वनस्पतियों का सत्व रहता है , यद्यपि उस सूई की नोक बराबर काढे का न आकार बढता है , न वजन बढता है । यह आकाश के अवगाहन गुण का प्रभाव है।

उसी प्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश में धर्म - अधर्म के एक एक प्रदेश , पुद्गल के संख्यात , असंख्यात , अनन्त परमाणु एवं एक जीव के असंख्यात प्रदेश एवं कालाणु का भी एक प्रदेश समा जाता है। यह अवगाहन शक्ति आकाश द्रव्य की है।

26/06/20, 10:52 am - Ashok Jain: 👏👏👏🙇

26/06/20, 11:46 am - Ashok Jain: पुद्गलद्रव्य का उपकार

*शरीरवाङ्-मन: प्राणापाना: पुद्गलानाम्॥१९॥*

सूत्रार्थ: (शरीरवाङ्-मनः) शरीर, वचन और मन (प्राणापाना:) श्वासोच्छ्वास (पुद्गलानाम्) पुद्गलद्रव्य का उपकार है।

शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास पुद्गलकृत उपकार है।

पुद्गल द्रव्य जीव का बहुत प्रकार से उपकार करता है- शरीर बनाता है, इन्द्रिया बनाता है, वचन बनाता है और श्वासोच्छवास बनाता है। जब तक जीव संसार में रहता है तब तक पुद्गल द्रव्य इस प्रकार के और भी उपकार करता है। मोह परिणाम को करता है तथा अज्ञानमय परिणाम को भी करता है। पुद्गल द्रव्य की ऐसी कोई अपूर्व शक्ति है जिससे जीव का जो केवल-ज्ञान स्वभाव है वह भी विनष्ट हो जाता है। (का अ २०८/२११).

... जीव और पुद्गल का अनादिकालीन सम्बंध है। जीव की समस्त सांसारिक अवस्थाएं और क्रियाएं पुद्गल सापेक्ष हैं। आहार, शरीर निर्माण, इन्द्रिय-संरचना, श्वास-प्रश्वास, भाषा और मानसिक चिंतन के लिए वह निरंतर पुद्गलों को ग्रहण करता रहता है। यानी जीव की ये सब क्रियाएं पुद्गलों से ही सम्पादित होती है।

जिनागम में पुद्गल की २३ प्रकार की वर्गणा बताई गई है। ...

इन वर्गणाओं में मुख्यत: पांच हमारे प्रयोग में आती हैं। वे हैं- आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा। आहारवर्गणा चार प्रकार की हैं- औदारिक शरीरवर्गणा, वैक्रियिक-शरीरवर्गणा, आहारक-शरीरवर्गणा, और श्वासैच्छ्वासवर्गणा।

इनका स्वरूप इस प्रकार है-

औदारिक शरीरवर्गणा- स्थूल/औदारिक शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

वैक्रियक शरीरवर्गणा- वैक्रियक शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

आहारक शरीरवर्गणा- आहारक शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

श्वासोच्छवासवर्गणा- श्वास-प्रश्वास के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

तैजसवर्गणा- तैजस शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

भाषावर्गणा- भाषा के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

कार्मणवर्गणा- कर्म शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।

संसार की लीला पुद्गल की ही लीला है। जीव की सारी प्रवृतियां पुद्गल से ही संचालित हैं। पुद्गल के बिना जीव एक क्षण के लिए भी संसार में नहीं रह सकता। पुद्गल-जगत् से सम्बन्ध विच्छेद होने पर ही जीव की मुक्ति सम्भव है।

26/06/20, 3:59 pm - Ashok Jain: 👆 जैन तत्व विद्या से उद्धृत

26/06/20, 4:26 pm - Ashok Jain: पुद्गल द्रव्य के और भी उपकार

*सुख-दु:ख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च॥२०॥*

सूत्रार्थ: (सुख-दु: ख-जीवित- मरण-उपग्रहा: च) सुख-दु:ख, जीवित और मरण ये भी पुद्गल के उपकार हैं।

सुख-दु:ख-जीवन-मरण रूप उपकार पुद्गलकृत हैं, पुद्गल के निमित्त से होने के कारण वे पौद्गलिक कहलाते हैं।(रा वा ८)

सुख: साता वेदनीय के उदय रूप अंतरंग हेतु के रहते हुए बाह्य द्रव्यादि के परिपाक के निमित्त से प्रीति रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं, वह सुख है।(सर्वा ५६५)

जो संतोष उत्पन्न करने वाले हों उन्हें सुख कहते हैं।(म पु ६३/२२६)

दु:ख- पीड़ा रुप परिणाम विशेष को दु:ख कहते हैं। (विशेष आगे अध्याय ६/११में समझेंगे)

जीवित: पर्याय के धारण करने में कारणभूत आयुकर्म के उदय से भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के पूर्वोक्त प्राण और अपान रूप क्रियाविशेष का विच्छेद नहीं होना जीवित है। (सर्वा ५६५)

मरण: प्राणापान का विच्छेद हो जाना मरण है।(रा वा ४)

26/06/20, 5:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में प्राप्त *उपग्रह* शब्द का ग्रहण पुद्गलों का पुद्गलकृत उपकार के लिए है। कांसा आदि का राख आदि के द्वारा , जल आदि का कतक आदि के द्वारा और लोहे आदि का जल आदि के द्वारा उपकार किया जाता है। सूत्र में *च* शब्द के द्वारा पुद्गल के और भी अनेक उपकार हैं ।

साता वेदनीय के उदयरूप अन्तरंग हेतु के होने पर बाह्य द्रव्यादि के परिपाक के निमित्त से प्राप्त प्रीति रूप परिणामों को सुख कहते हैं , उसी प्रकार असाता वेदनीय के निमित्त से प्राप्त अप्रीति रूप या परिपाक रूप परिणामों को दुख कहते हैं।

पर्याय के धारण करने में कारणभूत आयुकर्म के उदय के भवस्थिति को धारण करने वाले जीव के प्राण - अपान क्रिया विशेष का उच्छेद नहीं होना जीवन है ।

प्राण - अपान क्रिया विशेष का उच्छेद होना मरण है।

शरीर , वचन , मन , श्वासोच्छवास , सुख ,दुख , जीवन और मरण ये जीव के प्रति पुद्गलों के उपकार हैं।

विशेष - दुख एवं मरण से जीव का उपकार कैसे हो सकता है ?

स्वयं एवं दूसरे का दुख , संसार से संवेग उत्पन्न कराने वाला होने से दुख भी जीव का उपकारक है , वेदना से भी सम्यक्त्व होता है।

मरण में मृत्यु महोत्सव - सल्लेखना को जीव का उपकारक कहा गया है । अतः दुख और मरण - ये दो भी जीव के उपकारक हैं।

27/06/20, 11:11 am - Ashok Jain: जीवों का उपकार

*परस्परोपग्रहो जीवानाम्॥२१॥*

सूत्रार्थ: (जीवानाम्) जीव भी (परस्पर-उपग्रह:) परस्पर उपकार करते हैं।

स्वामी-नौकर, आचार्य-शिष्य आदि भाव से जो वृत्ति होती है, उसको परस्पर उपग्रह कहते हैंं और सेवक स्वामी के हित प्रतिपादन और अहित के प्रतिषेध द्वारा उसका उपकार करते हैं। आचार्य उभयलोक हितकारी मार्ग दिखाकर तथा हितकारी क्रिया का अनुष्ठान कराकर शिष्यों का उपकार कराते हैं और शिष्य गुरु के अनुकूल वृत्ति से उपकार करते हैं।(रा वा २)

संसार में वर्तन करते हुए जीव परस्पर उपकार करते हैं। मुक्त जीव संसार से पृथक हो जाने के कारण किसी का भी उपकार नहीं करते हैं। (यो सा २/१६)

27/06/20, 2:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): धर्म , अधर्म ,आकाश एवं पुद्गल इन अजीव के उपकार कहने के बाद , क्रम प्राप्त जीव द्रव्य कृत उपकार क्या हैं ,ऐसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए उमास्वामी महाराज आगे के सूत्र में कहते हैं *परस्परोग्रहो जीवानाम्।।२१।।*

इस सूत्र में उपकार का प्रकरण होते हुए भी *उपग्रह* शब्द का प्रयोग पुनः किया गया है। इसके पीछे आचार्य देव का तात्पर्य यह है कि सूत्र 20 के कहे गये सुख - दुख , जीवन और मरण भी जीवों के जीवकृत उपकार हैं।

स्वामी धन आदि देकर सेवक का उपकार करता है और सेवक हित के कार्य करके और अहित के कार्य का परिहार करके स्वामी का उपकार करता है।

27/06/20, 2:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जिन दर्शनों ने ईश्वरवाद को स्वीकार किया है वे प्रत्येक कार्य के प्रेरक रूप में ईश्वर.को निमित्त कारण मानते हैं । उनका कहना है कि यह प्राणी अपने सुख दुख का स्वामी नहीं है । ईश्वर की प्रेरणावश ही वह कभी स्वर्ग कभी नरक जाता है।उनकी प्राप्ति में ईश्वर.का पूरा हाथ रहता है। अगर ईश्वर चाहे तो जीव को खोटी गतियों में जाने से बचा सकता है।

जैन दर्शन के अनुसार लोक में जितने भी द्रव्य हैं वे सब अपने अपने गुण और पर्याय को लिए हुए हैं।द्रव्यदृष्टि से अनन्त काल पहले जैसे थे , आज भी वैसे ही हैं और आगे भी वैसे ही बने रहेंगे ।किन्तु पर्याय दृष्टि से वे सदा परिवर्तनशील हैं।उनका यह परिवर्तन द्रव्य की मर्यादा के भीतर ही होता है।

संसारी जीव पुद्गल द्रव्य से बंधा हुआ है तथा अपनी योग्यतानुसार ही कालान्तर में मुक्त होता है। बालक में पढने की योग्यता. है , इसलिए अध्यापक या पुस्तक आदि का निमित्त मिलने पर वह पढकर विद्वान बनता है। लेकिन अध्यापक बालक को घोलकर बुद्धि नहीं पिला सकते । एक ही अध्यापक के पास पढने पर भी कोई मूर्ख ही रहता है और कोई महाज्ञानी बन जाता है। अतः कार्य.की उत्पत्ति में अध्यापक निमित्त हैं लेकिन परमार्थ से प्रेरक नहीं।

ईश्वरवाद की मान्यता में प्रेरकता पर बल दिया गया है जबकि यहाँ उपकार प्रकरण में बाह्य निमित्त को तो स्वीकार किया गया है , पर उसे परमार्थ से प्रेरक नहीं माना है ।

27/06/20, 4:46 pm - Ashok Jain: काल द्रव्य का उपकार

*वर्तना-परिणाम-क्रिया:परत्वापरत्वे च कालस्य॥२२॥*

सूत्रार्थ: (वर्तनापरिणामक्रिया:) वर्तना, परिणाम, क्रिया (परत्वापरत्वे च) परत्व और अपरत्व (कालस्य) कालद्रव्य कृत उपकार हैं।

वर्तना: अपने अपने उपादान रूप कारण से स्वयं परिणमन करते हुए पदार्थ को जैसे कुम्भकार के चाक के भ्रमण में उसके नीचे की कीली सहकारिणी है अथवा शीतकाल में छात्रों को पढ़ने के लिए अग्नि सहकारी कारण है उसी प्रकार जो पदार्थों के परिणमन में जो सहकारी कारण होता है उसे वर्तना कहते हैं। (वृ द्र सं टी २१)

परिणाम: द्रव्य की स्वजाति का परित्याग ना करके स्वाभाविक और प्रायोगिक लक्षण विकार को परिणाम कहते हैं या परिवर्तन को परिणाम कहते हैं । चेतन और अचेतन द्रव्यत्व जाति द्रव्य से यद्यपि भिन्न नहीं हैं तथापि द्रव्यार्थिक नय की अविवक्षा से द्रव्य अपनी स्वजाती को नहीं छोड़ते हुए भी पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से किसी पर्याय से उत्पन्न होता है और किसी पूर्व पर्याय थे नष्ट होता है यही विकार है। (रा वा १०)

क्रिया: बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों से होने वाली देश से देशांतर की प्राप्ति में कारण भूत द्रव्य की पर्याय विशेष को क्रिया कहते हैं।

(रा वा २)

परत्व-अपरत्व: परस्पर अपेक्षा के कारण परत्वापरत्व को पृथक ग्रहण किया है। परत्व की अपेक्षा अपरत्व और अपरत्व की अपेक्षा परत्व होता है अतः परस्पर अपेक्षा को सूचित करने के लिए परत्वापरत्व को सूत्र में पृथक ग्रहण किया है। (रा वा २८)

*परत्व बहुत काल वाला होता है, अपरत्व उससे अल्पकाल वाला। यह दोनों एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं।*

जीव-पुद्गल के परिणाम रूप पर्याय से तथा देशांतर में आने-जाने रूप अथवा गाय दुहनी व रसोई करना आदि हलन-चलन रूप क्रिया से तथा दूर या समीप देश में चलन रूप कालकृत परत्व तथा अपरत्व से यह काल जाना जाता है, इसलिए वह व्यवहार काल परिणाम, क्रिया, परत्व अपरत्व लक्षण वाला कहा गया है। (वृ द्र सं टी २१)

27/06/20, 10:07 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): वर्तना का अर्थ है परिवर्तन। यद्यपि द्रव्य स्वयमेव अपनी अपनी पर्यायों के द्वारा वर्तना या परिवर्तन करते हैं , फिर भी बाह्य निमित्त के बिना पदार्थ परिवर्तन नहीं कर सकते। इसे प्रवर्तानि वाला या बदलाने वाला काल है , ऐसा मानकर वर्तना काल द्रव्य का उपकार कहा है।

एक धर्म की या पर्याय की निवृत्ति करके दूसरे धर्म के पैदा करने रूप और परिस्पन्द से रहित द्रव्य की जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं।

द्रव्यों में जो परिस्पन्दन रूप परिणमन होता है उसे क्रिया कहते हैं । जैसे गाड़ी का चलना , मेघादि का उड़ना आदि।

परत्व एवं अपरत्व अर्थात् छोटे बड़े का व्यवहार , जैसे - शरीर आदि का बड़ा -छोटा होना , आयु में बड़ा छोटा होना आदि।

काल दो प्रकार के हैं - परमार्थ काल और व्यवहार काल। वर्तना लक्षण वाला परमार्थ काल है और परिणाम , क्रिया , परत्व , अपरत्व आदि लक्षण वाला व्यवहार काल है। ये सब वर्तनादिक उपकार काल द्रव्य के आस्तित्व का ज्ञान कराते हैं।

यह काल समय का वाची है । जैसे हम काँटे वाली घड़ी को देखते हैं जिसके बीच में एक धुरी लगी है जो निरन्तर अपने केन्द्र पर.घूम रही है - वर्तन कर रही है । यह परमार्थ काल या निश्चय काल का प्रतीक है। उस धुरी के सहारे जो घण्टा , मिनट और सैकेण्ड के काँटे घूम रहे हैं , वे व्यवहार काल के प्रतीक हैं।

कालद्रव्य को समझाने के लिए आगम में कालाणुओं को रत्नों की राशि की उपमा दी है। संसार में जिस प्रकार रत्न कीमती है उसी प्रकार समय भी कीमती है । रत्न घुनते नहीं , अकारण चिपकते नहीं एवं पुराने भी नहीं होते , उसी प्रकार कालाणु भी घुनते नहीं , अकारण आपस में चिपकते नहीं और पुराने भी नहीं होते।

28/06/20, 7:54 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सभी साधर्मी बन्धुओं को सादर जै जिनेन्द्र ।

यदि आप आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित महान ग्रन्थ *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* का स्वाध्याय करना चाहते हैं तो हम लोगों के द्वारा परिचालित स्वाध्याय समूह से निम्न लिंक के माध्यम से शीघ्र जुड़ें और अपने इष्ट मित्रों को भी इससे जुड़ने के लिए प्रेरित करें।

ग्रुप में अभी जिनेन्द्र पूजा का प्रकरण ११९ वें श्लोक के माध्यम से चल रहा है।

https://chat.whatsapp.com/Cjq7AnPuM7A1ruL33WpAiW

28/06/20, 9:16 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सभी साधर्मी बन्धुओं को सादर जै जिनेन्द्र।

श्री अशोक जी जैन , बंगलोर के कुशल निर्देशन में आचार्य उमास्वामी महाराज द्वारा रचित महान ग्रन्थ *तत्त्वार्थ सूत्र* का स्वाध्याय चल रहा है। यदि आप अभी तक इस स्वाध्याय समूह से नहीं जुड़े हैं तो कृपया निम्न लिंक के माध्यम से शीघ्र जुड़ें और अपने इष्ट मित्रों को भी इस स्वाध्याय का लाभ लेने के लिए प्रेरित करें।

ग्रुप में अभी पाँचवे अध्याय के २२ वें सूत्र का स्वाध्याय चल रहा है।

https://chat.whatsapp.com/IXEdGaFXs7SAIjsNB6GWCp

28/06/20, 9:32 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सभी साधर्मी बन्धुओं को सादर जै जिनेन्द्र।

आदरणीय ब्रह्मचारी सात प्रतिमाधारी श्री कैलाश चन्द्र जी जैन के कुशल निर्देशन में आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित महान ग्रन्थ *स्वयम्भू स्तोत्र* का धारावाहिक स्वाध्याय चल रहा है।कुल 20 ग्रुपों के द्वारा देश विदेश के लगभग 4000 स्वाध्यायी इस अनुपम स्वाध्याय का लाभ ले रहे हैं। यदि आप अभी तक इस स्वाध्याय समूह से नहीं जुड़े हैं तो निम्न लिंक के माध्यम से शीघ्र जुड़ें और अपने इष्ट मित्रों को भी इसका लाभ लेने के लिए प्रेरित करें।

https://chat.whatsapp.com/KZcumGUqeJO1r7jrxyksDY

28/06/20, 11:03 am - Ashok Jain: पुद्गल द्रव्य का लक्षण

*स्पर्श-रस-गंध-वर्णवन्त: पुद्गला:॥२३॥*

सूत्रार्थ: (स्पर्शरसगंधवर्णवन्त:) स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण वाले (पुद्गला;) पुद्गल द्रव्य होते हैं।

स्पर्श: जो स्पर्श किया जाता है वह स्पर्श है, इसके आठ भेद हैं- मृदु-कठोर, गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्षण।

रस: जो स्वाद रूप होता है वह रस है, यह पांच प्रकार का है- तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय।

गंध: जो सूंघा जाता है वह गंध है, इसके दो भेद हैं- सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण: जिसका कोई वर्ण हो वह वर्ण (रूप) है, इसके पांच भेद हैं- नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण और लोहिक्त (रक्त)। (रा वा ७-१०)

जो रूप, रस, गंध और स्पर्श परिणाम वाला होने के कारण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है वह सब पुद्गल द्रव्य है।(का अ टी २०७)

सूक्ष्य परमाणु से लेकर महास्कन्ध पृथिवी पर्यंत के रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार प्रकार के गुण विद्यमान रहते हैं। इनके सिवाय (अक्षर-अनक्षर आदि अनेक भेदों से विविध प्रकार का) जो शब्द है, वह भी पुद्गल है अर्थात् पुद्गल की पर्याय है। (प्र सा ता १३२)

28/06/20, 1:11 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य देव ने पहले सूत्र में *अजीवकाया* कहते हुए पुद्गलों का सामान्य लक्षण ही कहा था , अब 23 वें सूत्र में पुद्गल के विशेष लक्षण उन्होंने बतलाये हैं कि स्पर्श , रस , गन्ध एवं वर्ण वाले हैं , वे पुद्गल होते हैं।इसके पूर्व पाँचवे सूत्र में उन्होंने कहा था *रूपणः पुद्गलाः* पुद्गल रूपी है। किन्तु पुद्गल में रूपीपना किस कारण से है , यह कथन इस सूत्र के माध्यम से करते हैं कि स्पर्श ,.रस , गन्ध और वर्ण वाले होने से पुद्गल रूपी हैं। इसीलिए पुद्गल का रूपीपना सिद्ध है। पुद्गल के अलावा अन्य किसी भी द्रव्य में स्पर्श , रस , गन्ध आदि नहीं पाये जाते , अतः अन्य द्रव्य अरूपी कहलाते हैं।

पुद्गल में जहाँ रूप होता है , रस आदि भी वहीं रहते हैं क्योंकि रूप-रस-गन्ध -वर्ण , इनका आपस में अविनाभाव संबंध है । अतः रूप के ग्रहण से रसादि का ग्रहण भी हो जाता है।

28/06/20, 5:27 pm - Ashok Jain: पुद्गल की पर्यायें

*शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्य संस्थान भेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च॥२४॥*

सूत्रार्थ: पुद्गल (शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य- स्थौल्य-भेद-तम-छाया-आतप-उद्योतवन्त:च) शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्यौत पर्याय वाले हैं।

शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्यौत और आतप ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं। शब्ध आदि के अतिरिक्त शास्त्रोक्त अन्य भी जैसे सिकुड़ना, फैलना, दही, दूध, आदि विभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्यायें जानना चाहिए। (वृ द्र सं टी १६).

शब्द: जो अर्थ को कहता है वह शब्द है।

बाह्य श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने योग्य ऐसी जो ध्वनि है वह शब्द है। (पं का स ७९).

शब्द दो, तीन, छः प्रकार का है।

बन्ध: जो बान्धता है वह बन्ध है। बन्ध दो प्रकार का है ।वैस्रेसिक बन्ध - मेघ आदि में जो बिजली रूप अग्नि का बन्ध है वह वैस्रेसिक बन्ध है।(त सा ३/६७)

२) प्रयोगिक बन्ध- लाख तथा लकड़ी आदि का जो बन्ध है वह प्रायोगिक बन्ध जानने योग्य है। (त सा ३/६७)

इन दोनों प्रकार के उपभेद भी है।

सौक्ष्म्य: सूक्ष्म का भाव सौक्ष्म्य है। सूक्ष्मता दो प्रकार की है। १) अन्त्य सूक्ष्मता - अन्तिम सूक्ष्मता परमाणु में है। क्योंकि परमाणु से सूक्ष्म कोई वस्तु नहीं है।

२) आपेक्षित सूक्ष्मता- आपेक्षित सूक्ष्मता बेर, आंवला, बिल्व फल आदि की अपेक्षा है अर्थात् बिल्व से सूक्ष्म आंवला है और आंवला से बेर सूक्ष्म है। (रा वा १०)

स्थौल्य:  स्थूल का भाव स्थौल्य है। स्थूलता दो प्रकार की होती है। १) अन्त्व स्थूलता: जगद्व्यापी महास्कन्ध में है।

२) आपेक्षित स्थूलता: बेर, आंवला, बिल्व और ताड़फल आदि में है। अर्थात् बेर की अपेक्षा आंवला स्थूल है और आंवला की अपेक्षा बिल्व स्थूल है। (रा वा ११).

संस्थान: जो आकार रूप होता है वह संस्थान है। संस्थान दो प्रकार का है।

१) इत्थंभूत संस्थान: गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण, लम्बा, चौड़ा आदि रूप से जिसका वर्णन किया जा सके, वह इत्थंभूत है। जैसे- पाटा, क्षेत्र, घर आदि।

अनित्थंभूत: यह ऐसा लम्बा चौड़ा है इत्यादि रूप से जिसका वर्णन नहीं किया जा सके, वह अनित्थंभूत संस्थान है। जैसे- बिजली, मेघ आदि अनेक आकार। (रा वा १२-१३)

भेद: जो भेदन करता है वह भेद है। भेद छह प्रकार के होते हैं- १) उत्कर- लकड़ी आदि को करोत आदि से चीरना उत्कर है।

२(चूर्ण: गेंहू, चना, जौ आदि का सत्तू, चून आदि बनाना चूर्ण है।

३) खण्ड-  घड़े आदि का खप्पर, टुकड़े आदि हो जाना खण्ड है।

४) चूर्णिका- मूंग, उड़द, चना आदि की दाल बनाना।

५) प्रतर: अभ्रक आदि के पटल प्रतर है।

६) अणुचटन: अग्नि से संतप्त लोहे आदि को घन से कूटने पर जो स्फूलिंग निकलते हैं, उन्हें अणुचटन कहते हैं।

तम: जो आत्मस्वरूप को अन्धकारावृत्त है, वह तम है।

जो नेत्रों को रोकने वाला तथा प्रकाश का विरोधी है वह तम कहलाता है।(त सा ३/६८).

छाया: जो प्रकाश का आवरण करती है वह छाया है।

शरीर आदि के निमित्त के कारण जो प्रकाश का रुकना है, उसे छाया जानना चाहिए। (त सा ३/६९)

वर्ण विकार परिणता छाया और प्रतिबिंब मात्र छाया; दो प्रकार की है।

आतप: असाता के उदय से जो अपने को तपाता है वह आतप है।

उद्यौत: जो निरावरण को द्यौतित (प्रकाशित) करता है यह उद्यौत है।

(आतप और उद्योत का विशेष अध्याय ८/११ में देखेंगे।)।

28/06/20, 9:04 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

28/06/20, 9:05 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): कुछ विद्वानों ने पुद्गल की दस पर्यायों की परिभाषा इस प्रकार भी लिखी है

*शब्द*- भाषा वर्गणा रूप जो पुद्गल शब्द रूप परिणमन करते हैं उन्हें शब्द कहते हैं।

शब्द के दो भेद होते हैं - भाषारूप और अभाषारूप ।

भाषात्मक शब्द दो के हैं - साक्षर और अनक्षर।

अभाषात्मक शब्द के दो भेद रूप हैं - प्रायैगिक और वैस्रसिक ।

*बन्ध* - स्निग्ध एवं रूक्ष आदि गुणों से दो गुणाधिक मिलन को बन्ध कहते हैं।

*सूक्ष्मता* - छोटे से छोटे मान को सूक्ष्मता कहते हैं।

*स्थूलता* - छोटे से बड़े होने के मान को स्थूलता कहते हैं।

*संस्थान* - आकृति - आकार को संस्थान कहते हैं।

*भेद* - तुकड़े रूप आकृति भेद हैं।

*तम* - जो प्रकाश का विरोधी है तथा जिससे दृष्टि में प्रतिबंध होता है उसे तम या अन्धकार कहते हैं।

*छाया* प्रकाश को रोकने वाले पदार्थों के निमित्त से जो पैदा होती है उसे छाया कहते हैं।

*आतप* जो सूर्य के निमित्त से उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं।

*उद्योत* चन्द्रमणि और जुगनू आदि के निमित्त से जो प्रकाश होता है उसे उद्योत कहते हैं।

ये दश पुद्गल की पर्यायें हैं। सूत्र में वर्णित *च* शब्द से नोदन अभिघात ( चाबुक की ध्वनि ) आदि जो पुद्गल की पर्यायें आगम में प्रसिद्ध हैं उनका संग्रह करना चाहिए।

28/06/20, 10:00 pm - Ashok Jain: 👆

29/06/20, 9:20 am - Amruta Vinod Gandhi, Pune: क्या ये पर्याय अन्य द्रव्यों मे  पायी जाती है?

- ये पर्याय (व्यंजन पर्याय -गुणोंकी व्यक्त अवस्था) अन्य द्रव्योंमें नही पायी जाती है क्योंकी
स्थूलपना , सुक्ष्मपना पुदगल द्रव्य मे  ही होगा। जीव, आकाश, धर्म अधर्म, काल  सभी एक

समान है और इनमें कुछ भी अपेक्षा नही कि जा सकती। इसी प्रकार बंध केवल पुद्गल  परमाणुका ही
हो सकता है। आकृती भी पुद्गल  की ही होती है और उद्योत, आतप, तम और छाया आदी भी केवल
पुद्गल मे ही पायी जाती है क्योंकी जिसमे रुप होता है उसी में ये गुण होते है,  अमूर्तिक  में यह गुण नही
पाए जायेंगे।

पुद्गल के 10 पर्याय और 20 गुण (पांच वर्ण,पांच रस,दो गंध ,आठ स्पर्श) होते हैं। (श्री'द्रव्यसंग्रह'  -गाथा 16)

29/06/20, 9:50 am - Amruta Vinod Gandhi, Pune: गुणों की  अवस्था को पर्याय कहते है।

पर्याय दो प्रकार की  होती है:- अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय।

अर्थ पर्याय:- अर्थ पर्याय प्रति समय उत्पन्न  होती रहती है। वह हमे दिखाई नही देती है लेकिन द्रव्य
मे हर पल अर्थ पर्याय के कारण परीणमन होता रहता है। प्रति समय जो हर द्रव्य मे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य जो होता रहता है, वह इस
अर्थ पर्याय के साथ ही होता रहता है। अर्थ पर्याय हर समय होनेवाली है, और केवल आगम प्रमाण द्वारा ही जानी जा सकती है। सभी द्रव्यों  में अर्थ पर्याय होती है।

व्यंजन पर्याय:- गुणों की व्यक्त अवस्था को व्यंजन पर्याय कहते हैं।

पुद्गल द्रव्य में व्यंजन पर्याय दिखाई देती है।

29/06/20, 9:53 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 👏👏👏👏👏👏🙏🙏🙏🙏

29/06/20, 10:12 am - Ashok Jain: बहुत सुन्दर वाख्या अमृता जी👏👏👏

29/06/20, 10:56 am - Amruta Vinod Gandhi, Pune: आदरणीय सर आप सभी का सराहना और प्रोत्साहन के लिए बहोत बहोत धन्यवाद ।🙏🙏

29/06/20, 11:41 am - Ashok Jain: पुद्गल के भेद

*अणव: स्कन्धाश्च॥२५॥*

सूत्रार्थ: पुद्गल के दो भेद हैं (अणवः) अणु (च) और (स्कन्धाः) स्कन्ध।

पुद्गल दो प्रकार के होते हैं- १) अणु और २) स्कन्ध

१) स्वभाव पुद्गल : परमाणु स्वभाव से पुद्गल है।

२) विभाव पुद्गल : स्कन्ध विभाव पुद्गल है। (नि सा टी २०)

अणु: जिसका आदि, मध्य, अन्त एक है, जिसको इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती हैं ऐसा जो अविभागी प्रदेश है उसे परमाणु कहते हैं। (नि सा २६)

परमाणु के आठ प्रकार के स्पर्शों में से अंतिम चार स्पर्शों में से दो स्पर्श,[स्निग्ध-रूक्ष में से एक तथा शीत-उष्ण में से एक (रा वा १४)] एक वर्ण, एक गन्ध तथा एक रस समझना, अन्य नहीं। (नि सा टी २७)

अणु चार प्रकार के होते हैं- १) कार्य परमाणु, २) कारण परमाणु, ३) जघन्य परमाणु और ४) उत्कृष्ट परमाणु।

स्कन्ध: जिनमें स्थूल रूप से पकड़ना, रखना आदि व्यापार का स्कन्धन (संघटना) होती है वे स्कन्ध कहे जाते हैं। रूढ़ि में क्रिया कहीं पर होती हुई उपलक्षण रूप से सर्वत्र रूप से ली जाती है, इसलिए ग्रहण आदि व्यापार के अयोग्य द्वयणुक आदिक में भी स्कन्ध संज्ञा प्रवृत्त होती है।

(सर्वा ५७४)

स्कन्ध के छह भेद हैं-

१) बादर-बादर, २) बादर, ३) बादर सूक्ष्म, ४) सूक्ष्म-बादर, ५) सूक्ष्म ६) सूक्ष्म-सूक्ष्म। (प़ का स ७६)

क्रमशः...

29/06/20, 11:47 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

29/06/20, 1:11 pm - Ashok Jain: १) बादर-बादर: जो पृथक करने पर पृथक हो जावे और मिलाने पर फिर न मिल सके, ऐसे पुद्गलस्कन्धों को अतिस्थूल ( बादर-बादर) कहते हैं। जैसे पृथ्वी आदि।(म पु २४/१५३)

२) बादर: जो पतले द्रव्य पृथक करने पर पृथक हो जावे और मिलाने पर पुनः मिल जावें, ऐसे पुद्गलस्कन्धों को स्थूल (बादर) कहते हैं। जैसे: घी, तेल, पानी आदि।(म पु २४/१५३)

३) बादर-सूक्ष्म: जो नेत्रों से दिखाई तो देते हैं, परन्तु संहरण नहीं किये जा सकते इसलिए विघात रहित हैं उन स्कन्धों को स्थूल-सूक्ष्म (बादर-सूक्ष्म) कहते हैं। (म पु २४/१५२)

४) सूक्ष्म-बादर: जो नेत्रों से देखने में तो नहीं आते परन्तु अपनी-अपनी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते हैं ऐसे स्कन्धों को संबोधित सूक्ष्म-स्थूल (सूक्ष्म-बादर) कहते हैं। जैसे- मीठा, गर्म, ठण्डा, शब्द आदि। (म पु २४/१५१)

सूक्ष्म: जो कर्म वर्गणा रूप परिणमन करने में योग्य हैं ऐसे स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं। ( ये इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा नहीं जाने जाते, मात्र कार्य द्वारा इनका ज्ञान होता है) क्योंकि वे प्रदेशों के अनन्त समुदाय रूप है। (म पु २४/१५०) जैसे मन, वचन और शरीर। शरीर की उत्पत्ति में सहायक परमाणुओं को शास्त्रों में वर्गणा दिया है।

सूक्ष्म-सूक्ष्म: एक अर्थात् स्कन्ध से पृथक रहने वाला परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है। क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न स्पर्श किया जा सकता है। (म पु २४/१५०) जैसे कर्मवर्गणाएं।

29/06/20, 3:29 pm - +91 70669 23872 left

29/06/20, 4:00 pm - Ashok Jain: स्कन्धों की उत्पत्ति का कारण

*भेद-संघातेभ्य उत्पद्यन्ते॥२६॥*

सूत्रार्थ: (भेद) बिछुड़ने ( संघातेभ्य) मिलने और भेदसंघात दोनों से (उत्पद्यन्ते) स्कन्धों की उत्पत्ति होती है।

भेद: संहतों (मिले हुए पदार्थों) का दो कारणों से विदारण होना भेद है।

संघात: विविक्त स्कन्धों को संघटित करना संघात है।

भेद, संघात और भेद-संघात से स्कन्धों की उत्पत्ति: तीन प्रदेश वाले स्कन्ध से एक अणु निकल जाने पर दो प्रदेश वाला स्कन्ध उत्पन्न होता है, पांच प्रदेशी या चार प्रदेशी स्कन्ध से दो प्रदेश या एक अणु का भेद हो जाने से तीन प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। दो द्विप्रदेशी, एक त्रिप्रदेशी और एक अणु या चार अणुओं के सम्बन्ध से चतु: प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है। इसी प्रकार संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेशों के संघात से संख्यात असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार एक ही समय में भेद और संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, जैसे चार प्रदेशों में से दो प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होते हैं और उसी समय उसी समय एक परमाणु का संघात हो गया तो त्रिप्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। (रा वा ५).

29/06/20, 9:54 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): भेद से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं , संघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं , भेद और संघात दोनों से भी स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकार के निमित्तों से संघातों के विदारण करने को *भेद* कहते हैं।

अलग अलग हुए पदार्थों के एकरूप हो जाने को *संघात* कहते हैं।

स्कन्ध में से कुछ परमाणुओं का भेद और कुछ परमाणुओं के संघात से - भेदसंघात से स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

एक उदाहरण द्वारा हम इसे समझ सकते हैं।

100 परमाणु के पिण्ड से 50 परमाणु अलग कर दिये गये , 50 परमाणु का स्कन्ध *भेद* से उत्पन्न हुआ।

50 परमाणु के स्कन्ध में 50 परमाणु और मिलाये गये , 100 परमाणु का स्कन्ध *संघात* से हुआ।

100 परमाणु के स्कन्ध में से 25 परमाणु निकाले गये और 50 पलमाणु मिलाये गये., 125 परमाणु का स्कन्ध *भेद-संघात* से उत्पन्न हुआ।

29/06/20, 10:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): विशेषार्थ - पुद्गलों के अणु एवं स्कन्धरूप परिणाम , अन्तरंग बहिरंग निमित्त मिलने पर अणु से स्कन्धरूप पर्याय या स्कन्ध से अणुरूप पर्याय बनती रहती है , मिटती रहती है । कहने का तात्पर्य यह है कि अणु अपने योग्य अणुओं से मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं , जिससे संख्यात , असंख्यात , अनन्त एवं अनन्तानन्त अणुओं के संघात से उतने उतने प्रदेश वाले स्कन्ध उत्पन्न होते हैं।

एक समय में जो तीसरा भेद , भेद एवं संघात से उत्पन्न होता है अर्थात् जब अन्य स्कन्ध से भेद होता है और अन्य का संघात होता है तब एक साथ भेद और संघात , इन दोनों से भी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

लोहे की हथौड़ी से पत्थर के टुकड़े किये गये । लोहे की चोट लगते ही पत्थर के भेद अर्थात् टुकड़े हो गये , किन्तु लोहे की हथौड़ी से से लोहे के कुछ कण पत्थर के टुकड़े के साथ संघात को प्राप्त हो जाते हैं तथा पत्थर के कुछ कण भी हथौड़ी के साथ चिपककर संघात को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार एक साथ ही *भेद-संघात* से *स्कन्ध* बन जाता है।

30/06/20, 11:13 am - Ashok Jain: परमाणु की उत्पत्ति का कारण

*भेदादणु:॥२७॥*

सूत्रार्थ: (भेदात्) भेद से (अणु:) अणु की उत्पत्ति होती है।

कोई विधि सिद्ध हो, फिर भी यदि उसका आरम्भ किया जाता है तो वह नियम के लिए होती है। यद्यपि यह सिद्ध हुआ कि अणु भेद से उत्पन्न होता है फिर भी 'भेदादणु:' इस सूत्र को बनाने से यह नियम फलित होता है कि अणु की उत्पत्ति भेद से ही होती है। न संघात से होती है और न ही भेद और संघात इन दोनों से ही होती है।

(सर्वा ५७८)

30/06/20, 2:45 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏👏👏👏👏

30/06/20, 3:45 pm - Ashok Jain: चाक्षुष स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण

*भेद-संघाताभ्याम् चाक्षुष:॥२८॥*

सूत्रार्थ: (चाक्षुष:) चक्षु इन्द्रिय से दिखने योग्य स्कन्ध (भेदसंघाताभ्याम्) भेद और संघात दोनों से ही (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है। केवल भेद से उत्पन्न नहीं हो सकता।

-भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनता है।

सूक्ष्म परिणत स्कन्ध से कुछ अंश का भेद होने पर भी सूक्ष्मता का परित्याग नहीं करने से वह स्कन्ध अचाक्षुष ही रहता है। सूक्ष्म परिणत पुनः दूसरा स्कन्ध उसका भेद होने पर भी अन्य के संघात से सूक्ष्मता का परित्याग करके स्थूलता को प्राप्त हो जाता है, तब वह स्कन्ध चाक्षुष हो जाता है।

(जैसे लोहे की हथोड़ी से पत्थर के टुकड़े करने पर प्रत्यक्ष प्रयोग चक्षुओं से दिखता है।)

30/06/20, 8:27 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB) added +91 97111 15303

30/06/20, 9:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से निष्पन्न होकर भी कोई स्कन्ध *चाक्षुष* होता है और कोई *अचाक्षुष* होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि जो अचाक्षुष स्कन्ध है वह चाक्षुष कैसे होता है ? इसी बात को स्पष्ट करने के लिए २८ वें सूत्र में कहा गया है कि भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध होता है , अकेले भेद से नहीं , यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

जैसा कि हमने ऊपर के विश्लेषण में जाना कि सूक्ष्म परिणाम वाले स्कन्ध का भेद होने पर भी वह अपनी सूक्ष्मता को नहीं छोड़ता , इसलिये उसमें *अचाक्षुषपना* ही रहता है । एक दूसरा सूक्ष्म परिणाम वाला स्कन्ध है जिसका यद्यपि भेद तो हुआ है फिर भी दूसरे भेद और संघात से संयोग हो गया । इसलिए उसमें सूक्ष्मपना निकलकर स्थूलपने की उत्पत्ति हो जाती है और वह चाक्षुष स्कन्ध हो जाता है।

30/06/20, 9:39 pm - +91 72200 71008 left

30/06/20, 10:57 pm - +91 98680 71093 left

01/07/20, 11:17 am - Ashok Jain: द्रव्य का लक्षण

*सद् द्रव्य -लक्षण॥२९॥*

(द्रव्य लक्षणं) द्रव्य का लक्षण (सत्) सत् है।

सत्: जो इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है या अतीन्द्रिय है, ऐसा पदार्थ बाह्य और आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) निमित्त की अपेक्षा उत्पाद, व्यव और ध्रौव्य को प्राप्त होता है, वह सत् है।

सत् का अस्तित्व है। जो सत् है वही द्रव्य है। वे (छहों) द्रव्य सत् रूप है, काल्पनिक या वैकल्पिक नहीं होते हैं।

01/07/20, 11:45 am - +91 99861 99018 left

01/07/20, 12:19 pm - +91 99264 14261 left

01/07/20, 3:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

01/07/20, 4:40 pm - Ashok Jain: सत् का लक्षण

*उत्पादव्ययध्रौव्यं-युक्तं सत्॥३०॥*

सूत्रार्थ: (उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम्) जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित होता है वह (सत्) सत् है।

उत्पाद: द्रव्य अपनी जाति को तो कभी नहीं छोड़ते फिर भी उनकी अंतरंग और बहिरंग निमित्त के वश से प्रतिसमय जो नवीन अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे उत्पाद कहते हैं। जैसे मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय। (सर्वा ५८४)

उत्पाद दो प्रकार का होता है: १) प्रायोगिक उत्पाद और २) वैस्रसिक उत्पाद।

व्यय: पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं। स्वजाति को न छोड़ते हुए चेतन वा अचेतन पदार्थ की जो पूर्व पर्याय का नाश होता है, वह व्यय है। जैसे कि घट की उत्पत्ति होने पर मिट्टी के पिण्डाकार का नाश होता है। (रा वा २)

व्यय भी उत्पाद की तरह दो प्रकार का होता है: १) स्वाभाविक (वैस्रसिक) और २) प्रायोगिक व्यय।

ध्रौव्य: ध्रुवस्थैर्य कर्म का स्थिर रहना ध्रौव्य है। अनादि पारिणामिक स्वभाव से व्यव और उत्पाद का अभाव है। द्रव्य ध्रुव रहता है, स्थिर रहता है, उसको ध्रुव कहते हैं और ध्रुव का जो भाव या कर्म है वह ध्रौव्य कहलाता है, जैसे कि पिण्ड और घट दोनों अवस्थाओं में मृदुरूपता का अन्वय रहता है। (रा वा ३).

सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए पर्याय ही पर्यायों और गुणों में व्यय तथा उत्पाद करती है। (त सा ३/१३).

01/07/20, 7:31 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ३० वें सूत्र में आचार्य देव ने द्रव्य का लक्षण उत्पाद , व्यय और ध्रौव्य बतलाया है। चेतन और अचेतन द्रव्यों में अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के प्रभाव से अपनी जाति का त्याग किये बिना नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद है , पूर्व पर्याय का त्याग व्यय है और अनादि पारिमाणिक स्वभावरूप अन्वय का बना रहना ध्रौव्य है।

कोयला जलकर राख हो गया। इसमें पुद्गल की कोयला रूप पर्याय का *व्यय हुआ है और राख रूप पर्याय का *उत्पाद* हुआ है , लेकिन दोनों अवस्थाओं में ही पुद्गल द्रव्य का अस्तित्व बना हुआ है। *पुद्गलपने का नाश नहीं होना ही उसकी ध्रुवता है।*

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है और उसमें यह परिवर्तन प्रति समय होता रहता है। दूध कुछ समय बाद दही रूप में परिणत हो जाता है और दही का हम मट्ठा बना लेते हैं। दूध से दही और दही से मट्ठा , ये भिन्न भिन्न अवस्थायें हैं , लेकिन हैं सभी गोरस ही। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में अवस्था भेद के होने पर उसका अन्वय पाया जाता है , इसलिए वह उत्पाद , व्यय व ध्रौव्य युक्त सिद्ध होता है। यह प्रत्येक द्रव्य का सामान्य स्वभाव है।

01/07/20, 7:47 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य समन्तभद्र स्वामी *आत्ममीमांसा* में कहते हैं कि कहते हैं कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी।

*नित्यं तत् प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।*

*क्षणिक कालभेदात्ते बुध्यसंचरदोषतः।।५६ ।।*

वस्तु नित्य है इस अपेक्षा से ऐसा ज्ञान होता है कि यह वही है जिसे पहले देखा था ।यह वही देवदत्त है जिसे पहले देख चुके हैं।यह वही घर है जहाँ कल बैठे थे।वस्तु अनित्य भी है क्योंकि काल की अपेक्षा उसमें परिणाम या अवस्था बदल जाती है।जो बालक था वह युवा हो गया है ।तब बालकपना नाश हो गया और युवापना प्रकट हो गया।

आपने यह भी कहा कि वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है।

*न सामान्यात्मनोदेति न व्येति त्यक्तमन्वयात्।*

*व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादिसत् ।। ५७ ।।*

वस्तु सामान्य रूप से न तो जन्मती है न नाश होती है बराबर चली जाती है,यह बात प्रगट है।परन्तु विशेष या पर्याय की अपेक्षा उपजती भी है,नाश भी होती है।इस तरह एक ही वस्तु में एक काल उत्पाद विनाश व स्थिरपना पाया जाता है।सामान्य स्वभाव की अपेक्षा स्थिरपना है,विशेष की अपेक्षा उत्पत्ति व नाश है।सोने का कंकण तोड़कर हमने कुण्डल बनाया।यहाँ सोना कंकण और कुण्डल दोनों में सामान्य है सो बना रहा,विशेष जो कंकण था सो नाश हो गया और विशेष जो कुण्डल है सो पैदा हो गया।ऐसा सुन्दर और गाढ मत केवलज्ञानी जिनेन्द्र भगवान ने बतलाया था ।आपने यथार्थ को जैसा जाना वैसा ही बतलाया।आपकी सदा जय हो।

01/07/20, 9:24 pm - Ashok Jain: 👏👏👏

02/07/20, 10:51 am - Ashok Jain: ध्रौव्य का लक्षण

*तद्-भावाव्ययं नित्यम्॥३१॥*

सूत्रार्थ: (तद्भाव) स्वभाव का (अव्ययं) च्युत न होना (नित्यं) नित्य है।

तद्भाव: तद्भाव प्रत्यभिज्ञान का विषय है 'यह वही है' इस प्रकार का स्मरण प्रत्यभिज्ञान है। जिस स्वरूप में पहले देखा था उसी रूप में पुनः देखने पर 'तदेवेदम' यह वही हैं ऐसा ज्ञान एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान निर्विषयक और निर्हेतुक नहीं होता है अतः इस प्रत्यभिज्ञान में जो कारण है वह तद्भाव है। (रा वा १).

तद्भाव (द्रव्य के स्वरूप) का व्यय नहीं होते हुए भी कथंचित नित्य है सर्वथा नहीं, सर्वथा नित्य मानने पर अर्थात् अर्थ क्रिया रहित होने का प्रसंग आयेगा तथा अर्थक्रिया से रहित वस्तु खर विषाण के समान 'सत्' नहीं हो सकती है। (श्लो ६/३६०).

02/07/20, 3:48 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): प्रत्यभिज्ञान में *यह वही है* ऐसा कथन होता है। *वही* अर्थात् मूल में पहले थी , उसमें कोई परिवर्तन नहीं है , *यही* प्रत्यभिज्ञान है।

प्रत्यभिज्ञान के द्वारा ही वस्तु की नित्यता का बोध होता है , अन्यथा

वस्तु का सर्वथा नाश मानने या सर्वथा उत्पाद मानने पर स्मृति की स्थिति नहीं रह सकती है और स्मृति के अभाव में लोक व्यवहार विरोध को प्राप्त होता है।अतः जिस वस्तु का जो भाव है उस रूप से च्युत न होना *तद्भावाव्यय* का अर्थ है । यही नित्यपना है।

लेकिन द्रव्य की नित्यता को कथंचित जानना चाहिए , यदि सर्वथा नित्य मान लिया जाये तो परिणमन का सर्वथा अभाव प्राप्त होता है।ऐसा होने पर संसार और इससे मुक्ति का कारण रूप प्रक्रिया विरोध को प्राप्त होती है। संसार के समस्त पदार्थ सामान्य अपेक्षा नित्य हैं और विशेष पर्याय अपेक्षा अनित्य हैं ।अतः संसार के सभी पदार्थ *नित्यानित्य* रूप हैं।

02/07/20, 4:49 pm - Ashok Jain: एक वस्तु में दो विरुद्ध धर्म कैसे रहते हैं

*अर्पितानर्पित-सिद्धे:॥३२॥*

सूत्रार्थ: वस्तु की (अर्पित) विवक्षा और (अनर्पित) अविवक्षा से (सिद्धे:) उन दो विरोधी धर्मों की सिद्धि होती है।

मुख्य और गौण की विवक्षा से दो विरोधी धर्मों की सिद्धि होती है।

अर्पित:  अनेक धर्मात्मक वस्तु में से प्रयोजन वश जिस वस्तु की विवक्षा की जाती है वह अर्पित है।

अन्तर्पित:  प्रयोजन (वक्ता की इच्छा) का अभाव होने से विद्यमान धर्मों की अविवक्षा होती है वह अन्तर्पित है।

अर्पित (विवक्षा) एवं अनर्पित (अविवक्षा) की अपेक्षा एक ही पदार्थ में दोनों धर्मों की सिद्धि होती है। जैसे- वह मृत्पिण्ड 'रूपी द्रव्य' के रूप में अर्पित (विवक्षित) होता है। जब अनेक धर्म रूप से परिणत करने वाले इस मृत्पिण्ड की धर्मान्तर (अन्य धर्मों की) से विवक्षा करते हैं तो वह मिट्टी का पिण्ड रूपित्व और द्रव्यत्व को गौण करके केवल मृत्पिण्ड रूप पर्याय की विवक्षा करते हैं तो वह मिट्टी का पिण्ड रूप पुद्गल द्रव्य अनित्य है क्योंकि उसकी वह पर्याय अध्रुव है अनित्य ही है। (रा वा २)

02/07/20, 7:18 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): मुख्यता और गौणता की अपेक्षा एक वस्तु में विरोधी मालूम पड़ने वाले दो धर्मों की सिद्धि होती है।

विवक्षित , मुख्य , अर्पित ये तीनों शब्द पर्यायवाची हैं।वक्ता जिस धर्म को कहने की इच्छा करता है उसे *अर्पित, उपनीत , मुख्य या विवक्षित* कहते हैं या अनेकान्तात्मक वस्तु के प्रयोजनवश जिस किसी धर्म की विवक्षा से प्राप्त प्राधान्य अर्थरूप को *अर्पित* कहते हैं।

वक्ता कथन करते समय जिस धर्म को नहीं कहना चाहता वह *अनर्पित* है या प्रयोजन न होने पर जो गौण होता है उसे *अनर्पित* कहते हैं।इन दोनों का *अनर्पितं च अर्पितं च* इस प्रकार द्वन्द्व समास है।

वक्ता यदि द्रव्यार्थिक नय से वस्तु का प्रतिपादन करता है तो उस समय नित्यता *विवक्षित या अर्पित या मुख्य* कहलाती है और यदि पर्यायार्थिक नय से वस्तु का प्रतिपादन करता है तो अनित्यता विवक्षित होती है।जिस समय किसी पदार्थ को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य कहा जाता है उसी समय वह पदार्थ की अपेक्षा से अनित्य भी है।वस्तु सामान्य विशेषात्मक है जिसमें भेद अभेद का कथंचित रूप से व्यवहार होता है ।देवदत्त सामान्य से एक व्यक्ति है ,लेकिन विशेष की अपेक्षा वह पिता , पुत्र , भाई आदि भी है । अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है तो पिता की अपेक्षा  पुत्र भी है। इसी प्रकार द्रव्य भी सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है ,इनमें कोई विरोध नहीं है।

02/07/20, 8:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): भूल सुधार।

जिस समय किसी पदार्थ को द्रव्य की अपेक्षा से नित्य कहा जाता है उसी समय वह *पदार्थ* की अपेक्षा से नहीं *पर्याय* की अपेक्षा से अनित्य भी है , ऐसा पढें।

02/07/20, 9:12 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): स्वयम्भू स्तोत्र* ग्रन्थ में आचार्य समन्तभद्र स्वामी भगवान सुविधिनाथ की स्तुति करते हुए इस विषय पर प्रकाश डालते हैं

*गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं*

*जिनस्य ते तद् द्विषतामपथ्यम् ।*

*ततोऽभिवन्द्यं जगदीश्वराणाम्*

*ममापि साधोस्तव पादपद्मम् ॥ ५। ॥ ४५ ॥*

*श्री सुविधि जिन ने कर्म शत्रुओं को जीत लिया है, इसलिए वे जिन कहलाते हैं । ऐसे जिन का 'स्वादेकं पदस्य वाच्यं स्यादनेकम्' इत्यादि स्यात् शब्द से युक्त जो यह वाक्य है वह प्रधान और गौण के अभिप्राय को लिए हुए है ।*

*पदों के समूह को वाक्य कहते हैं । जब पद प्रधान और गौण भाव को लिए हुए होता है तो पदों का समूह रूप वाक्य भी गौण और प्रधान के अभिप्राय को लिए हुए ही होता है । जो धर्म विवक्षित होता है वह प्रधान हो जाता है और अविवक्षित धर्म गौण कहलाता है । किन्तु दोनों धर्म वस्तु में रहते अवश्य हैं । जब एकत्व धर्म विवक्षित होता है तब वह प्रधान होता है और अनेकत्व धर्म गौण हो जाता है । और जब अनेकत्व धर्म विवक्षित होता है तब वह प्रधान होता है और एकत्व धर्म गौण हो जाता है । इस प्रकार धर्मों में प्रधानता और गौणता विवक्षा और अविवक्षा के कारण होती है ।*

*गौण और प्रधान के अभिप्राय को लिए हुए उक्त प्रकार का वाक्य सौगत, सांख्य आदि एकान्तवादियों के लिए अनिष्ट है । एकान्तवादी लोग श्री सुविधि जिन से द्वेष रखते हैं । क्योंकि यदि वे स्यात् शब्द से युक्त वाक्य को स्वीकार कर लेंगे तो उनके एकान्त मत की हानि हो जाएगी । यही कारण है कि गौण और प्रधान के आशय को लिए हुए स्यात् शब्द से युक्त वाक्य उनको अनिष्ट है ।*

*हे सुविधि जिन ! आप साधु हैं — समस्त कर्मों का क्षय करने के लिए प्रयत्नशील हैं । आपका उपदेश समस्त जीवों का कल्याण करने वाला है । इसके विपरीत एकान्तवादियों का उपदेश जीवों को कुमार्ग पर ले जाने वाला है । आपके उपदेश की इस विशेषता से प्रभावित होकर ही जगत् के स्वामी इन्द्र, चक्रवर्ती आदि आपके चरण कमलों की वन्दना करते हैं और मैं भी श्रद्धापूर्वक आपके चरण कमलों की वन्दना कर रहा हूँ ।*

03/07/20, 11:58 am - Ashok Jain: परमाणुओं में बन्ध की योग्यता

*स्निग्ध-रूक्षत्वाद्-बन्ध:॥३३॥*

सूत्रार्थ: (स्निग्धरूक्षत्वाद्) स्निग्धता और रूक्षता से (बन्ध:) बन्ध होता है।

स्निग्धत्व: चिकनेपन की पर्याय को स्निग्धत्व कहते हैं।

रूक्षत्व: रूखापन की पर्याय को रूक्षत्व कहते हैं।

बाह्य आभ्यन्तर कारण से जो स्नेह पर्याय उत्पन्न होती है उसमें पुद्गल स्निग्ध कहलाता है। इसकी व्युत्पत्ति "स्निह्यते स्मेति स्निग्ध:" होगी। स्निग्ध पुद्गल का धर्म स्निग्धत्व है।

रूखेपन के कारण पुद्गल रूक्ष कहा जाता है और रूक्ष पुद्गल का धर्म रूक्षत्व है। (सर्वा ५९०).

(स्निग्धत्व और रूक्षत्व गुण के निमित्त से बन्ध होता है। परिस्थिति का वर्णन आगे के सूत्रों में...)

03/07/20, 4:28 pm - Ashok Jain: एक गुण वाले परमाणु में बन्ध का अभाव

*न जघन्य-गुणानाम्॥३४॥*

सूत्रार्थ: (जघन्यगुणानाम्) जघन्य गुण वालों का (न) बन्ध नहीं होता है।

जघन्य: शाखादित्व और देहांगत्व (देह-अंगत्व) के समान जघन्य शब्द की सिद्धि होती है। जघन के समान जघन्य है। जैसे- शरीर में जघन (जंघा) सबसे निकृष्ट है, उसी प्रकार अन्य वस्तु निकृष्ट है, ऐसा कहा जाता है। अथवा देह के अङ्गत्व में जघन (जंघा) में होने वाला जघन्य कहलाता है, उस जघन्य के समान जघन्य है, उसी प्रकार जघन की तरह निकृष्ट अवयव को निकृष्ट या जघन्य कहते हैं। (रा वा १)

गुण: गुण शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। कहीं गुण शब्द उपकार अर्थ में होता है जैसे- गुणज्ञ साधु। कहीं गुण शब्द द्रव्य अर्थ में है जैसे- यह देश गुणवान है। इसी प्रकार अनवयादि अनेक अर्थों में होता है। लेकिन यहां 'गुण' शब्द 'भाग' अर्थ में विवक्षित है, जघन्य गुण जिस परमाणु में है वह जघन्य गुण कहलाता है।(रा वा २)

[इस सूत्र में आगत गुण शब्द का अर्थ चिकनापन और रूखापन ही लेना चाहिए। क्योंकि प्रकरण वही है और जघन्य शब्द से दर्जे का हल्कापन अर्थात् बिल्कुल कम रूखे और बिल्कुल कम चिकने पुद्गल का किसी के साथ भी बन्धन नहीं होता।]

जिस प्रकार ऊंटनी, भैंस, गाय और बकरी के दूध में चिकनापन क्रमशः हीन-हीन देखा जाता है और महा परिणाम वाले आकाश द्रव्य, धर्मद्रव्य, स्वयंभूरमण समुद्र, घट, बेर, पोस्त में परिमाण की न्यूनता होते-होते सबसे छोटा परमाणु प्राप्त होता है उसी प्रकार स्निग्धता और रूक्षता के अविभाग प्रतिच्छेदों में न्यूनता होते-होते जघन्य गुणों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार प्रकर्षता होते-होते उत्कृष्ट गुणों की भी सिद्धि होती है। (श्लो ६/३७६-७७)

03/07/20, 4:52 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏

03/07/20, 7:07 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): यहाँ *जघन्य* शब्द का अर्थ निकृष्ट है और *गुण* शब्द का अर्थ भाग या हिस्सा है या

स्निग्धता और रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेदों को या जिसका टुकड़ा न हो सके , ऐसे अंशों को गुण कहते हैं।

जिनमें जघन्य गुण होता है अर्थात् जिनका शक्ति अंश निकृष्ट होता है ,वे जघन्य गुण वाले कहलाते हैं ।उन जघन्य गुण वालों का बन्ध नहीं होता है ।सूत्र में *बन्ध* पद की अनुवृत्ति ऊपर के सूत्र से ली गयी है।

जिस परमाणु में स्निग्धता और रूक्षता का एक अविभागी अंश हो उसे जघन्य गुण सहित परमाणु कहते हैं।

एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु का अन्य एक गुण वाले तथा अन्य दो, तीन , चार ,संख्यात , असंख्यात , अनन्त स्निग्ध गुण वाले परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता है।

एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु का एक गुण रूक्ष तथा दो, तीन , चार , संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुण रूक्ष वाले के साथ भी बन्ध नहीं होता है।

इसी प्रकार एक गुणरूक्ष का अन्य एक रूक्ष या स्निग्ध या दो , तीन , चार संख्यात असंख्यात तथा अनन्त गुण वाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता है।

04/07/20, 11:44 am - Ashok Jain: बन्धभाव का नियम

*गुण-साम्ये सदृशानाम् ॥३५॥*

सूत्रार्थ: (गुणसाम्ये) गुणों की समानता होने पर (सदृशानाम्) सजातीय परमाणुओं का भी बन्ध नहीं होता है ।

दो स्निग्ध, दो रूक्ष शक्त्यंश वालों के साथ। तीन स्निग्ध तीन रूक्ष शक्त्यंश वालों के साथ। दो स्निग्ध और दो स्निग्ध शक्त्यंश वालों के साथ। दो रूक्ष-दो रूक्ष अथवा तीन रूक्ष- तीन रूक्ष शक्त्यंश वालों के साथ बन्ध नहीं होता है; कारण कि इन सभी में पहले तो सदृशपना है। जैसे- स्निग्ध-स्निग्ध का या रूक्ष-रूक्ष का। दूसरे शक्त्यंश समान है जैसे दो-दो, तीन-तीन शक्त्यंश, अतः बन्ध नहीं होता है।

सूत्र में दो पद है, प्रथम गुणसाम्यता और दूसरा सदृशपना। इनमें गुण-साम्यता, तुल्यशक्त्यंश है, जिससे ध्वनित होता है असमानते के रहते हुए बन्ध होता है।

(प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से उद्धृत)

04/07/20, 2:56 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏👏👏👏👏

04/07/20, 3:56 pm - Ashok Jain: बन्ध किसका

*द्वयधिकादि-गुणानां तु॥३६॥*

सूत्रार्थ: (द्वियधिकादि) दो अधिक आदि (गुणानां तु) गुण वालों का बन्ध होता है।

दो स्निग्ध गुण वाले परमाणु का एक स्निग्ध, दो स्निग्ध और तीन स्निग्ध गुण वाले का बन्ध नहीं होगा। चार स्निग्ध गुण वाले परमाणु के साथ ही दो स्निग्ध गुण वाले का बन्ध होगा। इसी प्रकार दो गुण स्निग्ध परमाणु का पांच, छह, सात, संख्यात असंख्यात और अनन्त गुण वाले स्निग्ध गुण वाले के साथ बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार तीन गुण स्निग्ध वाले का पांच गुण स्निग्ध के वा रूक्ष के साथ बन्ध होगा; छह, सात आदि उत्तर वाले के साथ और एक, दो आदि पूर्व वाले के साथ बन्ध नहीं होगा अर्थात् तीन गुण वाले का न तो एक के साथ बन्ध होगा और न छह, सात आदि गुण वाले के साथ बन्ध होगा अपितु तीन गुण वाले का पांच गुण वाले के साथ ही बन्ध होगा।

इसी प्रकार चार गुण स्निग्ध वाले का छह गुण स्निग्ध वाले के साथ बन्ध होगा, तीन- सात आदि आगे-पीछे वाले गुण वालों से नहीं। इसी प्रकार दो गुण रूक्ष वाले का एक, दो तीन गुण वाले और पांच छह स्निग्ध वा रूक्ष गुण वालों के साथ बन्ध नहीं होगा अपितु चार गुण वाले रूक्ष या स्निग्ध गुण वाले के साथ ही बन्ध होगा। इसी प्रकार तीन गुण रूक्ष आदि में भी दो गुण अधिक का ही बन्ध लेना चाहिए न्यूनाधिक से नहीं। इसी प्रकार भिन्न जातियों में भी दो गुण स्निग्ध का एक, दो तीन रूक्ष से बन्ध नहीं होता है तथा उत्तर वाले पांच छह आदि रूक्ष गुण से बन्ध नहीं है परन्तु चतुर्गुण वाले से ही बन्ध होता है। इसी प्रकार तीन गुण रूक्ष वाले का पांच गुण रूक्ष या पांच गुण स्निग्ध से ही बन्ध होता है चार या छह आदि आगे-पीछे के गुण वालों से नहीं। (रा वा २)

समबन्ध एवं विषमबन्ध:

स्निग्ध का स्निग्ध परमाणु के साथ और रूक्ष का रूक्ष परमाणु के साथ बन्ध होना समजातीय बन्ध है।

स्निग्ध का रूक्ष के साथ और रूक्ष का स्निग्ध के साथ बन्ध होना विषम बंध  है। (श्लो. ६/३८७)

04/07/20, 4:32 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जिनमें दो शक्त्यंश अधिक हों उन्हें *द्वि अधिक* या *द्वयधिक* कहते हैं। उदाहरण के लिए दो शक्त्यंश के लिए चार शक्तयंश वाला पुद्गल क्योंकि चार में दो शक्त्यंश अधिक हैं ,अतः इनमें बन्ध होगा। इसी तरह तीन शक्त्यंश के लिए पाँच शक्त्यंश क्योंकि तीन - तीन शक्त्यंश तो दोनों में बराबर हैं,किन्तु पाँच वाले में तीन वाले से दो अधिक शक्त्यंश हैं , अतः इनमें बन्ध होता है।

सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है - *द्वि - अधिक - आदि - गुणानां तु ।।३६।।*

यहाँ *आदि* पद प्रकारवाची है ,जिससे स्निग्ध ,रूक्ष आदि के पुद्गलों के समान या असमान जातीय के दो अधिक शक्त्यंशों का बन्ध होता है ,अन्य और किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता।

*तु* पद बन्ध के निषेध का निराकरण करता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि पिछले दो सूत्रों में जघन्य शक्त्यंश से तथा समान शक्त्यंश से बन्ध का निषेध किया गया था , लेकिन इस सूत्र में आचार्य देव *बन्ध* की सिद्धि करते हुए कहते हैं कि दो अधिक आदि शक्त्यंशों का *तो* बन्ध होता है।

04/07/20, 9:51 pm - Ashok Jain: 👏👏👏

05/07/20, 4:41 pm - Ashok Jain: बन्ध होने पर अवस्था

*बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च॥३७॥*

सूत्रार्थ: (च) और (बन्धे) बन्ध होने पर (अधिकौ) अधिक गुण वाले परमाणु (पारिणामिकौ) कम गुण वाले परमाणुओं को अपने रूप परिणमाने वाले (भवत:) होते हैं।

पारिणामिकत्व: गीले गुड़ की तरह अवस्थान्तर उत्पन्न करना पारिणामिकत्व है। जैसे- अधिक मधुर रस वाला गीला गुड़ अपने में गिरी हुई धूलि आदि को मधुररस वाला बनाने के कारण धूलि का परिणामिक है, उसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला परमाणु न्यून गुण वाले परमाणुओं का परिणामिक होता है अर्थात् दो गुण स्निग्ध वा रूक्ष वाले परमाणुओं को चार गुण वाले स्निग्ध गुण या रूक्ष गुण वाले परमाणु परिणामिक होते हैं।

(रा वा २)

यहां बन्ध की चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि आत्मा के योग व्यापार के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में विस्रसोपचित अनन्तानन्त प्रदेशी स्निग्ध और रूक्ष से परिणत पौद्गलिक कर्मबन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। उस परिणामिक से अपादित परिणाम से ज्ञानावरण आदि कर्म भाव से परिणत पौद्गलिक कर्म तीस कोटाकोटि सागर आदि तक की स्थिति तक घन परिणामी बन्ध को प्राप्त रहते हैं, विघटित नहीं होते। (रा वा ५).

05/07/20, 4:45 pm - Ashok Jain: विस्रसोपचय:

कर्म या नोकर्म के जितने परमाणु जीव के प्रदेशों के साथ बद्ध हैं, उनमें से एक-एक परमाणु के प्रति जीवराशि से अनन्तानन्त गुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु जीवप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही रूप से स्थित है। विस्रसा अर्थात् आत्मपरिणाम से निरपेक्ष अपने स्वभाव से ही उपचीयन्ते अर्थात् मिलते हैं वे परमाणु विस्रसोपचय हैं। कर्म व नोकर्म रूप से परिणमे बिना जो उनके साथ स्निग्ध व रूक्ष गुण के द्वारा एक स्कन्ध रूप होकर रहते हैं वे विस्रसोपचय हैं ऐसा भाव है।

05/07/20, 5:43 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ३७ वें सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है - *बन्धे -अधिकौ पारिमाणिकौ च ।।३७।।*

*गुण* शब्द का अधिकार चला आ रहा है, इसलिए इस सूत्र में उनका सम्बंध होता है जिससे *अधिकौ* पद से *अधिकगुणौ* पद का ग्रहण होता है।

गीले गुड़ के समान एक अवस्था से दूसरी अवस्था को उत्पन्न कर देना *पारिणामिक* कहलाता है , जैसा कि हमने ऊपर अशोक जी की विवेचना द्वारा पढा।

यहाँ सूत्र में इस बात का विचार किया गया है कि एक परमाणु आदि का अन्य परमाणु आदि के साथ बन्ध कैसे होता है ? रूक्ष और स्निग्ध ये विरोधी गुण हैं । जिनमें स्निग्ध गुण होता है उनमें रूक्ष गुण नहीं होता और जिनमें रूक्ष गुण होता है उनमें स्निग्ध गुण नहीं होता। ये गुण ही बन्ध के कारण होते हैं । किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि रूक्ष और स्निग्ध गुण का अभिप्राय मात्र ही बन्ध का कारण है। ऐसा मानने पर एक भी पुद्गल परमाणु बन्ध के बिना नहीं रह सकता । इसीलिए यहाँ पर विधि -निषेध के द्वारा बतलाया गया है कि किन परमाणुओं आदि का परस्पर में बन्ध होता है और किनका नहीं होत।

जो स्निग्ध और रूक्ष गुण जघन्य शक्त्यंश लिए हुए हैं उन पुद्गल परमाणुओं का बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार गुण की समानता होने पर सदृशों का भी बन्ध नहीं होता, किन्तु द्वयधिक गुण वाले पुद्गल परमाणु आदि का ही द्वियहीन गुण वाले पुद्गल परमाणु आदि के साथ बन्ध होता है । ऐसा बन्ध स्निग्ध गुण वाले का स्निग्ध गुण वाले के साथ , रूक्ष गुण वाले का रूक्ष गुण वाले के साथ और स्निग्ध गुण वाले का रूक्ष गुण वाले के साथ होता है , यह नियम है।प्रवचनसार में भी इसी तरह से बन्ध व्यवस्था का निर्देश किया गया है।

यदि अधिक गुण वाला पारिणामिक नहीं होता है , तो सफेद और काले तन्तु के समान संयोग होने पर भी पारिणामिक न होने से पृथक् पृथक् रूप से ही स्थित रहेंगे । जैसे जुलाहे के द्वारा बुने हुए तन्तु सफेद तन्तु के समीप में मिले हुए लाल आदि वर्ण के तन्तु समान गुण वाले होने से परस्पर नहीं मिलते हैं , अलग अलग रहते हैं तथा अधिक गुण पारिमाणिक के बिना अल्प गुण वाले परमाणु और अल्प गुण बिना पारिमाणिकत्व आपस में नहीं मिलते हैं।

06/07/20, 11:29 am - Ashok Jain: द्रव्य का दूसरा लक्षण

*गुणपर्ययवद् द्रव्यम्॥३८॥*

सूत्रार्थ: (गुणपर्ययवद्) गुण और पर्याय वाला (द्रव्यं) द्रव्य होता है।

गुण: जो सम्पूर्ण द्रव्य में व्याप्त रहते हैं और समस्त पर्यायों के साथ रहते हैं उन्हें गुण कहते हैं और वे वस्तुत्व रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि हैं।

(न्या दी ३/७८)

गुण एवं द्रव्य: संज्ञा आदि के निमित्त से प्राप्त होने वाले भेद के कारण गुण द्रव्य से कथंचित भिन्न है तो भी वे द्रव्य से भिन्न नहीं पाये जाते हैं और द्रव्य के परिणाम है, इसलिए भिन्न नहीं भी हैं। (सर्वा ६०८).

सामान्य गुण दस हैं-

१) अस्तित्व: अस्तित्व के भाव को अस्तित्व कहते हैं। अपने गुण और में व्याप्त होने वाला सत् है। (न.च. ६०)

२) वस्तुत्व: सामान्य विशेषात्मक वस्तु होती है, उस वस्तु का जो भाव वह वस्तुत्व है।

३) द्रव्यत्व: जो अपने-अपने प्रदेश समूह के द्वारा अखण्डपने से भी अपनी स्वभाव-विभाव पर्यायों को प्राप्त होता है, होवेगा, हो चुका है वह द्रव्य है, उस द्रव्य का जो भाव है वह द्रव्य है। (आ प ९६).

४) प्रमेयत्व: प्रमाण के द्वारा जानने योग्य जो स्व और पर स्वरूप है वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। अर्थात् जिस शक्ति के कारण द्रव्य किसी न किसी ज्ञान का विषय बनता है वह प्रमेयत्व गुण है।

५) अगुरुलघुत्व: जो सूक्ष्म है, वचन के अगोचर है, प्रतिसमय परिणमन शील है वह अगुरुलघुत्व गुण है। अगुरुलघु का जो भाव है वह अगुरुलघुत्व है।

६) प्रदेशत्व: प्रदेश का भाव प्रदेशत्व है अथवा क्षेत्रत्व है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु के द्वारा व्याप्त क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। (आ प ९८-१००).

७) चेतनत्व: चेतन के भाव को अर्थात् पदार्थ के अनुभव को चेतन कहते हैं। चैतन्य नाम अनुभूति का है। वह अनुभूति क्रिया रूप ही होती है। मन-वचन-काय में अन्वित वह क्रिया नित्य होती रहती है। (आ प १०१).

८) अचेतन्त्व: अचेतन के भाव को अर्थात् पदार्थ के अनुनभव को अचेतनत्व कहते हैं।

९) मूर्त्तत्व: मूर्त्त अर्थात् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श युक्तता को मूर्त्त कहते हैं, मूर्त्त के भाव को मूर्त्तत्व कहते हैं।

१०) अमूर्त्तत्व: रूपादि से रहित अमूर्त्त के भाव को अमूर्त्तत्व कहते हैं।

(आ प १०२-१०४).

प्रत्येक द्रव्य में आठ सामान्य गुण पाये जाते हैं-

जीव द्रव्य: अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व चेतनत्व और अमूर्त्तत्व।

पुद्गल द्रव्य: अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, अचेनत्व और मूर्त्तत्व।

धर्म-अधर्म-आकाश-काल: अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व प्रदेशत्व अचेनत्व और अमूर्त्तत्व (आ प १०).

क्रमश:...

06/07/20, 4:50 pm - Ashok Jain: पर्याय: एक ही द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय कहते हैं- जैसे आत्मा में हर्ष और विषाद।

(प मु ४८).

द्रव्य की अनेक रूप परिणति क्रम से होती है अर्थात् अनित्य रूप पर्याय समय-समय पर उत्पन्न और नष्ट होती है। (प प्र टी १/५७)

पर्यायों का आकार: दीर्घ, ह्रस्व, गोल, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि तथा नारकत्व, मनुष्यत्व और देवत्व आदि स्वरूप से आकार होना पर्यायों का संस्थान है। (मू आ ५४९)

पर्यायें दो प्रकार की-

१) गुणात्मक पर्याय २) द्रव्यात्मक प्रर्याय (प्र सा त ९३)

१) द्रव्य पर्याय २) गुण पर्याय (पं का ता १६)

१) अर्थ पर्याय २) व्यञ्जन पर्याय (आ प १५)

१) स्वभाव पर्याय २) विभाव पर्याय (नि सा १५).

गुण पर्याय: गुण पर्याय एक द्रव्यगत ही होती है, आम्र में हरे और पीले रंग की भांति।(पं का ता १६)

दो भेद हैं- स्वभाव गुण पर्याय और विभाव गुण पर्याय।

द्रव्य पर्याय: अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की कारण भूत द्रव्य पर्याय है। जैसे अनेक वस्तुओं से बनी हुई को एक यान या वाहन कहना। (पं का ता १६).

इसके भी दो भेद हैं-

समानजातीय द्रव्य पर्याय और असमान जातीय द्रव्य पर्याय।

अर्थ पर्याय: भूत और भविष्यत् के उल्लेख रहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु स्वरूप को अर्थ पर्याय कहते हैं। आचार्यों ने इसे ऋजुसूत्र नय का विषय माना है। (न्या दी ३/७७)

भेद:

१) स्वभाव अर्थ पर्याय बारह प्रकार की होती है षट्गुणहानिवृद्धि रूप-

अनन्त भाग वृद्धि/हानि, असंख्यात भाग वृद्धि/हानि, संख्यात भाग वृद्धि/हानि, संख्यात गुण वृद्धि/हानि, असंख्यात गुण वृद्धि/हानि और अनन्तगुण वृद्धि/हानि।

विभाव अर्थ पर्याय- कषायों की षट् स्थानगत हानि-वृद्धि होने से विशुद्ध या संक्लेष रूप शुभ अशुभ लेश्याओं के स्थानों में जीव की अशुद्ध (विभाव) अर्थ पर्यायें जानना चाहिए तथा द्वि-अणुक आदिक स्कन्धों में वर्णादि में अन्य वर्णादि होने रूप पुद्गल की विभाव अर्थ पर्यायें हैं। (पं का टी १६)

मिथ्यात्व, कषाय, राग, द्वेष, पुण्य, पाप ये छह जीव की अध्यवसाय विभाव अर्थ पर्यायें हैं। (आ प १८)

...... पुद्गल में विभाव पर्यायें कालप्रेरित होती हैं जो स्निग्ध और रूक्ष गुण के कारण बन्ध रूप होती हैं।( न च १८-१९)

06/07/20, 9:53 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में आचार्य देव ने प्रकारान्तर से *द्रव्य* का लक्षण बतलाया है।

गुण और पर्याय जिसमें हो वह द्रव्य है।गुण अन्वयी होते हैं।कहा भी है *अन्वयिनो गुणाः* । द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को *गुण* कहते हैं।

जिससे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से जुदा होता है वह गुण है।

जिनसे धारा में एकरूपता बनी रहती है उसे गुण कहते हैं। जैसे जीव के ज्ञानादिक की धारा , पुद्गल में रसादिक की धारा।

विशेष को भी गुण कहते हैं।

पर्याय व्यतिरेकी होती है। कहा भी है *व्यतिरेकिणः पर्यायाः* ।

द्रव्य के विकार को पर्याय कहते हैं।

जिससे धारा में भेद प्रतीत होता है वे पर्याय कही जाती हैं।

स्वभाव विभाव रूप से जो प्राप्ति होती है ,उसे पर्याय कहते हैं।

गुण और पर्याय जिसके हैं वह द्रव्य गुणर्यायवान कहलाता है ।गुण पर्यायों को प्राप्त हो रहा है , भविष्यकाल में होगा और भूतकाल में जो गुण और पर्याय को प्राप्त था , वह द्रव्य है।

प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणों का और क्रम से होने वाली उनकी पर्यायों का पिण्डमात्र है। जीव द्रव्य में ज्ञानादिक की धारा का , पुद्गल में रूप रसादिक की धारा का , धर्म द्रव्य में गतिहेतुत्व की धारा का , अधर्म.द्रव्य में स्थिति हेतुत्व की धारा का और काल द्रव्य में वर्तना का कभी विच्छेद नहीं होता।

जीव का मति -श्रुतादि ज्ञान जीव के ज्ञान गुण की पर्यायें हैं तथा घट , पट , रूप - रस में रूप से रूपान्तर , रस से रसान्तर आदि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।गुण और पर्याय दोनों मिलकर द्रव्य की आत्मा हैं। तात्पर्य यह है कि गुण और पर्याय को छोड़कर द्रव्य कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है।

लिखने का आधार - परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित विवेचना से।

06/07/20, 10:33 pm - Ashok Jain: 👏👏👏

07/07/20, 11:40 am - Ashok Jain: काल भी द्रव्य है

*कालश्च॥३९॥*

सूत्रार्थ: (काल: च) काल भी द्रव्य है।

*"च" अर्थात् द्रव्याणि।

काल भी द्रव्य है क्योंकि यह भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा गुण पर्यायों से सहित है।

काल में ध्रौव्य तो स्वप्रत्यय है ही क्योंकि वह स्वभाव में सदा व्यवस्थित रहता है। काल का उत्पाद व्यय पर प्रत्यय से होता है। अगुरुलघु की हानि-वृद्धि की अपेक्षा उत्पाद व्यय स्वप्रत्यत से होता है तथा पर द्रव्यों में वर्तना का कारण होने से काल में उत्पाद और व्यय पर पर-प्रत्यय भी होता है। (रा वा २).

काल द्रव्य में दो गुण

१) साधारण गुण २) असाधारण गुण

वर्त्तनाहेतुत्व काल का असाधारण गुण है क्योंकि काल को छोड़कर अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता है।

अचेतन, अमूर्त्तत्व, सूक्षमत्व, अगुरुलघुत्व आदि साधारण गुण है क्योंकि ये गुण पुद्गल आदि अन्य द्रव्यों में भी पाये जाते हैं।

07/07/20, 1:41 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *कालयति इति कालः* अर्थात् जो व्यतीत होता है या जाना जाता है उसे काल कहते हैं।

*काल* भी द्रव्य है फिर भी आचार्य देव ने इसका वर्णन पहले ही सूत्र में नहीं करके यहाँ अलग से किया क्योंकि पहले सूत्र में ही काल का वर्णन करने से काल को भी कायपना प्राप्त होता, लेकिन काल द्रव्य उपचार से भी कायावान या आस्तिकाय नहीं है।यह एक प्रदेशी द्रव्य है।अन्य द्रव्य बहुप्रदेशी होने से आस्तिकाय रूप हैं।

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं , उतने ही आकाश प्रदेश प्रमाण कालाणु हैं ।कालाणु निष्क्रिय हैं और लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर पृथक् पृथक् एक एक कालाणु रत्नराशि के समान अवस्थित हैं।ये कालाणु निष्क्रिय होते हुए भी द्रव्यों के परिवर्तन आदि में निमित्त हैं।

एक पुद्गल परमाणु मन्द गति से आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश पर जाता है और इसमें कुछ समय लगता है।यह समय ही काल द्रव्य की पर्याय है जो कि अति सूक्ष्म होने से निरंश है ।समय पर्याय में भेद सिद्धि के लिए कालद्रव्य को अणु रूप में स्वीकार किया गया है।

07/07/20, 3:34 pm - Ashok Jain: काल द्रव्य की विशेषता

*सोऽनन्त-समय:॥४०॥*

सूत्रार्थ:  (स) वह (अनन्तसमय:) अनन्त समय वाला है।

यद्यपि वर्तमान काल एक समय वाला है तो भी अतीत और अनागत अनन्त समय है, ऐसा मानकर काल को अनन्त समय वाला कहा गया है, तात्पर्य यह है कि अनन्त पर्यायें वर्तना [परिवर्तन होना] गुण के निमित्त से होती है, इसलिए एक कालाणु को भी उपचार से अनन्त कहा है। (सर्वा ६०४).

07/07/20, 8:00 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): व्यवहार काल का प्रमाण *अनन्त समय* वाला है।

समय शब्द द्रव्य और पर्याय दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है।

बुद्धि के द्वारा अविभागी भेद से भेद कर देने पर भी परमाणु के समान जिसका भेद करना शक्य नहीं है , ऐसे  अत्यन्त परमनिरुद्ध सूक्ष्म कालांश को *समय* कहते हैं।

समय के अविभाग प्रतिच्छेद असंख्यात बनते हैं जो छद्मस्थ के बुद्धिगम्य नहीं हैं , केवलज्ञान द्वारा ही जाने जाते हैं।जब एक परमाणु तीव्रगति से गमन करता है तो एक समय में  चौदह राजू गमन कर सकता है तब स्पष्ट है कि वह चौदह राजू के आकाश के एक एक प्रदेश को स्पर्श करता  है।जब एक एक प्रदेश को स्पर्श करता ही है तो जितने प्रदेश चौदह राजू के हैं उतने ही एक समय के अविभाग प्रतिच्छेद बनते हैं।

असंख्यात समयों की एक आवली होती है।असंख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है।सात उच्छ्वासों का एक स्तोक होता है।सात स्तोकों का एक लव होता है।साढे अड़तीस लवों की एक नाली होती है।दो नालियों का एक मुहूर्त होता है।एक मुहूर्त में एक समय कम करने से भिन्न अन्तर्मुहूर्त होता ।समय की पर्याय अत्यन्त सूक्ष्य है फिर भी समय के समुदाय

को रात ,दिन , पक्ष, माह ,ऋतु ,अयन , संवत्सर , युग, पल्योपम , सागरोपम आदि के द्वारा जाना जाता है जो समय समूह से उत्पन्न व्यवहार काल है , किन्तु समय पर्याय ; बिना पर्यायी के नहीं हो सकती है , इससे निश्चय काल के अस्तित्व का ज्ञान होता है ।जैसे घण्टे को बजाने से ध्वनि होती है या निकलती है , वह ध्वनि अनन्तरूप है। जब तक घण्टा है तब तक ध्वनि है।वैसे ही काल द्रव्य में अनन्त समय हैं।

08/07/20, 11:06 am - Ashok Jain: गुण का लक्षण

*द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा:॥४१॥*

सूत्रार्थ: (द्रव्याश्रया:) जो द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और (निर्गुणा:) जो स्वयं निर्गुण हैं। उन्हें (गुणा:) गुण कहते हैं।

द्रव्य का आश्रय लेकर और पर के आश्रय के बिना प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य लिंगित होता है, पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण है। (प्र सा त १३०).

द्रव्य में भेद करने वाले धर्म को गुण कहते हैं।(सर्वा ६००).

जैसे जीव का ज्ञान आदि।

08/07/20, 2:26 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ३८ वें सूत्र में हमने पढा कि गुण और पर्याय वाला द्रव्य है , अब ४१ वें सूत्र में आचार्य महाराज बतला रहे हैं कि जिन गुण वाला द्रव्य है , वह *गुण* क्या है।

गुण द्रव्य के आश्रय से रहते हैं अर्थात् द्रव्य आधार है और गुण आधेय हैं।यद्यपि द्रव्य.और गुण आधार आधेय की अपेक्षा भिन्न हैं फिर भी इनमें आधार - आधेय दही और कुण्ड की तरह सर्वथा भेद नहीं है क्योंकि गुण द्रव्य के साथ रहते हुए भी उससे कथंचित अभिन्न हैं। जैसे तिल के समस्त अवयवों में तैल व्याप्त होकर रहता है वैसे ही प्रत्येक गुण द्रव्य के सभी अवयवों में समान रूप से व्याप्त होकर रहता है।

सूत्र में वर्णित *निर्गुणा गुणाः* का आशय यह है कि *जो स्वयं गुण हैं पर विशेष रहित हैं , वे गुण हैं।* यह सिद्धांत है कि जैसे जीव द्रव्य में जो ज्ञानादि गुण पाये जाते हैं वैसे गुण में अन्य गुण नहीं रहते।जीव के असंख्यात प्रदेशों में प्रत्येक आत्मप्रदेशों में अनन्त गुण रहते हुए भी एक गुण में दूसरा गुण नहीं रहता । इस प्रकार गुण विशेष रहित होते हैं और इसी अपेक्षा से *निर्गुणाः गुणाः* कहा गया है।

08/07/20, 4:27 pm - Ashok Jain: परिणाम का लक्षण

*तद्भाव: परिणाम:॥४२॥*

सूत्रार्थ: (तद्भाव:) द्रव्य के उस भाव को (परिणाम:) परिणाम या कहते हैं।

द्रव्य का निज भाव ही तद्भाव है।

जीवादि द्रव्य जिस रूप में हैं उनके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं। जैसे जीव की मनुष्य-देवादि पर्याय।

द्रव्यों में अनादि और सादि परिणाम:- दोनों नयों के कारण सब द्रव्यों में सादि एवं अनादि दोनों परिणामों की सिद्धि होती है। पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से सभी धर्मादि द्रव्यों में परिणाम सादि हैं और द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से सभी द्रव्यों के परिणाम अनादि हैं। विशेषता यह है कि धर्मादि चार अतीन्द्रिय द्रव्यों का आदि और अनादिमान परिणाम आगम से जाना जाता है और जीव तथा पुद्गल के परिणाम कथंचित प्रत्यक्षगम्य भी होते हैं। (रा वा ५/४२)

बाह्य कारणों से जो उत्पाद होता है, जो द्रव्यों के परिणाम होते हैं वे सादि परिणाम हैं। (रा वा ५/४२).

08/07/20, 8:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

09/07/20, 7:20 am - +91 86184 82704 joined using this group's invite link

09/07/20, 7:21 am - +91 86184 82704 left

09/07/20, 10:41 am - Ashok Jain: ग्रुप रविवार तक आपन कर रहे हैं

आप सभी से निवेदन है कृपया कोई जिज्ञासा या पांचवें अध्याय से सम्बंधित जानकारी हो तो *सूत्र को टेग* करके भेज सकते हैं।

साथ ही चार दिन रिविजन का समय है। रविवार शाम 8 बजे प्रश्नपत्र भेजूंगा।

समय एक घंटा। 🙏

09/07/20, 10:41 am - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

09/07/20, 11:38 am - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 🙏

09/07/20, 10:49 pm - +91 98277 41490: https://youtu.be/JVUXD5wmz-M

*नारियल की गरी की चटक को रंगकर और लौंग को धूप मानकर थाली में चढ़ाने की परम्परा कपोल कल्पित...*

*- मुनि श्री सुधासागर जी महाराज*

*मूल परम्परा* यह हैं की सभी को *पूजन* में *अष्ट द्रव्य* में *दीपक जलाकर* और *धूप को अग्नि में खेकर* ही पूजा करनी चाहिए।

अष्टांगी धूप से एक भी जीव नहीं मर सकता।

मुनि श्री ने यह भी कहा की *अपने घरों को शुद्ध करने के लिए सुबह, दिन और रात में अष्टांगी धूप खें।*

दिप और धूप का निषेध करना, थाली में धूप चढ़ाना अपनी आर्ष परम्परा के विरुद्ध हैं।

*आगम में -*

तिलोय पन्नत्ती

पूज्यपाद जिनसेन,

प्रतिष्ठा पाठ,

महापुराण,

कुन्द कुन्द स्वामी की भक्तियाँ आदि पढ़ों। उसमें धूप का वर्णन किया।

धूप का जो निषेध करते हैं वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं।

*-मुनि श्री सुधासागर जी महाराज*

*- अधिक स्पष्टता हेतु यह छोटा सा व्याख्यान अवश्य सुनें।*

10/07/20, 10:33 am - Ashok Jain: आपने बहुत अच्छा मैसेज भेजा है परन्तु इस ग्रुप के अनुरूप नहीं है।

कृपया तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी जानकारी या जिज्ञासा ही भेजें। अन्य सदस्यों को भी विकल्प हो सकता है, ये ठीक नहीं।🙏

11/07/20, 3:55 pm - +91 98917 39603 left

12/07/20, 11:10 am - Ashok Jain: आप सभी ने अच्छे से रिविजन कर लिया होगा।

आज शाम ८ बजे पांचवें अध्याय का प्रश्नपत्र भेजूंगा और आशा है कि आप सब अवश्य भाग लेंगे।🙏

एक निवेदन है कृपया प्रश्नोत्तर एक बार ही भेजें। धन्यवाद।

12/07/20, 11:13 am - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 👌🙏🙏🙏

12/07/20, 11:27 am - P C Jain Rafigunj: 🙏🙏🙏

12/07/20, 1:44 pm - +91 98682 06915: This message was deleted

12/07/20, 1:44 pm - +91 98682 06915: This message was deleted

12/07/20, 1:44 pm - +91 98682 06915: This message was deleted

12/07/20, 1:44 pm - +91 98682 06915: This message was deleted

12/07/20, 1:46 pm - +91 94791 30002: Ye kya hai

12/07/20, 1:46 pm - +91 94791 30002: Swadhyay group hai yeah

12/07/20, 1:54 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): शशि जैन जी , कृपया शीघ्र सभी फोटोज को डिलीट करें। यदि आपकी स्वाध्याय में रुचि नहीं है तो कृपया ग्रुप छोड़ दें।

12/07/20, 2:34 pm - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

12/07/20, 8:00 pm - Ashok Jain: Look what I shared: तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय पांच) - Google Forms @MIUI| https://docs.google.com/forms/d/1Ad2Hv1H50zoyVT-KngflcvcjOlzv-BtIVzukBn59bMc/edit?chromeless=1

12/07/20, 9:45 pm - Ashok Jain: बहुत अच्छी रेस्पॉन्स मिली है।

और भी कोई भाग लेना चाहते हैं तो आप सभी के लिए समय सुबह 11 बजे तक बढ़ाया जा रहा है, आप अब भी भाग ले सकते हैं।

12/07/20, 9:48 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

12/07/20, 9:49 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बहुत सुन्दर 👍👍👍

13/07/20, 11:03 am - Ashok Jain: <Media omitted>

13/07/20, 11:05 am - Ashok Jain: आप सभी को हार्दिक धन्यवाद 🙏

13/07/20, 5:36 pm - +91 99937 47022 left

14/07/20, 11:25 am - Ashok Jain: पंचम अध्याय का सार

प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या चार के अनुसार सम्यग्दर्शन के जो जीवादि तत्व कहे हैं, उनमें से जीव पदार्थ के बारे में शुरू के चार अध्यायों में किया गया।

अब इस अध्याय में अजीव पदार्थ के बारे में बताया गया है कि अजीव पदार्थों को द्रव्य संज्ञा दूसरे सूत्र में दी गई है। उन द्रव्यों के नाम और भेद कितने हैं। उनके गुण, लक्षण, उपकार, प्रदेश आदि कितने हैं। कौन से द्रव्य कायवान है और कौन सा कायवान नहीं है, तथा कौन सा द्रव्य उपचार से कायवान माना जाता है। कितने द्रव्य लोकाकाश में पाये जाते हैं कौन सा सा द्रव्य लोकाकाश के बाहर भी अखण्ड रूप से स्थित है। पुद्गल द्रव्य के भेद, पर्यायें कितने हैं। अणु और स्कन्ध कैसे उत्पन्न होते हैं। आदि आदि।

14/07/20, 11:28 am - Ashok Jain: *॥इति तत्वार्थसूत्रे-मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्याय: समाप्त:॥*

15/07/20, 11:08 am - Ashok Jain: *अथ षष्ठमोऽध्याय:*

इस अध्याय में आस्रव तत्त्व में योग, लक्षण, फलगत विशेषता, भेद- उत्तरभेद, अधिकरण, शुभाशुभ कर्मों के आस्रव का कारण और उनके भेद, आदि का वर्णन किया गया है।

इन सबको अपन यहां समझेंगे।

15/07/20, 11:08 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

15/07/20, 11:09 am - Ashok Jain: <Media omitted>

15/07/20, 11:09 am - Ashok Jain: आदरणीय श्री पारस भाई साहब द्वारा छठे अध्याय का वाचन

15/07/20, 11:49 am - Ashok Jain: आस्रव में निमित्त-योग के भेद

*कायवाङ्गमनः कर्म योगः॥१॥*

सूत्रार्थ: काय वचन और मन की क्रिया योग है।

योग: आत्मप्रदेशों के संकोच-विस्तार रूप होने को योग कहते हैं।

(ध.१/१४१)

योग तीन प्रकार का है- काय योग, वचन योग और मन योग।

योग पन्द्रह प्रकार के होते हैं-

१)सत्य मनोयोग २)असत्य मनोयोग ३)उभय मनोयोग ४)अनुभय मनोयोग ५)सत्य वचन योग ६) असत्य वचन योग ७) उभय वचन योग ८) अनुभय वचन योग ९) औदारिक काययोग १०)औदारिक मिस्र काययोग ११) वैक्रियिक काययोग १२) वैक्रियिक मिश्र काययोग १३)आहारक काययोग १४) आहारक मिश्र काययोग १५) कार्मण काय योग। (ध १/२८२-९१).

काययोग: वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के होने पर औदारिक आदि सात प्रकार की काय वर्गणाओं में से किसी एक प्रकार की वर्गणाओं के आलम्बन से होने वाला आत्मप्रदेश परिस्पन्दन काययोग कहलाता है।

(रा वा १०).

वचन योग: भाषा वर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कन्धों को अवलम्बन करके जो जीव-प्रदेशों का संकोच-विकोच होता है वह वचन योग है।(ध. ७/७६).

मनोयोग: बाह्य पदार्थ के चिंतन में प्रवृत्त हुए मन से उत्पन्न जीवप्रदेशों के परिस्पन्द को मनोयोग कहते हैं।

(ध १०/४३७)

इन तीनों योगों की उत्पत्ति में वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम कारण है।

15/07/20, 2:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन -हलन -चलन योग है अथवा पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन , वचन , काय से युक्त जीव की जो कर्म के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति है उसको योग कहते हैं।

आतःमप्रदेशों में परिस्पन्दन निमित्त के भेद से योग तीन प्रकार का है - काययोग , वचनयोग और मनोयोग ।

मनोयोग के चार भेद होते हैं -१) सत्यमनो योग २) असत्यमनो योग ३) उभयमनोयोग और ४) अनुभयमनोयोग

वचनयोग के भी चार भेद होते हैं -१) सत्यवचनयोग २) असत्यवचनयोग ३) उभयवचनयोग ४) अनुभयवचनयोग

काययोग के सात भेद होते हैं -१) औदारिक काययोग २)औदारिकमिश्रकाययोग ३) वैक्रियिक काययोग ४) वैक्रियिक मिश्रकाययोग ५) ,आहारक काययोग ६) आहारक मिश्रकाययोग और ७) कार्माण काययोग ।

15/07/20, 3:52 pm - Ashok Jain: आस्रव का स्वरूप

*स आस्रव:॥२॥*

सूत्रार्थ: (स) वह तीन प्रकार का योग ही (आस्रव:) आस्रव है।

कर्मों के आने के द्वार को आस्रव कहते हैं।

जिस प्रकार तालाब के जल आगमन द्वार से जल आता है [अथवा जिस तरह कुएं के भीतर पानी आने में झिरें कारण होती हैं] उसी प्रकार योग प्रणाली से आत्मा में कर्म आते हैं अतः योग को ही आस्रव कहते हैं। (रा वा ४)

*योग* पहले गुणस्थान से वाले जीव से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के सभी जीवों के पाया जाता है इसलिए मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय को आस्रव का कारण न कहकर योग को ही आस्रव का कारण कहा है।

15/07/20, 10:52 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

16/07/20, 8:27 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *आ* उपसर्ग पूर्वक *स्त्रु गतौ* धातु से *आसमन्तात स्त्रवति आगच्छति इति आश्रव* शब्द की सिद्धि हुई है।

जैसे तालाब में जल लाने का दरवाजा जल के आने का कारण होने से आश्रव कहलाता है वैसे ही आत्मा के साथ बंधने के लिए कर्म योग रूपी नालों के द्वारा आते हैं , इसलिए योग को आश्रव कहा जाता है।

जैसे पानी में फेंका हुआ गर्म लोहे का गोला चारों तरफ से पानी को खींचता या ग्रहण करता है वैसे ही कषायों से सन्तप्त हुआ आत्मा विविध योगों के द्वारा कर्म वर्गणाओं को ग्रहण करता है।

तीन योग में सभी आश्रव गर्भित हो जाते हैं ,इसलिए यहाँ आचार्य महाराज ने योग को ही आश्रव कहा है।

16/07/20, 11:34 am - Ashok Jain: योग के निमित्त से आस्रव के भेद

*शुभ: पुण्यस्याशुभ: पापस्य:॥३॥*

सूत्रार्थ: (शुभ:) शुभ योग से (पुण्यस्य:) पुण्यकर्म के आस्रव का और (अशुभ:) अशुभ योग से पापकर्म के आस्रव का बन्ध होता है।

शुभ योग पुण्य और अशुभ योग पाप के आस्रव का कारण है।

शुभ योग: सम्यग्दर्शन से अनुरंजित योग विशुद्धि का अंग होने से शुभयोग है।

अशुभयोग: मिथ्यादर्शन आदि से अनुरंजित योग संक्लेश का अंग होने से अशुभ योग है। (श्लो ६/४४०).

शुभ काययोग: जिनदेव, जिनगुरु तथा जिन-शास्त्रों की पूजा रूप काय की चेष्टा को शुभ काययोग कहते हैं (बा अ ५५)

अशुभ काययोग: बान्धने, छेदने और मारने की क्रियाओं को अशुभ काययोग कहते हैं।(बा अ ५३).

शुभ वचन योग: संसार का नाश करने [मोक्षमार्ग बताने] वाले वचनों को शुभ वचन योग कहते हैं।(बा अ ५५)

अशुभ वचन योग: भोजन कथा, स्त्री कथा, राज कथा, चोर कथा करने को अशुभ वचन योग कहते हैं।(बा अ ५३)

शुभ मनोयोग: अर्हंत भक्ति, तप की रूचि, श्रुत का विनय आदि विचार शुभ मनोयोग है (रा वा १)

अशुभ मनोयोग: कषाय रूप अग्नि से प्रज्वलित और इन्द्रियों के विषयों से व्याकुल मन संसार के सम्बन्ध का सूचक अशुभ कर्मों का संचय करता है।(ज्ञा २/१२०)

पुण्यकर्म: सम्यग्दर्शन, श्रुत, व्रत, कषायों का निग्रह एवं इन्द्रिय निग्रह से जो कर्मबन्ध होता है वह पुण्यकर्म है। (मू २३४)

दान देना, इन्द्रियों को वश करना, संयम धारण करना, सत्य भाषण करना, लोभ का त्याग और क्षमा भाव धारण करना आदि से पुण्य की प्राप्ति होती है। (म पु १६/२७१)

तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियां पुण्य के फल है।

(ध १/१०६)

पापकर्म: पुण्य का प्रतिद्वंद्वी पाप है। जो आत्मा की शुभ से रक्षा करे अर्थात् आत्मा में शुभ परिणाम न होने दे वह पाप कहलाता है। (रा वा ५)

मिथ्यात्व रूप परिणाम, क्रोधादि कषाय, काम के सहचारी पंचेन्द्रियों के विषय, प्रमाद, विकथा, मन-वचन- काय के योग व्रत रहित अविरत रूप परिणाम, आर्त-रौद्र दोनों अशुभ ध्यान ये सब परिणाम नियम से पाप रूप आस्रवों को करते हैं।(ज्ञा २/१२९)

पाप का फल संसार के दुःख हैं।

(विशेष विवेचन आचार्यश्री स्वयं ७वें अध्याय के सूत्र के ९ और १० में करेंगे।

16/07/20, 4:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *पुनात्यात्मानं पूञ्यतेऽनेनेति वा पुण्यम्* अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है उसे पुण्य कहते हैं । जैसे साता वेदनीय आदि।

*पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापं* अर्थात् जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है जैसे असाता वेदनीय आदि।

जो योग शुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह शुभयोग है तथा जो अशुभ परिणामों के निमित्त से होता है वह अशुभयोग है। शुभयोग साता वेदनीय , शुभ आयु , शुभ नाम और उच्च गोत्र लक्षण पुण्य का कारण है और अशुभयोग , अशुभ आयु , अशुभनाम , अशुभ गोत्र और असातावेदनीय पाप का कारण है।

क्रमशः

16/07/20, 5:32 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गतांक से आगे , भाग २

प्राणियों की रक्षा करना , झूठ नहीं बोलना , चोरी नहीं करना , ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना आदि शुभ काययोग हैं । सत्य , हित, मित , प्रिय वचन बोलना शुभ वचनयोग है और अरिहन्त सिद्ध आदि की भक्ति , तप में रुचि , श्रुत का विनय आदि शुभ मनोयोग है।

जीवों का घात करना , झूठ , चोरी , मैथुन आदि अशुभ काययोग हैं। असत्य , अहितकारी, अप्रिय , कर्कश , कर्णशूल , असभ्य वचन बोलना अशुभ वचनयोग है । किसी को मारने का विचार , ईर्ष्या , डाह आदि अशुभ मनोयोग है।

शुभ मन-वचन-काययोग विशुद्ध परिणाम जनित होने से शुभयोग कहलाते हैं जबकि अशुभ मन-वचन-काययोग होने से परिणाम अशुभ रहते हैं क्योंकि ये संक्लेशपरिणामजनित हैं तथा पापकर्म के उपार्जन में हेतुभूत आर्तरौद्रध्यानमय परिणाम के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

17/07/20, 11:54 am - Ashok Jain: स्वामी की अपेक्षा आस्रव के भेद

*सकषायाऽकषाययो: साम्परायिकेर्यापथयो:॥४॥*

सूत्रार्थ: (सकाषय:) कषाय सहित और (ऽकषाययो:) कषाय रहित जीवों के (साम्परायिक-ईर्यापथयो:) साम्परायिक और ईर्यापथ आस्रव होता है।

सकाषय जीवों के साम्परायिक और अकाषाय जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है।

कषाय: जो आत्मा को कसै, दुःख दे वह कषाय है। क्रोधादि परिणाम कषाय है, क्योंकि ये क्रोधादि परिणाम आत्मा को दुर्गति में ले जाने के कारण होने से आत्मा को कसते हैं, आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं। (रा वा २-३)

तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, अणुव्रत रूप देशचारित्र, महाव्रत रूप सकल चारित्र और यथाख्यात चारित्र रूप आत्मा के विशुद्ध परिणामों को कषति अर्थात् घातते हैं इसलिए कषाय कहते हैं। (गो जी जी २८२-८३)

साम्परायिक आस्रव: चारों तरफ से आत्मा का पराभव करने वाला साम्पराय है। कर्मों के द्वारा चारों ओर से आत्मा का अभिभव-पराभव तिरस्कार होना साम्पराय है। (रा वा ४)

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक कषाय के उदय से जो कर्मवर्गणाएं गीले चमड़े पर आश्रित धूलि की तरह चिपक जाती है, उसमें स्थिति बन्ध होता है यह साम्परायिक आस्रव है।

ईर्यापथ आस्रव: ईर्या की व्युत्पत्ति 'ईरणं' होगी। योग का अर्थ गति है। जो कर्म इसके द्वारा प्राप्त होता है वह ईर्यापथ कर्म है। (सर्वा ६१६)

उपशांत कषाय, क्षीण कषाय और सयोग केवली के योगक्रिया से आये हुए कर्म, कषाय का चेप न होने से सूखी दीवाल पर पड़ी हुई धूलि के समान द्वितीय क्षण में ही झड़ जाते हैं, बन्धस्थान को प्राप्त नहीं होते हैं वह ईर्यापथ आस्रव है। (रा वा ७)

17/07/20, 1:48 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जो आत्मा को दुर्गति में ले जाती है वह *कषाय* है।कषाय सहित जो मिथ्यादृष्टि आदि आत्मा हैं वह *सकषाय* कहलाती है।

उपशान्त कषायादि गुणस्थानवर्ती आत्मा *अकषाय* है।

कषाय का कार्य आत्मा का कर्मों के साथ संबंध में कारण होना है।जैसे पीपल की छाल , हरड़ ,बहेड़ा के कारण वस्त्र में रंग विशिष्ट  रूप से आता है वैसे ही क्रोध , मान , माया और लोभ रूप कषाय आत्मा के कर्मश्लेष में कारण होती है।

योग का कार्य कषाय को निमन्त्रण देना मात्र है और कषाय का कार्य आये हुए आस्रव को ठहराना , उसका अच्छी तरह रोकना है।जैसे मेहमान को निमन्त्रण देकर हमने घर बुलाया और अच्छी तरह स्वागत किया तो वह हमारे घर रुक जायेगा । आदर सत्कार नहीं किया तो उसी समय चला जायेगा ।वैसे ही योग कर्म को निमन्त्रण देता है , कषाय आदर सत्कार करती है तो कर्म लम्बे समय की स्थिति अनुभाग लेकर जीव के साथ चिपक जाते हैं।

17/07/20, 3:39 pm - Ashok Jain: 🙏👏👏👏

17/07/20, 4:53 pm - Ashok Jain: साम्परायिक आस्रव के भेद

*इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रिया: पञ्च चतु: पञ्च-पञ्चविंशति-संख्या: पूर्वस्य भेदा:॥५॥*

सूत्रार्थ: (इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया:) इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया ये क्रमशः (पञ्चचतु: पञ्च-पञ्चविंशति संख्या:) पांच, चार, पांच और पच्चीस संख्यावाले (पूर्वस्य) पूर्व के अर्थात् साम्परायिक आस्रव के (भेदा:) भेद हैं।

पूर्व (साम्परायिक आस्रव) के इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रिया रूप भेद हैं जो क्रमशः पांच, चार, पांच और पच्चीस हैं।

इन्द्रिय: आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। विशेष वर्णन पहले अध्याय २/१९ में कर आये हैं।

कषाय: जो आत्मा को कषे, दुःख दे वह कषाय है। विशेष वर्णन अध्याय ८/९ में देखेंगे।

अव्रत: चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से व्रत धारण नहीं करना अव्रत है। विशेष वर्णन अध्याय ७/१ में देखेंगे।

क्रिया: कार्य/क्रियाएं पच्चीस हैं।

१) सम्यक्त्व क्रिया: चैत्य, गुरु, शास्त्र की पूजा-स्तवन आदि सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली। (रा वा ७)

२) मिथ्यात्व क्रिया: अन्य रागी-द्वेषी देवताओं के स्तवन पूजन आदि मिथ्यात्व के उदय से युक्त मिथ्यादृष्टि जीवों के होने वाली मिथ्यात्व क्रिया है। (श्लो ६/४५५)

३) प्रयोग क्रिया: प्रशस्त और अप्रशस्त कार्य की सिद्धि के लिए काय आदि के द्वारा दूसरों की गमन-आगमन आदि प्रवृत्ति करा देना।(श्लो ६/४५५)

४) समादान क्रिया: संयमी प्रशस्त आत्मा का अविरत के प्रति अभिमुख होना समादान क्रिया है।(श्लो ४/४५५)

५) ईर्यापथ क्रिया: ईर्यापथ से गमन कर्म को हेतु मानकर उत्पन्न क्रिया ईर्यापथ क्रिया अच्छी क्रिया मानी गई है। (श्लो ६/४५५)

*ये पांचों क्रियाय़े शुभ-अशुभ फल देने वाली मानी गई है।*

६) प्रादोषिकी क्रिया: क्रोध के आवेश से जो हृदय में दुष्टता रूप प्रदोष उत्पन्न होता है वह अंतरंग की प्रादोषिकी क्रिया है।(श्लो ६/४५६)

७) कायिकी क्रिया: प्रदोष करके युक्त दुष्ट पुरुष का दूसरों को मारने के लिए जो उद्यम करना है वह कायिकी क्रिया है ।(श्लो ६/४५६)

८) अधिकरण क्रिया: हिंसा के उपकरण ग्रहण करना अधिकरण क्रिया है। (रा वा ८)

९) पारितापिकी क्रिया: दूसरों को दुःख उत्पन्न करने वाली पारितापिकी क्रिया है।(रा वा ८)

१०) प्राणातिपातिकी क्रिया: स्व अथवा दूसरों के आयु, इन्द्रिय बल और श्वासोच्छवास रूप प्राणों का वियोग करना प्राणातिपातिकी क्रिया है।

(रा वा ८)

*इन पांचों क्रियाओं में कषायें कारण है।*

क्रमशः...

18/07/20, 10:43 am - Ashok Jain: आगे...

११) दर्शन क्रिया: राग के द्रवीभूत प्रमादी जीव का रमणीय पदार्थ के सुन्दर रूपों के अवलोकन करने में अभिप्राय होना दर्शन क्रिया है।

(श्लो ६/४५७)

१२) स्पर्शन क्रिया: छूने योग्य पदार्थ के स्पर्श करने में रागी जीव की जो छूते रहने के लिए बुद्धि होना स्पर्शन क्रिया है। (श्लो ६/४५६)

१३) प्रात्ययिकी क्रिया: प्राणियों का घात करने के लिए (बन्दूक, तोप आदि) अपूर्व उपकरणों की प्रवृत्ति करना प्रात्ययिकी क्रिया है।

(श्लो ६/४५७)

१४) समन्तानुपातन क्रिया: स्त्री, पुरुष, पशु आदि से व्याप्त स्थान में मलोत्सर्ग [मल-मूत्र त्याग] करना समन्तानुपालन क्रिया है। (रा वा ९)

१५) अनाभोग क्रिया: बिना देखी, बिना शोधी भूमि पर शरीर एवं उपकरण आदि का निक्षेपण करना ([स्थापन करना] अनाभोग क्रिया है।

(रा वा ९)

१६) स्वहस्त क्रिया: दूसरों से करने योग्य कार्य का स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है। इस क्रिया में पाप की प्रधानता है ऐसा पण्डितों का विचार है।(श्लो ६/४५८)

१७) निसर्ग क्रिया: पाप में दूसरों की प्रवृत्ति कराने के लिए स्वयं (आत्मा) करके जो अन्य पुरुषों को अनुमति दे देना निसर्ग क्रिया है।(श्लो ६/४५८)

१८) विदारण क्रिया: आलस्य आदि के कारण प्रशस्त क्रियाओं को न करना और दूसरों के पापादि का प्रसारण करना विदारण क्रिया है।(रा वा १०)

१९) आज्ञाव्यपादिकी क्रिया: चारित्र मोहनीय के उदय से आवश्यक आदि क्रियाओं में करने में असमर्थ होने पर शास्त्र आज्ञा का अन्यथा ही निरुपण करना आज्ञाव्यपादिकी क्रिया है।

(रा वा १०)

२०) अनाकांक्षा क्रिया: मूर्खता एवं आलस्य के कारण शास्त्रोपदिष्ट विधि-विधानों एवं कर्त्तव्य के प्रति अनादर करना अनाकांक्ष क्रिया है। (रा वा १०)

२१) आरम्भ क्रिया: छेदन-भेदन हिंसादि कार्यों में तत्पर होना अथवा दूसरों के द्वारा हिंसादि व्यापार किये जाने पर हर्षित होना आरम्भ क्रिया है। (रा वा ११)

२२) पारिग्रहिक क्रिया: परिग्रह को नष्ट न होने देने के लिए निरंतर प्रयत्न करना अथवा परिग्रह को सुरक्षित रखने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह पारिग्रहिक क्रिया है।(रा वा १०)

२३) माया क्रिया: ज्ञान दर्शन आदि में दुष्टता पूर्वक वचन बोलते हुए वंचना करना माया क्रिया है।(श्लो ६/४५९)

२४) मिथ्यादर्शन क्रिया: मिथ्यात्व क्रिया की, मिथ्यात्व क्रिया करने वालों की और मिथ्यात्व के कारणों में प्रविष्ट मिथ्यादृष्टियों की "तू बहुत अच्छा करता है" इत्यादि वचनों के द्वारा प्रशंसा करके उन्हें मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है।

(रा वा ११)

२५) अप्रत्याख्यान क्रिया: चारित्र मोहनीय के उदय से त्याग रूप परिणाम नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है। (सर्वा ६१८).

18/07/20, 10:44 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

18/07/20, 4:43 pm - Ashok Jain: आस्रव की विशेषता में कारण

*तीव्रमन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेष:॥६॥*

सूत्रार्थ: (तीव्र-मन्द-ज्ञात-अज्ञात-भाव-अधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्य:) तीव्र, मन्द, ज्ञात, अज्ञात, भाव के निमित्त से तथा अधिकरण विशेष से और वीर्य विशेष से (तद्विशेस:) आस्रव में विशेषता होती है।

तीव्र भाव: अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में दोष निकालने का स्वभाव होना और बहुत काल तक वैर को धारण करना, ये तीव्र कषायी जीवों के चिन्ह हैं। (का अ ९२)

मन्द भाव: सभी से प्रिय वचन बोलना, खोटे वचन बोलने पर दुर्जन को भी क्षमा करना और सभी के गुणों को ग्रहण करना ये मन्द कषायी जीवों के भाव हैं। (का अ ९१)

ज्ञात भाव: इस प्राणी का मुझे हनन [घात] करना चाहिए, इस प्रकार जानकर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है।(सर्वा ६२०)

अज्ञात भाव: मद या प्रमाद के कारण बिना जाने प्रवृत्ति करना अज्ञात भाव है।(सर्वा ६२०)

अधिकरण: जिसमें पदार्थ अधिकृत किये जाते हैं, वह अधिकरण है। आत्मा के प्रयोजन को अर्थ कहते हैं। जहां-जहां जिसमें प्रयोजन सिद्ध किए जाते हैं, प्रस्तुत किए जाते हैं, वह अधिकरण है, द्रव्य है। (रा वा ५)

वीर्य: यद्यपि वीर्य/शक्ति आत्म परिणाम रूप है और जीवाधिकरण का परिणाम होने से अधिकरण में ही गृहीत हो जाती है, फिर भी शक्ति विशेष से हिंसादि में विशेषता आती है, यह सूचन करने के लिए वीर्य को पृथक ग्रहण किया जाता है क्योंकि शक्तिशाली आत्मा के ही तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम परिणाम होते हैं।(रा वा ९)

18/07/20, 7:58 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): तीव्र -मन्द आदि भाव कषायों की विशेषता से आते हैं । ज्ञात अज्ञात आदि भाव पाप की विशेषता से होते हैं । कषाय एवं पाप के आधार से अधिकरण की विशेषता होती है ।अधिकरण की शक्ति ही वीर्य विशेष है। इन सबसे आश्रव में विशेषता आती है क्योंकि इनमें कारण के भेद से कार्य में भेद होता है।

तीव्र मन्द आदि भाव अधिकरण विशेष होते हैं ।द्रव्य , क्षेत्र , काल और भाव की अपेक्षा से अधिकरण के चार भेद हैं -

*द्रव्याधिकरण* स्त्रीरूप से समान होते हुए भी स्वस्त्री स्पर्श , वेश्या के स्पर्श , राजपत्नी , तपस्विनी आदि के स्पर्श से क्रमशः अधिक अधिक आश्रव होता है। भक्ष्य वस्तु के भक्षण से कम आश्रव होता है , अभक्ष्य के सेवन से ज्यादा आश्रव होता है।निर्माल्य सेवन से ज्यादा आश्रव होता है और सामान्य द्रव्य के ग्रहण में कम आश्रव होता है।सामान्य पुस्तक की अपेक्षा जिनवाणी की अवमानना करने से ज्यादा आश्रव होता है।

*क्षेत्राधिकरण* घर में ब्रह्मचर्य व्रत भंग करने से कम आश्रव होता है , मन्दिर में भंग करने से महान आश्रव होता है।तीर्थयात्रा के मार्ग में ब्रह्मचर्य या कोई भी व्रत भंग करने से जितना आश्रव होता है उससे काफी गुना ज्यादा आश्रव तीर्थक्षेत्र में भंग करने से होता है।

*कालाधिकरण* सामान्य समय में पापकर्म करने से जितना आश्रव होता है उससे कई गुना ज्यादा आश्रव देव- वन्दनादि आदि के काल में या अष्टाह्निका , सोलहकारण , दशलक्षण आदि पर्व के दिनों में करने पर होता है।

*भावाधिकरण* भावों से जैसे जैसे तीव्र या मन्दभाव होते हैं , वैसे वैसे कर्माश्रव भी तीव्र या मन्द होता है। पर्याय की अपेक्षा से भी आश्रव में अन्तर पड़ता है। जैसे सामान्य व्यक्ति ने एक पा किया और किसी मुनि ने भी वही पाप किया , लेकिन दोनों के आश्रव में महान अन्तर होता है।

शक्ति विशेष से भी आश्रव में विशेषता आती है। जैसे वज्रवृषभनाराच संहनन वाले पुरुष द्वारा विषयों में प्रवृत्ति करने पर वह सातवें नरक में जाता है तथा तप संयम के मार्ग पर चलकर वही सर्वार्थ सिद्धि या मोक्ष चला जाता है जबकि शेष पाँच संहनन से युक्त व्यक्ति के कम आश्रव होता है।

🙏🙏🙏🙏🙏

18/07/20, 9:49 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB) added +91 83476 69968, +91 89872 91199, +91 94350 41312 and +91 94733 40926

19/07/20, 10:52 am - Ashok Jain: आस्रव के अधिकरण के भेद

*अधिकरणं जीवाजीवा:॥७॥*

सूत्रार्थ: (अधिकरणं जीव-अजीवा:) जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण ये आस्रव के अधिकरण के भेद हैं।

.....ये दोनों अधिकरण दस प्रकार के हैं- विष, लवण, क्षार, कटुक, अम्ल, स्नेह, अग्नि और खोटे रूप से प्रयुक्त मन वचन और काय। (रा वा ५).

19/07/20, 10:57 am - Ashok Jain: विशेषार्थ: हिंसादि उपकरण भाव है, इसमें हिंसादि भाव तो जीव-अधिकरण है और हिंसा के उपकरण अजीव अधिकरण हैं।

(पूज्य मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से उद्धृत)

19/07/20, 11:49 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

19/07/20, 11:50 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जीव और अजीव के लक्षण पहले कह आये हैं , फिर भी अधिकरण विशेष का ज्ञान कराने के लिए फिर से आचार्यदेव कहते हैं

*अधिकरणं जीवाजीवाः*।।७।।

अधिकरण जीव और अजीव रूप हैं।जिसमें पदार्थ अधिकृत किये जाते हैं , वह द्रव्य अधिकरण है अथवा जिस द्रव्य का आश्रय लेकर आश्रव उत्पन्न होते हैं -वह *द्रव्य अधिकरण* कहलाता है।

जो आश्रव मुख्यभूत जीव के द्वारा उत्पन्न होता है , अर्थात् जिसमें जीव की मुख्यता रहती है , उस आश्रव को *जीव अधिकरण कहते हैं।*

*अजीव द्रव्य जिसका निमित्त है , आश्रय है उसे *अजीव अधिकरण* कहते हैं।

जीव और अजीव ये दोनों आश्रव के अधिकरण हैं , आधार हैं। यद्यपि सम्पूर्ण शुभ और अशुभ आश्रव जीव के ही होते हैं फिर भी आश्रव के निमित्त जीव और अजीव दोनों होते हैं।अतः दोनों को आश्रव का अधिकरण कहा गया है।

19/07/20, 4:08 pm - Ashok Jain: जीवाधिकरण के भेद

*आद्यं-संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषाय-विशेषैस्-त्रिस्-त्रिश्-चतुश्चैकश:॥८॥*

सूत्रार्थ: (आद्यम्) आदि [पहले] का जीवाधिकरण (संरम्भ-समारम्भारम्भ) संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ (योग) मन वचन और काय (कृत-कारितानुमत) कृत, कारित और अनुमोदना (कषाय-विशेषैस्) तथा कषायों की विशेषता से (एकश:) प्रत्येक के (त्रि: त्रि: त्रि: चतु:) तीन, तीन, तीन, चार भेद से १०८ भेदरूप (अस्ति) है।

आदि का जीवाधिकरण संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, तीन योग विशेष (मन, वचन, काय) रूप तीन, कृत, कारित, अनुमोदना विशेष रूप तीन तथा क्रोध, मान, माया, लोभ विशेष रूप चार को परस्पर गुणित करने पर (३ × ३ × ३ × ४) १०८ भेद होते हैं।

संरम्भ: हिंसादि पापों के करने का मन में संकल्प करने को अथवा प्रयत्न विशेष को संरम्भ कहते हैं।

समारम्भ: हिंसादि पापों के साधन मिलाना/एकत्र करना समारम्भ है।

आरम्भ: हिंसादि पापों के करना अथवा कार्य प्रारम्भ कर देना आरम्भ है।

योग: मन, वचन, काय की क्रिया योग है।

कृत: स्वयं करना अर्थात् आत्मा के द्वारा जो किया जाता है वह कृत है।

कारित: दूसरे से कराना या कराया जाता है वह कारित है।

अनुमत: दूसरों के द्वारा किये हुए कार्य करने वाले की मानस परिणामों की सराहना/स्वीकृति अनुमत या अनुमोदना है।

कषाय: जो आत्मा को कसती है वह कषाय है।

विशेष: अर्थ का अर्थान्तर से जानना विशेष है।

क्रोधादि से आविष्ट पुरुष के द्वारा कृत संरम्भ आदि क्रियाएं कषायों से अनुरंजित होने से, नीले वस्त्र के समान अधिकरण भाव को प्राप्त होती है। जैसे- नीले रंग में डाला गया वस्त्र नीले रंग से अनुरंजित होने से नीला हो जाता है। उसी प्रकार संरम्भ आदि क्रियाएं अनन्तानुबन्धी आदि कषायों से अनुरंजित होती है, अतः इन संरम्भादि में भी जीवादिकरणत्व सिद्ध होता है। (रा वा २१).

{दूसरे सूत्र में कषाय को आस्रव का कारण नहीं लिखा, क्योंकि कषाय को आस्रव का कारण मानने पर ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में आस्रव नहीं हो सकता। अर्थात् दसवें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक कषाय भी आस्रव का कारण है किन्तु बिना योग के नहीं है.}

20/07/20, 8:32 am - +91 96490 67500 left

20/07/20, 8:56 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *जीवाधिकरण* के कितने भेद होते हैं , यह बतलाने हेतु आचार्य देव ने आठवें सूत्र को रचा है जिसका

सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*आद्यं संरम्भ समारम्भ -आरम्भ योग कृत कारित -अनुमत कषायविशेषैः त्रिः त्रिः त्रिः चतुः च -एकशः ।। ८ ।।*

आद्यं अर्थात् पहला जीव अधिकरण संरम्भ , समारम्भ और आरम्भ के भेद से त्रिः अर्थात् तीन प्रकार का होता है , योगों के भेद से कृत , कारित और अनुमत अर्थात् अनुमोदना तीन प्रकार का होता है तथा कषाय के भेद से क्रोध , मान , माया और लोभ - चतुः अर्थात् चार प्रकार का होता हुआ , परस्पर एक एक के भंगरूप भेद करके मिलाने से एक सौ आठ प्रकार का होता है।

यह संसारी जीव प्रतिदिन पाँच पापों को करता है ।एक पाप को करने से 108 भंग से पाप होता है जैसा कि अशोक जी ने ऊपर हमें समझाया है। यह जीव किसी भी पाप करने का विचार करते हुए संरम्भ करता है , पाप की सामग्री जुटाकर समारम्भ करता है , फिर पाप में प्रवृत्ति करते हुए आरम्भ करता है।

वह जीव पाप स्वयं करता है , दूसरे से करवाता है और करने वाले की अनुमोदना करता है।

वह जीव पाप मन से करता है , वचन से करता है और काय से करता है।

वह जीव पाप क्रोध , मान , माया और लोभ के वशीभूत होकर करता है।

इस प्रकार के पापों को दूर करने के लिए जाप्य की माला में ( 3*3*3*4 ) = 108 दाने होते हैं , जिस माला द्वारा मन्त्र जाप करने के हमें आचार्य निर्देश देते हैं। इस माला द्वारा जप करने से पापों का प्रक्षालन होता है।

आचार्य गुरुवर विमलसागर जी महाराज हमेशा कहा करते थे कि श्रावक को पाँच पापों का प्रक्षालन करने के लिए प्रतिदिन पाँच माला णमोकार मन्त्र की अवश्य जपना चाहिए। इससे अधिक जपता है तो उसका पुण्य बढता है और कम जपता है तो पाप बढता है।

20/07/20, 11:58 am - Ashok Jain: अजीवाधिकरण के भेद

*निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदा परम्॥९॥*

सूत्रार्थ: (निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग निसर्गा:) निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग के क्रमशः (द्विचतुर्द्वित्रिभेदा:) दो, चार, दो, तीन भेद (परम्) दूसरे अजीवाधिकरण के भेद हैं।

अजीवाधिकरण दो प्रकार की निर्वर्तना, चार प्रकार का निक्षेप, दो प्रकार का संयोग तथा तीन प्रकार का निसर्ग इस तरह ग्यारह भेद वाला होता है।

*निर्वर्तना*: जिसके द्वारा रचना की जाती है वह निर्वर्तना है। भेदः-

१) मूलगुण निर्वर्तना- पांच शरीर, तीन बल, श्वासोच्छवास ये मूलगुण निर्वर्तना है। (रा वा १२)

इसके पांच भेद हैं- १) शरीर, २) वचन, ३) मन, ४) प्राण और ५) अपान (सर्वा ६२६)

२) उत्तरगुण निर्वर्तना- काष्ठ कर्म, चित्र कर्म आदि उत्तरगुण निर्वर्तना है।

(रा वा १२)

काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म आदि अनेक भेद हैं।(सर्वा ६२६)

अन्य दो भेदः-

१) शरीर निर्वर्तना: शरीर द्वारा खोटी प्रवृत्ति अथवा शरीर को खोटे कार्यों में लगाना शरीर निर्वर्तना कहलाती है।

(म क ८४२)

२) उपधि निर्वर्तना: जिन उपकरणों के निर्माण में जीवघात होता है अथवा जिसके द्वारा जीवों को बाधा हो वह उपधि निर्वर्तना है। (म क ८४३)

*निक्षेप*: वस्तु रखने को निक्षेप कहते हैं। निक्षेप के चार भेदः

१) अप्रत्यवेक्षित निक्षेप: बिना देखी- शोधी भूमि में वस्तु को रख देना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है।

( हरि पु ५८/८८)

२) दुःप्रमृष्ट निक्षेप: दुष्टता पूर्वक साफ की हुई भूमि में किसी वस्तु को रखना दुःप्रमृष्ट निक्षेप है। (हरि पु ५८/८८)

३) सहसा निक्षेप: उपकरण, पुस्तक आदि, शरीर अथवा शरीर के मल को भय से अथवा किसी अन्य कारणान्तर से सहसा शीघ्र रखने, त्यागने से छहकाय के जीवों की बाधा के आधार ही होते हैं, अतः सहसा निक्षेप है। (भ आ वि ८०८)

४) अनाभोग निक्षेप: अव्यवस्था के साथ चाहे जहां किसी वस्तु को रख देना अनाभोग निक्षेप है।

(हरि पु ५८/८८)

*संयोग*: जो मिलाया जाता है वह संयोग है। संयोग दो प्रकार के होते हैं-

१) भक्तपान संयोगः- किसी अन्नपान को दूसरे अन्नपान में मिलाना भक्तपान संयोगाधिकरण है। (रा वा १४)

२)उपकरण संयोगः- कमण्डलु, पुस्तक आदि उपकरणों को दूसरे उपकरणों के साथ मिलाना उपकार संयोगाधिकरण है। (रा वा १४)

*निसर्ग*: प्रवत्ति को निसर्ग कहते हैं।

निसर्ग तीन प्रकार का होता है:

१) मनो निसर्ग: मन की दुष्ट प्रवृत्ति मनोनिसर्ग है।

२) वचन निसर्ग: वचन की दुष्ट प्रवृत्ति वचन निसर्ग है।

३) काय निसर्ग: काय की दुष्ट प्रवृत्ति काय निसर्ग है। (भ आ वि ८०९)

*कषाय की सहकारिता से युक्त जीव और अजीव का आश्रय लेकर संसारी जीवों के इन्द्रिय, कषाय आदि की अपेक्षा आस्रव बहुत प्रकार के हो सकते हैं। अथवा....।

(श्लो ६/४८१-८२)

20/07/20, 2:37 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में आचार्य देव ने *पर* शब्द का प्रयोग किया है जो इस बात का निर्देश करता है कि *निवर्तना* आदि *संरम्भ* आदि से अन्य हैं ।यदि *पर* शब्द नहीं दिया जाये तो निवर्तना आदि आत्मा के परिणाम हैं , ऐसा तात्पर्य करने पर ये जीवाधिकरण के ही भेद समझे जायेंगे।

यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाये तो यह सूत्र जैन धर्म के अनुसार वास्तु विज्ञान का बोध कराता है। जैसे

*निवर्तना* अर्थात् रचना , निष्पादना । कौन सी वस्तु कितने अनुपात में कहाँ क्या बनना बनाना चाहिए , यह *निवर्तना* है।

*निक्षेप* - रखना उठाना , बने हुए स्थान में कौन सी चीज कहाँ , क्यों और कैसे रखना - उठाना आदि *निक्षेप* है।

*संयोग* मिलाना , कौन सी वस्तु के साथ कौन सी वस्तु मिलाकर रखी जा सकती है , यह *संयोग* है।

*निसर्ग* -प्रवृत्ति करना या प्रवर्तन - संयोजित वस्तुओं का मन -वचन - काय से प्रवर्तन - प्रयोग होता है , वह निसर्ग है।

इन सभी का यदि सही दिशा में आचरण होता है तो ये सभी शुभास्रव के कारण हैं और गलत ढंग से आचरण करने पर अशुभास्रव के कारण हैं।

20/07/20, 2:41 pm - Ashok Jain: 👏👏👏

20/07/20, 3:04 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जीव के खिलौने बनाना , जीवों के चित्र बनाकर कपड़े पहनना आदि अशुभास्रव के कारण हैं। बच्चों को शक्कर से बने हुए जीवों.के खिलौने आदि बनाकर खिलाने से भावहिंसा होती है । वह बच्चा यही कहेगा कि मैंने हाथी खाया , मुर्गा खाया आदि ।यह सब निवर्तना अधिकरण हैं।

इसी प्रकार बिना देखे भाले जमीन पर कुछ भी रख देना , किसी भी वस्तु को एकदम जमीन पर डाल देना , योग्य स्थान को छोड़कर हर कहीं वस्तु को रख देना आदि निक्षेप अधिकरण हैं जिनसे अशुभास्रव होता है।

खाने पीने की वस्तु में किस वस्तु के साथ क्या खाना या ठण्डी वस्तु के साथ गरम वस्तु का सेवन करना जिनसे अनेक तरह के विकार या बीमारियां हो सकती हैं या मसालों के साथ हींग रखना , पीपरमेंट कपूर को एक साथ रख देना या जूठे बर्तनों को बहुत देर तक रख देना आदि संयोग अधिकरण हैं।

20/07/20, 4:36 pm - Ashok Jain: ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण

*तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो:॥१०॥*

सूत्रार्थ: (तत्) ज्ञान और दर्शन में किया गया (प्रदोषनिह्नवमात्सर्याऽन्तराया- ऽऽसादनोपघाता:) प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात (ज्ञानदर्शनावरणयो:) ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण हैं।

ज्ञान और दर्शन के विषय में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, और उपघात ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव के कारण हैं।

*प्रदोष*: मोक्ष के साधन भूत तत्त्वज्ञान का निरूपण होने पर कोई मनुष्य चुपचाप बैठा है, परन्तु भीतर ही भीतर उसका कलुषित हो रहा है, इसे प्रदोष कहते हैं। (हरि पु ५८/९२)

*निह्नव*: अपलाप करना निह्नव है। एक आचार्य के पास अध्ययन करने पर भी 'मेरा गुरु तो अन्य है' ऐसा कहना अपलाप है।(भ आ वि ११२)

किसी कारण से जानते हुए भी मैं नहीं जानता, ऐसा कहना अथवा अपने अप्रसिद्ध गुरु से ज्ञान प्राप्त कर उनका नाम छिपाते हुए प्रसिद्ध व्यक्ति को अपना गुरु बताना निह्नव है।

(गो क जी ८००)

*मात्सर्य*: खूब परिश्रम करके जो ज्ञान प्राप्त किया है तथा जो निश्चय से दूसरों को देने योग्य है, ऐसा भी ज्ञान (कलुषित) पैशुन्यता के कारण से नहीं देना वह मात्सर्य है।

(सि सार सं ९/१३०)

*अन्तराय*: ज्ञान का विच्छेद करना अन्तराय है। कलुषता के कारण ज्ञान का विच्छेद करना अन्तराय दोष है, ऐसा विशिष्ट ज्ञानवानों ने माना है।

(रा वा ४)

*आसादना*:  ज्ञान और ज्ञानी इनको प्रकाश में लाने के कार्य में मन से, वचन से और शरीर से व्याघात उत्पन्न करना आसादन है।

(सि सा सं ९/१३२)

*आसादना और उपघात* आसादना और उपघात में एकत्व नहीं है क्योंकि आसादना में विद्यमान ज्ञान का विनय-प्रकाशन आदि न करके अनादर किया जाता है और उपघात में ज्ञान को अज्ञान कहकर ज्ञान का ही नाश किया जाता है अथवा ज्ञान के नाश करने का अभिप्राय रहता है, अतः आसादना और उपघात में भेद स्पष्ट है। (रा वा ७)

उक्त कारणों के अतिरिक्त-

ज्ञानावरण कर्म का आस्रव:

१) आचार्य, उपाध्याय के प्रतिकूल चलना एवं अकाल में अध्ययन करना।

२) शास्त्राभ्यास में आलस्य करना, अनादर से अर्थ सुनना एवं अश्रद्धा करना।

३) तीर्थोपरोध (दिव्यध्वनि के काल में स्वयं व्याख्यान करना) एवं सूत्रविरुद्ध बोलना।

४) अपने बहुश्रुत का गर्व, बहु श्रुतवान का अनादर, अपमान और मिथ्योपदेश करना।

५) अपने पक्ष का दुराग्रह से असम्बन्ध प्रलाप करना।

६) असिद्ध से ज्ञानाधिगम, शास्त्र-विक्रय और हिंसादि कार्य करना। (रा वा २०)

७) धर्म की आम्नाय में रुकावट डालना एवं ज्ञानाध्ययन की कुशलता से

धूर्त्तता करना। (त सा ४/१५-१६)

दर्शनावरण कर्म का आस्रव:

दर्शन-मात्सर्य, दर्शनान्तराय (देखने में व्यवधान करना), आंखें फोड़ना, इन्द्रियों की विपरीत प्रवृत्ति, अपनी दृष्टि का गर्व करना, बहुत देर तक सोये रहना, दिन में सोये रहना, आलस्य, नास्तिक्य, सम्यग्दृष्टियों में दूषण लगाना, कुतीर्थ प्रशंसा, जीवहिंसा एवं मुनियों के प्रति ग्लानि भाव आदि दर्शनावरण के आस्रव के कारण हैं।

(रा वा २०)

20/07/20, 10:19 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

20/07/20, 10:44 pm - Ashok Jain: 🙇🙌🙌🙌

20/07/20, 10:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ज्ञानावरण और दर्शनावरण के छः आस्रवों के उदाहरण

१) *प्रदोष* स्वाध्याय सभा में मन ही मन यह सोचना कि ये क्या बके जा रहे हैं। हम तो फँस गये आदि।

२) *निह्नव* स्वाध्याय करते हुए व्यक्ति को बीच में ही टोककर कहना कि *ऐसा नहीं है* । यदि उससे फिर पूछा जाय कि फिर कैसा है तो यह कहना *मैं नहीं जानता अर्थात् खुद कुछ जानता नहीं दूसरों की मानता नहीं*। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने अज्ञान को ज्ञान रूप प्रदर्शित करने की चेष्टा करना निह्नव है। जिस गुरु से विद्या सीखी है उस गुरु का नाम , पुस्तक का नाम आदि छिपाना भी *निह्नव* है।

३) *मात्सर्य* वस्तु स्वरूप की जानकारी दूसरों को देने से वे हमसे ज्यादा तेज हो जायेंगे तो हमारी कद्र कौन करेगा , इस अभिप्राय से दूसरों को ज्ञान नहीं देना या ज्ञान को छिपाना *मात्सर्य* है।

४) *अन्तराय* ईर्ष्यावश जो ज्ञान हम ग्रहण नहीं कर पाये वह दूसरे को भी नहीं मिले , इस अभिप्राय से विघ्न डालना या जो ज्ञान हमारे पास है दूसरों से भी उसे नहीं मिले *अन्तराय* है।

बालक को पढने में बाधा देने से , प्रवचन के बीच में बातें करने से *अन्तराय दोष* होता है।आजकल whatsapp पर स्वाध्याय ग्रुपों में जब किसी विषय का धारावाहिक स्वाध्याय कराया जाता है तो बीच में लोग तरह के अन्य पोस्ट डालकर विघ्न पैदा करते हैं ,यह भी अन्तराय दोष है और इससे घोर ज्ञानावरणी कर्म का बन्ध होता है।

५) *आसादन* दूसरा कोई ज्ञान का प्रकाश कर रहा है तब शरीर या वचन से उसका निषेध करना *आसादन* है।आसादन में ज्ञान बाँटने वाले दाता के प्रति निषेध का कथन है जबकि अन्तराय में उस पात्र को दूसरों से भी ज्ञान नहीं मिले ऐसा भाव है।

६) *उपघात* डाह भाव से प्रतिशोध की भावना रखना अर्थात् यदि हमें नहीं मिला तो तुम्हारा ज्ञान भी नष्ट कर दूंगा आदि *उपघात* है।ज्ञानी को मरवा देने से *उपघात दोष* होता है , जैसे ज्ञानी टोडरमल जी को मरवाया गया था।

इन सब कारणों से ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों का आस्रव होता है।

21/07/20, 8:51 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): क्या सूत्र में आये हुए शब्दों के अलावा अन्य और भी कारण हैं जो ज्ञानावरण , दर्शनावरण के कारण हैं , इस प्रश्न का उत्तर परम पूज्य आर्यिका स्याद्वादमती माताजी कहती हैं कि बहुत सारे और भी कारण हैं , जैसे ज्ञानावरण आस्रव के कारण

1) आचार्य उपाध्याय के साथ शत्रुता का भाव रखना ।

2) अकाल में अध्ययन करना।

3) अरुचि पूर्वक पढना

4) पढने में आलस्य करना

5) व्याख्यान को अनादर पूर्वक सुनना

6) जहाँ प्रथमानुयोग बाँचना चाहिए , वहाँ अन्य अनुयोग बाँचना

7) तीर्थोपरोध

8) बहुश्रुत के सामने गर्व करना

9) मिथ्या उपदेश देना

10) बहुश्रुत का अपमान करना

11) स्वपक्ष का त्याग

12) परपक्ष का ग्रहण

13) ख्याति पूजा आदि की इच्छा से असम्बद्ध प्रलाप

14) सूत्रविरुद्ध व्याख्यान

15) कपट से ज्ञान का ग्रहण करना

16) आजीविका के लिए शास्त्र को बेचना आदि ।

*दर्शनावरण कर्म के अन्य आस्रव*

1) देव गुरु के दर्शन में मात्सर्य करना

2) दर्शन में अन्तराय करना

3) किसी की आँख उखाड़ देना

4) इन्द्रियों का अभिमान करना

5) अपने नेत्रों का अभिमान करना

6) दीर्घनिद्रा

7) अतिनिद्रा

8) आलस्य

9) नास्तिकता

10) सम्यग्दृष्टियों को दोष देना

11) कुशास्त्रों की प्रशंसा करना

12) मुनियों से जुगुप्सा करना आदि।

हम इस प्रकार के निन्दनीय कार्यों से दूर रहना चाहिए।

🙏🙏🙏🙏

21/07/20, 11:22 am - Ashok Jain: असाता वेदनीय के आस्रव के कारण

*दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिवेदनान्यात्मपरोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य॥११॥*

सूत्रार्थ: (आत्मपरोभयस्थानि)[आत्म- पर-उभयस्थानि] आत्मस्थ [निज], परस्थ [पर], और उभय [दोनों] (स्व-पर) में होने वाले (दुःख-शोक-ताप-आक्रन्दन-वध-परिदेवनानि) दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिवेदन ये (असद्वेद्यस्य) असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण है।

आत्मस्थ (अपने में) परस्थ (पर मेंं) उभयस्थ (दोनों में) होने वाला दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिवेदन ये असाता वेदनीय के आस्रव के कारण है।*

* १) स्वस्थ दुःख, २) परस्थ दुःख, ३) उभयस्थ दुःख, ४) स्वस्थ शोक, ५) परस्थ शोक, ६) उभयस्थ शोक, ७) स्वस्थताप, ८) परस्थताप, ९) उभयस्थ ताप, १०) स्वस्थआक्रन्दन, ११) परस्थ आक्रन्दन,१२) उभयस्थआक्रन्दन १३) स्वस्थवध,१४) परस्थवध, १५) उभयस्थवध १६) स्वस्थपरिवेदन १७) परस्थपरिवेदन १८) उभयस्थपरिवेदन ये असातावेदनीय के कारण हैं।

(श्लो ६/५०४ के आधार से)

दुःख: पीड़ा रूप विशेष परिणाम को दुःख कहते हैं।

शोक: अपने उपकारी/प्रिय का वियोग होने पर मन में विकलता होना शोक है।

ताप: संसार में निन्दा आदि के हो जाने से तीव्र पश्चाताप होना ताप है।

आक्रन्दन: पश्चाताप से अश्रुताप करते हुए रोना आक्रन्दन है।

वध: किसी की आयु आदि प्राणों का घात करना वध है।

परिवेदन: अत्यन्त दुःखी होकर करुणाजनक रूदन करना परिवेदन है

दुःख चार प्रकार के होते हैं-

१) सहज दुःख, २) दोषज दुःख

३) आगन्तुक दुःख ४) मानसिक दुःख

21/07/20, 4:24 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): स्व तथा पर दोनों में किये जाने वाले दुःख , शोक, ताप , आक्रन्दन , वध और परिवेदन असातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।

परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी ने अपनी टीका में लिखा है कि इसके अलावा असातावेदनीय कर्म के और भी बहुत से कारण हैं। जैसे अशुभप्रयोग , परनिन्दा , अदया , आंगोपांग का छेदन भेदन जो कि निरीह मूक पशुओं का

आज प्रचुरता से हो रहा है , ताड़न , त्रासन , तर्जन , भर्त्सना , मारण , रोधन , रस्सी से बाँधना , मर्दन करना , दमन करना , आत्मप्रशंसा , स्व पर में क्लेश उत्पन्न करना , अति आरंभ , अति परिग्रह , मन-वचन-काय की कुटिलता , पाप क्रियाओं से आजीविका करना , अनर्थदण्ड , विष मिलाना , जाल पिंजरे आदि बनाना , मारण यन्त्र का निर्माण आदि पापभूत क्रियाएं जो स्व-पर के निमित्त से क्रोधादिक के वशीभूत की जाती है , असाता वेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि यदि स्व-पर के दुख शोक आदि असातावेदनीय के कारण हैं तो जैन साधु केशलोंच करते हैं , कठिन परीषह सहते हैं और दूसरों को भी वैसा ही उपदेश देते हैं , यह उचित कैसे है ? इसका समाधान यह है कि अन्तरंग में क्रोधादिक के आवेश से जो दुख आदि पैदा होते हैं वे असातावेदनीय के कारण हैं। दिगम्बर साधुओं की केशलोंच , उपवास आदि की क्रिया क्रोधादिक के आवेश से रहित हैं , इसलिए यह.असातावेदनीय के आस्रव का कारण नहीं है।

21/07/20, 4:29 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जैसे अत्यन्त दयालु वैद्य के द्वारा फोड़े की चीरफाड़ करते समय निःशल्य संयत को दुःख देने में निमित्त होने पर भी केवल बाह्य निमित्त मात्र से पाप नहीं लगता वैसे ही जो साधु संसार , शरीर और भोगों से विरक्त होकर संसार के दुःखों से छूटने के उपाय में लगे हुए हैं उन्हें आगम कथित कर्म में प्रवृत्ति जैसे उपवास या केशलोंच आदि करते समय संक्लेश परिणामों के नहीं होने से पापबंध नहीं लगता।

21/07/20, 4:39 pm - Ashok Jain: सातावेदनीय के उदय के कारण

*भूत-व्रत्यनुकम्पा-दान-सरागसंयमादि-योग: क्षान्ति: शौच-मिति सद्-वेद्यस्य॥१२॥*

सूत्रार्थ: (भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादि-

योग: क्षान्ति: शौचमिति) भूत, व्रती, अनुकम्पा, दान, सरागसंयम आदि योग, क्षान्ति और शौच ये (सद्वेद्यस्य) सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

भूतानुकम्पा, व्रत्यनुकम्पा, दान, सरागसंयम आदि योग क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

भूतानुकम्पा: भूत-समस्त संसारी प्राणियों पर दया परिणाम होना भूतानुकम्पा है।

व्रत्यनुकम्पा: समस्त अणुव्रतियों और महाव्रतियों पर दया करना व्रत्यनुकम्पा है।

दान: निज और पर के उपकार योग्य वस्तु देने को दान कहते हैं।

सरागसंयमादि:  राग सहित संयम आदि।

योग: इन सबको मनोयोग पूर्वक धारण करना अथवा निरवद्य क्रिया विशेष के अनुष्ठान को योग कहते हैं।

क्षान्ति: शुभ भावना पूर्वक क्रोधादि कषायों की निवत्ति को क्षान्ति कहते हैं।

शौच: लोभ के उपरम (त्याग) को शौच कहते हैं।

सातावेदनीय का आस्रव: समस्त प्राणियों पर दया करना, व्रतिजनों पर अनुराग रखना, सराग संयम का पालन करना, दान, शौच, अर्हंत की पूजा, बाल तथा वृद्ध तपस्वियों की वैश्यावृत्ति आदि से सातावेदनीय का आस्रव होता है। (हरि पु ५८/९४-९५)

भूत और व्रती: आयुकर्म और नामकर्म के उदय की आधीनता से जो उन-उन गतियों में उत्पन्न होते हैं वे भूत होते हैं,

तथा व्रतों (अणुव्रत और महाव्रतों) का सब और से सम्बन्ध रखने वाले प्राणी, व्रती हैं जो सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार के हैं।

अर्थात् सामान्य प्राणियों पर अनुकम्पा परिणाम की अपेक्षा व्रतियों पर अनुकम्पा परिणाम करने से विशिष्ट अनुभाग वाला साता वेदननीय कर्म का आस्रव होता है। (श्लो ६/५०७)

सूत्र में आदि शब्द से संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप आदि का भी ग्रहण है।

संयमासंयम: एकदेशविरति को संयमासंयम कहते हैं।

अकामनिर्जरा: विषयों के अनर्थ की निवृत्ति को आत्म अभिप्राय से नहीं करते हुए परतन्त्रता के कारण भोगोपभोग का निरोध होने पर शांतिपूर्वक सहन करना अकामनिर्जरा है।

बालतप: यथार्थ प्रतिपत्ति का अभाव होने से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि बाल कहलाते हैं। उन अज्ञानी मिथ्यादष्टियों का अग्नि में प्रवेश, पंचाग्नि तप आदि बालतप है। (रा वा ७)

'इति' शब्द से अर्हत्भगवान की पूजा करना, बाल वृद्ध तपस्वियों की वैश्यावृत्ति करना, आर्जव भाव, विनयशीलता, आदि भी सातावेदनीय के आस्रव का कारण है। अतः 'इति' शब्द से उनको भी ग्रहण करना चाहिए। (रा वा १३)

22/07/20, 8:23 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जो कर्मोदय के वश नरक आदि विविध गतियों में होते हैं या भ्रमण करते हैं , वे प्राणीवर्ग *भूत* कहलाते हैं।

हिंसा , झूठ , चोरी , कुशील व परिग्रह - इन पाँच पापों से एकदेश या सर्वदेश विरत होने वाले श्रावक या मुनि *व्रती* कहलाते हैं।

अनुग्रह से दयार्द्र चित्तवाले दूसरे की पीड़ा को अपनी ही पीड़ा मानने वाले के भाव को *अनुकम्पा* कहते हैं।

*अनुकम्पा* दूसरों पर.की जाती है। *दया* स्वयं पर की जाती है।

*भूत अनुकम्पा* का अर्थ सभी प्राणियों पर अनुकम्पा रखना है तथा व्रतियों पर होने वाली अनुकम्पा *व्रती अनुकम्पा* है।यद्यपि भूत अनुकम्पा में व्रती का ग्रहण भी हो जाता है फिर भी व्रती विषयक अनुकम्पा की प्रधानता दिखलाने के लिए आचार्य देव ने *व्रती* पद का ग्रहण अलग से किया है।

दूसरे का उपकार हो , इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना *दान* है।

जो संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक है परन्तु जिसके मन से राग के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं उसे *सराग* कहते हैं।

प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्तियों के त्याग को *संयम* कहते हैं।

रागी जीव के रागसहित संयम को *सरागसंयम* कहते हैं।

क्रोधादि दोषों का निराकरण करना *क्षान्ति* है। लोभ के प्रकारों का त्याग करना *शौच* है।

*भूत-अनुकम्पा , व्रती अनुकम्पा , दान और सरागसंयम का योग तथा क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं।* *ऐसा उपदेश आचार्य देव ने 12 वें सूत्र के माध्यम से दिया है।*

22/07/20, 11:27 am - Ashok Jain: दर्शन मोहनीय के आस्रव के कारण

*केवली-श्रुत-संघ-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य॥१३॥*

सूत्रार्थ: (केवलीश्रुतसंघधर्मदेवाऽवर्णवाद:) केवली भगवान, श्रुत-शात्र, संघ-मुनियों का संघ, धर्म-अहिंसादि धर्म, देव-देवगति के जीव का अवर्णवाद-जिसमें जो दोष नहीं है उसमें वह दोष लगाना (दर्शनमोहस्य) दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

वेदनीय कर्म के बाद अब मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण बताने वाले इस सूत्र में पहले दर्शनमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण अवर्णवाद के बारे में बता रहे हैं।

अवर्णवाद: अंतरंग के कालुष्य दोष के कारण असद्भूत मलों का उद्भावन करना अवर्णवाद है। गुणवान और महत्वशालियों में अपनी बुद्धि और हृदय की कलुषता के कारण अविद्यमान दोषों का उद्भावन करना अवर्णवाद है। (रा वा ७)

अर्हंत, सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत, गुरु, धर्म और मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ के प्रतिकूल आचरण करने से जीव उस दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध करता है, जिससे कि वह अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। (क प्र १४७)

केवल्यवर्णवाद: केवलियों में पिण्डाभ्यवहार जीवन आदि केवली अवर्णवाद है। केवली भोजन करते हैं, केवली कम्बल आदि दश उपकरण रखते हैं, तूम्बी आदि परिग्रह रखते हैं तथा उनके ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति क्रमशः होती है, इत्यादि कथन करना केवली का अवर्णवाद है। (रा वा ८)

केवली कवलाहार से जीवित रहते हैं, इत्यादि असद्दभूत दोषों का निरुपण करना केवली का अवर्णवाद है। (हरि पु ५८/९६)

श्रुतावर्णवाद: मांसभक्षण आदि अनवद्य का कथन करना श्रुत का अवर्णवाद है। मांस-मत्स्य भक्षण करना, मधु और सुरापान करना, कामातुर को रतिदान देना और रात्रि में भोजन करना आदि शास्त्र में कथन है। अर्थात् मांसभक्षण में कोई दोष नहीं है, ऐसा कहना शास्त्र का अवर्णवाद है। (रा वा ९)

संघावर्णवाद: शूद्र है, अशुचि है आदि कहना संघ का अवर्णवाद है। ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान आदि नहीं करने से मलिन शरीर वाले हैं, अशुचि हैं, दिगम्बर हैं, निर्लज्ज हैं, इस लोक में ये दुःख का अनुभव कर रहे हैं और परलोक भी इनका नष्ट हो गया है अर्थात् परलोक में भी यह दुःखी होंगे, इत्यादि वचन कहकर संघ का तिरस्कार करना संघ का अवर्णवाद है। (रा वा १०)

धर्मावर्णवाद: निर्गुणत्वादि कहना धर्म का अवर्णवाद है। जिनेन्द्र द्वारा कथित धर्म निर्गुण है। इसके धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं, इत्यादि कथन करना धर्म का अवर्णवाद है। (रा वा ११)

अहिंसा पर ही जोर देकर राष्ट्र को सण्ढ़ (सन्ट) बना दिया। आदि मिथ्या लांछन लगाना धर्मावर्णवाद है।(व चा ४/६१ भावार्थ)

{घर में शुद्धात्मा की अनुभूति मानना तथा सम्यग्दर्शन होने के बाद केवलज्ञान अंशरूप में उद्‌घाटित रहता है- ऐसा मानना धर्म का अवर्णवाद है।}

देवावर्णवाद: सुरा, मांस व कामसेवन आदि का दोषारोपण करना देवों का अवर्णवाद है। देव मांस खाते हैं, सुरापान करते हैं, अहल्यादि में आसक्तचित्त थे, इत्यादि कथन करना देवों का अवर्णवाद है। (रा वा १२)

*[सभी देव कामसेवन करते हैं ऐसा कहना देवों का अवर्णवाद है, ऐसा समझना चाहिए।]

{देवों के दस-दस हाथ बना देना, दाढी मूंछ बना देना, क्षेत्रपाल, दुर्गा, काली आदि की स्थापना करना देवों का अवर्णवाद है क्योंकि देवों के समचतुस्र संस्थान होता है, विक्रिया कैसी भी हो सकती है }

22/07/20, 11:29 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙇🙏🙇🙏🙏🙏🙏

22/07/20, 3:21 pm - Ashok Jain: चारित्र मोहनीय के आस्रव का कारण

*कषायोदयातीव्र-परिणामश्चारित्र-मोहस्य॥१४॥*

सूत्रार्थ: (कषाय-उदयात्-तीव्र- परिणाम:) कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम (चारित्रमोहस्य) चारित्र मोहनीय के आस्रव का कारण है।

कषाय के उदय से परिणामों में कलुषता चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं।

तीव्र कषाय वाला, अत्यधिक मोहयुक्त परिणाम वाला और राग-द्वेष से सन्तप्त जीव कषाय और नोकषाय रूप दोनों प्रकार के चारित्र मोह कर्म को प्रचुरता से बांधता है जो कि चारित्र गुण का घातक है।(क प्र १४८)

कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम: पूर्व में बांधे हुए कर्मों का द्रव्य क्षेत्र काल आदि के निमित्त से फल देना कर्म का परिपाक है, इसे उदय कहते हैं, कषायों के उदय को कषायोदय कहते हैं तथा कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम (अत्यंत संक्लिष्ट भाव) को कषायोदय तीव्र परिणाम कहते हैं। (श्लो ६/५१३)

23/07/20, 9:33 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): चारित्र मोहनीय के आस्रव के कारण

आत्मस्वरूप में आचरण करना चारित्र है उसका घात करने वाला कर्म चारित्र मोहनीय है। चारित्रमोह का कार्य आत्मा को चारित्र से च्युत करना है। क्योंकि कषायों के उद्रेक से ही आत्मा चारित्र से च्युत होता है कषायों के अभाव में नहीं। कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं। चारित्र मोहनीय कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय रूप होता है। कषाय वेदनीय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन के भेद से चार प्रकार की है फिर प्रत्येक के क्रोध, मान, माया, लोभ चार प्रकार होने से १६ प्रकार का होता है। अकषाय को नोकषाय भी कहा गया है। यह हास्य, रति अरति शोक, भय जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद, नपुसंकवेद के भेद से नौ प्रकार का है। जगदुपकारी, शीलव्रती, तपस्वियों की निन्दा करना, धर्म का ध्वंस करना, धार्मिक कार्यों में अन्तराय करना, किसी को शीलगुण, देश संयम ओर सकल संयम से च्युत करना, मद्य–मांस आदि से विरक्त जीवों को उनसे विचकाना, चारित्र और चारित्रधारी में दूषण लगाना, संक्लेश उत्पादक वेषों और व्रतों को धारण करना, स्व–पर में कषायों का उत्पादन आदि क्रियाएं एवं भाव कषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। उक्त निमित्तों को व्यक्ति सहज में जोड़ता रहता है जिससे चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। इन कारणों को जानकर जो सतत इनसे बचने का उपाय सोचता है और बचता है, वही मोक्षमार्ग पर बढ़ पाता है।

ज्ञानमती माताजी नेटवर्क से साभार।

🙏🙏🙏🙏🙏

23/07/20, 11:13 am - Ashok Jain: नरक आयु के आस्रव के कारण

*बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः॥१५॥*

सूत्रार्थ: (बह्वारम्भपरिग्रहत्वं) बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह (नारकस्यायुषः) नरक आयु के आश्रव के कारण हैं।

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायु के आस्रव के कारण हैं।

आरम्भ: प्राणियों को दुःख पहुंचाने वाली क्रिया आरम्भ है।

प्राणियों के प्राण का वियोग करना आरम्भ कहलाता है।(ध १३/४६)

आरम्भ हिंसक कर्म (व्यापार) है। हिंसनशील हिंसक होते हैं और उन हिंसकों के कर्महिंस्र हैं, यह आरम्भ कहलाता है।(रा वा २)

मिथ्यादृष्टि, महाआरम्भी, व्रतशील से रहित, तीव्र लोभ से संयुक्त, पापबुद्धि और रौद्र परीणामी जीव नरकायु को बाॅंधता है। (क प्र १४९)

बहुत परिग्रह: परिग्रह प्रणिधान प्रयुक्त, (परिग्रह लोलुपी) व्यक्ति तीव्रतर कषाय परिणाम वाले और हिंसा में तत्पर होते हैं। यह बहुत बार जाना गया है, देखा गया है, अनुमान के द्वारा भावित है और सुना गया है। उन कर्मों को आत्मसात् करने

से वे लोहे के तपाये हुए गोले के समान कषाय-ज्वालाओं से संतप्त होकर क्रूर कर्मी होते हैं और नरक आयु का आस्रव करते हैं।

(रा वा ३)

बहु शब्द संख्यावाची और विपुलवाची दो प्रकार का होता है।

---------

लोभ-लालच में पड़कर न करने योग्य को भी करने लख जाना ही 'बहु' शब्द का अर्थ है। जैसे:- अमृत फल खाने के लालच में फंस कर सुभौम चक्रवर्ती ने नमस्कार मंत्र को लतिया दिया था।

(पांव से मिटा दिया था).

----------

नरकायु का आस्रव प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है आगे के सासादन आदि गुणस्थानों में नहीं होता, क्योंकि प्रथम गुणस्थान से उसकी व्युच्छति हो जाती है। (वहां नरकायु के आस्रव के कारण भूत परिणाम नहीं पाये जाते हैं।(गो क ९५)

23/07/20, 4:08 pm - Ashok Jain: तिर्यंच आयु के आस्रव का कारण

*माया तैर्यग्योनस्य॥१६॥*

(माया) मायाचार (तैर्यग्योनस्य) तिर्यंच योनि के आस्रव का कारण है।

मायाचार तिर्यंच आयु के आस्रव का कारण है। आर्त्त-ध्यान विशिष्ट मायाचारी तिर्यंच आयु का आस्रव कराने वाली मानी गई है परन्तु अभद्र, क्रूर, अभिमानी, मायाचारी, दम्भी जीवों को धर्ममार्ग तथा न्यायमार्ग में लगाने के लिए और समझाने के लिए जो चतुराई की जाती है तथा धर्मप्रभावना के लिए की गई मायाचारी तिर्यञ्चायु के आस्रव का कारण नहीं है। पापस्वरूप आर्त्तध्यान अपकृष्ट कहा गया है इससे जीवों को तिर्यञ्च गति की प्राप्ति होती है।

माया के नाम:

माया- कपट-प्रयोग माया है।

सातियोग- कुटिल व्यवहार करना सातियोग है।

निकृति- ठगने का अभिप्राय रखना निकृति है।

वञ्चना- विप्रलम्भन होना वञ्चना है।

अनृजुता- योग की कुटिलता का होना है।

ग्रहण- दूसरे के मनोज्ञ अर्थ को प्राप्त करके उसका अपलाप करना ग्रहण है।

मनोज्ञमार्गण: मिथ्या विनय आदि उपचारों द्वारा दूसरों से मनोज्ञ अर्थ को स्वीकार करने का अभिप्राय मनोज्ञमार्गण है।

कल्क- दम्भ को कल्क कहते हैं।

कुहक- झूठे मंत्र, तंत्र और उपदेशादि द्वारा लोक का उपजीवन करना कुहक है।

निगूहन- भीतरी दुराशय का बाह्य में संवरण (छिपाना) करना निगूहन है।

छन्न- छद्म प्रयोग को छन्न कहते हैं। अतिसंधान, विस्रम्भात आदि छन्न कहलाता है। (ज ध १२/१८८-८८)

24/07/20, 9:28 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): धर्मोपदेश में मिथ्या बातों को मिलाकर उनका प्रचार करना , शीलरहित जीवन बिताना तथा मरण के समय नील व कापोत लेश्या आर्तध्यान का होना आदि आदि अशुभ परिणामों का होना , आदि कुछ अन्य कारण भी हैं जिनसे तिर्यंच आयु का आस्रव होता है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि यदि आर्तध्यान तिर्यंच आयु के आस्रव का हेतु है तथा छठे गुणस्थानवर्ती महाव्रतियों के भी आर्त्तध्यान पाया जाता है तो क्या उन्हें भी तिर्यंच आयु का आस्रव होगा , इसका समाधान करते हुए परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी कहती हैं कि नहीं , छठे गुणस्थान में आर्त्तध्यान सदा नहीं रहता है। कदाचित इष्ट गुरु के वियोग - संयोग या इष्ट के वियोग निमित्त मात्र में प्रेम या धर्मानुराग वश आर्त्तध्यान होता है।गृहस्थियों के समान उस आर्त्तध्यान में तीव्रता नहीं रहती है।अतः ऐसे मुनिराजों को तिर्यंचायु का आस्रव नहीं होता है, उन्हें देवायु का ही आस्रव होता है।

24/07/20, 10:55 am - Ashok Jain: मनुष्य आयु के आस्रव का कारण

*अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य॥१७॥*

सूत्रार्थ:- (अल्पारम्भपरिग्रहत्वं) अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह (मानुषस्य) मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं।

अल्प [अपने काम में आने योग्य वस्तु में से भी कुछ औरों के लिए छोड़ करके शेष में संतोष धारण कर लेना] आरम्भ और अल्प परिग्रह मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं।

नरकायु के आस्रव के कारणों से विपरीत भाव मनुष्य आयु के आस्रव का कारण हैं, वे अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह (आसक्ति) सामान्य से मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं। (रा वा १)

अन्य कारण:

१) मिथ्यादर्शन सहित बुद्धि, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव एवं आर्जव परिणाम होना।

२) अच्छे आचरणों में सुख मानना तथा रेत की रेखा के समान क्रोधादि होना।

३) सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह, संतोष में रति एवं हिंसा से विरक्त होना।

४) दुष्ट कार्यों से निवृत्ति, स्वगत तत्परता, कम बोलना, प्रकृति मधुर होना।

५) सबके साथ उपकार बुद्धि रखना, औदासिन्य वृत्ति, ईर्षारहित परिणाम होना।

६) अल्प संक्लेषता, गुरु-देवता-अतिथी के पूजा-सत्कार में रूचि, दान शीलता तथा कापोत-पीत लेश्या के परिणाम होना। मरण समय में धर्मध्यान परिणति आदि परिणामों से मनुष्य आयु का आस्रव होता है।

(रा वा १)

देव और नारकियों की अपेक्षा मनुष्य आयु का आस्रव पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में हो सकता है, तिर्यञ्चों की अपेक्षा पहले और दूसरे गुणस्थान में मनुष्य आयु का बंध हो सकता है क्योंकि मनुष्य-तिर्यञ्चों के मनुष्य आयु की बन्ध-व्युच्छत्ति दूसरे गुणस्थान में हो जाती है विशेष इतना है कि भोगभूमिया मनुष्य, तिर्यञ्च तथा अग्निकायिक, वायुकायिक जीवों के मनुष्य आयु का बन्ध किसी भी गुणस्थान में नहीं होता है।

(गो क जी ९७, १११) व तीसरे गुणस्थान में किसी भी जीव के आयु बन्ध नहीं होता है। (गो क के आधार से).

24/07/20, 2:47 pm - Ashok Jain: मनुष्यायु के आस्रव के और भी कारण

*स्वभाव-मार्दवं च॥१८॥*

सूत्रार्थ: (च) ऊपर जो कारण बताए हैं उनके अतिरिक्त भी (स्वभाव-मार्दवं) स्वभाव में मृदुता रखना मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।

स्वभाव मार्दव: उपदेश की अपेक्षा बिना होने वाली परिणामों की कोमलता 'स्वभाव मार्दव' है।

जिस प्रकार व्याघ्र भेड़िया आदि में स्वभाव से क्रूरता होती है उसी प्रकार उपदेश की अपेक्षा बिना होने वाली परिणामों की कोमलता 'स्वभावमार्दवं' पद का अर्थ है। मृदु का भाव या कर्म मार्दव है, स्वभाव से होने वाली अर्थात् परोपदेश के बिना होने वाला मार्दव स्वभाविक मृदुता है। (श्लो ६/५१९)

'स्वभाव मार्दव की पृथक रचना इसलिए की गई है क्योंकि इस सूत्र का सम्बन्ध देवायु के आस्रव से है।'

24/07/20, 4:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में आचार्यदेव ने *चकार* समुच्च्य अर्थ के लिए दिया है कि मनुष्य आयु का आस्रव अल्पारम्भ और अल्प परिग्रह से ही नहीं स्वभाव की मृदुता से भी होता है।

इसके पूर्व के सूत्र में विनम्र स्वभाव और इस सूत्र में मार्दव स्वभाव को मनुष्यायु क आस्रव बताया गया है।दोनों में विशेषता यह है कि पूर्वसूत्र गुणीजनों के प्रति नम्र होने का संकेत कर रहा था और यह सूत्र स्वयं गुणवान होने पर भी मान नहीं करने से मार्दव भाव की ओर संकेत कर रहा है।

24/07/20, 9:46 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB) added +91 98004 56000

25/07/20, 11:07 am - Ashok Jain: चारों आयु के आस्रव का कारण

*निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम्॥१९॥*

सूत्रार्थ: (निःशीलव्रतत्वं) शील और व्रत रहितपना (सर्वेषाम्) सभी आयुओं के आस्रव का कारण है (च) और मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।

शील और व्रतों से रहितपना सभी आयु के आस्रव का कारण है अर्थात् अव्रती के जब कषायों में क्रमशः अत्यंत तीव्रता और अत्यंत मन्दता होती है तभी से चारों आयु के आस्रव और  बंध करता है।

'च' शब्द से यह प्रयोजन है कि अल्पारम्भ और अल्प परिग्रहत्व भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है। तथा निःशीलत्व और व्रत रहितत्व भी मनुष्य आयु के आस्रव का कारण है।(रा वा १)

'सर्वेषां' पद शेष बची तीनों आयुओं की अपेक्षा से है।

25/07/20, 2:00 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): कृपया सूत्र नं ११ की जगह १९ पढें।

🙏🙏🙏

25/07/20, 2:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

25/07/20, 2:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत को *शील* कहते हैं।अहिंसा , सत्य , अचौर्य , ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - ये *व्रत* हैं।शील और व्रत से जो रहित हैं उन्हें *निःशीलव्रत* कहते हैं।

इन शील और व्रतों का स्वरूप आचार्य देव आगे कहने वाले हैं।

इस सूत्र में मात्र शीलरहित और व्रत रहित को चारों आयुओं के आस्रव का कारण बतलाया गया है जिसका कारण उनकी कषायें हैं।

*तीव्रतर , तीव्र , मन्द एवं मन्दतर कषायें चारों आयुओं के आस्रव का कारण हैं।*

तीव्रतर से नरकायु , तीव्र से तिर्यंचायु , मन्द से मनुष्यायु और मन्दतर से देवायु का आस्रव होता है।शीलरहित और व्रतरहित भोगभूमिया मनुष्य और तिर्यंचों के देवायु का आस्रव नियम से होता है क्योंकि उनकी कषायें सबकी अपेक्षा मन्दतर होती हैं।

25/07/20, 2:51 pm - Ashok Jain: 🙏👏👏👏

25/07/20, 3:53 pm - Ashok Jain: *सूत्र संख्या १९

25/07/20, 4:26 pm - Ashok Jain: देव आयु के आस्रव के कारण

*सराग-संयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बाल-तपांसि दैवस्य॥२०॥*

सूत्रार्थ:(सराग-संयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि) सरागसंयम, संयमासंयम अकामनिर्जरा और बालतप ये (दैवस्य) देवायु के आस्रव के कारण हैं।

जो जीव सम्यग्दृष्टि है, वह केवल सम्यक्त्व से एवं अणुव्रत महाव्रतों से देवायु को बांधता है तथा जो मिथ्यादृष्टि है वह अज्ञानरूप अणुव्रत-महाव्रतों से तथा बालतप, अकामनिर्जरा से देवायु को बांधता है। (गो क ८०७)

अकामनिर्जरा: अपने अभिप्राय से न की गयी भी विषयों की निवृत्ति (त्याग) के कारण भोगोपभोग का निरोध होने पर उसे शांति से सहन करना अकामनिर्जरा है (रा वा ६/१२)

बालतप: मिथ्यात्व के कारण मोक्षमार्ग में उपपोगी न पड़ने वाले कायक्लेशबहुल माया से व्रतों को धारण करना बालतप है। (सर्वा ६४८)

*उत्पथ, मनगढ़ंत तपश्चरण करने का नाम बालतप है।

सरागसंयमादि: धर्मध्यान अन्वित (युक्त) सरागसंयम देवायु के आस्रव का कारण है। मिथ्यादृष्टि के परोपकार, दयाभाव, सद्धर्मश्रवण, असंक्लेश, कायक्लेश, रसत्याग, उदासीनता परिणाम भी देवायु के आस्रव के कारण हैं परन्तु आर्त्त और रौद्र ध्यान से युक्त बालतप आदि से देव-आयु का आस्रव नहीं होता है।(श्लो ६/५२१)

25/07/20, 8:34 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): रागी जीव का संयम *सरागसंयम* है या जिसके रागयुक्त संयम है , वह सरागसंयम या महाव्रत है।जो जीव संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक है , परन्तु जिसके मन के राग के संस्कार अभी नष्ट नहीं हुए हैं  वह *सराग* है।

प्राणियों और इन्द्रियों में अशुभ प्रवृत्ति के त्याग को *संयम* कहते हैं।

संयम और असंयम को *संयमासंयम* कहते हैं।    स्थावर की हिंसा से अविरत और त्रस की हिंसा से विरत को *संयमासंयम* कहते हैं।यह देशव्रत या श्रावक व्रत भी कहलाता है।

बिना इच्छा से जो निर्जरा होती है उसे *अकाम निर्जरा* कहते हैं। जैसे पर के अधीन होकर कारावास में रस्सी आदि से बाँध कर रखने पर भूख , प्यास की वेदना सहनी पड़ती है, ब्रह्मचर्य पालना पड़ता है , जमीन पर सोना पड़ता है , यह सब अकाम है और इससे होने वाली निर्जरा अकाम निर्जरा है।

जो जीव अजीव के स्वरूप को नहीं जानते हैं , ऐसे तत्त्वज्ञान शून्य जीवों का तप *बालतप* कहलाता है। जैसे मिथ्यादृष्टि तापस सन्यासी , एकदण्डी , त्रिदण्डी आदि का तप *बालतप* है।मिथ्यात्व सहित तप बालतप है , सम्यग्दृष्टि का तप संवर और निर्जरा का कारण होता है , मिथ्यादृष्टि का तप   संसार का कारण है।

यह सूत्र चारों निकायों के देवों की आयु के आस्रव के कारणों का कथन करता है कि *सरागसंयम , संयमासंयम , अकामनिर्जरा और बालतप , ये सब देवायु के आस्रव के कारण हैं।*

25/07/20, 8:35 pm - +91 99081 51617 left

25/07/20, 9:39 pm - +91 90153 79625 left

25/07/20, 10:26 pm - +91 80956 31482 left

26/07/20, 2:33 pm - Ashok Jain: और भी देवायु के आस्रव का कारण

*सम्यक्त्वं च॥२१॥*

अर्थ: सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव का कारण है।

सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण है। ऐसा सामान्य कथन होने पर भी सम्यग्दर्शन सौधर्मादि कल्पवासी देव सम्बधी आयु के आस्रव का कारण है, यह समझना चाहिए क्योंकि पृथक सूत्र करने से यह ज्ञात होता है।(रा वा १)

....सरागसंयम और संयमासंयम भी नियम से स्वर्गों की आयु का ही बन्ध करते हैं क्योंकि सम्यक्त्व के अभाव में सरागसंयम और संयमासंयम नहीं हो सकते हैं।(रा वा २)

सम्यक्त्व के होने पर जीव के अनन्तानुबंंधी क्रोधादि के उदय का अभाव होने से तथा मिथ्यात्व के उदय की हानि हो जाने से जीवों में अजीवपन या तत्त्वों में अतत्त्वपन की श्रद्धा का विनाश हो गया है और मिथ्यात्व के उदय से होने वाली हिंसा की निवृत्ति होने से आत्मा की वृत्ति विशुद्ध हो गई है अतः विशुद्ध वृत्ति के अनुसार सभी आयुओं में प्रकृष्ट मानी गई देवायु का आस्रव होता है।

(श्लो ६/५२३)

लौकांतिक देव: पूर्व भव में जो मुनि स्त्रीजन्य राग से अत्यंत विरक्त होते हैं तथा राग रहित अत्यंत उग्र तप करते हैं, वे स्वर्ग में जाकर स्त्रियों के राग से रहित लौकांतिक देव होते हैं।

(सि सा दी १५/२९१)

*...सम्यक्त्व और देशचारित्र को प्राप्त कर यह जीव विषयसुख के निमित्त चलायमान हुआ नरकों में अत्यंत दुःख भोगकर निगोद में प्रविष्ट होता है।...

(ति प २/३५८-६१)

26/07/20, 3:04 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र की रचना अलग से इसलिए की गयी है कि इस सूत्र के द्वारा गुरुदेव हमें यह बताना चाहते हैं कि सम्यक्त्व अवस्था में वैमानिक देवों की ही आयु का आस्रव होता है।

सरागसंयम और संयमासंयम ये दोनों तो सम्यक्त्व सहित होने से वैमानिक देवों की आयु के आस्रव के कारण हैं , अकाम निर्जरा और बालतप ये दोनों भवनत्रिक देवों की आयु के आस्रव के प्रमुख कारण होते हैं , किन्तु इस सूत्र के द्वारा आचार्यदेव यह बतलाना चाहते हैं कि जो व्रतरहित होकर भी सम्यक्त्व सहित हैं , वे भी देवायु को प्राप्त करते हैं।अतः सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण है।

27/07/20, 10:43 am - Ashok Jain: अशुभ नामकर्म के आस्रव का कारण

*योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः॥२२॥*

सूत्रार्थ: (योगवक्रता) योगों की कुटिलता (च) और (विसोवादनं)परस्पर में विसंवादन (अशुभस्य नाम्नः) अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं।

जो जीव मन, वचन, काय से कुटिल हो, कपट करने वाला हो, अपनी प्रशंसा चाहने वाला हो, ऋद्धि गारव आदि तीन गारव से युक्त हों वह अशुभ नामकर्म बांधता है। योगों की वक्रता और विसंवाद [अन्यथा प्रवृत्ति करना- कराना] अशुभ नामकर्म के आस्रव का कारण है।(का प्र १५३)

जो जीव मन वचन काय से कुटिल है, मायाचारी है, तीन प्रकार के गारव से युक्त है वह नरक एवं तिर्यंच गति आदि अप्रशस्त नामकर्म का बन्ध करता है।(गो क ८०८).

सूत्र में दिये गये 'च' शब्द से मिथ्यादर्शन, चुगलखोरी, चित्त का स्थिर न रहना, मापने और तौलने के बाट घट-बढ़ रखना, दूसरों की निन्दा करना और अपनी प्रशंसा करना आदि आस्रवों का सम्मुचय होता है।

(सर्वा ६५२).

27/07/20, 3:47 pm - Ashok Jain: शुभ नामकर्म के आस्रव का कारण

*तद्विपरीतं शुभस्य॥२२॥*

सूत्रार्थ: (तद्विपरीतं) अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारणों से विपरीत (शुभस्य) शुभ आस्रव के कारण हैं।

शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण:

१) मन, वचन, काय की सरलता, अविसंवादन, धर्मात्मा पुरुषों का दर्शन करना।

२) आदर-सत्कार करना, उनके प्रति सद्भाव रखना, संसार से भयभीत रहना।

३) प्रमाद का त्याग करना, निश्चल चारित्र का पालन करना।

४) पूर्व में कहे गए अशुभ नामकर्म के कारणों के विपरीत परिणाम शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं। (रा वा १)

विशेष शुद्धि का निर्णय होने से अर्थात् विशुद्धि का अंग होने से योगों की सरलता आदि से पुण्य स्वरूप शुभ नामकर्म का आस्रव हो जाना न्याय प्राप्त है। (श्लो ६/५२५)

27/07/20, 4:54 pm - Ashok Jain: छठा अध्याय समापन की ओर है। आगामी परीक्षा रविवार को हो सकती है। आपके समय की अनुकूलता के लिए ग्रुप कल सुबह ११ बजे तक आपन कर रहे हैं। बहुमत के अनुसार पेपर आपन किया जायेगा।🙏

27/07/20, 4:55 pm - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

27/07/20, 7:17 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सूत्र संख्या 23 पढें।

27/07/20, 7:35 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): २२ वें सूत्र के *चकार* से यहाँ उनसे विपरीत आस्रवों का ग्रहण करना चाहिए। जैसे धार्मिक पुरुषों और स्थानों का दर्शन करना , आदर सत्कार करना , सद्भाव रखना , संसारभीरुता , प्रमाद का त्याग करना , व्रत लेना , जिनमंदिर ,जिनचैत्य का निर्माण करना , मृदुभाषण , पापकर्म रहित आजीविका करना , उपनयन अर्थात् व्यवहार की सत्यता के प्रमाण में यज्ञोपवीत जनेऊ संस्कार कराना आदि शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं।

जैसे सत्यघोष ने अपने व्यवहार को सही प्रमाणित करने के लिए जनेऊ में एक कैंची भी बाँध रखी थी , *अतः जनेऊ संस्कार भी शुभ नामकर्म के आस्रव में कारण है।*

27/07/20, 7:41 pm - +91 60028 20589: 🙏🙏

27/07/20, 10:45 pm - P C Jain Rafigunj: जय जिनेन्द्र

समय रात 8 बजे से

28/07/20, 10:04 am - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

28/07/20, 12:41 pm - Ashok Jain: रविवार रात 8 बजे प्रश्नपत्र भेजूंगा। आप सब रिविजन शुरू कर दें।

28/07/20, 2:05 pm - Ashok Jain: तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण

*दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता-शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ-शक्तितस्त्यागतपसी-साधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य बहुश्रुत-प्रवचन-भक्तिरावश्यकापरिहाणि-मार्गप्रभावना प्रवचन वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य॥२४॥*

सूत्रार्थ: (दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचार:) दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अनतिचारता (अभीक्ष्णज्ञानोपयोग संवेगौ) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, अभीक्ष्ण संवेग (शक्तितस्त्यागतपसी) शक्ति अनुसार त्याग, शक्ति अनुसार तप (साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरण) साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण (अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्ति:) अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, (आवश्यकापरिहाणि:) आवश्यकों में परिहार नहीं करना (मार्गप्रभावना) मार्गप्रभावना (प्रवचनलत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य) प्रवचन वत्सलत्व ये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव की कारण हैं।

१) दर्शनविशुद्धि भावना: जिनोपदिष्ट निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग में निशंकितादि आठ गुण सहित रूचि करना दर्शनविशुद्धि भावना है।

२) विनय सम्पन्नता भावना: ज्ञानादि में और ज्ञानधारियों में सत्कार-आदर करना तथा मानादि की निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता भावना है।

३) शीलव्रतेष्वनतिचार भावना: शील और व्रतों में निर्दोष प्रवृत्ति होना शीलव्रतेष्वनतीचार भावना है।

४) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना: ज्ञान भावना से नित्य तत्पर रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना है।

५) अभीक्ष्ण संवेग भावना: संसार के दुखों से नित्य भयभीत रहना अभीक्ष्ण संवेग भावना है।

६) शक्तितस्त्याग भावना: अपनी शक्ति के अनुसार पर की प्रीति के लिए वस्तु देना शक्तित: त्याग भावना है।

७) शक्तितस्तप भावना: अपनी शक्ति को नहीं छिपाकर मार्ग अविरोधी कायक्लेश आदि करना शक्तित: तप भावना है।

८) साधु समाधि भावना: भाण्डागार की अग्निप्रशमन के समान मुनिगणों के तप का संधारण करना साधु समाधि भावना है।

९) वैयावृत्यकरण भावना- गुणवानों पर दु:ख आने पर निर्दोष विधि से उसको दूर करना वैयावत्यकरण भावना है।

१०) अर्हद्भक्ति भावना: केवलज्ञान रूपी दिव्यनेत्र के धारी अर्हन्त में भाव युक्त जो अनुराग है वह अर्हद्भक्ति भावना है।

११) आचार्यभक्ति भावना: आचार्य में भाव विशुद्धि युक्त जो अनुराग है वह आचार्यभक्ति भावना है

१२) बहुश्रुतभक्ति भावना: उपाध्याय में भाव शुद्धि युक्त जो अनुराग है वह बहुश्रुतभक्ति भावना है।

१३) प्रवचन भक्ति भावना: जिनवाणी में भावशुद्धि पूर्वक अनुराग करना प्रवचनभक्ति भावना है।

१४) आवश्यकापरिहाणि भावना: षड़ावश्यक क्रियाओं को यथाकाल उत्सुकता पूर्वक करना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

१५) मार्ग प्रभावना भावना: ज्ञान, तप, पूजा-विधि आदि के द्वारा धर्म का प्रकाशन करना मार्ग प्रभावना भावना है।

१६) प्रवचनलत्सलत्व भावना: बछड़े में गाय के समान धार्मिक जनों में स्नेह प्रवचनलत्सलत्व भावना है।

.... इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नामक गोत्र कर्म को बांधता है।

(ध ८/७९)

तीर्थंकर: रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को जो प्रचलित करते हैं उनको तीर्थंकर कहते हैं। (भ आ वि ३०५)

संसार समुद्र से पार होने के उपाय रूप तीर्थ को करने वाले तीर्थंकर हैं। (मू आ ६६)

28/07/20, 2:49 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *तीर्थ करोति इति तीर्थंकर* जो तीर्थ की प्रवर्तना करते हैं ,तीर्थ चलाते हैं उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। तीर्थंकर पाँच कल्याणक , तीन कल्याणक और दो कल्याणक धारी होते हैं। भरतक्षेत्र व ऐरावत क्षेत्र में पाँच कल्याणकधारी तीर्थंकर ही होते हैं। विदेह क्षेत्र में पाँच कल्याणक , तीन कल्याणक (तप, ज्ञान , मोक्ष ) और दो कल्याणक ( ज्ञान और मोक्ष ) धारी तीर्थंकर भी होते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर्मभूमिया मनुष्य उपशम , क्षयोपशम व क्षायिक तीनों सम्यक्त्वधारी जीव केवली , श्रुतकेवली के पादमूल में करता है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्धक जीव यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि है तो पहले नरक से नीचे नहीं जाता । हाँ , यदि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि है तो तीसरे नरक तक जा सकता है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्धक वही जीव नरक जाता है जिसने पहले नरकायु का बन्ध कर लिया है और बाद में सम्यक्त्व प्राप्त किया है , जैसे राजा श्रेणिक ।

अशोक जी ने जिन सोलहकारण भावनाओं का वर्णन किया है ,उनका अलग अलग या समुदाय रूप से सबका भली प्रकार से चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव के कारण जानना चाहिए। इनका निरन्तर अभ्यास करने से जीवों के हृदय में कषाय रूपी अग्नि बुझ जाती है , पर द्रव्यों के प्रति राग गल जाता है और अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश होकर ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश होता है।तीन लोक में अनुपम अचिन्त्य ऐसी तीर्थंकर प्रकृति का आश्रव होता है।

28/07/20, 4:09 pm - Ashok Jain: तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध: दर्शनविशुद्धि भावना के साथ कोई भी एक भावना होने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है।

गुणस्थान: तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध चौथे अविरत गुणस्थान से आठवें अपूर्करण गुणस्थान के छठे भाग तक होता है। यह प्रकृति मनुष्य, देव और नारकी के ही बनती है, तिर्यंचों के नहीं।

(गो क जी ९२)

28/07/20, 4:42 pm - Ashok Jain: नीचगौत्र के आस्रव के कारण

*परात्मनिन्दाप्रशंसे-सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य॥२५॥*

सूत्रार्थ: (परात्मनिन्दाप्रशंसे) दूसरे की निन्दा करना, अपनी प्रशंसा करना, (च) तथा (सदसद्गुणोंच्छदनोद्भावने) दूसरे के मौजूद गुणों को छिपाने और अपने अप्रकट गुणों को प्रकट करने से नीचगौत्र कर्म का आस्रव होता है।

नीच गौत्र का आस्रव के कारण:

१) जाति, बल, कुल, रूप, श्रुत, आज्ञा, ऐश्वर्य और तप का मद करना।

२) दूसरों की अवज्ञा, हंसी और उपहास करना।

३) पर (दूसरों की) और धार्मिकजनों की निन्दा और परिहास करना।

४) अपनी कीर्ति करना तथा दूसरों के यश का लोप करना।

५) गुरूजनों का तिरस्कार, उनके दोषों का उद्भावन, उनकी आज्ञा का लोप करना।

६) गुरुजनों की अंजलि (हाथ जोड़ना), स्तुति, अभिवादन, अभ्युत्थान नहीं करना।

७) तीर्थंकरों पर दोषारोपण आदि करना। (रा वा ६)

जिन प्राणियों में जाति आदि का अभिमान या उन्माद हो जाता है, सर्वदा दूसरों की निन्दा और दोषोद्घाटन में लीन रहते हैं, ऐसे ही प्राणी नीच गौत्र का बंध करते हैं।

(व चा ४/९९)

28/07/20, 5:32 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*पर - आत्म निन्दा - प्रशंसे सद् - असद्गुण - उच्छादन - उद्भावने च नीचैः गोत्रस्य ।।२५।।*

सच्चे या झूठे दोषों को प्रकट करने की इच्छा *निन्दा* है। दूसरों की निन्दा *परनिन्दा* है।

गुणों को प्रकट करने का भाव *प्रशंसा* है। अपनी प्रशंसा *आत्मप्रशंसा* है।

सूत्र में वर्णित *उच्छादन* का अर्थ लोपन करना या ढकना है।

*सद्* का अर्थ है विद्यमान।

दूसरों के विद्यमान ज्ञान , तप आदि सद्गुणों का लोपन करना या ढकना *सद्गुणोच्छादन* है।

सूत्र में वर्णित *उद्भावन* का अर्थ है प्रकट करना और *असद्* का अर्थ है अविद्यमान। अपने अविद्यमान झूठे गुणों को प्रकट करना या उनका ढिंढोरा पीटना *असद्गुणोद्भावन* है।

*इस प्रकार परनिंदा , आत्मप्रशंसा , सद्गुणों का उच्छादन अर्थात् लोपन और* *असद्गुणों का उद्भावन अर्थात् प्रकटीकरण नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं।*

नीचगोत्र के आस्रव के और भी अन्य अनेक कारण हैं जो अशोक जी ने ऊपर क्रमवार बतलाये हैं । उन अन्य कारणों को सूचित करने के लिए सूत्र में *चकार* का प्रयोग किया गया है।

28/07/20, 7:06 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): भूल सुधार, आदरणीय पारस जी पाटनी भाई साहब ने मेरी इस पोस्ट में निम्न सुधार किया है

आपने तत्त्वार्थ सूत्र ग्रुप में नरक जाने वालों के बारे में लिखा । मात्र नरक आयु का बंधक यदि क्षायिक सम्यक दृष्टि हो या कृतकृत वेदक सम्यक दृष्टि हो तो प्रथम नरक जा सकता है पर इसके आगे तीर्थंकर प्रकृति का बंधक भी मरण समय से एक अंतर मुहूर्त पहले मित्यात्व में जाकर तीसरे नरक तक जाकर वहां अंतर मुहूर्त बाद सम्यक्तव प्राप्त कर सकता है। दूसरे तीसरे नरक में सम्यक्त सहित नहीं जाएगा।

कृपया अपना मेसेज ठीक करें।

भूल सुधार करने के लिए आदरणीय भाई साहब का बहुत बहुत आभार।

🙏🙏🙏🙏🙏

29/07/20, 11:13 am - Ashok Jain: उच्च गौत्र कर्म के आस्रव का कारण

*तद्विपर्ययो नीचै र्वृत्यनुत्सेकौ चोतरस्य॥२६॥*

सूत्रार्थ: (तद्विपर्यय) नीच गौत्र के आस्रव के कारणों के विपरीत (नीचैर्वृत्यनुत्सेकौ) विनय पूर्वक वृत्ति होना, तथा नम्रवृत्ति तथा मद का अभाव (चोतरस्य) उच्च गौत्र के आस्रव का कारण हैं।

नीचे गौत्र के आस्रव के कारणों से विपरीत कारण, गुणीजनों के प्रति विनयपूर्वक नम्रभाव तथा उद्दण्ड स्वभाव नहीं होना, ये सब उच्च गौत्र के आस्रव के कारण हैं।

उच्च गौत्र के आस्रव के कारण:

१) जाति, कुल, सौंदर्य, वीर्य, ज्ञान, ऐश्र्वर्य और तपादि की विशेषता होने पर भी अपने में बड़प्पन का भाव नहीं आने देना।

२) पर (दूसरे) का तिरस्कार नहीं करना।

३) उद्दण्डता नहीं होना, पर की निन्दा नहीं करना।

४) धर्मात्माओं का सम्मान करना, नमस्कार करना, निरहंकारिता, नम्रवृत्ति करना, धार्मिक साधनों में अत्यंत आदर बुद्धि रखना, आदि।

(रा वा ४).

अरहंतादि पंच परमेष्ठि की भक्ति, अध्ययनादि में विशेष विचार तथा विनयादि गुणों को धारण करना उच्च गौत्र के प्रत्यय बताये गये हैं।

(गो क ८०९)

अर्हन्त प्रभु के द्वारा प्राप्त सम्यग्ज्ञान तथा उन्हीं के द्वारा उपदिष्ट वीतराग धर्म में जिनकी अटूट भक्ति होती है। दूसरे की निन्दा तथा पैशून्य आदि से जो कोसों दूर रहते हैं,वे प्राणी उच्च गौत्र का बंध करते हैं। (व चा ४/१००)

जो आर्य नित्यप्रति तीर्थंकर, गुरु, उच्च पदवीप्राप्त जीवों की भक्तिपूर्वक सेवा करता है, स्तुति करता है, नमस्कार करता है, एवं अपनी प्रशंसा न करके गुणियों के दोषों को छिपाकर उनकी श्रेष्ठता को ही प्रगट करता है, वह उच्च गौत्र के उदय से परलोक में सर्वोत्तम गोत्र को प्राप्त करता है। (महावीर पु १७)

29/07/20, 1:19 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*तद् - विपर्ययो  नीचैः  वृत्ति - अनुत्सेकौ च  - उत्तरस्य ।।२६।।*

*तद्विपर्यय* का आशय  आत्मनिन्दा , परप्रशंसा , सद्गुणों का उद्भावन और असद्गुणों का उच्छादन इन चार को जो पिछले सूत्र में बताये गये नीचगोत्र के आस्रव के कारणों के विपरीत हैं , से ग्रहण करना चाहिए।

जो गुणों में उत्कृष्ट हैं उनके प्रति विनय भाव से नम्र रहना *नीचैर्वृत्ति* है जिसे नम्रवृत्ति भी कहते हैं।

ज्ञानादि की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हुए भी उसका मद या अहंकार नहीं करना *अनुत्सेक* है।

इस प्रकार नीचगोत्र के विपर्यय या विपरीत परप्रशंसा , आत्मनिन्दा , सद्गुणों का उद्भावन , असद्गुणों का उच्छादन तथा नम्रवृत्ति और अनुत्सेक , ये उच्चगोत्र के आस्रव हैं।

29/07/20, 1:23 pm - +91 77600 71108 joined using this group's invite link

29/07/20, 1:24 pm - +91 79704 52051 joined using this group's invite link

29/07/20, 1:24 pm - +91 74474 44495 joined using this group's invite link

29/07/20, 1:31 pm - +91 94213 88858 joined using this group's invite link

29/07/20, 1:36 pm - +91 97659 25836 joined using this group's invite link

29/07/20, 1:49 pm - +91 74550 65645 joined using this group's invite link

29/07/20, 1:50 pm - +91 89558 75264 joined using this group's invite link

29/07/20, 1:51 pm - +91 98507 36515 joined using this group's invite link

29/07/20, 1:49 pm - +91 74550 65645 left

29/07/20, 1:54 pm - +91 93995 27682 joined using this group's invite link

29/07/20, 2:04 pm - +91 94241 90719 joined using this group's invite link

29/07/20, 2:22 pm - +91 72492 56885 joined using this group's invite link

29/07/20, 2:23 pm - +91 87920 24002 joined using this group's invite link

29/07/20, 2:29 pm - Ashok Jain: सुस्वागतम्

अभी छठा अध्याय समापन की ओर है। इसके बाद यहां तक कि chat इसी ग्रुप में भेजी जाएगी। धन्यवाद 🙏

29/07/20, 2:47 pm - Vikash Kasliwal joined using this group's invite link

29/07/20, 2:50 pm - +91 82913 23589 joined using this group's invite link

29/07/20, 3:54 pm - +91 96305 95010 joined using this group's invite link

29/07/20, 4:06 pm - Dr Sudhir Shastri, Baramati joined using this group's invite link

29/07/20, 4:06 pm - Dr Sudhir Shastri, Baramati left

29/07/20, 4:06 pm - +91 77908 91974 joined using this group's invite link

29/07/20, 4:18 pm - Ashok Jain: अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण

*विघ्नकरणमन्तरायस्य*

सूत्रार्थ: (विघ्नकरणं) विघ्न उपस्थित करना (अन्तरायस्य) अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण में कारण हैं।

किसी भी प्रकार के लोकोपकारक कार्य में रोड़ा अटका देने, अड़चन पैदा कर देने एवं उसे न होने देने से अन्तराय कर्म का बंध होता है।

अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण:

१) देवता के लिए निवेदित या अनिवेदित द्रव्य का ग्रहण करना।

२) ज्ञान का निषेध एवं धर्म का व्यवच्छेद करना।

३) तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना।

४) कान नाक ओंठ आदि काटना तथा प्राणियों का वध करना।

५) ज्ञान का प्रतिषेध एवं किसी के सत्कार में विघ्न करना।

६) दान लाभादि में और स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादना, विभूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना।

७) किसी के वैभव तथा समृद्धि में विस्मय करना तथा द्रव्य का त्याग नहीं करना।

८) दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ आदि को दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र, आस्रय आदि में विघ्न करना।

९) पर (दूसरे) का निरोध, बन्धन, एवं गुह्य अंग का छेदन करना। (रा वा १)

जो अन्य लोगों के धर्माचरण में विघ्न-बाधाएं डालते हैं उन्हें तो दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य सबका ही अन्तराय मानना चाहिए।

(व चा ४/१०३)

29/07/20, 5:24 pm - +91 70110 26153 joined using this group's invite link

29/07/20, 5:44 pm - +91 75002 08701 joined using this group's invite link

29/07/20, 6:01 pm - +91 98263 75888 joined using this group's invite link

29/07/20, 6:02 pm - +91 81302 10990 joined using this group's invite link

29/07/20, 8:01 pm - +91 99236 62505 joined using this group's invite link

29/07/20, 8:07 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *विहननं विघ्नः* विघ्नन को विघ्न कहते हैं। दान , लाभ , भोग , उपभोग और वीर्य में विघ्न करना *विघ्नकरण* है।

दानादिक का नाश करना *विघ्न* है और इस विघ्न को करना *अन्तराय कर्म* का आस्रव है।

दाता और पात्र के मध्य में आती है वह *अन्तराय* है।

त्यागी मुनिराज आदि को आहार के समय अन्तराय आता है । उस समय दाता और पात्र दोनों के अन्तराय कर्म का उदय रहता है। दाता को *दानान्तराय कर्म* का उदय रहता है तथा पात्र के *लाभान्तराय कर्म* का उदय रहता है।

इस प्रकार छठे अध्याय का स्वाध्याय निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। यह अध्याय मानव जीवन के उत्थान के लिए एक महान निधि है। यह आत्मशुद्धि का दर्पण है।जीवन शुद्धि का अनमोल रत्न है। इस दर्पण में हम निरन्तर झाँकते रहें और अशुभ कर्मों के आस्रव रूप परिणामों से बचते रहें तो पापकर्म की कालिमा को पूर्ण रूप से धोकर अपनी आत्मा को स्वच्छ कर सकते हैं।

हमें इस अध्याय का निरन्तर अध्ययन करते हुए इसमें आचार्य देव द्वारा दिये गये उपदेशों को अपने आचरण में ढालने की कोशिश करते रहना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी महाराज की जय।

🙏🙏🙏🙏🙏🙏

30/07/20, 3:14 am - +91 98107 66798 joined using this group's invite link

30/07/20, 6:08 am - +91 93231 88361 joined using this group's invite link

30/07/20, 7:10 am - +91 93641 03136 joined using this group's invite link

30/07/20, 10:32 am - Ashok Jain: राजेन्द्र भाई साहब ने अंतिम में एक दम सही बात कही है। 🙏

मैं तो लिखता जा रहा था और अपने बारे में सोचता जा रहा था अपनी गलतियों और अनभिज्ञता को सुधारने के लिए।

आचार्य भगवंत श्री उमास्वामी महाराज ने आस्रव के कारणों को सूत्र संख्या 10 से 27 तक 18 सूत्रों के माध्यम से हम सब के लिए समझने और सम्हलने का अपूर्व अवसर दिया है🙏

30/07/20, 10:34 am - Ashok Jain: सुस्वागतम्

अभी छठा अध्याय समापन हो गया है। अब यहां तक कि chat इसी ग्रुप में भेजी जाएगी। धन्यवाद 🙏

30/07/20, 10:39 am - Ashok Jain: *॥इति तत्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) षष्ठोध्याय:॥*

30/07/20, 10:40 am - Ashok Jain: <Media omitted>

30/07/20, 11:51 am - Ashok Jain: आगामी रविवार को छठे अध्याय की परीक्षा रात आठ बजे से शुरू होगी।

नये सदस्य भी चेट में १५जुलाई से पढ़ सकते हैं। आप सभी रिविजन कर लें।

इस बार जो समय में उत्तर भेज देंगे उन सबका नाम ग्रुप में सधन्यवाद भेजा जायेगा।

९८% से ऊपर के नाम भी विशेष रूप से भेजे जाएंगे, प्रथम सबमिशन के आधार पर।

30/07/20, 8:44 pm - Lalita Rajkumar Ji Godha, Gyanodaya changed their phone number to a new number. Tap to message or add the new number.

30/07/20, 11:14 pm - +91 82659 57055 changed to +91 79063 29274

31/07/20, 1:00 pm - You added Jasumati Jain

31/07/20, 3:10 pm - +91 97732 52896 joined using this group's invite link

31/07/20, 4:32 pm - +91 83192 40172 left

01/08/20, 7:08 pm - Ashok Jain: कल रविवार रात्रि ८ बजे छठे अध्याय का स्वयं मूल्यांकन का अवसर न चूकें।

🙈

01/08/20, 7:08 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

01/08/20, 7:09 pm - Ashok Jain: पेपर इसी के छठे अध्याय से👆

01/08/20, 7:10 pm - +91 79704 52051 left

02/08/20, 8:00 pm - Ashok Jain: https://docs.google.com/forms/d/1iOJh-8gwdAqK5byaRUoVErmnIzT9eZ4DZ1lIQje3egc/edit

02/08/20, 8:01 pm - Ashok Jain: जय जिनेन्द्र

जो समय में उत्तर भेज देंगे उन सबका नाम ग्रुप में सधन्यवाद भेजा जायेगा।

९८% से ऊपर के नाम भी विशेष रूप से भेजे जाएंगे, प्रथम सबमिशन के आधार पर।

02/08/20, 8:09 pm - Ashok Jain: *९६% + के नाम ग्रुप में भेजे जायेंगे।

02/08/20, 9:35 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

02/08/20, 9:36 pm - Ashok Jain: उत्तर देने के लिए सुबह ११ बजे आपन किया जा रहा है।

02/08/20, 10:02 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏🙏🙏🙏👍👍👍

02/08/20, 10:17 pm - +91 92712 05892 joined using this group's invite link

03/08/20, 10:38 am - Ashok Jain: उत्तर देने के लिए सुबह ११ बजे आपन  है।

03/08/20, 11:04 am - Ashok Jain: <Media omitted>

03/08/20, 11:05 am - Ashok Jain: <Media omitted>

04/08/20, 10:59 am - +91 80506 05804 left

04/08/20, 11:05 am - Ashok Jain: *छठे अध्याय का सार*

"इस अध्याय में आत्म दर्पण में झांकने पर जोर दिया है।"

आचार्य भगवंत श्री उमास्वामी महाराज ने यहां "आस्रव", (तीसरे)तत्व को २७ सूत्रों के माध्यम से समझाया है। कि इसे त्रियोग पूर्वक जीवन में अंगीकार करे, जिससे कर्मों के आस्रव/बंधके कारणों को हृदयांगम कर, उससे बचने की दिशा में पुरुषार्थ कर,न्यूनतम कर्मों का आस्रव/बंध कर अपने सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन का उत्थान कर सके!

आचार्य भगवंत ने बताया कि आस्रव-जो शरीर,वचन अथवा मन की क्रिया से आत्म प्रदेशों में परिस्पंदन होता है उसे योग कहते है!योगो की प्रवृत्ति से आत्मप्रदेशों में कर्मों का आस्रव होता है,कर्मों के आत्मप्रदेशों में आगमन को आस्रव कहते है!शुभ और अशुभ योग से क्रमश; दोनों प्रकार शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) कर्मों का आस्रव होता है,जिस योग की प्रधानता होती है उसके अधिक और दुसरे के कम कर्म बंधते है!हमारे चारों ओर कर्मवर्गणाएं-नोकर्मवर्गणाएं, पुद्गल वर्गणाओं रूप में रहती है,जैसे ही हम योग (मन,वचन,अथवा काय) से कोई क्रिया करते है वे कर्माणपुद्गल वर्गणाए,आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द करने से कर्म रूप बंध जाती है!यह समस्त क्रिया बंध और आस्रव है,कर्मों का आस्रव-बंध एक ही समय युगपत् होता है!

इस अध्याय में उमास्वामी आचार्यश्री २७  सूत्रों के माध्यम से तीसरे 'आस्रव' तत्व के कारणों, उस भेद, जीवाधिकरण, अजीवाधिकरण और अष्ट कर्मों के आस्रवों के कारणों पर उपदेश दिया है।

04/08/20, 11:05 am - Ashok Jain: *॥इति तत्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) षष्ठोध्याय:॥*

04/08/20, 11:11 am - Ashok Jain: अथ सप्तमोध्याय

04/08/20, 11:11 am - Ashok Jain: <Media omitted>

04/08/20, 11:11 am - Ashok Jain: वाचन आदरणीय श्री पारस भाई साहब द्वारा

04/08/20, 11:45 am - Ashok Jain: इस अध्याय में आचार्य भगवंत श्री उमास्वामी महाराज हमें , जो पिछले अध्याय में जो आस्रव के शुभाशुभ कारण बताये हैं उनमें क्या करने से हमारे परिणाम शुभ की श्रेणी में हो सकते हैं- यह बताते हए पांच पाप,उनका त्याग रूप व्रत,। व्रतों के भेद, त्याग की भावनाएं, और पांचों पापों के अतिचार,  तीन शल्य- सम्यग्दर्शन के अतिचार  तथा सात शील व्रतों के बारे में बता रहे हैं। इसके साथ ही दान के भेद और दान की विशेषता के बारे में बता रहे हैं।

आगे हम विस्तार से समझेंगे।

04/08/20, 12:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB):

04/08/20, 3:13 pm - Ashok Jain: शुभास्रव का वर्णन

*हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरति-र्व्रतम्॥१॥*

सूत्रार्थ: (हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्य) हिंसा, अनृत (झूठ), स्तेय (चोरी), अब्रह्म (कुशील) और परिग्रह से (विरति:व्रतम्) विरक्त होना व्रत है।

क्रमशः...

विरति: विरमण का नाम विरति है। चारित्र मोहनीय के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक चारित्र की प्रकटता होने से जो विरक्ति होती है उसे विरति कहते हैं।

व्रत: सेवनीय वस्तु का संकल्प पूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा प्रशस्त कार्यों में प्रवृत्ति करना और अप्रस्त कार्यों करने का व्रत है।

04/08/20, 3:13 pm - Ashok Jain: क्रमशः_

05/08/20, 10:14 am - Ashok Jain: इस अध्याय में सर्वप्रथम अहिंसा व्रत को बताया है।

सत्यादि सर्व व्रतों के परिपालन का कारण होने से अहिंसा व्रत सर्व व्रतों में प्रधान है। सत्यादि व्रत बाड़ के समान है और अहिंसा व्रत धान्य के समान। जैसे धान्य की रक्षा के लिए खेत में चारों ओर बाड़ लगा दी जाती है उसी प्रकार सत्यादि सर्व व्रत चारों ओर से अहिंसा रूप धान्य की रक्षा करने वाले हैं अतः सर्व व्रतों में प्रधान होने से अहिंसा व्रत का सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है। (रा वा ६)

05/08/20, 11:21 am - Ashok Jain: व्रत के भेद

*देश-सर्वतोऽणु-महती॥२॥*

सूत्रार्थ: (देशसर्वत:) एकदेश और सर्वदेश से त्याग (अणुमहती) क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत है।

अणुव्रत: हिंसादि पांच पापों का एकदेश त्याग करना अणुव्रत है।

महाव्रत: हिंसादि पांच पापों का सर्व रूप से त्याग करना महाव्रत है।

*स्थूल* हिंसा, मृषा (झूठ), अदत्तग्रहण (चोरी), कुशील (अब्रह्म तथा मूर्च्छा (ममत्व-परिग्रह) इन स्थूल पांचों पापों से विरत होना अणुव्रत है। (र क श्रा ५२)

महाव्रत: पाप बन्ध के कारणभूत हिंसादि पांच पापों का नवकोटि से त्याग करना महाव्रत है।

[ मन से करना, कराना, अनुमोदना करना

वचन से करना कराना अनुमोदना करना

काय से करना कराना अनुमोदना करना। ये नव कोटि है।]

05/08/20, 12:34 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*देश सर्वतः अणु महती।।२।।*

हिंसादिक पापों से *देश* अर्थात् एकदेश निवृत्त होना *अणु* अर्थात् अणुव्रत है तथा *सर्वतः* अर्थात् सब प्रकार से निवृत्त होना *महती* अर्थात् महाव्रत है।

यद्यपि *विरति* शब्द सूत्र में नहीं आया है फिर भी पूर्व के सूत्र से विरति अर्थात् निवृत्त होना जानना चाहिए।

आचार्यों ने उपदेश क्रम में सर्वप्रथम श्रावकों के लिए महाव्रतों का पालन करने का ही उपदेश दिया है ।यदि श्रावक उन महाव्रतों का पालन करने में असमर्थता व्यक्त करता है तब उसे अणुव्रतों का उपदेश दिया जाता है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने *सर्वाथसिद्धि* में इस सूत्र की टीका करते हुए लिखा है

*एतानि व्रतानि भावितानि वरौषधवद्यत्नवते दुःखनिवृत्तिनिमित्तानि भवन्ति।*

जो पुरुष प्रयत्नशील होकर उत्तम औषधि के समान इन व्रतों का सेवन करता है उसके दुःखों का नाश होता है।

05/08/20, 1:12 pm - Ashok Jain: 🙏

05/08/20, 3:13 pm - Ashok Jain: व्रतों की स्थिरता के कारण

*तत्स्थैर्यार्थं भावना: पञ्च पञ्च॥३॥*

सूत्रार्थ: (तत्स्थैर्यार्थं) उन व्रतों की स्थिरता के लिए (पञ्च-पञ्च) पांच-पांच (भावना:) भावनाएं हैं।

भावना: वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम, चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम तथा क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाली आत्मा के द्वारा जो भायी जाती है, जिसका बार-बार चिंतन किया जाता है वे भावनाएं कहलाती हैं।(रा वा १)

भावना क्यों: महाव्रत और अणुव्रत से युक्त मनुष्यों को अपने व्रतों में स्थिर रखने के लिए उक्त पांचों व्रतों में प्रत्येक की पांच-पांच भावनाएं कही जाती हैं। (हरि पु ५८-११७)

भावना से लाभ: इन भावनाओं को भाने वाला वह साधु सोता हुआ भी या मूर्च्छा को प्राप्त भी किंचित् मात्र भी सम्पूर्ण व्रतों में विराधना को नहीं करता है, पुनः जब वह जाग्रत है सावधानी से प्रवृत्त हों रहा है तब तो कहना ही क्या।(मू आ ३४२).

05/08/20, 4:02 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*तत् स्थैर्य - अर्थम् भावनाः , पञ्च पञ्च।।३।।*

आचार्य पूज्यपाद स्वामी इस सूत्र की टीका करते हुए *सर्वाथसिद्धि* में कहते हैं

*तेषां व्रतानां स्थिरीकरणायैकैकस्य व्रतस्य पञ्च पञ्च भावना वेदितव्याः।*

उन व्रतों को स्थिर करने के लिए एक एक व्रत की पाँच पाँच भावनायें जाननी चाहिए।

व्रतों को ग्रहण करने के बाद उन व्रतों का दृढता से पालन करना व्रती का कर्तव्य होता है।

अहिंसादिक पाँच व्रतों का इन व्रत संबंधी भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते रहने से  इनके परिणामों में मजबूती आती है।

05/08/20, 5:13 pm - +91 80555 79222 left

05/08/20, 9:29 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB) added +91 99773 98161

06/08/20, 11:27 am - Ashok Jain: अहिंसाव्रत की पांच भावनाएं

*वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च॥४॥*

[वाङ्-मनोगुप्ति-ईर्या-आदान-निक्षेपणसमिति-आलोकितपान-भोजनानि पञ्च]

सूत्रार्थ: वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकितपान-भोजन ये अहिंसाव्रत की पांच भावनाएं हैं।

अहिंसाव्रत की शुद्धि के लिए मेरे वचन गुप्ति, और मनोगुप्ति होवे तथा ईर्या समिति, आदान-निक्षेपण समिति और दिन में देख-शोध कर भोजन करने की क्रियाएं होवें, इस प्रकार चित्त में बार-बार चिंतन करने से भावित आत्मा व्रतों में दृढ़ होती है। (श्लो ६/५५०).

06/08/20, 11:32 am - Ashok Jain: इस जीव को मारूँ' इस अभिप्राय से जो हिंसा की जाती है, उसे संकल्प कहते हैं । यह संकल्प मन, वचन और काय इन तीनों योगों की कृत, कारित तथा अनुमोदनारूप परिणति से होता है। किसी कार्य को स्वतन्त्ररूप से स्वयं करना कृत है । दूसरे से कराना कारित है और कराने वाले के लिए अपने मानसिक परिणामों को प्रकट करते हुए अनुमति के वचन कहना अनुमोदना है । इस प्रकार यह कृत-कारित-अनुमोदना मन, वचन व कायरूप तीनों योगों से प्रकट होती है। यथा-

मैं मन से त्रस जीवों की हिंसा स्वयं नहीं करता हूँ अर्थात् मैं त्रस जीवों को मारूँ ऐसा मन से संकल्प नहीं करता हूँ ।

दूसरों से त्रस हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् 'तुम त्रस जीवों को मारो' ऐसा मन से संकल्प नहीं करता हूँ ।

त्रस जीवों की हिंसा करते हुए किसी जीव की मन से अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् 'इसने यह कार्य अच्छा किया' ऐसा मन से संकल्प नहीं करता हूँ ।

इसी प्रकार वचन से मैं स्वयं त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता हूँ अर्थात् 'मैं त्रस जीवों को मारूँ' ऐसे वचन नहीं बोलता हूँ ।

वचन से दूसरों के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् 'तुम त्रस जीवों को मारो' ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करता हूँ ।

तथा त्रस जीवों को हिंसा करते हुए अन्य पुरुष की वचन से अनुमोदना नहीं करता हूँ अर्थात् 'तुमने बहुत अच्छा किया' ऐसा वचनों से उच्चारण नहीं करता हूँ ।

काय से त्रस जीवों की स्वयं हिंसा नहीं करता हूँ अर्थात् स्वयं आँख से संकेत करना मुी बाँधना आदि शारीरिक व्यापार नहीं करता हूँ ।

शरीर से दूसरे के द्वारा त्रस जीवों की हिंसा नहीं कराता हूँ अर्थात् शरीर के संकेत से दूसरे को प्रेरित नहीं करता हूँ ।

त्रस जीवों की हिंसा करते हुए किसी अन्य पुरुष को चुटकी बजाना आदि शरीर के अन्य किसी व्यापार से अनुमति नहीं देता हूँ ।

इन नौ कोटि से त्रस हिंसा का त्याग करना अहिंसाणुव्रत है (रत्नकरणड श्रावकाचार टीका ५३)

06/08/20, 1:32 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

06/08/20, 4:16 pm - Ashok Jain: सत्यव्रत की पांच भावनाएं

*क्रोधलोभ-भीरुत्व-हास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचि-भाषणं च पञ्च॥५॥*

[क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रतिख्यानानि-अनुवीचिभाषणं च पंच।]

सूत्रार्थ: (क्रोधलोभभीरुत्वहास्य प्रत्याख्यानानि) क्रोध, लोभ, भय, हास्य का त्याग (अनुवीचिभाषणं च) और अनुवीचि भाषण (पञ्च) ये पांच भावनाएं हैं।

कषाय निमित्तिक असत्य से बचने के लिए क्रोध, लोभ, भय, और हास्य का त्याग कहा गया है तथा अज्ञानमूलक असत्य से बचने के लिए अनुवीचि भाषण भावना कही है क्योंकि अज्ञान का नाश शास्त्रों से होता है और अनुवीचि भाषण का पालन भी शास्त्रज्ञान से होता है।

मैं अनृत (झूठ) को उत्पन्न करने वाले क्रोध, लोभ, भय, हास्य को छोड़ और विचार करके आगम के अनुकूल वचन बोलूं। इस प्रकार पुनः पुनः चिन्तन करने वाले व्रती के सत्यव्रत की शुद्धि होती है तथा व्रत स्थिर होते हैं। (श्लो ६/५५१)

06/08/20, 7:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *क्रोध* गुस्सा को कहते हैं।

*लोभ* लालच को कहते हैं।

*भीरुत्व* भीरुता या भय को कहते हैं।

*हास्य* हँसने के भाव को कहते हैं।

इन चारों का *प्रत्याख्यान* अर्थात् त्याग तथा *अनुवीचि भाषणं निरवद्यानुभाषण मित्यर्थः* अनुवीचि भाषण का अर्थ निर्दोष भाषण है । विचार कर दोषरहित कथन करना , कर्तव्य का अनुष्ठान करना , आगम के अनुकूल बात कहना आदि अनुवीचि भाषण है। ये पाँच सत्यव्रत की भावनायें हैं।

क्रोध , लोभ , भय और हास्य का त्याग - ये चार यहाँ निषेध रूप हैं तथा अनुवीचि भाषण विधिरूप है।

सच पूछा जाये तो असत्य चार ही कारणों से बोला जा सकता है - १) क्रोध के आवेश मे २) लोभ के वशीभूत होकर ३) हँसी दिल्लगी में और ४) किसी के भय से।

जिस जीव ने आगम के अनुकूल बोलने का व्रत लिया है वह कर्तव्य निष्ठ किसी भी परिस्थिति में झूठ नहीं बोल सकता । इसीलिए इन्हें *सत्यव्रत* की भावनाओं में गर्भित किया गया है।

07/08/20, 11:27 am - Ashok Jain: अचौर्याव्रत की पांच भावनाएं

*शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादा: पञ्च:॥६॥*

[शून्य-आगार-विमोचित-आवास-पर-उपरोध-अकरण-भैक्ष्य-शुद्धि-सधर्म-अविसंवादा: पञ्च।]

सूत्रार्थ: शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यसुद्धि और सधर्माविसंवाद ये अचौर्यव्रत की पांच भावनाएं हैं।

शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्मिविसंवाद ये पांच अचौर्यव्रत की पांच भावनाएं हैं। (रा वा)

शून्यागार वास: पर वस्तु आदि की कल्पना (भेद) होने के कारण, उसे बिना पूछे लेना- प्रयोग करना चोरी है, किन्तु गुफा- कोटर प्राकृतिक स्थान होने से, सभी के लिए प्रयोगवान होने से इनके सेवन से चोरी का दोष नहीं लगता; अतः शून्यागार वास अचौर्याव्रत की भावना है।

विमोचितावास: सार्वजनिक स्थान जहां यात्री आकर ठहरते हैं, किंतु वे यात्री उस स्थान के स्वामी नहीं होते, अतः ऐसी जगह को विमोचितावास कहते हैं।

परोपरोधाकरण: दूसरों को; अपने निश्चय किये गये स्थान में ठहरने से नहीं रोकना परोपरोधाकरण है।

भैक्ष्यशुद्धि: भिक्षा में ख्याति-पूजा- लाभ के कारण को स्वीकार कर नवधाभक्ति; दाता के सप्तगुण आदि की विधि का लोप नहीं करना भैक्ष्यशुद्धि है, यदि इनका लोप करते हैं तो जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का लोप करने से चोरी का दोष लगेगा।

सधर्माविसंवाद: तेरा-मेरा; परद्रव्य के सहयोग-स्वामित्व से ही होता है, अतः अनधिकार वृत्ति से पर द्रव्य में तेरा-मेरा की भावना करने से चोरी है, किंतु कर्त्तव्य बुद्धि से कहना दोष नहीं है, अतः अनधिकार वृत्ति को हटाने के लिए साधर्मियों में अविसंवाद भावना अचौर्यव्रत की भावना है।

(प्रज्ञा श्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से उद्धृत)

07/08/20, 2:53 pm - Ashok Jain: ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएं

*स्त्री-राग-कथाश्रवण-तन्मनो-हरांगनिरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कार-त्यागा: पञ्च॥७॥*

स्त्रीराग-कथाश्रवण तन्मनोहरांङ्ग-निरीक्षण पूर्वरतानुस्मरण वृष्येष्ट-रस स्वशरीर-संस्कार त्यागा: पञ्च॥

सूत्रार्थ: स्त्रियों की रागभरी कथा सुनने का त्याग, उनके (स्त्रियों के) मनोहर अंगों को देखने का त्याग, पूर्व में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग, कामोद्दीपक-उन्मादक गरिष्ठ भोजन का त्याग और अपने शरीर के संस्कार का त्याग करना, ये पांच ब्रह्मचर्य व्रत की भावनाएं हैं।

१) महिलावलोकन विरति: दुष्ट परिणामों से महिलाओं के अवलोकन का त्याग करना महिलालोकन विरति है।

२)पूर्वरतिस्मरणविरति: पूर्व में गृहस्थावस्था में जो भोगों का अनुभव किया है उसके स्मरण, चिन्तन का त्याग करना पूर्वरतिस्मरण है।

३) संसक्तवसति विरति: द्रव्य सहित वसतिका या सरागी वसतिका संसक्त वसति का त्याग संसक्तवसति विरति है।

४) विकथाविरति: दुष्टकथा (स्त्रीकथा आदि) का त्याग करना विकथाविरति है।

५) प्रणीतरसविरति: इष्ट आहार अथवा मद करने वाले आहार का त्याग करना प्रणीतरस विरति है। (मू आ ३४०).

चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए मैं स्त्रियों की राग वर्धनी विकथाओं को छोड़ दूं, न कहूं और न सुनूं, राग के उत्पादक स्त्रियों के मनोहारी अंगों को देखने का त्याग करूं, पूर्व में भोगे हुए भोगों को याद न करूं, कामवर्धक और बलवीर्यवर्धक

वृस्य और इष्ट रसों का संशयरहित होकर त्याग करूं, रति क्रिया में चित्तवृत्ति को बढ़ाने वाले शरीर के संस्कारों (अंजन, मंजन और मर्दन आदि) का त्याग कर दूं। (श्लो ६/५५२)

07/08/20, 8:51 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): स्त्रियों में अनुराग बढाने वाली कथाओं के श्रवण का त्याग *स्त्रीरागकथाश्रवण त्याग भावना* है।

स्त्रियों के मनोहर अंगों को देखने का त्याग *तन्मनोहरांगनिरीक्षण त्याग भावना* है।

पूर्वकाल में अनुरक्त भोगों के स्मरण अनुचिंतन का त्याग *पूर्वरतानुस्मरण त्याग भावना* है।

कामवर्धक गरिष्ठ रसों का त्याग *वृष्येष्टरससंस्कार त्याग भावना* है।

अपने शरीर के संस्कार का त्याग करना *स्वशरीर संस्कार त्याग भावना* है।

इन पाँच क्रियाओं को करने से मानसिक विकार उत्पन्न होता है तथा ब्रह्मचर्य व्रत का घात होता है।

इसके अलावा और भी बहुत सी क्रियाएँ हैं जिनसे ब्रह्मचर्य का घात होता है जैसे अश्लील चित्र देखना , टीःवीः , इंटरनेट आदि में अश्लील दृश्यों को देखना , अश्लील गाने सुनना , कामोत्तजक साहित्य पढना , संस्कृति के विरुद्ध वेशभूषा पहनना आदि। ब्रह्मचर्य व्रत के धारक स्त्री या पुरुष को व्रतों की रक्षा के लिए इन सभी का त्याग करना चाहिए।

08/08/20, 9:19 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): दशलक्षण धर्म की पूजा में उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म का वर्णन करते हुए महाकवि द्यानतराय जी लिखते हैं

शील-बाड़ि नौ राख,ब्रह्म-भाव अन्तर लखो।

करि दोनों अभिलाख,करहु सफल नर-भव सदा।।

शील की रक्षा के लिए नौ बाड़े लगाकर अपने मूल्यवान शील को सुरक्षित रखना चाहिए तथा अन्तर में ब्रह्म अर्थात् आत्म चिन्तन करना चाहिए।हमें शील के नौ बाड़ों तथा आत्मचिंतन दोनों की प्राप्ति का अभिलाषी अर्थात् इच्छुक बनकर अपने नर भव को अर्थात् मनुष्य जन्म को सफल करना चाहिए।

उत्तम ब्रह्मचर्य मन आनौ,माता बहिन सुता पहिचानौ।सहै बान वरषा बहु सूरे,टिकै न नैन-बान लखि कूरे।।

हे आत्मन् ! उत्तम ब्रह्मचर्य मन में धारण कर माता,बहन और सुता अर्थात् पुत्री की पहचान करो।यह जीव रणभूमि में शूरवीरों द्वारा की जाने वाली वर्षा को सहन कर लेता है,परन्तु स्त्रियों के कटीले क्रूर नेत्र रूपी बाणों को झेल नहीं पाता।

कूरे तिया के अशुचि तन में,काम-रोगी रति करैं।

बहु मृतक सड़हिं मसान माहीं,काक ज्यों चोंचें भरै।।

काम रोग से पीड़ित ऐसा व्यक्ति तिया अर्थात् स्त्री के अशुचि तन मे,अपवित्र शरीर में इस प्रकार रति अर्थात् प्रेम करता है जिस प्रकार श्मशान में मरे एवं सड़े हुए शरीर में कौआ अत्यन्त रुचि पूर्वक अपनी चोंच से मृत शरीर को खाता है।

संसार में विष बेल नारी,तजि गये जोगीश्वरा।

"द्यानत " धरम दशपैंड़ि चढिके,शिव-महल में पगधरा।।१०।।

संसार में स्त्री विष की बेल के समान है।इसीलिए सभी मुनिराजों ने स्त्री का त्याग किया।द्यानतराय जी कहते हैं कि इन दस धर्म रूपी सीढियों पर चढकर जीव मोक्ष रूपी महल में प्रवेश कर जाता है।

ॐ ह्रीं उत्तम ब्रह्मचर्य धर्मांगाय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

08/08/20, 9:20 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): शील की नौ बाड़

जिस प्रकार किसान खेत में फसल की सुरक्षा के लिए बाड़ लगाता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का पालक भी निम्नलिखित नौ बाड़ों द्वारा अपने शील की रक्षा करता है

गृहस्थ के ब्रह्मचर्य पालन की विधि-

१-अष्टमी,चतुर्दशी,अष्टाहानिका,चतुर्दशी आदि पर्वों के दिनों में पूर्णतया ब्रह्मचर्य पालन करना !

२) अपनी पत्नी या अपने पति के अलावा संसार की सभी स्त्रियों को माता,बहन या बेटी के रूप में देखना या संसार के सभी पुरुषों को पिता,भाई या पुत्र की दृष्टि से देखना।

द्यानतराय जी ने भी पूजा में लिखा है " माता ,बहिन,सुता पहचानौ " ।इसे स्वदार सन्तोष व्रत भी कहते हैं।

३-अन्य किसी भी विधवा,कुंवारी,अथवा बजारू स्त्री से रंच मात्र भी लगाव/संपर्क  नहीं होना!

४- उत्तेजक व अश्लील चल/अचल चित्रों,टी,वी,;सी,डी या  अन्य किसी माध्यम से अवलोकन नहीं करना !

५-अश्लील साहित्य के अवलोकन का त्याग करना चाहिए !

६-स्त्री/पुरषों में राग बढ़ाने वाली कथाओ,उपन्यासों,टी,वी,सीरियल/कार्यक्रमों को सुनने/पढने/देखने  का त्याग करना चाहिए!

७-स्त्री/पुरुषों के मनोहर अंगों को घूरकर देखने का त्याग करना चाहिए!

८-ब्रह्मचर्य धारण से पूर्वावस्था में भोगे पंचेन्द्रिय विषयों का स्मरण नहीं करना चाहिए!क्योकि वे अब हमारे लिए त्याज्य है !

९-ब्रह्मचर्य के लिए गरिष्ठ आहार का त्याग करना चाहिए !

08/08/20, 11:13 am - Ashok Jain: परिग्रह त्याग की भावनाएं

*मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च॥८॥*

[मनोज्ञ-अमोनज्ञ-इन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि-पञ्च।]

सूत्रार्थ: मनोज्ञ और अमनोज्ञ पांचों इंद्रियों के विषय में राग-द्वेष का त्याग करना परिग्रह व्रत की पांच भावनाएं हैं।

१)समस्त मनोहर पदार्थों का त्याग।

२) अमनोहर विषयों के प्रति उदासीनता।

३) शब्द आदि इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति।

४) राग रूप संकल्प से मुक्ति और

५) द्वेष भावों से लिप्त प्राणियों के प्रति भी समभाव। (व चा ३१/८०)

इन्द्रिय के वशीभूत सचित्त, अचित्त पदार्थों में आसक्ति का त्याग, ये परिग्रह त्याग व्रत की भावनाएं हैं।(म पु २०/१६५)

इष्ट और अनिष्ट इन सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों में पांचवें आकिञ्चन व्रत की शुद्धि के लिए राग-द्वेष छोड़ रहा हूं तथा अनिन्द्रिय (मन) के पोषक मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष छोड़ रहा हूं। इस प्रकार एकाग्र होकर विचार करने से आकिंचन्य व्रत दृढ़ हो जाता है। (श्लो ६/५५३)

08/08/20, 12:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जो चित्त के अनुरंजक हैं उन्हें *मनोज्ञ* कहते हैं।

जो चित्त के अनुरंजक नहीं हैं उन्हें *अमनोज्ञ* कहते हैं।

अपरिग्रह व्रत की रक्षा के लिए हमें आठ स्पर्श , पाँच रस , दो गन्ध , पाँच वर्ण , सात स्वर तथा पाँच इन्द्रियों के इष्ट विषयों में *राग* तथा अनिष्ट विषयों में *द्वेष* नहीं करना चाहिए।

परिग्रह नाम मूर्च्छा का है। मूर्च्छा किसी न किसी वस्तु आदि के निमित्त से उत्पन्न होती है। यदि वस्तु इन्द्रियों के अनुकूल या मनोज्ञ है तो राग की वृद्धि होती है। यदि वही वस्तु इन्द्रियों के अनुकूल नहीं है या अमनोज्ञ है तो द्वेष की वृद्धि होती है।अतः पाँचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष के त्याग करने को ही अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनायें कहा गया है।

अपरिग्रह व्रत की पाँच भावनाओं के चिन्तन करने से परिग्रह त्याग व्रत में स्थिरता आती है तथा परिग्रह से आसक्ति छूट जाती है।

09/08/20, 10:55 am - Ashok Jain: हिंसादि पापों से विरक्ति की भावना

*हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्य-दर्शनम्॥९॥* [हिंसादिषु-इह-अमुत्र-अपाय-अवद्य-दर्शनम्]

सूत्रार्थ: (ह़िसादिषु) हिंसादि पापों में (इहामुत्र) इस लोक में और परलोक में (अपायावद्य) अनर्थ और निन्दा (दर्शनम्) देखना चाहिए।

हिंसा से विरक्ति :

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, पाप का समुद्र है तथा हिंसा ही घोर नरक और महाअंधकार है तथा दौर्भाग्यादिक हैं वे समस्त एक मात्र हिंसा से उत्पन्न हुए जानें। जो हिंसक पुरुष हैं उनके निस्पृहता, महत्ता, आशारहितता, दुष्कर तप करना, कायक्लेश और दान करना आदि समस्त धर्मकार्य व्यर्थ हैं अर्थात् निष्फल हैं। (ज्ञा ८/१९,५८,२०) ऐसा विचार कर हिंसा से विरत होना चाहिए।

असत्य से विरक्ति:

एक बार बोला हुआ असत्य अनेक बार बोले गये सत्य भाषणों का संहार करता है। असत्यवादी स्वयं डरता है तथा शंका से युक्त रहता है कि मेरा असत्य भाषण प्रकट होगा तो मेरा नाश होगा। असतयभाषी के अविश्वास आदि दोष परलोक में भी प्राप्त होते हैं, परजन्म में प्रयत्न से इनका त्याग करने पर भी इन दोषों का उसके ऊपर आरोप आता है। (भ आ ८४१/४५) ऐसा विचार कर असत्य बोलने का त्याग करना चाहिए।

चोरी से विरक्ति:

इस संसार में दूसरे का धन ग्रहण करने से अनेक प्रकार के दुःख सहने पड़ते हैं, धर्म का विध्वंस हो जाता है, यह पाप रूप वन को सींचने के लिए मेघ के समान है, दुःख और संतापों का घर है, नरक रूपी घर का कुमार्ग है, धर्मरूपी वृक्ष को जलाने के लिए अग्नि है इसलिए हे भव्य! परधनहरण करने का तू त्याग कर।(प्रश्नो श्रा १४/३६)

अब्रह्म से विरक्ति: व्यभिचारी के चित्त, मद से भ्रमता रहता है। मोह से अभिभूत होने के कारण वह कार्य और अकार्य के विवेक से रहित कुछ भी उचित आचरण नहीं करता है। परस्त्री की आसक्ति से लिङ्ग छेद, वध, बन्धन, सर्वस्वहरण आदि इस लोक के दुःख एवं परलोक में अशुभगति होती है। कुशील कार्य; लोक निन्द्य भी है, अतः अब्रह्म का त्याग करना श्रेयस्कर है।

परिग्रह पाप से विरक्ति: परिग्रह को चाहने वाले,चोर, राजा, याचकों के द्वारा सताये जाते हैं। उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण और नाश होने वाले अनेक दोष हैं। लोभातिरेक के कारण, कार्य और अकार्य का विवेक नहीं रहता है। परलोक में अशुभगति को प्राप्त करता है। इस लोक में यह है, ऐसा कहकर उसका तिरस्कार भी होता है, अतः (अनावश्यक) परिग्रह का त्याग करना श्रेयस्कर है। (मुनिश्री अमित सागर जी महाराज)

09/08/20, 12:20 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): स्वर्ग और मोक्ष की प्रायोजिक क्रियाओं का विनाश करने की प्रवृत्ति को *अपाय* कहते हैं।

निन्दनीय या अयोग्य को *अवद्य* कहते हैं।

पाँच व्रतों की दृढता के लिए हमें यह विचार करना चाहिए कि हिंसा आदि पाँच पापों में प्रवृत्त होने से इस लोक और परलोक में सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का नाश होता है तथा निन्दा को देखना पड़ता है।

जो जीव हिंसक प्रवृत्ति का होता है वह सदा व्याकुल रहता है , बैर बाँधे रहता है, इस लोक में वध , बन्ध और क्लेश आदि को प्राप्त होता है तथा परलोक में निंद्य अशुभगति को प्राप्त होता है।

असत्यभाषण में लीन व्यक्ति विश्वास योग्य ही नहीं होता।जिह्वाछेद आदि दुःखों को प्राप्त होता है।जिनसे असत्य बोलकर बैर बा्धा है उन जीवों से परलोक में घोर विपत्तियों को और अशुभगति को प्राप्त होता है तथा सदा निंदा का पात्र बनता है।

दूसरों के धन का हरण करने वाला तिरस्कार का पात्र होता है तथा इस लोक में ताड़ना -मारना , बाँधना , हाथ -पैर-नाक-कान भेदना आदि दुःखों को और परलोक में अशुभगति को प्राप्त होता है।

जो अब्रह्मचारी है उसका चित्त सदा मद से भ्रमित रहता है। जिस प्रकार जंगल का हाथी हथिनी से जुदा कर दिया जाता है और विवश होकर उसे वध , बन्धन , संक्लेश आदि दुःखों को भोगना पड़ता है , ठीक यही दुःख अब्रह्मचारी को उठाने पड़ते हैं ।वह लोकनिंद्य होकर परलोक में नरक आदि अशुभ गतियों में चिरकाल भ्रमण करता है।

परिग्रह पाप युक्त व्यक्ति परिग्रह के उपार्जन , रक्षण और क्षय के द्वारा होने वाले बहुत से दोषों को प्राप्त करता है ।जिस तरह ईंधन से अग्नि और तेज होती है उसी तरह उसकी तृष्णा कभी तृप्त नहीं होती। लोभ के कारण वह कार्य अकार्य को नहीं समझता है। सभी पापों का बाप परिग्रह है।परिग्रह धारी कभी सम्मान नहीं पाता।परिग्रह का त्याग कर चार दान में लगाने वाला ही लोक में सम्मान पाता है।

09/08/20, 1:24 pm - +91 72043 31947 left

09/08/20, 4:45 pm - Ashok Jain: पापों से विरक्ति की भावना

*दुःखमेव वा॥१०॥*

सूत्रार्थ: ये हिंसादि पांचों पाप दुःख रुप ही है।

🔸 हिंसादिक कार्य करने वालों को सुखी देखकर कई लोग अच्छे मार्ग से भटक जाते हैं, अतः उन लोगों को विशेष रूप से जोर देकर आचार्य देव ने कहा है कि हिंसादिक दुःख ही हैं, कारण कि हिंसादिक करने वाले रौद्र परीणामी होते हैं, अतः उनके हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी, रौद्रध्यान का सुख लोगों को दिखने में आता है, किंतु ये हिंसादिक असातावेदनीय कर्म के कारण हैं एवं असातावेदनीय कर्म दुख का कारण है अतः हिंसादिक दुःख ही हैं, इस प्रकार अपनी और दूसरों की साक्षी पूर्वक भावना करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के हिंसादिक कार्यों से हमने स्वयं कितना कष्ट उठाया और दूसरा भी कितना कष्ट भोगता है?

ऐसी भावना करने से हिंसादिक पापों से विरक्ति होती है।

(मुनिश्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

09/08/20, 9:06 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): हिंसादि पाँच पापों के विषय में हमें सदा यह चिन्तन करते रहना चाहिए कि ये पाँचों पाप दुःखरूप हैं , दुःख स्वरूप हैं। इन पापों में प्रवृत्त होकर सुख की कल्पना भी निराधार है।

हिंसा , झूठ , चोरी , परिग्रह आदि में आनन्द मनाने वाले को रौद्रध्यान होता है। रौद्रध्यान नरकायु बन्ध का कारण होने से पाप दुःखरूप ही हैं ।

विषयों के सेवन से जो सुख मिलता है वह सुख नहीं सुखाभास है।दाद के खुजलाने के समान वेदना का प्रतिकार मात्र है।जैसे शरीर में दाद - खाज आदि होने पर नखों से खुजलाने पर रक्त निकल आता है फिर भी उसका रोगी खुजलाने में ही साता मानकर बार बार खुजलाता है और उस दुःख को सुख मानता है , वैसे ही मैथुन आदि का सेवन करने वाला मोह के वशीभूत होकर असुख को ही सुख मानता है।

कहा भी है - *सुख वह है जिसके होने पर दुःख न हो , अन्य सब सुखाभास है।*

10/08/20, 11:31 am - Ashok Jain: व्रतधारी सम्यग्दृष्टि की भावनाएं

*मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि च सत्व-गुणाधिक-क्लिश्य मानाविनयेषु॥११॥*

सूत्रार्थ: (मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च) मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ भाव (सत्त्वगुणाधिक-क्लिश्यमानाऽविनयेषु) क्रमशः सत्त्व [प्राणि], गुणाधिक, क्लिश्यमान और अविनयी जीवों में करना चाहिए।

प्राणीमात्र में मैत्रीभाव, गुणीजनों में प्रमोदभाव, दुखीजनों में करुणा भाव और अविनयी जनों में माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

मैत्री भावना: अनन्त काल से मेरा आत्मा घटीयंत्र (घड़ी) के समान इस चतुर्गतिमय संसार में भ्रमण कर रहा है। इस संसार में सम्पूर्ण प्राणियों ने मुझ पर अनेक बार महान् उपकार किए हैं, ऐसा मन में जो विचार करना है (अतः उसमें मित्रता होना) वह मैत्री भावना है। (भ आ वि १६९१)

मैं सब जीवों के प्रति क्षमा भाव रखता हूं, सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों से प्रीति है। किसी के साथ बैर भाव नहीं है, इत्यादि प्रकार से जीवों के प्रति मैत्री भावना भानी चाहिए। (रा वा ८)

प्रमोद भाव: जो पुरुष तप, शास्त्राभ्यास और यम-नियम आदि में उद्यतचित्त वाले हैं, जिनके ज्ञान ही नेत्र है, इन्द्रिय, मन और कषायों को जीतने वाले हैं तथा स्व-तत्त्वाभ्यास करने में चतुर हैं, जगत को चमत्कृत करने वाले चारित्र से जिनका आत्मा अधिष्ठित है, ऐसे पुरुषों के गुणों में प्रमोद (हर्ष का होना प्रमोद भावना है।

(ज्ञा २७/११-१२)

सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और स्म्यक्चारित्र आदि गुणाधिक के प्रति वन्दना, स्तुति, वैयावृत्य आदि करके प्रमोद भावना करनी चाहिए।(रा वा ८).

करुणा भावना: शारीरिक, आगन्तुक मानसिक और स्वाभाविक ऐसी असह्य दुःखराशि प्राणियों को सता रही है, यह देखकर 'अहह! इन दीन प्राणियों ने मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और अशुभोपयोग से जो कर्म उत्पन्न किया था, वह कर्म उदय में आकर इन जीवों को दुःख दे रहा है। ये कर्मवश होकर दुःख भोग रहे हैं। उनके दुःख से दुखित होना करुणा है। (भ आ वि १६९१)

शारीरिक और मानसिक दुःख से दुःखी प्राणियों के प्रति अनुग्रहात्मक परिणाम करता है और करुणा का भाव या कर्म करुणा कहलाता है। (रा वा ३)

माध्यस्थ भाव: ग्रहण, धारण, विज्ञान, और ऊहापोह से रहित महामोहाभिभूत विपरीत दृष्टि और विरुद्ध वृत्ति के प्राणियों के माध्यस्थ भावना रखनी चाहिए। (रा वा ८)

(इस प्रकार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य भावना भानेवाले के अहिंसादि व्रत परिपूर्ण हो जाते हैं। क्योंकि) प्राणियों में, गुणाधिकों में क्लिश्यमानादि जीवों में मैत्री आदि भावनाएं विशुद्धि का अंग है, अर्थात् इन भावनाओं को भाने से विशुद्धि की वृद्धि होती है। (श्लो ६/५५९)

10/08/20, 8:40 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बहुत सुन्दर 🙏🙏🙏🙏👏👏👏👏

10/08/20, 8:40 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य देव ने ११ वें सूत्र में निरन्तर चिन्तन करने योग्य भावनाओं को भाने का उपदेश दिया है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी *सर्वार्थसिद्धि* में इस सूत्र की टीका करते हुए कहते हैं

*परेषां दुःखानुपत्त्यभिलाषौ मैत्री* दूसरों को दुःख न हो , ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है।

*वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमनान्तरर्भक्तिरागः प्रमोदः* मुख की प्रसन्नता आदि द्वारा भीतर भक्ति और अनुराग का व्यक्त होना प्रमोद है।

*दीनानुगग्रहभावः कारुण्यम्* दीनों पर दया भाव रखना कारुण्य है।

*रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थम्* रागद्वेष पूर्वक पक्षपात नहीं करना माध्यस्थ भावना है।

बुरे कर्मों के फल से जो नाना योनियों में जन्मते और मरते हैं वे *सत्त्व* हैं जो जीव का पर्यायवाची शब्द है।

जो सम्यग्ज्ञान आदि गुणों में बढे चढे हैं वे *गुणाधिक* कहलाते हैं।

असातावेदनीय के उदय से जो दुःखी हैं वे *क्लिश्यमान* कहलाते हैं।

जिनमें जीवादि पदार्थों को सुनने और ग्रहण करने के गुण नहीं हैं वे *अविनेय* कहलाते हैं।

इन सत्त्व आदिक में क्रम से मैत्री आदि की भावना करनी चाहिए ।जो सभी जीवों में मैत्री , गुणाधिकों में प्रमोद , क्लिश्यमान में कारुण्य और अविनेयों में माध्यस्थ भाव की भावना करता है उसके अहिंसा आदि व्रत पूर्णता को प्राप्त करते हैं।

10/08/20, 11:50 pm - +91 96780 98847 left

11/08/20, 11:28 am - Ashok Jain: संसार और शरीर के स्वभाव का विचार

*जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम्॥१२॥*

सूत्रार्थ: (संवेगवैराग्यर्थम्) संवेग और वैराग्य के लिए (जगत्काय स्वभावौ वा) जगत और काय के स्वभाव का विचार करना चाहिए।

वैराग्य: संसार, देह, और भोगों में जो विरक्त भाव हैं वह वैराग्य है।(वृ द्र सं ३५)

संवेग: इस संसार में जीव चारों गतियों में अनेक प्रकार के दु:खों का भोग-भोग कर परिभ्रमण कर रहा है। यह सब भोग संपदा विद्युत और मेघ के समान क्षणभंगुर है, इस प्रकार जगत के स्वभाव का विचार करना चाहिए।

शरीर का विचार: शरीर अनित्य है, दुःख का हेतु है, निस्सार है और अशुचि है, आदि भावना शरीर का विचार है।(रा वा ४)

जगत और काय के स्वभाव के चिंतन से लाभ: जगत और काय के स्वरूप का बार-बार चिंतन करने तथा विषयों में अनासक्त रहने से वैराग्य में स्थिरता आती है (म पु २१/९९)

11/08/20, 6:59 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

11/08/20, 7:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गमन करे या जिसमें भ्रमण करे उसे *जगत्* कहते हैं जिसका दूसरा नाम संसार है।जो विशेष नामकर्म के उदय से प्राप्त होकर शीर्यंते अर्थात् गलते हैं वे शरीर हैं जिसे *काय* कहते हैं।

संसारभीरुता और धर्मानुराग को *संवेग* कहते हैं।शरीर और पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्ति को *वैराग्य* कहते हैं।

व्रती जीवों को संवेग और वैराग्य की प्राप्ति के लिए सदा यह चिन्तन करना चाहिए कि यह जगत् अनादि है , अनिधन है । इस संसार में अनन्तकाल तक जीव मिथ्यात्व के वशीभूत होकर नाना योनियों में जन्म -मरण के दुःखों को भोगते हुए भ्रमण करता है।यह जीवन जल के बुदबुदे के समान है और भोग सम्पदायें बिजली और इन्द्रधनुष के समान चंचल हैं ।संसार में कोई रक्षा करने वाला नहीं है। जीव अकेला जन्मता है , अकेला मरता है , अकेला ही अपने सुख दुःख को भोगता है ।

*पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम् पुनरपि जननी जठरे शयनम्*

*इह संसारे खलु दुस्तारे , त्राता नहि भव कारागारे।*

शरीर की अपवित्रता और अनित्यता के बारे में हमें निरन्तर इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए

*देह अपावन अथिर घिनावन , यामें सार न कोई।*

*सागर के जल सों शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई ।।*

*सातुकुधातु भरी मलमूरत, चर्म लपेटी सोहै।*

*अन्तर देखत या सम जग में , अवर अपावन कोहै।।*

*नव मल द्वार स्त्रवै निशिवासर, नाम लिए घिन आवै।*

*व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहाँ ,कौन सुधी सुख पावै।।*

*पोषित तो दुख दोष करै अति , शोषत सुख उपजावै।*

*दुर्जन देह स्वभाव बराबर ,मूरख प्रीति बढावै।।*वैःभाः।।*

इस प्रकार संसार और शरीर के स्वभाव का बार बार चिन्तन करने से संसार के दुःखों से भय और राग द्वेष का अभाव होकर वैराग्य में दृढता आती है।

11/08/20, 7:05 pm - Ashok Jain: 🙏👏👏👏

12/08/20, 11:14 am - Ashok Jain: हिंसा पाप का लक्षण

*प्रमत्त-योगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा॥१३॥*

सूत्रार्थ: (प्रमत्तयोगात्) प्रमाद के योग से (प्राणव्यपरोपणं) प्राणों का वियोग करना हिंसा है।

प्रमत्त: स्पर्शन आदि इन्द्रियों के वशीभूत होकर अपने करने योग्य कार्य को भी भूल जाना प्रमाद है।

चार विकथा आदि पन्द्रह प्रमादों से जो परिणत होता है वह प्रमत्त है।(रा वा)

कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। (सर्वा सि ६८७)

प्राण व्यपरोपण: व्यपरोपण का अर्थ वियोग है। दस प्राणों का वियोग कर देना प्राणव्यपरोपण है। (श्लो ६/५६५)

हिंसा: हिंसा एक सौ आठ प्रकार की होती है- समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ ये तीन, काय, वचन और मन ये तीनों योग, कृत-कारित-अनुमोदना ये तीन और क्रोधादि चार कषायें इनसे हिंसा होती है। इनका परस्पर गुणा करने पर एक सौ आठ प्रकार की हिंसा होती है। (आ सा ५/१०-११).

विशेष: अप्रमत्त (प्रमाद रहित) अवस्था में प्राणों का वियोग करता हुआ भी वध के पाप में लिप्त नहीं होता। ईर्या- समिति पूर्वक गमन करने वाले साधु के पैर के नीचे यदि कोई जीव आकर मर जाये तो भी उस साधु को तन्निमित्तिक सूक्ष्म भी बन्ध नहीं होता। क्योंकि अध्यात्म प्रमाण से तो मूर्छा-ममत्व परिणामों को ही परिग्रह कहा गया है और कषाय भाव को हिंसा कहा है।(रा वा १२)

प्रमादी आत्मा स्वकीय प्रमत्त रूप भावों से प्रथम स्वयं अपनी हिंसा करता है पश्चात् दूसरे प्राणियों की हिंसा हो या न भी हो। अतः भाव प्राणों के वियोग की अपेक्षा दोनों विशेषण सार्थक है। (रा वा १२).

अर्थात् केवल भाव-मात्र के कारण उसे हिंसा का दोष  लगता ही है, चाहे उसने वध किया हो या नहीं किया हो।

12/08/20, 8:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): प्रमादयोग को हिंसा का मूल कहा है । यत्नपूर्वक उठना , यत्नपूर्वक बैठना , खाना , पीना , चलना , फिरना आदि सब क्रियाओं में यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करने से हिंसा पाप का बन्ध होता है।हमें विवेक पूर्वक क्रिया करनी चाहिए। मछुआरा जीवों को नहीं भी मारकर पाप का भागी होता है और परिणाम विशेष से जीवों का घात होने पर भी किसान पाप का भागी नहीं होता है।जाल में मछली नहीं आने पर द्रव्य हिंसा नहीं होने पर भी मछुआरे के भाव हिंसा हो ही रही है।अतः वह हिंसक है।इसके विपरीत एक महिला बहुत यत्न पूर्वक झाड़ू दे रही है , अन्य गृहकार्य कर रही है । उसके द्वारा जीवों का घात होने पर भी उसे पाप का बन्ध नहीं होता। इसलिए हमें अपने प्रत्येक कार्य को जीवरक्षा की भावना से यत्नपूर्वक करते रहना चाहिए।

12/08/20, 8:15 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): एकदिन गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा - " भगवन् ! हम कैसे चलें, कैसी चेष्टा करें, कैसे बोलें, कैसे खायें जिससे पाप से बच जायें।

*कधं चरें कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भासेज्ज भुंजेज्ज एवं पावं ण वज्झई।।*

गौतम स्वामी ने जीवन से जुड़ा बहुत बड़ा प्रश्न पूछा था जिसका बहुत ही सरल और सीधा उत्तर भगवान महावीर ने दिया

*जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भासेज्ज भुंजेज्ज एवं पावं ण वज्झई।।*

तुम अपने आप को पाप से बचाना चाहते हो तो यत्नपूर्वक चलो, यत्नपूर्वक चेष्टा करो, यत्नपूर्वक बैठो, यत्नपूर्वक सोओ, यत्नपूर्वक बोलो, यत्नपूर्वक खाओ।तुम्हारी हर क्रिया में यदि यत्न हो तो पाप से बच सकते हो।

भगवान ने पाप से बचने के लिए मन्दिर में जाकर पूजा पाठ करने का उपदेश नहीं दिया।सिर्फ़ एक शब्द" *यत्नपूर्वक*" में पूरे जैन दर्शन का चिन्तन उजागर कर दिया।

13/08/20, 11:04 am - Ashok Jain: असत्य पाप का लक्षण

*असदभिधानमनृतम॥१४॥*

सूत्रार्थ: (असदभिधानं) अप्रशस्त भाषण (अनृतं) झूठ है।

प्रमाद के योग से जीवों को दुखदायक वा मिथ्यारूप वचन बोलने को असत्य कहते हैं।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद से उत्पन्न वचनसमूह को असत् वचन कहते हैं। (ध १२/२७९)

पुरुष वचन, कटु वचन, वैरोत्पादक, कलहकारी, भयोत्पादक, अतित्रास देने वाले वचन, तिरस्कार सूचक वचन ये संक्षेप से अप्रिय वचन हैं तथा हास्य, भीति, लोभ, क्रोध, द्वेष इत्यादि कारणों से बोले जाने वाले वचन, सब असत्य भाषण हैं। (भ आ ८२६-२७)

असत्य वचन से यश उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे दावानल से वन भस्म हो जाता है, जैसे-वृक्षों के लिए पानी (अधिक मात्रा में दिया गया) दुखों का कारण, जैसे-धूप में छाया का सुख नहीं होता उसी प्रकार असत्यवादी के तप और संयम की कथा नहीं होती। झूठ अविश्वास का मूल कारण है, खोटी वासनाओं का घर है, उन्नति को रोकने वाला है, विपत्ति का कारण है, दूसरे को ठगने में लगा रहता है, असत्यवादी अनेक अपराध करता है, सज्जनों के द्वारा त्याज्य होता है। (सू मु ३०-३१).

13/08/20, 8:00 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है।

*असत् - अभिधानम् - , मनृतम्।।१४।।*

असत् बोलना अनृत है अर्थात् झूठ है।

सत् शब्द प्रशंसावाची है । जो सत् नहीं है वह असत् है ।असत् का अर्थ अप्रशस्त है ।

जिन वचनों से प्राणियों को पीड़ा होती है वह अप्रशस्त है ।भले ही वह विद्यमान पदार्थ को विषय करता हो या अविद्यमान पदार्थ को विषय करता हो।

जिन वचनों से प्राणी को पीड़ा होती हो , वे सभी वचन प्रमत्तयोग सहित होने पर असत्य होते हैं।गुरु यदि शिष्य के उपकार की भावना से उसे दण्ड देते हैं तो वह असत्य नहीं है। इसी प्रकार माता पिता का सन्तान के लिए कहा गया कटु वचन भी सत्य है क्योंकि प्रमत्त योग का उन वचनों में अभाव है ।

जो वचन कर्णशूल , हृदयविदारक हैं , मानसिक पीड़ा कारक हैं , वयर्थ बकवाद रूप हैं , आगम विरुद्ध हैं , बैर कराने वाले हैं , गुरुजनों के अवज्ञा कारक हैं , वे सभी असत्य वचन हैं , इनमें प्रमत्त योग है। उदाहरण के लिए कम बुद्धि वाले को मूर्ख कहना , गरीब को खोटे वचनों से अपमानित करना , सूरदास को अन्धा कहना आदि पीड़ादायक शब्द हैं । हमें ऐसी शब्दावली का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए।

सद्गृहिणी जीवन की मर्यादा बनाये रखने के लिए जरूरी सामान को भंडार में रखती है ताकि जरूरत के समय काम आये। अब यदि वह सामान होते हुए भी नहीं कहती है तो उसका यह वचन सत्य ही है क्योंकि यहाँ प्रमाद नहीं है और उसमें घर के सदस्यों की भलाई की भावना अन्तर्निहित है।

14/08/20, 10:23 am - Ashok Jain: चोरी पाप का लक्षण

*अदत्ता-दानं स्तेयम्॥*

सूत्रार्थ: (अदत्ता-दानम्) प्रमाद के योग से बिना दी हुई किसी वस्तु के ग्रहण करने को (स्तेयम्) चोरी कहते हैं।

चोरी: आदान का ग्रहण करना है और अदत्त वस्तु का आदान अदत्तादान है, उसे चोरी कहते हैं। (रा वा)

प्रमाद के योग से दूसरे के बिना दिये गये धन-धान्यादि परिग्रह का ग्रहण करना चोरी है और वही वध के हेतु होने से हिंसा है। (पु सि उ १०२)

पराये द्रव्य को हरने वाला इस लोक और परलोक में असाता-बहुल दुखों से भरी हुई है अनेक यातनाओं को पाता है और कभी सुख को नहीं देखता है। (वसु श्रा १०१)

14/08/20, 7:32 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*अदत्त - आदानं स्तेयं।।१५।।*

*दत्त* अथात् दिया गया।

*न दत्त इति अदत्त* जो नहीं दिया गया , वह अदत्त है।

*आदान* अर्थात् ग्रहण करना।

जो *अदत्त* है अर्थात् नहीं दिया गया है उसे ग्रहण करना *अदत्तादान* है।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि  बिना दी हुई वस्तु को लेना चोरी अर्थात् अदत्तादान है तो कर्म , नोकर्म को ग्रहण करना भी चोरी हो जायेगा क्योंकि ये किसी के द्वारा नहीं दिये जाते । ऐसी शंका उचित नहीं है क्योंकि जहाँ लेन देन संभव होता है वहीं चोरी का व्यवहार होता है । कर्मवर्गणाओं में यह व्यवहार नहीं होता।जैसे वस्त्र -पात्र आदि हाथ से लिए जाते हैं और हाथ से ही दिये जाते हैं , उस प्रकार कर्म न हाथ से लिए जाते हैं न दूसरों को दिये जाते हैं। कर्म वर्गणायें सूक्ष्म हैं जो हस्त आदि से देने और लेने योग्य नहीं होतीं।इसी तरह धार्मिक स्थल पर वन्दना आदि में प्रमत्तपना नहीं होता , अतः धर्म का आदान होने पर भी वह चोरी नहीं है।

इस सूत्र मे़ १३ वें सूत्र में वर्णित *प्रमत्तयोगात्* पद की अनुवृत्ति होती है अर्थात् प्रमाद के योग से बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने को चोरी कहते हैं जैसा कि अशोक जी ने उपरोक्त विश्लेषण में लिखा है।प्रमाद का विशेष महत्व है। साधुजन ग्राम , नगर आदि में भ्रमण करते समय गली , कूचा या द्वार से प्रवेश करते हैं जो सबके लिए खुले हैं । बन्द या व्यक्तिगत द्वार से वे प्रवेश नहीं करते। साथ ही उनमें प्रमत्तयोग का अभाव है , इसलिए उन्हें कोई दोष नहीं लगता।अतः कहने का अभिप्राय यह है कि बाह्य वस्तु चाहे ली जाय या न ली जाय , जहाँ संक्लेश रूप परिणाम के साथ प्रवृत्ति होती है वहाँ स्तेय है या चोरी है।

रास्ते पर यदि किसी की सोने चाँदी आदि की कीमती वस्तुएं पड़ी दिख जायें तो उन्हें किसी अच्छे काम में लगाने की भावना से भी नहीं उठाना चाहिए।इसका कारण यह है कि जिसकी वस्तु है वह यदि खोजने आयेगा तो वस्तु के वहाँ नहीं मिलने पर उसे बहुत संक्लेश होगा ।  इसलिए हमारे लिए उचित यही है कि परद्रव्य की ओर दृष्टिपात ही नहीं करें।

14/08/20, 9:19 pm - +91 94247 43642 left

15/08/20, 3:01 pm - +91 96907 43000 left

16/08/20, 10:11 am - Ashok Jain: कुशील पाप का लक्षण

*मैथुन-मब्रह्म॥१६॥*

सूत्रार्थ: (मैथुनं) मैथुन का कर्म या भाव (अब्रह्म) कहलाता है।

प्रमाद के योग से मैथुन का कर्म या भाव अब्रह्म कहलाता है।

चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर स्त्री और पुरुष के शरीर का सम्मिलन होने से सुख की प्राप्ति की इच्छा से होने वाला जो राग परिणाम है वह मैथुन कहलाता है। (रा वा ४)

मैथुन के दश दोष: १) शरीर का श्रृंगार करना, २) पुष्ट रस का सेवन करना, ३) गीत, नृत्य वादित्र आदि सुनना, ४) स्त्री का संसर्ग करना, ५) स्त्री में किसी प्रकार के संकल्प का विचार करना, ६) स्त्री के अंग देखना, ७) स्त्री को देखने का संस्कार (स्मृतियां) रखना, ८) पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण करना, ९) आगामी भोगों को भोगने की चिंता करना और १०) शुक्र का क्षरण। (ज्ञा ११/७-९).

मैथुन सेवन से हानि: अब्रह्मचारी के हिंसादि दोष पुष्ट होते हैं। क्योंकि मैथुन सेवनाभिलाषी व्यक्ति त्रस-स्थावर जीवों का घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, और सचेतन एवं अचेतन परिग्रह का संग्रह भी करता है।(रा वा १०)

जिस पुरुष ने तीन लोक के चिन्तामणी रत्न के समान अपने सम्पूर्ण शील को नष्ट कर दिया है, उसने जगत् में अकीर्ति का बाजा बजाया है, अपने वंश में काली स्याह लगा दी है, चारित्र को जलांजलि दे दी है, गुणों के समूह रुप बगीचे में दावानल लगा दिया है। कुशील सम्पूर्ण आपत्तियों का संकेत है। मोक्षमहल के द्वार में मजबूत किवाड़ है। (सू मु ३७)

16/08/20, 10:58 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सोलहवें सूत्र का सन्धि विग्रह - *मैथुनम् - अब्रह्म।।१६।।*

चारित्र मोहनीय का उदय होने पर राग परिणाम से युक्त स्त्री और पुरुष के एक -दूसरे के स्पर्श की इच्छा को *मिथुन* कहते हैं और

*मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युचते* अर्थात्

मिथुन के कार्य को *मैथुन* कहा जाता है।

इस सूत्र में भी *प्रमत्तयोगात्* पद की अनुवृत्ति हुई है ।इसलिए रतिजन्य सुख के लिए स्त्री पुरुष की मिथुन विषयक चेष्टायें ही *अब्रह्म* हैं।अहिंसा आदि गुण जिस ब्रह्मचर्य का पालन करने से बढते हैं उसे *ब्रह्म* कहते हैं।

कुछ लोग स्पर्श मात्र को अब्रह्म मानते हैं , किन्तु ऐसा नहीं है। ऐसा मानने पर माता -पुत्र , पिता -पुत्री , भाई -बहन , ससुर -बहू , सास - जँवाई आदि के लोक प्रचलित प्रेम व पूज्यता में चरण स्पर्श और आशीर्वाद आदि का व्यवहार दूषित हो जायेगा।

एक बार भोग करने से 9 लाख त्रस जीवों का घात होता है । इसलिए अब्रह्म को पाप कहा गया है।अब्रह्म हिंसादि सभी पापों को पुष्ट करता है।मैथुन सेवन में दक्ष जीव त्रस - स्थावर सभी जीवों की हिंसा करता है , झूठ बोलता है , चोरी करता है और चेतन - अचेतन सभी प्रकार के परिग्रहों का संचय करता है।

16/08/20, 12:24 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ब्रह्मचर्याणुव्रत के सन्दर्भ में

विवेक की बाड़,मर्यादा का रक्षण

सीता के प्रति रावण भी आकृष्ट हुआ और सीता के प्रति लक्ष्मण के मन में भी आकर्षण था।रावण ने सदा सीता को भोग की दृष्टि से देखा और लक्ष्मण ने अपनी पूज्या माँ की दृष्टि से देखा।कहते हैं जब रावण सीता का हरण करके जा रहा था तो सीता ने अपने आभूषणों को इस भाव से उतार कर फेंका कि इधर से रामचंद्र जी गुजरेंगे तो शायद मेरे गुजरने की पहचान हो जाये।सीता हरण हो जाने के बाद जब रामचंद्र जी वहाँ से गुजरे तो अचानक रामचन्द्र जी की दृष्टि उन आभूषणों पर पड़ी।उन्होंने लक्ष्मण से कहा - लक्ष्मण ! देखो,यह मुकुट सीता का प्रतीत होता है,लक्ष्मण मौन,ये कुण्डल सीता के प्रतीत होते हैं,लक्ष्मण मौन,ये बाजूबन्द सीता के प्रतीत होते हैं,लक्ष्मण अब भी मौन थे।अचानक रामचंद्र जी को सुहाग के चिह्न स्वरूप एक नूपुर ( बिछिया ) हाथ लगी,राम ने उस बिछिया को लक्ष्मण को दिखाते हुए पुनः कहा - देखो लक्ष्मण ! ये नूपुर सीता के प्रतीत होते हैं,उन नूपुरों को देखकर लक्ष्मण ने कहा

*नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।*

*नुपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ।।*

*भैया,मुझे नहीं पता यह मुकुट किसका है,मुझे नहीं पता यह हार किसका है,ये कुण्डल किसके हैं और ये बाजूबंद किसके हैं पर मैं ये पक्के तौर पर कह सकता हूँ कि ये नूपुर तो माता सीता के ही हैं क्योंकि मै रोज उनकी पाद वन्दना को जाता था तो मेरी दृष्टि उन पर पड़ती थी,मैंने आज तक अपनी आँखें उठाकर उन्हें देखा ही नहीं।*

ये उदार दृष्टि भारतीय संस्कृति का एक रूप है।

लिखने का आधार - परम पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज के दशलक्षण धर्म पर दिये गये प्रवचनसंग्रह " *चार बातें* " से।

17/08/20, 11:14 am - Ashok Jain: परिग्रह पाप का लक्षण

*मूर्च्छा परिग्रह:॥१७॥*

सूत्रार्थ: (मूर्छा) पदार्थों में रक्षण/ममत्व आदि का भाव (परिग्रह:) परिग्रह है।

परिग्रह: बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प को परिग्रह कहते हैं। (य ति च ७/१६३)

'यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूं' इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है। (रा वा ६/१५)

अंतरंग परिग्रह के होने पर ही बहिरंग परिग्रह को मूर्छा कहते हैं।

परिग्रह ही समस्त दोषों का मूल कारण है, 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प होने पर ही उसके रक्षण आदि की व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है, उस परिग्रह के लिए झूठ भी बोलता है, चोरी भी करता है, मैथुन कर्म में प्रयत्न करता है। इस परिग्रह के ममत्व के कारण नरक आदि में अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। इस लोक में भी निरन्तर दुःख रूपी महासमुंद में अवगाहन करता है। (रा वा ६)

17/08/20, 6:49 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं।*

*परि समन्तात् ग्रहति इति परिग्रह*

जो चारों ओर से ग्रहण किया जाये वह *परिग्रह* है।

यों तो लोक में *मूर्च्छा* का अर्थ वात आदि का विशेष प्रकोप होता है , किन्तु *मूर्च्छ* धातु का सामान्य अर्थ मोह है। अतः यहाँ परिग्रह का प्रकरण होने से *मूर्च्छा* शब्द से आभ्यन्तर परिग्रह का संग्रह होता है।अपने पास कोई वस्तु नहीं रहने पर भी *यह मेरी है* ऐसी भावना रखना भी परिग्रह सहित ही है , इसीलिए पर पदार्थों के ममत्व को *मूर्च्छा* कहते हैं या गाय, भैंस , मणि, मोती आदि चेतन अचेतन बाह्य उपाधि तथा रागादि रूप आभ्यन्तर उपाधि का संरक्षण , अर्जन आदि भी व्यवहार मूर्च्छा है।

एक राजा अरबपति होते हुए भी यदि बैरागी है , धन सम्पदा में अनासक्त है और उन्हें क्षणभंगुर समझ कर भोगने की इच्छा से भोग कर रहा है तो परिग्रह रहते हुए भी अपरिग्रही है । इसके विपरीत सड़क का भिखारी महलों के सपने देख रहा है , ममत्व में लगा हुआ है तो कुछ नहीं होते हुए भी वह परिग्रही है क्योंकि राजा के अप्रमत्त योग है और भिखारी के प्रमत्तयोग है। जो ज्ञान , दर्शन , चारित्र वाला है वह प्रमाद रहित है । अतः उसके *मूर्च्छा* का अभाव होने से परिग्रहरहितपना है।

18/08/20, 11:26 am - Ashok Jain: व्रती के लक्षण

*नि:शल्यो व्रती॥१८॥*

सूत्रार्थ: (नि:शल्य:) जो शल्य रहित होता है वही (व्रती) व्रती है।

जो तीन शल्यों से रहित है वही नि:शल्य व्रती कहा जाता है। (सर्वा ६९७)

व्रती: जो शल्य रहित होकर पांच अणुव्रत, रात्रिभोजन त्याग और सातों शीलव्रतों को अतिचार रहित पालता है वह व्रती कहलाता है। (चा सा २८)

शल्य: चतुर्गति रूप संसार में प्राणियों को शारीरिक, मानसिक, आगन्तुक दुखों के द्वारा पीड़ा देती है वह शल्य है।(पा प्र)

शल्य तीन प्रकार की होती है:

१) माया, २) निदान और ३) मिथ्यात्व शल्य।

माया शल्य: निवृत्ति, छल, कपट, वंचना ये सब माया के एकार्थवाची है।(रा वा ३) दूसरों को छल कपट से किसी भी द्रव्य को ग्रहण करने का भाव माया शल्य है।

मिथ्यात्व शल्य: अतत्व श्रद्धान मिथ्यात्व शल्य है। (रा वा ३)

चारित्र से रहित ज्ञान, ज्ञान से रहित चारित्र और दर्शन रहित चारित्र तथा ज्ञान को मुक्ति का हेतु मानना, यह मिथ्यात्व है। इसको शल्य कहते हैं।

यह शल्य मनुष्य को दुःख देता है, विद्वान इसे छोड़ते हैं।

(सि सा सं ४/२४३-४४)

निदान शल्य: विषय भोगों की आकांक्षा निदान शल्य है। (म क १२७२)

निदान शल्य के भेद

१) प्रशस्त निदान २) अप्रशस्त निदान और ३) भोगकृत निदान। (भ आ वि १२०९)

हे जिनेन्द्र देव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ, और समाधि प्रदान करें।🙏

18/08/20, 7:47 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *श्रृणाति हिनस्ति इति शल्यं* अर्थात् जो दुःख देती है , निरन्तर चुभती है , वह *शल्य* है।

इसे शल्य के तीन भेद बताये गये हैं - माया , निदान और मिथ्या शल्य।

ठगने की वृत्ति का नाम माया शल्य है , भोगों की लालसा निदान शल्य है और अतत्त्वो का श्रद्धान मिथ्या शल्य है।

मात्र शल्यरहित हो ,किन्तु व्रत नहीं हो तो व्यक्ति व्रती नहीं कहा जा सकता।जो व्रत सहित और शल्य रहित हो वही व्रती कहा जा सकता है।जैसे किसी के घर बहुत दूध और घी होता है वह गाय वाला कहलाता है, यदि घर में गायें तो बहुत हैं , लेकिन घी दूध नहीं होता है तो वह गाय वाला नहीं कहलाता , वैसे ही व्रतों के होते हुए भी जो शल्य से रहित नहीं है , उसे व्रती नहीं कहा जा सकता।मन में शल्य है तो वह व्यक्ति अहिंसादि व्रतों का विशिष्ट फल कैसे प्राप्त कर सकता है ? अतः

व्रती के लिए  व्रतों की गरिमा को बनाये रखने के लिए व्रत सहित और शल्य रहित दोनों विशेषणों से युक्त होना आवश्यक है।

19/08/20, 10:42 am - Ashok Jain: व्रती के भेद

*अगार्यनगाराश्च॥१९॥*

सूत्रार्थ: व्रती के दो भेद हैं- (अगारी) गृहस्थ और (अनगारश्च) अनगारी-गृहत्यागी साधु।

अगारी: जो घर से निवृत्त होकर संयत हो गये हैं, ऐसे श्रावक। सकल व्रतों को धारण न करके एक-देशव्रतों को धारण करने वाले भी नैगमादि नय की अपेक्षा व्रती कहलाते हैं।

श्रावक के कुल ग्यारह प्रतिमाएं होती हैं-

१) दार्शनिक, २) व्रती, ३) सामायिक, ४) प्रोषधोपवास, ५) सचित्त विरत, ६) दिवा मैथुन विरत, ७) अब्रह्मविरत, ८) आरम्भविरत, ९) परिग्रह विरत, १०) अनुमतिविरत और ११) उद्दिष्टविरत। (वृ द्र सं टी ४५).

अनगारी:

जो मुनि शून्यागार में निवास करते हैं, जिन्होंने विषय तृष्णा का त्याग कर दिया है, जिन्होंने घर परिवार का त्याग कर दिया है ऐसे मुनि और श्रावक  अनगार है।

19/08/20, 6:46 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *अगार*.का अर्थ वेश्म अर्थात् घर है। जिसके घर है वह *अगारी* है और जिसके घर नहीं है वह *अनगार* है।

चारित्र मोहनीय का उदय होने पर घर के प्रति अभिलाषा का नाम भावघर है।यह भावघर जिसके मन में स्थित है वह चाहे वन में ही क्यों न निवास करता हो, भले ही नग्न हो या वस्त्रधारी हो - अगारी ही कहलाता है ।जिसके चारित्रमोह के उदय से होने वाला तृष्णा रूपी भावघर नहीं है वह चैत्यालय आदि में रहते हुए भी अनगार ही है।

अगारी के पूर्ण व्रत नहीं होते फिर भी उसे व्रती कहा जाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी मकान में निवास करता है उससे पूछने पर कि आप कहाँ रहते हैं , वह कहता है कि मैं कोलकाता में रहता हूँ। पूरे कोलकाता में नहीं रहते हुए भी वह कोलकाता वासी कहा जाता है , वैसे ही नैगम , संग्रह और व्यवहार इन तीन नयों की अपेक्षा अगारी को भी व्रती कहा जाता है।

पाँच पापों का एकदेश या सकल  त्याग करने वाला व्रती कहलाता है। एक - एक पाप का कोई त्याग करे तो उसे व्रती नहीं कहते।

20/08/20, 11:00 am - Ashok Jain: अगारी का लक्षण

*अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥*

सूत्रार्थ: (अणु व्रत:) अणु व्रतों का धारक (अगारी) अगारी/ सागार होता है।

द्वीन्द्रय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन त्रस प्राणियों के व्यपरोपण से मन, वचन, काय पूर्वक निवृत्त होने वाला *अहिंसाणुव्रती* होता है। यह संसारी प्राणी स्नेह, द्वेष और मोह के उद्रेक से असत्य बोलने में प्रवृत्ति करता है, उस असत्य से निवृत्त होने वाला *सत्याणुव्रती* होता है। पर पीड़ा तथा राजा के भय आदि से अवश्य ही छोड़ी हुई वस्तु अदत्त वस्तु से निवृत्त होने वाला *अचौर्याणुव्रती* होता है। गृहीत तथा अनुपात्त (कुमारी और अगृहीत) पर स्त्री से विरक्त होने वाला *ब्रह्मचर्याणुव्रती* होता है तथा धन, धान्यादि इस प्रकार के बाह्य परिग्रह का स्वेच्छा से परिमाण करने वाला *परिग्रह परिमाणाणुव्रती* होता है। (रा वा १-५)

अणुव्रत पालन से लाभ:

इस संसार में जो श्रावक नि:शंकित आदि अंगों का पालन करते हैं, जैन धर्म का पालन कर प्रसन्न होते हैं, संतोष आदि सद्‌गुणों को धारण करने में तत्पर है, श्री जिनेन्द्र देव और मुनियों के भक्त हैं, धर्मध्यान में लीन रहते हैं और जिसकी बुद्धि शुद्ध है ऐसे श्रावक पांचों अणणव्रतों को पालन कर सुख देने वाले अच्युत स्वर्ग को पाते हैं और फिर अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करते हैं। ये पांचों अणुव्रत देवगति के सुख के घर हैं, ज्ञान रूपी रस के पिटारे हैं, मोक्ष की जड़ हैं, अनेक गुणों से सुशोभित हैं, दुर्गति रूपी घर को बन्द करने के लिए किवाड़ हैं तथा पाप रूपी वृक्ष को जलाने के लिए अग्नि हैं। (

प्रश्नो श्रा १६/१११-१२)

20/08/20, 11:03 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏👏👏👏

20/08/20, 2:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सन्धि विग्रह - *अणुव्रतः अगारी* अर्थात् *अणुव्रती अगारी* कहलाता है।

*अणु* का अर्थ होता है अल्प। अल्पव्रतों को अणुव्रत कहते हैं। अल्पव्रत में पापक्रिया के पूर्ण त्याग का अभाव है , इसलिए ये अल्पव्रत कहलाते हैं। अगारी के पूरे हिंसादि दोषों का त्याग संभव नहीं है , इसलिए उसके व्रत अल्प होते हैं।

संक्षेप में अणुव्रतों का वर्णन अशोक जी ने हमें समझाया। विस्तार से इनके बारे में जानने के लिए हमें रत्नकरण्ड श्रावकाचार , पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय आदि शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।

21/08/20, 11:19 am - Ashok Jain: श्रावक के सात शील व्रत

*दिग्देशानर्थदण्ड-विरति-सामायिक-प्रोषधोप-वासोप-भोग-परिभोग-परिणामातिथि-संविभाग-व्रत-सम्पन्नश्च॥२१॥*

सूत्रार्थ: अणुव्रती श्रावक दिग्व्रत, देशव्रत, और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों से तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग व्रत इन चार शिक्षाव्रत से सम्पन्न होता है।

शील व्रत: देव या गुरु की साक्षीपूर्वक जो व्रत पहले ग्रहण कर रखा है उसका खण्डन नहीं होने देने को अर्थात् सावधानी पूर्वक उसकी रक्षा करने को मुनीश्वर शीलव्रत कहते हैं। (पूज्य श्रा ८०)

शीलव्रत सात होते हैं

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

गुणव्रत: अहिंसादि पांच अणुव्रत एवं मद्य मांस मधु के त्याग रूप आठ मूलगुणों की वृद्धि करने वाले व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। (र क श्रा ६७)

गुणव्रत तीन होते हैं: १) दिग्व्रत २) देशव्रत और ३) अनर्थदण्डव्रत

दिग्व्रत: मरणप्रर्यंत सूक्ष्म पापों की विनिवृत्ति के लिए दशों दिशाओं का परिमाण करके इसके बाहर मैं नहीं जाउंगा। इस प्रकार संकल्प करना या निश्चय कर लेना दिग्व्रत है। (र क श्रा ६८)

देशव्रत: दिग्व्रत में धारण किए हुए विशाल देश में काल के विभाग से (क्षेत्र में गमनागमन की सीमा करना) प्रतिदिन (प्रतिसमय) त्याग करना सो अणुव्रत धारियों का देशावकाशिक व्रत है। (र क श्रा ९२)

अनर्थदण्डव्रत: दिशाओं की मर्यादा के भीतर निरर्थक पाप योगों से विरमण करने को व्रतधारियों में अग्रणी गणधर देव आदि ने अनर्थदण्डव्रत कहा है। (र क श्रा ७४)

जिससे अपना कुछ प्रयोजन तो सधता नहीं, केवल पाप बन्धता है उसे अनर्थ कहते हैं। (का अ ३४३)

अनर्थदण्ड पांच प्रकार का होता है:

१) पापोपदेश २) हिसादान ३) अपध्यान ४) दु: श्रुति ५) प्रमादचर्या।

शिक्षाव्रत चार होते हैं:

सामायिक, पोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण, और अतिथि संविभाग।

(अन्य आचार्य भगवंतो ने अन्य प्रकार से भी कहे हैं।)

सामायिक: मन, वचन, काय की क्रियाओं का अपने अपने विषयों से हटकर आत्मा के साथ तल्लीन होने से द्रव्य तथा अर्थ से दोनों में आत्मा के साथ एक रूप हो जाना ही समय का अभिप्राय है, समय ही जिसका प्रयोजन उसे सामायिक कहते हैं। (चा सा ५०)

प्रोषधोपवास: चार प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध है जो धारणे और पारणे के दिन प्रोषध सहित गृहाररम्भादि को छोड़कर उपवास करके प्रोषधोपवास आरम्भ करता है वह प्रोषधोपवास है। (र क श्रा १०९)

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत: जो अपनी सामर्थ्य जानकर भोजन, ताम्बूल, वस्त्र आदि का परिमाण करता है उसको भोगोपभोग परिमाण नामक गुणव्रत कहते हैं। (का अ ३५०)

अतिथिसंविभाग व्रत: मोक्षार्थी, संयमपरायण, शुद्धमति अतिथि के लिए शुद्ध मन से निर्दोष आहार देना चाहिए। उस मुनि के लिए सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और स्म्यक्चारित्र को बढ़ाने वाले पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि धर्मोपकरण भी देने चाहिए। परमश्रद्धा और भक्ति से उन यतिओं के लिए योग्य औषधि और वसतिका भी देना चाहिए। (रा वा २८).

21/08/20, 5:09 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*दिग्- देश -अनर्थदण्ड विरति सामायिक प्रोषध - उपवास- उपभोग परिभोग परिमाण - अतिथिसंविभाग व्रतसम्पन्नः च ।।२१।।*

गृहस्थ पाँच अणव्रतों को धारण करके एकदेश पापों का त्याग कर देता है , किन्तु अणुव्रतों का यथोचित पालन करने के लिए किन सहायक व्रतों को भी अपनाना चाहिए , यह उपदेश आचार्य देव ने इस सूत्र के माध्यम से दिया है।

यहाँ *विरति* शब्द तीन व्रतों के साथ जोड़ना है - दिग्विरति , देशविरति और अनर्थदण्डविरति । *व्रत* का सम्बन्ध चार के साथ जोड़ना है - सामायिक व्रत , प्रोषधोपवास व्रत , उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और अतिथिसंविभाग व्रत।

*विरति* का अर्थ है विरक्ति , जैसे प्रयोजनभूत दिशा आदि के बाहर गमन आगमन की विरक्ति। *व्रत* का अर्थ है पालन , जैसे सामायिक आदि व्रतों का पालन करना।

अणुव्रतों का जो उपकार करे उन्हें *गुणव्रत* कहते हैं जिसके तीन भेद हैं -१) दिग्विरति २) देशविरति और ३) अनर्थदण्डविरति ।

जिससे मुनिव्रत पालन करने की शिक्षा मिले उसे *शिक्षाव्रत* कहते हैं जिसके चार भेद बताये गये हैं -१) सामायिक २) प्रोषधोपवास ३) उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और ४) अतिथिसंविभाग।

इस प्रकार श्रावक के 5  अणुव्रत + 3 गुणव्रत + 4 शिक्षाव्रत = कुल 12 व्रत होते हैं जिनका हमें निरतिचार पालन करते हुए मोक्षमार्ग पर अग्रसर होना चाहिए।

21/08/20, 5:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दिग्व्रत , अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत में स्वीकार किया है तथा शिक्षाव्रतों में देशावकाशिक , सामायिक , प्रोषधोपवास और वैयावृत्य को स्वीकार किया है , जबकि आचार्य उमास्वामी ने गुणव्रतों में दिग्व्रत , देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत को स्वीकार किया है। शिक्षाव्रतों में आचार्य उमास्वामी ने सामायिक , प्रोषधोपवास , उपभोग परिभोग और अतिथिसंविभाग को स्वीकार किया है।सामान्य से संख्या की अपेक्षा दोनों आचार्यों ने श्रावक के कुल १२  व्रत ही स्वीकार किये हैं ।विभाजन की अपेक्षा दोनों में भेद हैं । जिसे आचार्य उमास्वामी ने *अतिथिसंविभाग* कहा है उसे ही समन्तभद्र स्वामी ने *वैयावृत्य* नाम से स्वीकार किया है।

22/08/20, 11:23 am - Ashok Jain: संल्लेखना धारण का उपदेश

*मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता॥२२॥*

सूत्रार्थ: (मारणान्तिकीं) मरण के अन्त में होने वाली (सल्लेखनां) सल्लेखना को (जोषिता) उत्साहपूर्वक करना चाहिए।

सल्लेखना: अच्छी प्रकार से काय और कषाय का लेखन (कृष) करना सल्लेखना है। निष्प्रतिकार उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष होने पर, बुढापा आने पर और मृत्युदायक रोग होने पर धर्मार्थ शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। (र क श्रा १२२)

सल्लेखना कब: जरा, रोग, इन्द्रिय और शरीर बल की हानि तथा षड़ावश्यक का नाश होने पर सल्लेखना होती है। (रा वा ११)

दुर्निवार-भयंकर मरण के निश्चय को जानकर निश्चय बुद्धि वाला धीर पुरुष बान्धवों को पूछ कर, मोह छोड़कर आगमानुसार सल्लेखना धारण करता है। (अ श्रा ६/९८).

22/08/20, 8:09 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*मारण - अन्तिकिं - सल्लेखनां - जोषिता।।२२।।*

अर्थात् वह (श्रावक) मारणान्तिक सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला होता है।

अपने ही परिणामों से प्राप्त आयु , इन्द्रियों , मन-वचन-काय तीन बल और श्वाच्छोश्वास का कारण विशेष से नाश होने को *मरण* कहते हैं।

वर्तमान भव का अवसान *मरणान्त* है और जिसका यह मरणान्त ही प्रयोजन है उसे *मारणान्तिकी* कहते हैं।

*सल्लेखना* अर्थात् सत् + लेखना। सत् का अर्थ है सम्यक् प्रकार से तथा लेखना का अर्थ है कृष करना।बाह्य में शरीर को तथा आभ्यन्तर में कषायों को सम्यक् प्रकार से कृष करना *सल्लेखना* है।

*जोषिता* अर्थात् प्रीतिपूर्वक सेवन करना। यहाँ आचार्य देव का अभिप्राय मात्र सेवन करना ही नहीं है।यदि ऐसी अभिप्राय होता तो *जोषिता* की जगह *सेविता* अर्थात् सेवन करना कहा जा सकता था। परन्तु सल्लेखना बलपूर्वक नहीं कराई जाती। प्रीति के रहने पर व्यक्ति अपने आप सल्लेखना व्रत ग्रहण करता है। इसलिए सूत्र में *जोषिता* पद को ग्रहण किया गया है।

सल्लेखना में अभिप्राय पूर्वक १० प्राणों का त्याग किया जाता है, इसलिए बहुत से अज्ञानी इसे आत्मघात मानते हैं , लेकिन यह सही नहीं है। सल्लेखना में प्रमत्तयोग / प्रमाद का अभाव है। प्रमादयोग से प्राणों का वध करना हिंसा कहलाता है।सल्लेखनाधारी में राग - द्वेष नहीं पाये जाते। जो राग - द्वेष - मोह से युक्त होकर विष , शस्त्र आदि उपकरणों का प्रयोग करते हुए अपना घात करे , उसे आत्मघात का दोष आता है ।सल्लेखनाधारी इस दोष से मुक्त है। सल्लेखना वीरों का धर्म है। कायर व्यक्ति सल्लेखना कर ही नहीं सकता। कायर आत्मघात करता है , वीर सल्लेखना धारण करते हैं।

23/08/20, 2:42 pm - Ashok Jain: सम्यग्दर्शन के अतिचार

*शंकाकाक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा: सम्यग्दृष्टेरतिचारा:॥२३॥*

सूत्रार्थ: (शंकाकांक्षाविचिक्त्सान्यदृष्टि-प्रशंसासंस्तवा:) शंका, आकांक्षा, विचिकत्सा, अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव ये (सम्यग्दृष्टे:) सम्यग्दर्शन के (अतिचारा:) अतिचार हैं।

शंका- जिनोपदिष्ट तत्त्वों में शंका करना शंका अतिचार है।

'मैं अकेला हूं, तीन लोक में मेरा कोई नहीं है', इस प्रकार बुखार व गलगण्ड आदि रोग समूह से होने वाली मृत्यु से भयभीत होने को शंका कहते हैं। अथवा- यह तत्त्व है या अतत्त्व है ? यह व्रत है या यह व्रत है? यह देव है या यह देव है? इस प्रकार के संशय को शंका कहते हैं। ऐसी शंकित चित्तवृत्ति वाले सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं होता और न उसे अभिलषित वस्तु प्राप्त होती है जैसे नपुंसक मानव को अभिलषित वस्तु प्राप्त नहीं होती है। (य ति च ६/१५०-५२).

कांक्षा- सांसारिक भोगों की वांक्षा करना कांक्षा अतिचार है।

कांक्षा मात्र अतिचार नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शन से, व्रत धारण से, देव पूजा से, तप से उत्पन्न हुए पुण्य से अमुक कुल, रूप, धन, स्त्री-पुत्रादि, शत्रुविनाश अथवा सातिशय स्त्रीपना, पुरुषपना प्राप्त हो, इस प्रकार कांक्षा करना सम्यग्दर्शन का अतिचार है।औं

(भ आ वि ४३)

विचिकित्सा- मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा अतिचार है।

जैन तीर्थंकरों द्वारा कहा गया यह उग्र तप सत्यता का मंदिर न होने से प्रशंसनीय नहीं है एवं यह तप रूपी वस्तु सदोष है इस प्रकार मानसिक अभिप्राय को विचिकित्सा (दोष) कहते हैं। (य ति च ६/१६९)

अन्यदृष्टिप्रशंसा- मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान, चारित्रादि की मन से प्रशंसा करना अन्यदृष्टिप्रशंसा अतिचार है।

अन्यदृष्टिसंस्तव- मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान, चारित्रादि के वचन से संस्तुति करना अन्यदृष्टिसंस्तव अतिचार है।

प्रशंसा और संस्तव में अन्तर: मन और वचन से प्रशंसा और संस्तव में भेद है । मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान-चारित्रादि गुणों का मन से अभिनन्दन करना प्रशंसा है तथा वचनों से मिथ्यादृष्टियों के विद्यमान एवं अविद्यमान गुणों का उद्भादन, कथन करना संस्तवन है, यह इन दोनों में भेद है। (रा वा १).

23/08/20, 4:19 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सूत्र का सन्धि विग्रह

*शङ्का - आकाङ्क्षा , विचिकित्सा - अन्यदृष्टि प्रशंसा संस्तवाः सम्यग्दृष्टेः अतिचाराः।।२३।।*

अर्थात् शङ्का , आकाङ्क्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव ; ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

व्रत के एकदेश भंग होने को अतिचार कहते हैं। व्रतभंग के लिए सहायक परिणाम चार हैं - अतिक्रम , व्यतिक्रम , अतिचार और अनाचार।

मन की शुद्धि की क्षति होना अतिक्रम है , व्रत का उल्लंघन व्यतिक्रम है , विषयों में एक बार प्रवृत्ति अतिचार है , विषयों में बार बार प्रवृत्ति अनाचार है। व्रतों के प्रति अतिक्रम ,व्यतिक्रम और अतिचार होने पर प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्धिकरण हो सकता है , किन्तु अनाचार का कोई प्रायश्चित नहीं है। अनाचार होने पर व्रत भंग हो जाता है।

इस सूत्र के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठ सकता है कि सम्यग्दर्शन के आठ अंग बताये गये हैं । अतः सम्यग्दर्शन के अतिचार भी आठ ही होने चाहिए थे , आचार्यदेव ने पाँच ही क्यों कहे। इसका समाधान यह है कि जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टियों का प्रशंसक है , वह अन्यदृष्टि प्रशंसा अतिचार वाला मूढदृष्टि है । वह मूढदृष्टि प्रमाद और असमर्थता से होने वाले रत्नत्रयधारियों का उपगूहन और स्थिरीकरण भी नहीं कर सकता। न तो उसके पास वात्सल्य अंग रहता है और न ही जिनशासन की प्रभावना करने की योग्यता रहती है। अतः अन्यदृष्टि प्रशंसा तथा अन्यदृष्टि संस्तवन में ही अमूढ दृष्टि , अनुपगूहन , अस्थितिकरण, अप्रभावना तथा वात्सल्यहीनता रूपी दोषों का अन्तर्भाव हो जाने से आचार्यदेव ने पाँच अतिचार ही कहे हैं।

23/08/20, 7:25 pm - Ashok Jain: 🙏👏👏👏

24/08/20, 1:43 pm - Ashok Jain: व्रतों और शीलों के अतिचार की संख्या

*व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम्॥२४॥*

सूत्रार्थ: (व्रतशीलेषु) व्रत और शीलों में (पञ्च पञ्च) पांच पांच अतिचार लगते हैं।

प्रत्येक व्रत के पांच/चार अतिचार:

१) अतिक्रम: मन सम्बन्धी शुद्धि की हानि को अतिक्रम कहते हैं।

२) व्यतिक्रम: शील रूपी बाड़ का उल्लंघन करना व्रतिक्रम है।

३) अतिचार: पांचों विषयों में प्रवृत्ति अतिचार है।

४) अनाचार: पांच इन्द्रियों के विषयों में अति आसक्तता होना अनाचार है। (द्वा त्रि ९)

दृष्टान्त: एक बूढ़े बैल के दृष्टांत से स्पष्ट किया गया है। कोई बूढ़ा बैल धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देखकर उसकी बाड़ के समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन में इच्छा करता है यह *अतिक्रम* दोष है। पुनः वह बैठा-बैठा ही किसी छिद्र के भीतर मुख डाल कर एक ग्रास धान्य की अभिलाषा करे तो वह *व्यतिक्रम* दोष है। अपने स्थान से उठकर और खेत की बाड़ को तोड़कर भीतर घुसने का प्रयास करना *अतिचार* नामक दोष है। पुनः खेत में घुसकर एक ग्रास खाता है और बाहर निकल आता है तो वह उसका *अनाचार* नाम का दोष है। और खेत के स्वामी द्वारा डण्डों से पीटे जाने पर भी घास खाना नहीं छोड़ता है तो वह *आभोग* नामक दोष है।

इसी प्रकार व्रतों पर भी घटित करना चाहिए। (प्रा चू १४६ टी)

🙏

24/08/20, 7:52 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): शील और व्रत इन शब्दों का कर्मधारय समास होकर *व्रतशील* पद बना है।

व्रत और शीलों के पाँच पाँच अतिचार होते हैं।यद्यपि व्रतों में शील का अन्तर्भाव हो जाता है फिर भी शील व्रत को अलग से ग्रहण करने का हेतु शीलव्रतों की विशेषता बतलाना है । यहाँ शील का तात्पर्य ब्रह्मचर्य से नहीं है।यहाँ शील का अर्थ है *जो व्रतों की रक्षा करता है वह शील है*।

यहाँ गृहस्थ का प्रकरण है , इसलिए गृहस्थ के व्रतों और शीलों के आगे कहे जाने वाले क्रम से पाँच पाँच अतिचार जानने चाहिए जिनका अलग अलग वर्णन आचार्य देव आगे के श्लोकों में करते हैं।

25/08/20, 7:48 am - Vikash Kasliwal left

25/08/20, 2:57 pm - Ashok Jain: अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार

*बन्ध-वधच्छेदातिभारारोपणान्न-पाननिरोधा:॥२५॥*

सूत्रार्थ: बन्ध, वध, छेद, अतिभार लादना और अन्नपाननिरोध ये अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

बन्ध: प्राणी को रस्सी या सांकल से बांधना या पिंजरे में बन्द कर देना बंध है।

इच्छित देश में जाने के लिए उत्सुक के लिए उस गमन के प्रतिबंध के हेतु खूंटे आदि में रस्सी से इस प्रकार बांध देना जिससे वह इष्ट देश में गमन न कर सके वह बंध कहलाता है। इच्छित स्थान पर जाने से रोकने के लिए रस्सी आदि से बांधना बंध है।(रा वा १)

वध: वध का अर्थ डण्डा, कोड़ा, बेंत आदि से पीटना है न कि प्राणिहत्या क्योंकि प्राणिहत्या से विरक्ति तो व्रत धारण काल में ही हो चुकी है। (रा वा २)

छेद: कान नासिका आदि अंग छेदना। (अ श्रा ७/३)

अतिभारारोपण: अत्यंत लोभ के कारण बैल आदि पर उचित भार से अधिक भार लादना अतिभारारोपण है।

अन्नपाननिरोध: गाय, भैंस, नौकर आदि को समय पर भोजन आदि नहीं देना अन्नपाननिरोध है। (र क श्रा ५४टी)

आगम और अनुमान प्रमाण से इनकी सिद्धि होती है। अहिंसाणुव्रत के बन्ध आदि अतिचार आगम परम्परा से चले आ रहे हैं क्योंकि ये क्रोधादि कषाय भावों से उत्पन्न होते हैं और वे क्रोधादि अहिंसा व्रत के मल हैं। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि के अतिचारों का निरूपण करते हुए मालिन्य हेतुत्वात् (मलिनता हेतु देकर) कहकर पूर्व में अनुमान प्रयोग से सिद्ध किया है उसी प्रकार यहां भी मलिनता का हेतु से ये अतिचार सिद्ध हैं। (श्लो ६/६२९)

25/08/20, 7:17 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *सन्धि विग्रह -*

*बन्ध वध - च्छेद - अतिभार - आरोपण -अन्नपाननिरोधाः ।।२५।।*

अर्थात् १) बन्ध २) वध.३) छेद ४) अतिभार आरोपण ५) अन्नपान निरोध ; ये पाँच अहिंसा अणुव्रत के अतिचार हैं।

किसी को अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकने के कारण को *बन्ध* कहते हैं।

डण्डा , चाबुक , बेंत आदि से प्राणियों को मारना *वध* है। यहाँ वध का अभिप्राय प्राणों के हनन से नहीं है क्योंकि अभी प्रकरण अतिचार का चल रहा है और हिंसा का त्याग तो अतिचार के पहले ही हो जाता है।

पीड़ारूप कान नाक आदि अवयवों को भेदना *छेद* अतिचार है।

उचित भार से ज्यादा भार लादना अतिभार - आरोपण है । जैसे कोई पशु पाँच बोरी भार ढो सकता है , उस पर छः सात बोरियों का भार लादना।कोई बच्चा १-२ पुस्तक पढ सकता है , उस पर ८-१० पूस्तकों के अध्ययन का भार लादना आदि।

गाय , भैंस , घर के स्वाश्रित नौकर आदि को भूख प्यास लगने पर अन्नपान का रोकना *अन्नपाननिरोध* है।

26/08/20, 12:15 pm - Ashok Jain: सत्याणुव्रत के अतिचार

*मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमन्त्र-भेदा:॥२६॥*

सूत्रार्थ: १) मिथ्या उपदेश, २) रहोभ्याख्यान, ३) कूटलेखक्रिया, ४) न्यासापहार और ५) साकारमन्त्र ये पांच सत्याणुव्रत के अतिचार हैं।

१) मिथ्योपदेश: राग-द्वेष के वशीभूत होकर व्रती द्वारा दान, पूजा, शील, व्रत एवं उपवास आदि शुभ क्रियाएं जो स्वर्ग और मोक्ष कारण है, इन क्रियाओं को पाप का कारण कहना, उन्हें शुभ मार्ग से हटाना, तप आदि क्रियाएं जो मोक्ष का कारण है उन्हें कष्ट आदि का कारण बताकर तप मार्ग से हटाना अथवा झूठा उपदेश देकर दूसरे को ठगना, मिथ्योपदेश है।

२) रहोभ्याख्यान: स्त्री और पुरुष द्वारा एकांत में किये गये आचरण विशेष को प्रकट कर देने से, दूसरों को बताने या कहने से, एकांत आचरण करने वाले स्त्री-पुरुष में या तो बदले की भावना भर जावेगी, जिससे वह भी तुम्हें दूषित करने का मौका खोजेगा अथवा आत्मग्लानि से स्वयं का भी घात कर सकता है, अतः विपदा कारक सत्य बोलना भी सत्याणुव्रत का दूसरा रहोभ्याख्यान अतिचार है।

३) कूटलेखक्रिया: परिग्रह की आसक्ति, ख्याति-पूजा लाभ की भावना के वशीभूत होकर झूठे लेख आदि लिखना। जैसे कि वर्तमान में कुछ विद्वान-धर्माचार्य, धर्म का यथार्थ स्वरूप समझते हुए भी मिथ्या बातों की पुष्टि; लेख पत्रिका, पुस्तकों में छपवा रहे हैं यह सत्याणुव्रत का तीसरा अतिचार कूटलेखक्रिया है।

४) न्यासापहार: अपनी ईमानदारी दिखाने के लिए धरोहर रखने वाले की भूल को स्वीकार करके अधिक धरोहर को कमती मांगने पर "ठीक है" कहकर वापिस कर देना, क्योंकि इस अतिचार में धरोहर रखने वाले की भूल है, किंतु उसकी भूल को याद न दिलाकर उसकी भूल से बचे हुए द्रव्य को झूठ बोल कर बचा लिया यह सत्याणुव्रत का चौथा न्यासापहार नामक अतिचार है।

५) साकारमंत्र भेद: लोभ के वश, प्रसङ्गवश, शरीर के संकेत के कारण भूत किसी के गुप्त संकेत को समझ कर , प्रतिशोध की भावना से उस गुप्त संकेत को प्रकट कर देना साकार मंत्र भेद है। इस साकार मंत्र भेद में पर-साक्षी का, प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव होता है, इससे कभी व्यक्ति झूठा भी सिद्ध हो सकता है, अतः संक्लेष का कारण होने से पांचवां साकार मंत्र भेद भी सत्याणुव्रत का पांचवां अतिचार है।

26/08/20, 6:56 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏👏👏👏👏

26/08/20, 7:52 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सन्धि विग्रह - *मिथ्या -उपदेश रहोभ्याख्यान , कूटलेखक्रिया न्यास -अपहार साकारमन्त्रभेदाः।।२६।।*

१) मिथ्योपदेश २) रहोभ्याख्यान ३) कूटलेखक्रिया ४) न्यासापहार और ५) साकारमन्त्रभेद - ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

26/08/20, 8:55 pm - +91 98997 49378 left

26/08/20, 8:57 pm - +91 98004 56000 left

27/08/20, 11:32 am - Ashok Jain: अचौर्याणुव्रत के अतिचार

*स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीना-धिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहारा:॥२७॥*

सूत्रार्थ : स्तेनप्रयोग-चोरप्रयोग, तदाहृतादान-चोरिर्थादान, विरुद्धराज्यातिक्रम,

हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार- सदृशसन्मिश्र

ये पांचों अचौर्याणुव्रत के अतिचार हैं।

१) स्तेनप्रयोग: स्वयं ईमानदार बना रहे और दूसरे को चोरी या चोर कर्म में प्रेरणा-सहयोग देता है या उसका उपाय बताता है यह पहला स्तेनप्रयोग का अतिचार है।

२) तदाहृतादान: यह जानते हुए भी कि फलां माल चोरी का है, उसे कम कीमत पर खरीद लेने के लोभ से तदाहृतादान करता है, यह दूसरा अतिचार है।

३) विरुद्धराज्यातिक्रम: राज्य में प्रतिबंधित वस्तुओं को खरीदना-बेचना विरूद्धराज्यातिक्रम नामक तीसरा अतिचार है।

४) हीनाधिकमानोन्मान: वस्तुओं को देने वाले मानो को कम रखना और लेने वाले मानो को अधिक रखना। ये अचौर्याणुव्रत का चौथा अतिचार है।

५) प्रतिरूपकव्यवहार: नफे के लिए असली वस्तुओं में सस्ती/ समान रंग ढंग की नकली वस्तुएं मिलाना, यथा शुद्ध देसी घी में वेजिटेबल या मूंगफली आदि का तेल मिलाकर रखना या बेचना, धनिया में घोड़े की लीद मिलाकर बेचना आदि प्रतिरूपकव्यवहार नामक पांचवां अतिचार है।

इस प्रकार अचौर्याणुव्रत के पांच अतिचार बताए।

27/08/20, 4:40 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में अचौर्याणुव्रत के जो पाँच अतिचार बताये , आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वे ही पाँच अतिचार बतलाये। अतिचारों के नाम की दृष्टि से दोनों अचार्यों में भिन्नता है , लेकिन अर्थ एक ही हैं ।

१) तत्त्वार्थ सूत्र - *स्तेन प्रयोग , रत्नकरण्ड श्रावकाचार - *चौर प्रयोग* - ,

स्वयं चोरी न करते हुए भी चोर को चोरी की प्रेरणा देना या दूसरे से प्रेरणा दिलाना या अनुमोदना करना

२) तत्त्वार्थ सूत्र - *स्तेन आहृतादान* , रत्नकरण्ड श्रावकाचार - *चौरार्था दान* - चोरी का माल खरीदना

३) तत्त्वार्थ सूत्र - *विरुद्ध राज्यातिक्रम* , रत्नकरण्ड श्रावकाचार - *विलोप*

राजा की या सरकारी आज्ञा का उल्लंघन कर प्रतिबंधित सामान बेचना

४) तत्त्वार्थ सूत्र - *हीनाधिक मान - उन्मान* , रत्नकरण्ड श्रावकाचार - *हीनाधिक विनिमानं*

नाप तौल के बाटों में तथा अन्य उपकरणों में हेराफेरी करना।

५) तत्त्वार्थ सूत्र - *प्रतिरूपक व्यवहार* , रत्नकरण्ड श्रावकाचार - *सदृशसन्मिश्राः*

मिलावट के व्यापार द्वारा अधिक मुनाफा कमाना।

27/08/20, 6:09 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *अचौर्याणुव्रत के सन्दर्भ में :-*

शाम का समय था।आज जैन साहब जो पुलिस विभाग में उच्च पदस्थ अधिकारी थे, कुछ जल्दी घर आ गये।पत्नी कुछ अचम्भित हुई।प्रस्तुत है उनकी रोचक वार्ता के कुछ अंश

पत्नी:  क्या बात है ?आपकी तबीयत तो ठीक है।आज आप इतनी जल्दी घर आ गये।

पति कुछ उत्साहित होकर पाकेट से  लिफाफा निकालते हुए:गिन लो भाग्यवान पूरे दो लाख हैं।तुम्हारे लिए ही लाया हूँ।तुम अपने मनपसंद के गहने बनवा लेना।

पत्नी अचम्भित:।पूछ बैठी-इतने रुपये आपको एक साथ कहाँ से मिले?

पति :शर्मा जी नामक एक परिचित हैं।बेचारे किसी criminal case में बुरे फँस गये हैं।उन्होंने मुझे केस रफा दफा करने के लिए ये पैसे दिए हैं।मुझसे रहा नहीं गया।मैंने पैसे ले लिए।

पत्नी:हाय राम अभी अभी आपने मुझे भाग्यवान कहा पर आपने तो ऐसा कर्म कर मुझे भाग्यहीन बना दिया।ये आपने क्या किया?

पति:प्रिये तुम हर function पर अति साधारण वेश भूषा में जाती हो जबकि मुझसे काफी जूनियर अफसरों की बीवियाँ कितने आभूषणों से लद कर जाती हैं आखिर कब तक हम अपने मन को इस प्रकार मारते रहेंगे?

पत्नी:नहीं चाहिए मुझे चोरी के पैसों के आभूषण।हमारा यह शरीर तो नाशवान है।एक दिन मिट्टी में मिल जायेगा।पर इस नश्वर शरीर को सजाने के लिए लाये चोरी के पैसों का पाप हमारे साथ जन्म जन्म तक जायेगा।मेरे लिए तो आप कुछ ऐसा करें कि रत्नत्रय धर्म के आभूषण पहन सकूँ तो मेरा अति सौभाग्य होगा।

पति:तुम्हारी बातें किताबी स्तर तक ही अच्छी लगती हैं।पर हकीकत यह है कि आज के इस युग में हम ईमानदारी से अपना घर किसी हालत में नहीं चला सकते।तुम सोचो ना हमारे सामने कितने खर्च हैं।लल्ला को किसी अच्छे convent स्कूल में दाखिला दिलाना है  महीने की कमाई से मुश्किल से दाल रोटी ही निकल पाती है।कहाँ से लायेंगे हम इतने पैसे?

पत्नी:नहीं दिलाना मुझे लल्ला को convent स्कूल में दाखिला।घूस के पैसे से स्कूल में दाखिल होकर तो वह शुरू से अनैतिकता ही सीखेगा।हम लल्ला को विद्यासागर स्कूल में भर्ती करेंगे जहाँ पैसे भी कम लगते हैं तथा हमारा लल्ला किताबी पढाई के साथ साथ धर्म और संस्कार की शिक्षा भी पायेगा।

पति:इस प्रकार क्या तुम जिन्दगी भर भीड़ भरी बसों के धक्के खाती रहोगी और मैं चुपचाप देखता रहूँगा।मुझसे यह सब सहन नहीं होता।

पत्नी:आप मेरे परमेश्वर हैं।पर आपको गलत रास्ते से चलने से रोकना भी मेरा धर्म है।अभी हमारे दशलक्षण के पर्व चल रहे हैं । कितने ही लोग इस समय धर्म ध्यान करके अपने कर्मों की असीम निर्जरा करते हुए अपना मोक्ष मार्ग प्रशस्त करते हैं जबकि हमने तो यह घृणित कार्य करके करके न जाने कितने कर्मों का बन्ध कर लिया है।आप अभी जाकर शर्मा जी को ये पैसे वापस देकर आइये वर्ना मैं आजीवन अन्न जल का त्याग कर दूँगी ।

पत्नी के हठ के आगे पति को झुकना पड़ता है।वे पैसे लौटा देते हैं और नगर में विराजमान मुनि महाराज से इस पाप की उत्पन्न भावना का प्रायश्चित्त लेने चल पड़ते हैं।

वार्ता रचयिता

राजेन्द्र जैन

उत्तरपाड़ा
(कोलकाता)।

28/08/20, 10:58 am - Ashok Jain: 🙏🏻🙌🙌🙌

28/08/20, 11:30 am - Ashok Jain: ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार

*परविवाह-करणेत्वरिका-परिगृहितापरिगृहतागमना-नङ्गक्रीड़ा-काम-तीव्राभिनिवेशा:॥२८॥*

सूत्रार्थ: परविवाहकरण, परिगृहिता इत्वरिका गमन, अपरिगृहिता इत्वरिका गमन, अनङ्गक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश, ये ब्रह्मचर्याणुव्रत के पांच अतिचार हैं।

परविवाहकरण: कन्या का ग्रहण विवाह है। किसी अन्य का विवाह परविवाह है और इसका करना परविवाहकरण है। (सर्वा ७१४)

परिगृहिता इत्वरिका गमन: जिसका स्वभाव पर पुरुषों के पास आना-जाना है वह इत्विरी कहलाती है। इत्वरी अर्थात् अभिसारिका। इसमें भी जो अत्यंत कुत्सिता होती है वह इत्वरिका कहलाती है। यहां कुत्सित अर्थ में 'क' प्रत्यय होकर 'इत्वरिका' शब्द बना है। जिसका कोई एक पुरुष भर्ता है वह परिगृहिता कहलाती है। (सर्वा ७१४)

अपरिगृहिता इत्वरिका गमन: जिसका कोई पुरुष स्वामी नहीं है, जो वेश्या या व्यभिचारिणी होने से दूसरे पुरुषों के पास आती-जाती रहती है ऐसी अपरिगृहिता इत्वरिका का गमन करना अपरिगृहिता इत्वरिका गमन कहलाता है। (सर्वा ७१४)

अनङ्गक्रीड़ा: अनङ्गों से क्रीड़ा अनङ्गक्रीड़ा है। पुरुष का लिंग (प्रजनन) और स्त्री की योनि कामसेवन के अंङ्ग हैं। उन अङ्गों को छोड़कर अन्यत्र अंगों में क्रीड़ा करना अनङ्गक्रीड़ा है। (रा वा ३)

कामतीव्राभिनिवेश: काम का प्रवृद्ध परिणाम कामतीव्रताभिनिवेश है। काम की तीव्र प्रवृत्ति, सतत कामवासना से पीड़ित रहकर विषयसेवन में लगे रहना कामतीव्राभिनिवेश है। (रा वा ४)

इन कार्यों [पांचों अतिचारों] को करने से राजभय, लोकापवाद, पापकर्मों का आगमन आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

29/08/20, 11:50 am - Ashok Jain: परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचार

*क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य प्रमाणातिक्रमा:॥२९॥*

सूत्रार्थ: क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास, कुप्य इन परिग्रहों का परिमाण करके उनका उल्लंघन करना परिग्रह परिमाण-अणुव्रत के अतिचार हैं।

*पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के अयोग्य अनारम्भ, त्रसवध, व्यर्थस्थावरघात, परदारागमनादिक, असंयम के कारण भूत वास्तु-क्षेत्र आदि बाह्य परिग्रह का त्याग करे। (सा ध ६१)

क्षेत्र- चावल आदि धान्यों की उत्पत्ति स्थान।

वास्तु- आगार, भवन, घर आदि वास्तु है।

हिरण्य- चांदी आदि का व्यवहार। रजत के व्यवहार तंत्र को हिरण्य कहते हैं। अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते हैं।

सुवर्ण- प्रतीति में आने वाला सोना प्रसिद्ध है।

धन- गाय-भैंस आदि धन है।

धान्य- चावल, गैंहू, मूग तिल आदि धान्य है।

दासी- नौकरानी- स्त्री वर्ग दासी है।

दास- नौकर पुरुष वर्ग दास है।

कुप्य- कपास एवं केलि आदि के वस्त्र और चन्दन आदि के वस्तुएं कुप्य है।

तीव्र लोभ के वशीभूत होकर इनकी मर्यादा का उलंघन करना प्रमाणातिक्रम है। 'मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण आदि परिग्रह की अतिलोभ के कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादा का उलंघन करना प्रमाणातिक्रम है। (श्लो ६/६३५-३६)

29/08/20, 12:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏🙏

30/08/20, 11:29 am - Ashok Jain: यद्यपि शास्त्रों में सूत्र👆प्रकार लिखा है, तथापि आचार्य भगवंत श्री विद्यासागर जी महाराज बताते हैं कि इस सूत्र में 'भाण्ड' भी जोड़कर पढ़ना चाहिए क्योंकि बाह्यपरिग्रह दश होते हैं। कुप्य में ही उसका अर्थ गर्भित नहीं होता है।

अतः सूत्र फिर से लिख रहा हूं।

*क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्यभाण्ड प्रमाणातिक्रमा:॥२९॥*

कुप्य: वस्त्रादि

भाण्ड: बर्तन आदि।

30/08/20, 11:52 am - Ashok Jain: दिग्व्रत के अतिचार

*ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तरा-धानानि॥३०॥*

सूत्रार्थ:  ऊर्ध्वातिक्रम, अधोतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच दिग्व्रत के अतिचार हैं।

ऊर्ध्वातिक्रम: मर्यादित पर्वत और समभूमि आदि से ऊपर चढ़ना ऊर्ध्वातिक्रम है।

अधोतिक्रम: मर्यादित अधोभाग से अधिक कूपादि में उतरना अधोतिक्रम है।

तिर्यग्व्यतिक्रम: भूमि के बिल, गुफा आदि में प्रवेश करके मर्यादा का उलंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम है।

क्षेत्रवृद्धि: लोभ-कषाय के वशीभूत होकर स्वीकृत मर्यादा का परिमाण बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है।(रा वा २-५)

स्मृत्यन्तराधान: निश्चित की गई मर्यादा को भूल जाना। "इतने योजन आदि से आगे नहीं जाऊंगा" ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी उसको भूल जाना स्मृत्यन्तराधान है। (रा वा ८)

व्यतिक्रम: परिमाण की गई दिशा की अवधि का उलंघन कर देना अतिक्रम कहा जाता है। विशेष रूप से अतिक्रम कर देना व्यतिक्रम है। वह व्यतिक्रम ऊर्ध्व व्यतिक्रम, अधोदिशा व्यतिक्रम तथा तिर्यग्व्यतिक्रम के भेद से तीन प्रकार का होता है। (श्लो ६/६३७)

प्रमाद एवं अज्ञान के कारण ऊर्ध्वातिक्रम आदि अतिचार होते हैं।

(र क श्रा ७३).

30/08/20, 9:38 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏👐👐👐👐👐👐

31/08/20, 11:31 am - Ashok Jain: देशव्रत के अतिचार

*आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गल-क्षेपा:॥३१॥*

सूत्रार्थ: आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये देशव्रत के पांच अतिचार हैं।

आनयन: मर्यादा से बाह्य क्षेत्र में रहने वाले लोगों को प्रयोजनवश यह आज्ञा देना कि 'तुम अमुक वस्तु लाओ' आनयन नाम का अतिचार है। (र क श्रा ९६)

प्रेष्यप्रयोग: स्वयं मर्यादित देश में रहकर 'तुम यह काम करो' इस प्रकार कह कर दूसरे को मर्यादा के बाहर भेजना प्रेषण नाम का अतिचार है। (र क श्रा ९६)

शब्दानुपात: मर्यादा के बाहर कार्य करने वाले नौकरों का उद्देश्य लेकर खड़े होकर खांसी या अन्य प्रकार से शब्द करके नौकरों से कार्य कराना शब्दानुपात है। (रा वा ३)

रूपानुपात: स्वयं मर्यादित क्षेत्र के भीतर स्थित रहकर बाह्य क्षेत्र में कार्य करने वाले लोगों को अपना शरीर दिखलाना रूपाभिव्यक्ति नाम का अतिचार है। (र क श्रा ९६)

पुद्गलक्षेप: नौकर-चाकरों को उद्देश्य लेकर उनको संकेत करने के लिए कंकड़-पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप कहा जाता है। (रा वा ५)

स्वयं उल्लंघन न करके दूसरों से करवाता है, इसलिए ये अतिचार है। यदि स्वयं उल्लंघन करता है तो व्रत का ही लोप हो जाता है। (रा वा ६)

01/09/20, 1:33 pm - Ashok Jain: अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

*कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोप-भोगपरिभोगानर्थक्यानि॥३२॥*

सूत्रार्थ: कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण, और उपभोग-परिभोग-अनर्थक्य ये अनर्थदण्ड के अतिचार हैं।

कन्दर्प: काम को उत्तेजित करने वाले भद्दे वचन बोलना कन्दर्प माना गया है। (र क श्रा ८१)

कौत्कुच्य: भद्दे वचन बोलते हुए हाथ आदि अङ्गों से शरीर की कुचेष्टा करना कौत्कुच्य कहलाता है।(र क श्रा ८१)

परिहास और असभ्यवचन इन दोनों के साथ दूसरे के लिए शारीरिक कुचेष्टाएं करना कौत्कुच्य है। (सर्वा ७१९)

मोखर्य: ढीठता को लिये हुए नि:सार कुछ भी बहुत बकवास करना मौखर्य है। (सर्वा ७१९) आवश्यकता से अधिक निष्प्रयोजन बहुत बोलना मौखर्य है। (र क श्रा ८१)

असमीक्ष्याधिकरण:

१) मानसाधिकरण: निरर्थक काव्य आदि का चिंतन करना मानसाधिकरण है।

२) वाचनिक अधिकरण: निष्प्रयोजन पीड़ादायक कुछ भी बकवास करना, अनर्गल प्रलाप करना वाचनिक अधिकरण है।

३) कायिक अधिकरण: बिना प्रयोजन चलते हुए, ठहरते हुए, बैठते हुए सचित्त एवं अचित्त पत्र, पुष्प, फलों का छेदन-भेदन, कुट्टन, क्षेपण आदि करना, अग्नि, विष, क्षार आदि पदार्थ देना आदि जो क्रिया की जाती है वह कायिक अधिकरण है। (रा वा ५)

उपभोग-परिभोग अनर्थक्य: उपभोग-परिभोग के पदार्थ आवश्यकता से अधिक है तो अतिचार कहा जाता है।

02/09/20, 1:07 pm - Ashok Jain: सामायिक के अतिचार

*योग-दुष्प्रणिधानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि॥३३॥*

सूत्रार्थ: काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोगदुष्प्रणिधान (मन-वचन-काय की अन्यथा प्रवृत्ति) अनादर (सामायिक में उत्साहहीनता) और स्मृत्यनुपस्थान (विस्मृत हो जाना) ये सामायिक शिक्षाव्रत व्रत के पांच अतिचार हैं।

काय दुष्प्रणिधान: क्रोधादि कषायों के वश होकर शरीर के अवयवों का विचित्र विकृत रूप हो जाना काय दुष्प्रणिधान है।

वचन दुष्प्रणिधान: वर्ण संस्कार का अभाव तथा अर्थ के आगमकत्व में चपलता वाचनिक दुष्प्रणिधान है।

मानसिक दुष्प्रणिधान: मन का अनर्पितत्व होना, अन्यथा होना, मन का उपयोग नहीं लगना मानसिक दुष्प्रणिधान है।

अनादर: अनुत्साह को अनादर कहते हैं।

स्मृत्यनुपस्थान: एकाग्रता का न रहना ही स्मृत्यनुपस्थान है। (रा वा २-४)

दुष्प्रणिधान: वचन काय और मन ये तीन योग हैं इनकी खोटी प्रवृत्ति करने को दुष्प्रणिधान कहते हैं। (र क श्रा १०५)

योग दुष्प्रणिधान आदि सामायिक शील के एकदेशघातक होने से अतिचार हैं। तथा ये पांच सामायिक शील के पोषक भी नहीं है तथा सर्वथा विनाशक भी नहीं है अतः अतिचार हैं। (श्लो ६/६४२)

03/09/20, 3:47 pm - Ashok Jain: प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत के अतिचार

*अप्रत्यवेक्षिता-प्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोप-क्रमणानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि॥३४॥*

सूत्रार्थ: प्रत्यवेक्षित का अर्थ चक्षु से देखना तथा प्रमिर्जित का अर्थ है कोमल उपकरण से झाड़ना १) बिना देखे बिना शोधी भूमि पर मल-मूत्र कूड़ा-करकट आदि डालना।

२) बिना देखे-शोधे वस्तुओं को उठाना-धरना।

३) बिना देखे-शोधे हुए बिस्तर पर सोना।

४) आवश्यक धार्मिक कार्यों में आदर का न होना।

५) करने योग्य कार्यों को भूल जाना।

ये पांच प्रोषध उपवास व्रत के अतिचार हैं।

बिना देखे-शोधे मल-मूत्रादि-क्षेपण आदि कार्य प्रोषधोपवास का (एकदेश) घात करने वाले होने से अतिचार कहे गए हैं। (श्लो ६/६४३)

03/09/20, 9:25 pm - +91 93790 56468 left

04/09/20, 4:44 am - +91 97111 15303 left

04/09/20, 8:57 am - +91 98291 95290 left

04/09/20, 9:00 am - Ashok Jain: सादर जय जिनेन्द्र

मैंने पंच-परावर्तन का संकलन करने का मन बनाया है, आपमें से जो भी सहयोग देना चाहते हैं मुझे अलग से अपने नाम और स्थान के साथ सम्पर्क करें।

अशोक जैन 🙏

Whatsapp@9903049783

04/09/20, 11:11 am - Ashok Jain: उपभोग-परिभोग व्रत के अतिचार

*सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्रा-भिषव-दुपक्काहारा:॥३५॥*

सूत्रार्थ: सचित्ताहार (सचित्त वस्तुओं का भक्षण), सचित्त सम्बन्ध आहार (सचित्त वस्तु से सम्बन्धित वस्तु का भक्षण, सचित्त सम्मिश्राहार (सचित्त वस्तु से इस प्रकार मिश्रित जिसे अलग न किया जा सके), अभिषवाहार (अतिगरिष्ट वस्तु का सेवन) और दु:पक्काहार (अधपके या अधिक पके पदार्थ का भक्षण) ये पांच उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं।

05/09/20, 2:24 pm - Ashok Jain: अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार

*सचित्तनिक्षेपापिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमा:॥३६॥*

सूत्रार्थ: सचित्तनिक्षेप, सचित्त अपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं।

सचित्तनिक्षेप: सचित्त कमल पत्र आदि पर रखी हुई वस्तु सचित्तनिक्षेप कहलाती है। (रा वा १)

सचित्तापिधान: हरे कमल पत्र आदि पर आहार को रखना हरितपिधान नामका अतिचार है। (र क श्रा १२१टी)

मात्सर्य: अतिथि को आहार देते समय आदर भाव के बिना देना मात्सर्य है। (रा वा ४)

अस्मरण: आहारादि दान इस समय ऐसे पात्र के लिए देना चाहिए अथवा देने योग्य वस्तुओं में यह वस्तु दी है अथवा नहीं दी है इस प्रकार की स्मृति का अभाव होना अस्मरण कहलाता है। (र क श्रा १२१)

परव्यपदेश: दूसरे दाता ने जो द्रव्य देने को रखा है उसे स्वयं देना अथवा दूसरे पर देने का भार सौंप देना कि मुझे काम है तुम दे देना अथवा और बहुत देने वाले हैं अतः मैं देकर क्या करूंगा, इस प्रकार दूसरे के बहाने से स्वयं दान न देना परव्यपदेश है। (का अ ३६५-६६ टी)

05/09/20, 3:28 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *निक्षेप* का अर्थ यहाँ रखना है तथा *अपिधान* का अर्थ ढाँकना है। *सचित्त* का अभिप्राय यहाँ जीव सहित है।कमलपत्र , कदलीपत्र , पलासपत्र आदि के सहारे अनेक सूक्ष्म जीव रहते हैं। भोजन में इन पत्तों का उपयोग करने पर जीव विराधना को प्राप्त होते हैं ।इन पत्तों पर आधारित जीवों को धोने , पोंछने आदि से उन्हें आधार नहीं मिलने से वे मरण को प्राप्त होते हैं।अतः भोजन को कमल - कदली आदि के पत्तों पर रखना या उनसे ढकने को अतिचार कहा गया है।

भिक्षाकाल को छोड़कर दूसरा काल अकाल है और उस अकाल में आहारदान देना *कालातिक्रम* नामक अतिथिसंविभाग व्रत का पाँचवां अतिचार है।

पात्रदान ,  जिनपूजा और पुत्रोत्पत्ति स्वयं करने पर ही फलीभूत होते हैं। हाँ , यदि कोई मनुष्य अपंग है , रोगी है , विकलांग है तो वह स्वयं पश्चाताप करके दूसरों से दान पूजा कराकर उचित फल प्राप्त कर सकता है।

तिर्यंच - पशु , पक्षी तथा दीन हीन मानव दान -पूजा की अनुमोदना मात्र से धर्म के फल को प्राप्त होते हैं , जैसे जटायु पक्षी।

परन्तु सभी तरह की सामर्थ्य होने के बावजूद भी जो प्रमादवश विषयान्ध होकर दान , धर्म पूजा आदि स्वयं नहीं करके दूसरों से कराते हैं वे धर्म के फल के भोक्ता नहीं बन सकते हैं।

06/09/20, 11:35 am - Ashok Jain: सल्लेखना के अतिचार

*जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि॥३७॥*

सूत्रार्थ: जीवितशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये सल्लेखना के पांच अतिचार हैं।

जीवितशंसा: जीवित रहने की इच्छा को जीवितशंसा कहते हैं।

मरणाशंसा: मरने की इच्छा करना मरणाशंसा है।

मित्रानुराग: मित्रों का अनुराग पूर्वक स्मरण होना।

सुखानुबन्ध: पूर्व में भोगे हुए भोगों को पुनः पुनः स्मरण करना।

निदान: तपस्या के फलस्वरूप आगामी जीवन में भोगों की इच्छा रखना।

ये पांच सल्लेखना व्रत के अतिचार हैं।

06/09/20, 11:50 am - Ashok Jain: जीवितशंसा: समाधि लेने के बाद अधिक जीने की इच्छा करना। कई बार ऐसा होता है कि असाध्य रोग था, सल्लेखना में आहार की मात्रा थोड़ा-थोड़ा घटने से रोग थोड़ा-थोड़ा ठीक होने लगता है, तब लगता है समाधि क्यों ले ली अभी तो और भी जी सकते थे।

मरणाशंसा: सल्लेखना के समय विशेष वेदना होती है, तब जल्दी-जल्दी मरण हो जाए, ऐसी इच्छा करना मरणाशंसा है।

मित्रानुराग: अपना बचपन याद करना। जैसे मेरे ऐसे मित्र थे, जिनके साथ मैं क्रिकेट, बालीबाल, हाकी आदि खेल खेला करता था।

सुखानुबन्ध: पूर्व में अनुभव किए हुए स्त्री, पुत्र, वैभव, नेता और अभिनेता जनित विविध सुखों का पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबन्ध है।

निदान: इस तप का फल मुझे आगामी भव में भोग आदि मिले ऐसी आकांक्षा रखना।

06/09/20, 3:46 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *जीवित - आशंसा , मरण - आशंसा , मित्र - अनुराग , सुख - अनुबन्ध और निदान , ये पाँच सल्लेखनाव्रत के अतिचार हैं ।*

*आशंसा* का अर्थ है चाह करना , सल्लेखना व्रत लेने के बाद और अधिक जीने की या शीघ्र मरने की चाह करना अतिचार है। सल्लेखना का अर्थ ही - जीवन -मरण में साम्यभाव।

निश्चय से यह शरीर नाशवान  है फिर भी इसके स्थिर रहने में आदर करना ठीक नहीं है क्योंकि जब तक इस शरीर के द्वारा व्रतों की निर्दोष साधना होती है तभी तक इसमें रहना ठीक है।अपने व्रतों का बाधक हो जाने के बाद इस शरीर को *जीर्णकुटी* समझकर हँसते हँसते इसे छोड़ देना ही उचित है , इसमें अधिक समय रहने की इच्छा अतिचार ही है।

वेदना या संक्लेश परिणामों को समता पूर्वक जीना सल्लेखना है , कायर होकर जल्दी मरने की इच्छा करना भी अतिचार ही है क्योंकि मात्र मर जाने से पूर्वकृत कर्म का फल नहीं छूटता , इस पर्याय में नहीं तो अगली में हमें कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है । अतः मरने की इच्छा को भी अतिचार कहा गया है।सल्लेखना वीरों का कार्य है।

06/09/20, 3:54 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने *रत्नकरण्ड श्रावकाचार* में सल्लेखना व्रत के अतिचार इस प्रकार बतलाये हैं

*जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदान नामानः ।*

*सल्लेखनातिचाराः पंच जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥८॥१२९॥*

*जीविताशंसा, मरणाशंसा, भय, मित्रस्मृति और निदान नाम से युक्त पाँच सल्लेखना के अतिचार जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये हैं ।*

(१) सल्लेखना धारण कर ऐसी इच्छा रखना की मैं कुछ समय तक और जीवित रहता तो अच्छा होता, यह *जीविताशंसा* नाम का अतिचार है ।

(२) क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा होने पर ऐसी इच्छा रखना कि मेरी मृत्यु जल्दी हो जाती तो अच्छा होता, यह *मरणाशंसा* नाम का अतिचार है ।

(३) इहलोक भय और परलोक भय की अपेक्षा भय के दो भेद हैं । मैंने सल्लेखना धारण की तो है, परंतु मुझे क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा अधिक समय तक सहन न करना पड़े, इस प्रकार का भय होना *इहलोक भय* कहलाता है । और इस प्रकार के दुर्धर — कठिन अनुष्ठान के करने से परलोक में विशेष फल होगा या नहीं, ऐसा भय रखना *परलोक भय* है ।

(४) बाल्य आदि अवस्थाओं में जिनके साथ क्रीडा की थी ऐसे मित्रों का बार-बार स्मरण करना *मित्रस्मृति* नाम का अतिचार है । और

(५) आगामी भोग आदि की आकांक्षा रखना *निदान* नाम का अतिचार है । जिनेन्द्र भगवान् ने सल्लेखना के ये पाँच अतिचार  बतलाये हैं ।

*आचार्य उमास्वामी द्वारा कथित अतिचारों में  सुखानुबन्ध को छोड़कर शेष चार अतिचार रत्नकरण्ड श्रावकाचार के समान ही हैं ।*

सिर्फ़ उमास्वामी महाराज द्वारा रचित तत्वार्थ सूत्र में सुखानुबन्ध के स्थान पर रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समन्तभद्र स्वामी ने भय नाम का अतिचार बताया है । पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण करना सुखानुबन्ध कहलाता है । इसे समन्तभद्र स्वामी ने निदान में गर्भित कर भय नाम का अतिरिक्त अतिचार स्वीकृत किया है ।

06/09/20, 8:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *आचार्य विद्यासागरजी महाराज द्वारा रचित रयणमंजूषा से*

*जीवन की वांछा करना मैं शीघ्र मरूँ मन में लाना,*

*तथा मित्र की स्मृति हो आना भय से मन भी घिर जाना।*

*भोग मिले यों निदान करना पाँच दोष ये कहलाते,*

*सल्लेखन के जिनवर कहते दोष टाल बुध सुख पाते ॥१२९॥*

06/09/20, 8:41 pm - Ashok Jain: 🙏🙏🙏

07/09/20, 10:52 am - +91 94213 88858 left

07/09/20, 1:10 pm - Ashok Jain: दान में विशेषता

*अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्॥३८॥*

सूत्रार्थ: (अनुग्रहार्थम्) अपने और पर के उपकार के लिए (स्वस्य) धन आदिक का (अतिसर्ग:) देना (दानम्) दान है।

दान: सात गुणों सहित और कुल सम्बंधी, आचरणिक तथा शारीरिक शुद्धि से सहित दाता के द्वारा सूना रहित गृह सम्बंधी कार्य तथा खेती आदि के आरंभ से रहित सम्मग्दर्शन आदि गुणों से सहित मुनियों का नवधाभक्ति पूर्वक जो आहारादि के द्वारा गौरव किया जाता है वह दान माना जाता है।(र क श्रा ११३)

रत्नत्रय से युक्त जीवों के लिए अपने वित्त का त्याग करने या रत्नत्रय के योग्य साधनों के प्रदान करने की इच्छा का नाम दान है। (ध १३/३८९)

अनुग्रहार्थम्: स्व और पर का उपकार अनुग्रह है, स्वोपकार एवं परोपकार को अनुग्रह कहते हैं।(शां पु ११/८७)

सूना: जीवघात के प्रमुख स्थानों को सूना कहते हैं। सूना पांच होते हैं-

१) खण्डनी/ओखली, २) पेषणी/चक्की, ३) चुल्ली/चुल्हा, ४) उद्कुम्भ/परिण्डा और ५) प्रमार्जनी/ बुहारी (र क श्रा टी ११३)

नवधाभक्ति: १) प्रतिग्रह/पड़गाहन, २) उच्च्स्थान/उच्चासन, ३) पादोदक/ पाद-प्रक्षालन, ४) अर्चा/पूजा करना ५) प्रणाम/नमोस्तु करना, ६) मन: शुद्धि, ७) वचन शुद्धि, ८) काय शुद्धि और ९) एषणा शुद्धि-चौदह मल दोषों से रहित शोधन करके संयमीजन को आहार देना।

07/09/20, 1:12 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

07/09/20, 1:42 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ३८ वें श्लोक का सन्धि विग्रह -

*अनुग्रह - अर्थम् स्वस्य - अतिसर्गः दानम्।।३८।।*

अनुग्रह - उपकार के लिए ; अपने द्रव्य - धन का त्याग करना ; दान है।

स्वयं अपना और दूसरे का उपकार करना *अनुग्रह* है।

दान देने से दाता को विशिष्ट पुण्य का संचय होता है, यह स्व उपकार अर्थात् अपना स्वयं का उपकार है।

दान देने से पात्र के सम्यग्दर्शन , सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि रूप परोपकार होता है।सरस आहार देने से मुनियों को शक्ति , आरोग्यता आदि प्राप्त होती है जिसके कारण वे ज्ञानाभ्यास , तीर्थवन्दना , उपवास आदि में सुख पूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। इसी प्रकार संयम के उपकरण पिच्छी , शौच के उपकरण कमण्डलु तथा शास्त्र आदि देने से भी परोपकार होता है।

स्व और पर के उपकार के लिए जो वस्तु दी जाती है वही *दान* है।

जो अन्न विवर्ण , विरस और घुना हुआ हो , रोगोत्पादक हो , जूठा हो , नीचजनों के योग्य हो , किसी अन्य के लिए बनाया गया हो , निन्द्य हो , दुर्जनों के द्वारा स्पर्श किया गया हो , देव यक्ष आदि के लिए संकल्पित हो , दूसरे गाँव से लाया गया हो , किसी के उपहार के लिए रखा गया हो , प्रकृति विरुध्द हो , ऋतु विरुद्ध हो - इस प्रकार का अन्न पात्रों को नहीं देना चाहिए।विवेकी दाता का कर्तव्य है कि वह पात्रों को शुद्ध आहार ही दे।

08/09/20, 2:31 pm - Ashok Jain: दान में विशेषता

*विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेषः॥३९॥*

सूत्रार्थ: (विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्) विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाता विशेष और पात्र की विशेषता से (तद्विशेषः) उस दान के फल में विशेषता प्राप्त होती है।

विधि विशेष: प्रतिग्रहादि नवधाभक्ति को विधि-विशेष कहते हैं।

जिसने स्नान से पवित्र होकर धोती दुपट्टा धारण किया है, जो अपने भवन के द्वार पर खड़ा है, आकुलता से रहित है, ऐसा श्रावक स्वयं आये हुए तपोधन को देखकर नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु, तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ ऐसी ध्वनि करता हुआ अत्यंत हर्ष के साथ उन्हें स्वीकार अर्थात् पड़गाहता है। (और नवधाभक्ति पूर्वक आहार देता है)। (अ श्रा १०/४०)

द्रव्य-विशेष: तप स्वाध्याय आदि की वृद्धि का कारणभूत द्रव्य-विशेष है।

दिये हुए अन्न आदि में ग्रहण करने वाले के तप, स्वाध्याय के परिणामों की वृद्धि की कारणभूतता है, वा जो ग्रहण करने वाले के तप, स्वाध्याय, ध्यान और परिणामों की शुद्धि आदि की वृद्धि का कारण हो वह द्रव्य विशेष है। (रा वा ३)

जिस दान से महापात्रता नष्ट हो जाय, मोह, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिंता आदि उत्पन्न हो जॉय, जीवों का घात हो, वचन दुष्ट या कठोर कहना पड़े, मनुष्यों को राग-द्वेष उत्पन्न हो जाय, लोक निन्दा हो वा और भी अनेक पाप हों, ब्रह्मचर्य का घात हो, मन मलिन हो जाय, आर्त-रौद्र ध्यान की प्रवृत्ति हो जाय, धर्मध्यान शुक्लध्यान में विघ्न हो जाय, इन्द्रियां आदि अपने व्यापार में लग जाय, गुण नष्ट हो जाय, व्रत छूट जाय, रत्नत्रय में दोष लग जाय, ऐसा दान उत्तम विद्वानों को कण्ठगत प्राण होने पर भी नहीं देना चाहिए। (प्र श्रा २०/१५६-५९)

दातृ-विशेष: सात गुणों से युक्त दाता विशेष है।

पात्र के प्रति ईर्षा का नहीं होना, त्याग में विषाद नहीं होना, देने की इच्छा रखने वाले में वा जिसने दान दिया है उन सबमें प्रीति होना, कुशल अभिप्राय होना, प्रत्यक्ष फल की आकांक्षा नहीं करना, किसी से विसंवाद नहीं करना, ये सब दाता की विशेषताएं हैं। (रा वा ७)

१) श्रद्धा, २) शक्ति, ३) भक्ति, ४) विज्ञान, ५) अलुब्धता, ६) क्षमा और ७) त्याग ये सात दाता के गुण कहे गए हैं। (म पु २०/८२)

पात्र-विशेष: मोक्ष के कारण भूत गुणों का संयोग जिसमें है वह पात्र विशेष है।

मोक्ष के कारण भूत सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और स्म्यक्चारित्र से जो युक्त है वह पात्र है। विशुद्ध गुणों को धारण करने से उस पात्र को पात्र-भाजन के समान समझना चाहिए। अथवा अभीष्ट स्थान पर पहुंचा देने के कारण यान-पात्र जहाज के समान समझना चाहिए।

दुःख रूपी लहरों से व्याप्त, महा भयंकर, संसार रूपी समुद्र में उत्कृष्ट पात्र प्राणियों को अनायास ही तारने वाला है। जिस प्रकार समीचीन जहाज समुद्र में अपने ऊपर बैठे हुए पुरुष को तार देता है उसी प्रकार समीचीन उत्कृष्ट पात्र संसार-सागर में अपने दातार को तार देता है जो रागादि दोषों से छुआ भी नहीं गया हो और जो अनेक गुणों से सहित हो ऐसा पुरुष पात्र कहलाता है। (म पु २०/१३९)

पात्र तीन प्रकार के हैं-

१) उत्तम, २) मध्यम और ३) जघन्य पात्र (प्रा भा सं ४९७)

गृहस्थों को विधि के अनुसार, देश के अनुसार, अपनी शक्ति के अनुसार, आगम के अनुसार, पात्र के अनुसार एवं समय-ऋतु के अनुसार दान देना चाहिए। इस प्रकार दान देने से दान के फल में विशेषता आती है। (सं कौ ४/३३०)

विधि पूर्वक दान देने का फल: संक्लेश रहित पात्र को प्रतिग्रह आदि नवधाभक्ति पूर्वक दान देने वाले दाता को सातिशय पुण्य का आस्रव होता है। किञ्चित संक्लेश युक्त बहुभाग विशुद्धि से मध्यम श्रेणी का पुण्याश्रव होता है और बहुत संक्लेश युक्त अल्प विशुद्धि से स्वल्प पुण्य का आस्रव होता है अर्थात् निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट विशुद्धि से किये गये प्रतिग्रह आदि विधि से दाता को स्वल्प, मध्यम और उत्कृष्ट अनुभाग वाले पुण्य का आस्रव होता है। (श्लो ६/६५२)

08/09/20, 8:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

09/09/20, 9:43 am - Ashok Jain: सादर जय जिनेन्द्र

सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ। इसकी परीक्षा आगामी रविवार दिनांक १३ सितंबर को रात्रि ८ बजे से होगी।

अभी रिविजन का समय 🙏

10/09/20, 10:09 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस प्रकार आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय का स्वाध्याय सम्पन्न हुआ।

इस अध्याय में श्रावक के जीवन में उत्थान कैसे हो , इससे सम्बन्धित बहुत सी बातों को जाना।आचार्य देव ने इस अध्याय के माध्यम से हमें यह उपदेश दिया कि व्रतों के लक्षण क्या होते हैं , व्रतों के कितने भेद होते हैं और किन उपायों से श्रावक अपने व्रतों में स्थिरता ला सकता है।पाँच व्रतों की पाँच पाँच भावनाओं का विवेचन भी हमें गुरुदेव ने समझाया।

इतना ही नहीं गुरु ने करुणा करके हमें यह भी समझाया कि हिंसादि पापों में हमें किस प्रकार चिन्तन करना चाहिए ताकि हम पापों से भयभीत होकर इनसे विरक्त हो सकें।संसार और शरीर के  स्वभाव को जानते हुए हमें किन भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए , यह हमने इस अध्याय के माध्यम से जाना।

व्रतों की विशेषतायें , अगारी का लक्षण , सप्तशील का कथन यह सब हमने इस अध्याय में समझा व्रतों के और सल्लेखना के अतिचारों को भी हमने जाना क्योंकि हम अतिचारों को नहीं जानते , निर्दोष व्रतों का पालन नहीं कर सकते।

अन्त में गुरुदेव ने दान जो श्रावक के छह आवश्यक में प्रमुख है के भी लक्षण बतलाये।

इस प्रकार आचार्य देव ने 39 सूत्रों के माध्यम से व्रत , व्रतों के भेद., व्रती के कर्तव्य और.व्रतों के अतिचारों का बहुत ही सुन्दर और विस्तृत विवेचन किया है। हम सभी बड़े ही उत्साह के श्रद्धा के साथ इस ग्रन्थ का स्वाध्याय कर रहे हैं। हम सभी इससे प्रेरणा लेकर अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार व्रतों को ग्रहण करें और जीवन में उत्तरोत्तर आगे बढते रहें , इसी में इस स्वाध्याय की सार्थकता है।

*आचार्य उमास्वामी जी महामुनिराज की जय ।*

🙏🙏🙏🙏🙏

10/09/20, 12:40 pm - Ashok Jain: 👏👏👏🙏

12/09/20, 5:30 pm - Ashok Jain: जय जिनेन्द्र

कल रविवार रात्रि आठ बजे सप्तम अध्याय का प्रश्नपत्र भेजूंगा।

आप सभी अधिक से अधिक संख्या में भाग लें।

९ बजे तक जिनके उत्तर आ जायेंगे उनके नाम ग्रुप में भेजे जायेंगे।

९६% और ऊपर के नाम का विशेष उल्लेखित किये जायेंगे।

13/09/20, 8:12 pm - Ashok Jain: https://docs.google.com/forms/d/1rumh5XAgR7lz97m4ifKWNKH37G93-SfuhntKp-qcdB4/edit?chromeless=1

ये सप्तम अध्याय का प्रश्नपत्र आपको पहले इसलिए भेज रहा हूं कि कोई अशुद्धि हो तो आप बता दें।

आप आज किसी भी समय उतर दे सकते हैं।

13/09/20, 8:14 pm - Ashok Jain: समय ९.१५ तक

13/09/20, 8:23 pm - Ashok Jain: अभी आप सब कर सकते हैं

13/09/20, 9:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बहुत ही सुन्दर ज्ञानवर्धक प्रश्नपत्र बनाये हैं आपने

13/09/20, 9:17 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

13/09/20, 9:21 pm - Ashok Jain: क्षमा करें

नाम और स्थान का कालम मुझसे बनाना छूट गया।

जिनके ४६ से ऊपर नम्बर है वे कृपया अपना नाम लिख दें।

13/09/20, 9:23 pm - Ashok Jain: मैं अभी ग्रुप खोल रहा हूं।

नाम और स्थान लिख दें

13/09/20, 9:23 pm - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

13/09/20, 9:24 pm - Ashok Jain: आपके कितने नम्बर आये यह भी लिख दे

13/09/20, 9:30 pm - Ashok Jain: पेपर कल सुबह १० बजे तक के लिए वापस खोल दिया है।

अभी तक बहुत अच्छी रेस्पॉन्स मिली है

14/09/20, 8:04 am - Ashok Jain: पेपर आज सुबह १० बजे तक के लिए वापस खोल दिया है।

अभी तक बहुत ही अच्छी रेस्पॉन्स मिली है

14/09/20, 9:41 am - Ashok Jain: आप सब का उत्साह बहुत अच्छा है।

14/09/20, 10:04 am - Ashok Jain: <Media omitted>

14/09/20, 10:04 am - Ashok Jain: कुल ५३ व्यक्तियों ने उत्तर दिये। आप-सब को बहुत बहुत बधाई

14/09/20, 10:14 am - Ashok Jain: 7 व्यक्तियों के 50/50

2 व्यक्तियों के 48/50

6 व्यक्तियों के 46/50

9.20 के पहले जिन्होंने समय पर पेपर दे दिया था वे सब बहुत बधाई के पात्र हैं🙏

आपने सबमिट करने के बाद अपने नम्बर देख लिए होंगे, जिन्होंने पेपर में नाम नहीं लिखा (कालम नहीं होने के कारण) और वे 46+ नंबर वाले हैं, कृपया आप अपना नाम 11 बजे तक दे दें।🙏

14/09/20, 11:09 am - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

14/09/20, 1:36 pm - Parasji Patni: बहुत अच्छा रिजल्ट। बधाई के पात्र हैं जिन्होंने इतनी लगन से पढ़ाई की है

14/09/20, 1:49 pm - Ashok Jain: ५०/५०:

चांदमल जैन, कोटा

संगीता जैन, मुम्बई

रीता काटोडिया, मुम्बई

सौमिक जैन, आनन्द (गुजरात)

+अन्य जिनके नाम उपलब्ध नहीं है।

४८/५०:

रूपेश जैन, उत्तरपाड़ा (प बंगाल)

+अन्य

४६/५०:

ऊषा जैन, नागौर

भरत, मुम्बई

राजकुमारी सेठी, बैंगलोर

इन्द्रप्रभ जैन, जयपुर

+अन्य

👏👏👏

*१२ नम्बर से ५० नम्बर आप सब ने पेपर दिया, बहुत बधाई के पात्र हैं।*🙏

14/09/20, 1:55 pm - Ashok Jain: सप्तम अध्याय का सार राजेन्द्र भाई साहब ने बहुत अच्छी तरह से बता दिया है। हम सब को अपने जीवन में निरतिचार व्रतों को धारण करने की भावना करना चाहिए 🙏

14/09/20, 2:03 pm - Ashok Jain: *॥इति तत्वार्थसूत्रे (मोक्षशास्त्रे) सप्तमोऽध्याय:॥*

14/09/20, 2:10 pm - Ashok Jain: *अथ अष्टमोध्याय:*

इस अध्याय में २६ सूत्र के माध्यम से आचार्यदेव हमें बन्ध तत्त्व के बारे में बता रहे हैं, बन्ध के हेतु क्या हैं, बन्ध के भेद: प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश बंध के बारे में हम जानेंगे।🙏

15/09/20, 10:17 am - Ashok Jain: <Media omitted>

15/09/20, 10:18 am - Ashok Jain: आदरणीय श्री पारस भाई साहब द्वारा आठवें अध्याय का वाचन

15/09/20, 11:47 am - Ashok Jain: बन्ध के हेतु

*मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा:  बन्ध-हेतव:॥१॥*

सूत्रार्थ: (मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा:)

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (बन्धहेतव:) बन्ध के हेतु हैं।

बन्ध: बन्ध चेतन और अचेतन द्रव्यों का परिणाम है। यद्यपि बन्ध नामादि की अपेक्षा चार प्रकार का है तथापि वह द्रव्य एवं भाव की अपेक्षा दो अवस्थाओं को धारण करता है। इसमें जतुबन्ध, काष्ठबन्ध, रज्जुबन्ध, बेड़ी का बन्ध आदि की अपेक्षा द्रव्य बन्ध बहुत प्रकार का है एवं भावबन्ध नोकर्म बन्ध और कर्मबन्ध के भेद से दो प्रकार का है। माता पिता पुत्र आदि का स्नेह नोकर्म बन्ध है। जो कर्मबन्ध है उसको पुधर्भविक कर्मबन्ध सन्तति का सद्भाव होने से सादि-सांत और पूर्णतया नाश न होने से अनादि-अनंत जानना चाहिए। क्योंकि बीज और अंकुर के समान इसके प्रादुर्भाव की संतति चलती रहती है। यहां द्रव्य-बन्ध का वर्णन न करके प्रकरण की सामर्थ्य से भाव-बन्ध का वर्णन किया गया है। (रा वा उ १)

मिथ्यादर्शन: जो अन्तरंग में वीतराग निज आत्मतत्त्व के अनुभव रूप रुचि के विषय में विपरीत अभिनिवेष (अभिप्राय) उत्पन्न कराने वाला है तथा बाहरी विषय में अन्य के शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिप्राय को उत्पन्न कराने वाला है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं। (वृ द्र सं टी ३०)

मिथ्यात्व पांच प्रकार का है- १) एकांत मिथ्यादर्शन, २) विपरीत मिथ्यादर्शन, ३) संशय मिथ्यादर्शन, ४) वैनयिक मिथ्यादर्शन और ५) आज्ञानिक मिथ्यादर्शन। (रा वा २८)

अविरति: व्रतों का पालन न करना, अच्छे कामों में आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असंतुष्ट रहना और इन्द्रियों की रुचि के अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असंयम कहते हैं। (य ति च ६/१२०)

अविरति बारह प्रकार की होती है- षट्काय के जीवों की विराधना तथा पंचेन्द्रिय और मन मन विषयक असंयम। इस प्रकार बारह प्रकार की अविरति होती है। (रा वा २९)

प्रमाद: चार संज्वलन कषाय एवं नव नोकषाय, इन तेरह के तीव्र उदय का नाम प्रमाद है। (ध पु ७/११)

अच्छे कार्यों के प्रति आदर का भाव न होना यह प्रमाद है। कषाय के भार से भारी होने को आलस्य का होना कहा है, उसे प्रमाद कहते हैं। (स सा आ कलश १९०)

प्रमाद १५ प्रकार का होता है- चार कषाय, चार विकथा, पांच इन्द्रिय विषय, एक निद्रा और एक प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद होते हैं। (गो जी ३४)

कषाय: जो आत्मा को कषती है वह कषाय है।

योग: मन वचन और काय की क्रिया को योग कहते हैं।

गुणस्थान की अपेक्षा बन्ध के हेतु:

मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांचों बन्ध के हेतु हैं।

सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व तथा अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्व को छोड़कर शेष चार बन्ध के हेतु हैं।

संयतासंयत नामक पांचवां गुणस्थान में मिथ्यात्व के बिना शेष चार (अविरति मिश्र, प्रमाद, कषाय और योग) बन्ध के हेतु हैं।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्रमाद आदि तीन बन्ध के हेतु हैं।

अप्रमत्त आदि (७, ८, ९, १०) गुणस्थानों में कषाय और योग बन्ध के हेतु हैं।

उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, और सयोगकेवली के केवल एक योग बन्ध का हेतु है।

अयोगकेवली के बन्ध का कोई हेतु नहीं है। (रा वा ३१)

15/09/20, 2:05 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से होने वाले तत्त्वार्थों के अश्रद्धान को या विपरीत श्रद्धान को *मिथ्यादर्शन* कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं - *नैसर्गिक या विपरीत मिथ्यादर्शन और परोपदेश पूर्वक या गृहीत मिथ्यादर्शन*

पर के उपदेश से जो अतत्त्व श्रद्धान होता है उसे गृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।इसके चार भेद हैं - १) क्रियावादी २) अक्रियावादी ३) अज्ञानिक और ४) वैनयिक

क्रियावादियों के 180 + अक्रियावादियों के 84 + अज्ञानियों के 67 + वैनयिकों के 32 = कुल 363 मत मिथ्यादृष्टियों के होते हैं।

15/09/20, 7:52 pm - +91 81302 10990 left

16/09/20, 10:57 am - Ashok Jain: बन्ध का लक्षण

*सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध: ॥२॥*

सूत्रार्थ: (सकषायात्वात्) कषाय से युक्त होने से (जीव:) जीव (कर्मणो योग्यान्) कर्म के योग्य (पुद्गलान्) पुद्गलों को (आदत्ते) ग्रहण करता है। (स:) वह (बन्ध:) बन्ध है।

जीव सकषाय होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है।

बन्ध का स्वभाव मदिरा परिणाम के समान है, जैसे भाजन विशेष में प्रक्षिप्त विविध प्रकार के रस वाले बीज, पुष्प और फल आदि का मदिरा आदि से परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मा में ही स्थित पुद्गलों का योग और कषाय के कारण कर्म रूप परिणमन हो जाता है। (रा वा १)

कषाय सहितपने से ही यदि बन्ध की व्यवस्था नहीं मानी जायेगी तो मुक्तात्मा के समान इस संसारी जीव के बंध का अभाव हो जायेगा। परंतु मुक्तात्मा के समान संसारी जीव बन्धरहित नहीं है। इस प्रकार अनुमान से सिद्ध है। सकषायपना हेतु तो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से सिद्ध है। जबकि "मैं क्रोधी हूं", "मैं लोभी हूं" इत्यादि स्वरुप वाले स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से शरीरधारी जीवों के कषाय सहितपने की स्वयंसिद्धि हो जाती है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सकषायी जीव के कर्म बन्ध होना सिद्ध होता है (श्लो ७/२३)

16/09/20, 5:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): दूसरे सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*सकषायत्वाज् -जीवः कर्मणः योग्यान् पुद्गलान् - आदत्ते स बन्धः।।२।।*

कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है , वह बन्ध है।

यद्यपि पूर्व के सूत्र में आचार्य महाराज *कषाय* को बन्ध का हेतु कह चुके हैं फिर भी तीव्र , मन्द और मध्यम कषाय के भेद से स्थितिबन्ध अनुभाग भी तीव्र , मन्द और मध्यम होता है - इस बात का स्पष्टीकरण करने के लिए पुनः *सकषायत्वात्* अर्थात् *कषायसहित होने से* का ग्रहण किया गया है।जिस प्रकार पेट में भूख लगने के अनुसार ही हम आहार ग्रहण करते हैं उसी प्रकार तीव्र , मन्द और मध्यम कषाय के अनुसार ही स्थिति बन्ध होता है।

*जीवनाज्जीवः* अर्थात् जो जीता है वह जीव है , जो दस प्राणों को धारण करता है , जिसके आयु का सद्भाव है वह जीव है ।आयु और प्राण सहित *जीव* ही कर्मों को ग्रहण करता है , इस बात की सूचना के लिए सूत्र में *जीव* पद का ग्रहण किया गया है।

सूत्र में वर्णित *कर्मणः* शब्द हेतुपरक निर्देश है जो यह समझाता है कि कर्म के कारण ही जीव कषाय सहित होता है , कर्मरहित जीव के कषाय नहीं होता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जीव और कषाय का उसी प्रकार से अनादि संबंध है जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण और किट्टकालिमा का अनादि संबंध है।जीव का स्वभाव रागादि रूप परिणमन का है और कर्म का स्वभाव तद् रूप परिणमन का है।

इस संसार में अनन्त जीव हैं।किसी के ज्ञान के क्षयोपशम की वृद्धि है , किसी के हानि है , कोई दरिद्री है ,.कोई धनाढ्य है ।इन भिन्नताओं को देखने पर कर्म का अस्तित्व सहज सिद्ध हो जाता है।

सूत्र में *पुद्गल* का कर्म के साथ तादात्म्य दिखाने के लिए पुद्गल शब्द का ग्रहण किया गया है।यह इस बात को सूचित करता है पुद्गल की कर्म के साथ और कर्म की पुद्गल के साथ बड़ी तन्मयता है।पुद्गल कर्म आत्मा का गुण नहीं है क्योंकि आत्मा का गुण संसार का कारण नहीं होता।

सूत्र में वर्णित *आदत्ते* शब्द क्रिया वचन है जो *हेतुहेतुमद्भाव* को दर्शाता है , जैसे मिथ्यादर्शन , अविरति , प्रमाद , कषाय और योग हेतु हैं और मिथ्यादर्शन से युक्त आत्मा हेतुमान है।

जीव द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व होने के बावजूद भी अनादिकाल से वह कर्मों के अधीन रहा है और नर - नारक आदि गतिरूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

कषाय से लिप्त आत्मा कर्मों के अधीन होता है। *योग* रूपी सेनापति कर्मों को निमन्त्रण देता है तथा *कषाय* रूपी सखियाँ उन कर्मों का स्वागत करती हैं , बस *जीव* राजा स्वागत से प्रसन्न होकर कर्मों के अधीन हो जाता है।इस प्रकार कर्मों के निमित्त से जीव में अशुद्धता आती है जिसके कारण कर्मों का *बन्ध* होता है।जीव और कर्म का यह *बन्ध* परम्परा से अनादि है।

16/09/20, 6:32 pm - Ashok Jain: 👇🙌🙌🙌

17/09/20, 2:19 pm - Ashok Jain: बन्ध के भेद

*प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधय:॥३॥*

सूत्रार्थ: (प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशा:) प्रकृति, स्थिति, अनुभव [अनुभाग], तथा प्रदेश (तद्विधय:) उस बन्ध के भेद हैं।

प्रकृति बन्ध: प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची शब्द हैं। जैसे- नीम का स्वभाव तिक्तता है, गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुर है, उसी प्रकार *ज्ञानावरणीय* कर्म की प्रकृति अर्थज्ञान नहीं होने देना आदि कार्य जिससे उत्पन्न होते हैं, जिससे किये जाते हैं, वह प्रकृति बंध है और अपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है। (रा वा ४)

*दर्शनावरणीय* की प्रकृति अर्थ (पदार्थ) का दर्शन नहीं करने देना, *वेदनीय* का स्वभाव सुख-दुख का संवेदन कराना, *दर्शनमोहनीय* की प्रकृति तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होने देना, *चारित्र मोहनीय* की प्रकृति असंयम परिणाम, आयु का स्वभाव भवधारण, नामकर्म की प्रकृति नारक आदि नाम व्यवहार करना, *गौत्र* का स्वभाव ऊंच-नीच का व्यवहार कराना, और *अन्तराय* कर्म का स्वभाव दानादि में विघ्न करना है। (रा वा ४)

ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों का उस कर्म के योग्य जो पुद्गल द्रव्य का स्वआकार है वह प्रकृति बंध है।(नि सा टी ४०)

स्थिति बन्ध: उत्कृष्ट, मध्य और जघन्य के भेदों रूप बढती-घटती कर्मों की स्थिति कही गई है, उसे स्थिति बन्ध कहते हैं। (ज्ञा ६/४८)

योग के वश से कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों का कषाय के वश से जीव में एक स्वरूप में रहने के काल को स्थिति बंध कहते हैं।(ध पु ६/१४६)

अनुभाग बंध: कर्मों के रसविशेष को अनुभाग बन्ध कहते हैं। जैसे बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में तीव्र-मन्द आदि भाव से रस रहता है अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उनमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है। उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की स्वकीय शक्ति के सामर्थ्य विशेष को अनुभव/अनुभाग बन्ध कहते हैं। (रा वा ८)

शुभाशुभ कर्म की निर्जरा के समय सुख-दुख रूप फल देने की शक्ति वाला अनुभाग बन्ध है। (नि सा टी ४०)

प्रदेश बन्ध: जो जीव और कर्म इन दोनों के परस्पर अनुप्रवेश कहिए एक क्षेत्रावगाह होने से सम्बंध होता है, उसे

बन्धरहित सर्वज्ञदेव ने प्रदेश बंध कहा है। (ज्ञा ६/४९)

एक आत्मा के प्रदेशों में सिद्धों से अनन्त एक भाग और अभव्य राशि से अननतगुणे ऐसे अनन्तानन्त परमाणु प्रत्येक क्षण में बन्ध को प्राप्त होते हैं  इस प्रकार प्रदेश बंध का स्वरूप है। (वृ द्र सं टी ३३)

*मन, वचन आदि योग के निमित्त से प्रकृति बंध एवं प्रदेश बंध होता है तथा कषाय की तारतम्यता से नाना प्रकार का स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध होता है। (रा वा ९-१०)*

17/09/20, 7:37 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बन्ध के जो चार भेद बताये गये - *प्रकृति बन्ध , स्थिति बन्ध , अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध* इन चारों को हम एक दृष्टान्त के माध्यम से जानते हैं

उदाहरण के लिए गाय का दूध । इसकी *प्रकृति* है दूध का मीठापन जो कि इसका स्वभाव  है।

चौबीस घण्टे की दूध की मर्यादा इसकी *स्थिति* है।

गाय का दूध पीने वालों के लिए पौष्टिक है , बुद्धिवर्धक है , यह *अनुभाग* है।

दूध का परिमाण एक किलो मात्र है , यह *प्रदेश* है।

इस प्रकार बँधे हुए कर्म का स्वभाव *प्रकृति* है । जीव के साथ कर्म का रहने का काल *स्थिति* है।अपने स्वभाव के अनुसार वह कर्म न्यूनाधिक फल देता है , यह *अनुभव या अनुभाग* है तथा आत्मा के साथ वह कितने प्रमाण में बन्ध को प्राप्त होता है , यही *प्रदेश* है।कहा भी है

*प्रकृति परिणामः स्यात् स्थिति कालावधारणम्।*

*अनुभागो रसो ज्ञेयः प्रदेशः प्रचयात्मकः।।*

साम्परायिक आश्रव से जो भी कर्म बँधता है उसे हम *प्रकृति , स्थिति , अनुभाग और प्रदेश* चार रूपों में देखते हैं।

ये चारों बन्ध पहले से दशवें गुणस्थान तक होते हैं।कषाय का अस्तित्व दसवें गुणस्थान तक ही है।ग्यारहवें गुणस्थान से जीव कषायरूप परिणत नहीं होते , बारहवें गुणस्थान में उसका उच्छेद हो जाता है।अतः ग्यारहवें , बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में यद्यपि साता वेदनीय का बन्ध होता है , परन्तु वहाँ कषाय नहीं होने के कारण *स्थिति और अनुभाग* का बन्ध नहीं होता , योग के मौजूद रहने से यहाँ *प्रकृति प्रदेश* बन्ध ही होता है।

ग्याहरवें आदि गुणस्थान में *स्थितिबन्ध और अनुभाग* इसलिए नहीं होता क्योंकि कषाय के अभाव में मात्र *ईर्यापथ आस्रव* होने से कर्म आते हैं और चले जाते हैं ।मात्र एक समय की स्थिति वाला बन्ध होता है जिसे आचार्यों ने *स्थितिबन्ध* स्वीकार नहीं किया है।

अयोग केवली सिद्ध भगवान के योग और कषाय का अभाव होने के कारण वे *बन्ध* से मुक्त हैं।

18/09/20, 11:14 am - Ashok Jain: प्रकृति बंध के मूल भेद

*आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण- वेदनीय मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः॥४॥*

सूत्रार्थ: (आद्यः) प्रथम मूल प्रकृति (ज्ञानदर्शनावरणवेदनीय मोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय हैं।

प्रकृति बन्ध दो प्रकार का होता है १) मूल प्रकृति बन्ध और २) उत्तर प्रकृति बन्ध। मूल प्रकृति बन्ध के आठ भेद हैं।

१) ज्ञानावरणीय कर्म: जो आवृत करता है या जिसके द्वारा आवृत किया जाता है वह आवरण कहलाता है। जो ज्ञान का आवरण करता है, वह ज्ञानावरण है। (रा वा २)

बहिरंग पदार्थो को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है, ऐसा जानना चाहिए। (ध पु १/३८३)

२) दर्शनावरणीय कर्म: प्रतिहार की तरह जो आत्मा के सामान्य ग्रहण रूप दर्शनगुण को रोकता है वह दर्शनावरणीय है। (क प्र २७)

अंतरंग पदार्थ को विषय करने वाले उपयोग का प्रतिबन्धक दर्शनावरण कर्म है। (ध १/३८३)

३) वेदनीय कर्म: जीव के सुख और दुख का उत्पादक कर्म वेदनीय है। (ध १५/६)

शहद में लपेटी तलवार की धार के समान जो सुख अथवा दुःख को इन्द्रियों द्वारा अनुभव कराये वह वेदनीय कर्म है। (क प्र १४/२७)

४) मोहनीय कर्म: जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है। (सर्वा ७३८)

जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और धार्मिक कार्यों में विकल करता है वह मोहनीय कर्म है। (म पु)

५) आयु कर्म: यह सुदृढ़ बेड़ी के समान जीव को किसी एक पर्याय में रोके रखता है। (हरि पु ३/९७)

आयु कर्म का उदय कर्म के द्वारा किए गए और अज्ञान, असंयम तथा मिथ्यात्व के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुए अनादि संसार की चार गतियों में जीव को उसी प्रकार रोके रखता है जैसे एक विशेष प्रकार का काष्ठ अपने छिद्र में पैर डालने वाले को रोके रहता है। (गो क जी ११)

६) नाम कर्म: नाम संज्ञा वाला कर्म जीव के शुद्ध स्वभाव को आच्छादित करके उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देव रूप करता है।(प्र सा ११७)

जो नाना प्रकार की रचना, निर्वृत्ति करता है वह नाम कर्म है। शरीर, संस्थान, संहनन, वर्ण, गंध आदि कार्यों के करने वाले जो पुद्गल जीव में निविष्ट हैं, वे नाम इस संज्ञा वाले होते हैं, ऐसा अर्थ कहा गया है। (ध ६/१३)

७) गोत्र कर्म: जो उच्च-नीच का ज्ञान कराता है वह गोत्र कर्म है। (ध १३/३८७)

शक्ति की अपेक्षा समान एक ही योनि के जीवों के भी उच्च और नीच वर्गों का विभाजक गोत्र कर्म है। (व चा ४/४७)

८) अन्तराय कर्म: दाता-पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे वा जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य में अन्तर डाले उसे अन्तराय कहते हैं। अथवा जिसके रहने पर दाता आदि दानादि क्रियाएं नहीं कर सके, दान आदि की अपेक्षा से पराङ्मुख हो जावे, वह अन्तराय कर्म है। (रा वा २)

जो इष्ट पदार्थों की प्राप्ति में विघ्नकारी होता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। (हरि पु ३/९८)

18/09/20, 4:51 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙇🙇🙇🙏🙏

18/09/20, 5:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, प्रदेश बन्ध, अनुभाग बन्ध के भेद से बन्ध चार प्रकार का है।

आदि का प्रकृति बन्ध ज्ञानावरण------------- अन्तरायरूप है।

ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों का स्वभाव है आत्मा के ज्ञानादि गुणों का आच्छादन करना।

आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों के आठ दृष्टांत दिये हैं - वस्त्र, द्वारपाल, मधुलिप्त तलवार, मदिरा, बेड़ी, चित्रकार, कुम्भकार और भण्डारी।इन आठों के जैसे अपने अपने कार्य करने के भाव होते हैं उसी तरह क्रमशः कर्म प्रकृतियों के स्वभाव हैं।

१) *ज्ञानावरण :*- जैसे वस्त्र देवता के मुख को आच्छादित करता है, देवता के मुख का अवलोकन नहीं होता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञानगुण का आच्छादन करता है - ज्ञान को प्रकट नहीं होने देता।

२) *दर्शनावरण*:- जैसे द्वारपाल राजा के समीप नहीं जाने देता उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म आत्मा रूपी राजा का दर्शन नहीं करने देता।

३:- *वेदनीय*:- जैसे मधुलिप्त तलवार की धार चाटने से मधुरता का स्वाद और जिह्वा का कटना दोनों होता है उसी प्रकार वेदनीय सुख( साता) का और दुख( असाता) का अनुभव कराती है।

४) *मोहनीय*:- जैसे मदिरा पीने वाला अपने स्वरूप को भूल जाता है उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से प्राणी अपने स्वरूप को भूल जाता है।

५) *आयु*:- जैसे बेड़ी कैदी को बाँधकर रखती है उसी प्रकार आयु प्राणी को चारों गतियों में रोककर रखता है।

६) *नामकर्म* :- जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकार के चित्रों को बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म आत्मा के अनेक प्रकार के आकार बनाता है।जैसे मानव, देव, घोड़ा, लट, केंचुआ आदि

७) *गोत्र*:- जिस प्रकार कुम्भकार छोटे छोटे बर्तन बनाता है उसी प्रकार गोत्र कर्म ऊँच गोत्र और नीच गोत्र में जीव को उत्पन्न करता है।

८) *अन्तराय*:- जैसे राजा का भण्डारी भण्डार में से दान देने वाले को देने नहीं देता उसी प्रकार अन्तराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग में विघ्न डालता है।

इस प्रकार आठ कर्म प्रकृतियों के स्वभाव का दृष्टांत के द्वारा आचार्यों ने समझाया है।

18/09/20, 8:51 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *प्रश्न - आठ कर्मों के क्रम में ज्ञानावरण आदि रूप क्रम क्यों रखा ?*

उत्तर - आत्मा के सभी गुणों में ज्ञानगुण पूज्य और प्रधान है ,इसलिए सबसे पहले *ज्ञान* को रखा है।

ज्ञान के बाद क्रम से *दर्शनावरण* को रखा है।

इसके बाद *वेदनीय कर्म* को रखा गया है क्योंकि वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म के बल से ही घातिया कर्म के समान जीवों के अव्याबाध गुणों को घातता है ।यह अघातिया  होकर घातिया कर्मों के समान जीव के गुणों को घातता है , इसलिए मोहनीय के पहले कहा है।

वेदनीय कर्म मोहनीय के बल से गुणों को घातता है , इसलिए *वेदनीय के बाद *मोहनीय* को रखा  है।

आयु कर्म के निमित्त से भव में स्थिति होती है , इसलिए नामकर्म के पूर्व *आयुकर्म* को कहा है।

भव के आश्रय से ही नीचपना , उच्चपना होता है , इसलिए *नामकर्म* को गोत्रकर्म के पहले कहा  है।

*अन्तराय कर्म* यद्यपि घातिया है , लेकिन अघातिया कर्म के समान जीव के गुणों को पूर्ण रूप से घातने में समर्थ नहीं है।नाम , गोत्र और वेदनीय के निमित्त से ही अन्तराय कर्म अपना कार्य करता है , इसलिए *अन्तराय कर्म* को अघातिया कर्मों के अन्त में कहा है।

19/09/20, 8:32 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): ज्ञानावरणादि कर्म क्या कहते हैं ?

ज्ञानावरण कर्म - ज्ञानावरण कर्म कहता है, मैंने बाहुबली जैसे महापराक्रमी को एक वर्ष तक खड़ा रखा केवल ज्ञान नहीं होने दिया।

दर्शनावरण कर्म - दर्शनावरण कर्म कहता है मैंने यथाख्यात चारित्र वाले को भी आत्मा का दर्शन नहीं होने दिया और उसे नरक निगोद की यात्रा पुन: करा दी।

वेदनीय कर्म - वेदनीय कर्म कहता है मैंने सनतकुमार मुनिराज के शरीर में सात सौ वर्ष तक कुष्ठ रोग कराया। मुनि वादिराज के शरीर में सौ वर्ष तक कुष्ठ रोग कराया। श्रीपाल जैसे कोटिभट्ट को कोढ़ी बनाकर निकलवाया।

मोहनीय कर्म - मोहनीय कर्म कहता है मैंने राम जैसे महान् पुरुष को लक्ष्मण के मृतक शरीर को लेकर 6माह तक कंधे पर रखकर घुमवाया। सीता की जंगलो-जंगलो में खोज कराई। उपशम श्रेणी तक के मुनिराज को भी प्रथम गुणस्थान में भिजवाया।

आयुकर्म - आयु कर्म कहता है मैंने राजाश्रेणिक जैसे क्षायिक सम्यकद्रष्टि को एवं रावण, सुभौमचक्रवर्ती आदि जीवों को भी नरक में रोक रखा है।

नाम कर्म - नाम कर्म कहता है, मैंने अनेक को गूँगा, कुबड़ा, काला, अष्टावक्र (आठ अंग टेडे) बनाया ।

गोत्र कर्म - गोत्र कर्म कहता है, मैंने बहुतों को ऊँच - नीच कुल में डाला।

अंतराय कर्म - अंतराय कर्म कहता है, मैंने आदिनाथ मुनि को 7 माह 9 दिन तक आहार नहीं मिलने दिया।

19/09/20, 12:47 pm - Ashok Jain: प्रकृति बन्ध के उत्तरभेद

*पञ्च-नवद्वयष्टा-विंशति-चतुर्द्वि-चत्वारिंशद्-द्वि-पञ्च-भेदा-यथाक्रमम्॥५॥*

सूत्रार्थ: (पञ्च-नव-द्वि अष्टाविंशति चतु: द्विचत्वारिंशद्वि पञ्च भेदा: यथाक्रमम्) पांच, नौ, दो, अठाईस, चार, बयालीस, दो और पांच ये क्रमशः ज्ञानावरणादि कर्मों के उत्तर भेद है।

ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद, दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद, वेदनीय कर्म के दो भेद, मोहनीय कर्म के अठ्ठाईस भेद, आयु कर्म के चार भेद, नाम कर्म के बयालीस भेद, गोत्र कर्म के दो भेद, और अन्तराय कर्म के पांच भेद होते हैं। (सर्वा ७४०)

19/09/20, 12:47 pm - +91 95185 65526 left

19/09/20, 10:28 pm - +91 74783 22878 left

20/09/20, 2:24 pm - Ashok Jain: ज्ञानावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियां

*मति-श्रुतावधि-मन:पर्यय-केवलानाम्॥६॥*

सूत्रार्थ:  मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन:पर्यय-ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये ज्ञानावरण की उत्तर प्रकृतियां हैं।

मतिज्ञानावरण: मतिज्ञानावरण कर्म स्मृति, संज्ञा, चिंता, अभिनिबोध आदि को रोक देता है। *अवग्रह* मतिज्ञानावरण कर्म पदार्थ के साधारण ज्ञान को भी रोक देता है। अर्थ की विशेषताओं की जिज्ञासा मात्र का मूलोच्छेद करना *ईहा* मति ज्ञानावरणीय का काम है। विशेष के निर्णयात्मक ज्ञान में *अवाय*-मति

ज्ञानावरणीय ही बाधक होता है। *धारणा* मति- ज्ञानावरणीय कर्म उक्त प्रकार से जाने हुए भी पदार्थ ज्ञान के दृढ़ संस्कार को नहीं होने देता है। (व चा ४/११)

नोट: जितने मतिज्ञान है उतने आवरक कर्म है।

श्रुतज्ञानावरण कर्म: श्रुतज्ञान के पर्याय आदि बीस भेद होते हैं। प्रकट रूप में श्रुतज्ञानावरणीय कर्म यही फल देता है कि उससे आक्रांत जीव न तो शास्त्र को ही समझता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थ को ही। तीसरी अवस्था भी होती है, जब प्राणी ग्रंथ और विषयार्थ दोनों को स्वयं जानकर भी जब दूसरों को उपदेश देता है तो उनको  भांति-भांति नहीं समझा सकता है। (व चा ४/१३-१४)

अवधि ज्ञानावरणीय कर्म: भवप्रत्यय का आवरण करने वाला भवप्रत्यय  अवधिज्ञानावरणीय और क्षयोपशमप्रत्यय अवधि ज्ञान को आवरण करने वाला क्षयोपशम प्रत्यय अवधि ज्ञानावरणीय कर्म है। (व चा ४/१५)

जब-जब जीव के परिणाम क्रोधादि कुभावों से संक्लिष्ट होते हैं तब कर्मों के क्षय-उपशम (क्षयोपशम) दोनों विलीन हो जाते हैं। फलत: अवधिज्ञान का भी लोप हो जाता है। (व चा ४/१८)

मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म: ऋजु और कुटिल इन दोनों प्रकार की मानसिक चेष्टाओं को जानने में समर्थ चेतना शक्ति को ढकने वाला कारण ही चौथा (मन:पर्यय) ज्ञानावरणीय है। ऋजुमति मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का यही फल होता है कि ज्ञाता योजन पृथक्त्व में बैठे हुए प्राणियों के मनों  में उठने वाले संकल्प-विकल्पों को जानने में समर्थ नहीं होता है। विपुलमति मन:पर्यय ज्ञानावरणीय का फल यह है कि ज्ञाता ढाई द्वीप में रहने वाले प्राणियों के हृदयों में उठने वाले विचारों और भावों को नहीं जान सकता है। यह क्षेत्र की अपेक्षा वर्णन है।

काल की अपेक्षा भी कम से कम दो-तीन भवों की बातों को और अधिक से अधिक असंख्यात भवों में घटी बातों को जानने में असमर्थ होना भी जीव पर मन:पर्यय ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण पड़ जाने से ही होता है। (व चा ४/२०-२२)

केवल ज्ञानावरणीय कर्म: आत्मा की यह विशेष योग्यता जिसके द्वारा यह जीव छहों द्रव्यों के सांगोपांग स्वभाव और पर्यायों को तीनों लोकों और तीनों कालों में युगपत् जानता है, उसी असाधारण पूर्ण चैतन्य स्वरूप को केवल ज्ञानावरणीय कर्म पूर्ण रूप से ढक देता है। (व चा ४/२३)

केवल ज्ञानावरणीय कर्म की एक ही प्रकृति है क्योंकि केवलज्ञान बहुत नहीं है। (ध १३/३४५)

ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा का ज्ञान-सामर्थ्य लुप्त हो जाता है, जीव अज्ञ और अति दुःखी होता है, वह स्मृति शून्य और धर्मश्रवण में निरुत्सुक हो जाता है और अज्ञानजन्य अवमानकृत अनेक दुखों का अनुभव करता है। (रा वा १०)

20/09/20, 2:28 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏🙏

20/09/20, 2:48 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*मति श्रुत - अवधि मनःपर्यय केवलानाम्।।६।।*

अर्थात् मतिज्ञान , श्रुतज्ञान , अवधिज्ञान और केवलज्ञान ; इनको आवारण करने वाले कर्म पाँच ज्ञानावरण हैं।

इन पाँचों की व्याख्या आचार्य महाराज पहले अध्याय के नौवें सूत्र में कर आये हैं।

अभव्य जीव के भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मनःपर्यय और केवलज्ञान की शक्ति पायी जाती है , लेकिन पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उसके व्यक्त करने का अभाव है।भव्य जीव व्यक्ति -शक्ति दोनों की अपेक्षा सद्भाव है जबकि अभव्य के शक्ति की अपेक्षा सद्भाव है , व्यक्ति की अपेक्षा अभाव है।इसलिए अभव्य जीव के भी मनःपर्यय एवं केवलज्ञान का सद्भाव होने से उसके आवरण कर्म का सद्भाव पाया जाता है।

जैसे कनकपाषाण और अन्धपाषाण।कनकपाषाण से हम कनक अर्थात् सोने को हम निर्धारित प्रक्रिया से अलग कर सकते हैं , लेकिन अन्धपाषाण में सोना रहते हुए भी उसे किसी भी प्रक्रिया द्वारा अलग नहीं किया जा सकता।जैसे कंकण मूंग , बठर मूंग आदि। वैसे ही अभव्य जीव को भले ही महाव्रतों का संयोग भी मिल जाये , लेकिन वह केवलज्ञान को कभी उत्पन्न नहीं कर सकता।

20/09/20, 3:22 pm - Amruta Vinod Gandhi, Pune: <Media omitted>

20/09/20, 3:31 pm - Parasji Patni: सुंदर विवेचन। ग्राफ और चित्र के द्वारा अच्छा चित्रण। At a glance समझा जा सकता है

20/09/20, 3:59 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏👏👏👏

20/09/20, 4:09 pm - Parasji Patni: इनसे कहिए आगे भी जहां जहां चार्ट से समझा जा सके उसे ग्रुप में जरूर भेजें ताकि सब लाभ उठा सके। अशोक जी आप भी कहें

20/09/20, 4:20 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जी , बिल्कुल

20/09/20, 4:21 pm - Amruta Vinod Gandhi, Pune: आप सभी आदरणीय गुरुजनोंका का सराहना और प्रोत्साहन के लिए बहुत धन्यवाद।🙏🙏🙏

आगे भी मैं ऐसा प्रयास अवश्य करूंगी।

20/09/20, 6:49 pm - Ashok Jain: 👏👏👏

20/09/20, 8:58 pm - Amruta Vinod Gandhi, Pune: 🙏🙏

21/09/20, 11:13 am - Ashok Jain: दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियां

*चक्षुरचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥*

सूत्रार्थ: (चक्षुरचक्षुरवधि केवलानां) चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन (निद्रानिद्रानिद्रा-प्रचला प्रचलाप्रचला स्त्यानगृद्धयश्च) निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियां हैं।

दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियां हैं- निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय, केवलदर्शनावरणीय (ध ६/३१)

चक्षु एवं अचक्षुदर्शनावरण कर्म: जिसके उदय से आत्मा चक्षुरिन्द्रिय रहित एकेन्द्रिय वा विकलेन्द्रिय हो अथवा चक्षुरिन्द्रिय सहित पंचेन्द्रिय हो तो भी उसके नेत्रों में देखने का सामर्थ्य न हो अर्थात् अन्धा, काना व न्यून दृष्टि हो उसे चक्षुदर्शनावरण प्रकृति कहते हैं।

चक्षुदर्शनावरण कर्म आंखों की पदार्थ देखने की सामर्थ्य को सर्वथा नष्ट कर देता है और *अचक्षुदर्शनावरण कर्म* शेष स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मन की प्रतिभाष करने की शक्ति को नष्ट कर देता है। (व चा ४/५५)

अवधि दर्शनावरण कर्म: अवधिज्ञान के द्वारा जानने योग्य उत्कृष्ट और जघन्य पदार्थों के साधारण प्रतिभाष को जो आवरण अपनी शक्ति से रोक देता है, उसे अवधि दर्शनावरण कर्म कहते हैं। (व चा ४/५६)

केवल दर्शनावरणी कर्म: केवलज्ञान के ज्ञेय त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों के सामान्य प्रतिभास में जो बाधक है उसे ही केवल दर्शनावरणी कर्म कहते हैं। (व चा ४/५६)

निद्रा: जिस प्रकृति के उदय से आधा जागता हुआ सोता है, धूलि से भरे हुए के समान नेत्र हो जाते हैं और गुरुभार को उठाये हुए के समान सिर अतिभारी हो जाता है वह निद्रा प्रकृति है। (ध १३/३५४)

दर्शनावरणीय कर्म के उदय से ज्ञानज्योति का अस्त हो जाना निद्रा है। (नि सा टी ६)

निद्रा-निद्रा: जिस प्रकृति के उदय से अति निर्भर होकर सोता है और दूसरों के द्वारा उठाए जाने पर भी नहीं उठता है वह निद्रा-निद्रा प्रकृति है। (ध १३/३५४)

निद्रा-निद्रा के उदय से जीव यद्यपि सोने में बहुत प्रकार सावधानी करता है परन्तु नेत्र खोलने में समर्थ नहीं होता है। (गो क २३)

प्रचला दर्शनावरणीय कर्म: जिस प्रकृति के उदय से आधे सोते हुए का सिर थोड़ा-थोड़ा हिलता रहता है, वह प्रचला प्रकृति है। (ध १३/३५४)

प्रचला के उदय से जीव नेत्र को किंचित खोलकर सोता है। सोता हुआ भी कुछ कुछ जानता रहता है। बार-बार मन्द सोता है अर्थात् बार-बार सोता और जागता रहता है। (गो क २५)

प्रचला-प्रचला दर्शनावरणीय कर्म: जिसके उदय से सोते हुए लार बहे, अंग चले, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। (क प्र ५०)

प्रचला-प्रचला के उदय से पुरुष मुख से लार बहाता है और उसके हस्त पादादि चलायमान हो जाते हैं। (गो क २४)

स्त्यानगृद्धि निद्रा: जिसके उदय से चलता-चलता स्तम्भित किये गये के समान निश्चल खड़ा रहता है, खड़ा खड़ा भी बैठ जाता है, बैठकर भी पड़ जाता है, पर पड़ा हुआ भी उठाने पर नहीं उठता है, सोता हुआ भी मार्ग में चलता है, मारता है, काटता है, और बड़बड़ाता है, वह स्त्यानगृद्धि प्रकृति है। (ध पु १३/३५४)

स्यानगृद्धि दर्शनावरणीय के उदय होने से व्यक्ति जगाकर खड़ा कर देने के  तुरन्त बाद ही फिर सो जाता है, सोते-सोते ही उठकर कोई काम कर डालता है और नींद नहीं टूटती है, तथा सोते-सोते कुछ ऐसा बोलता है जिसका पूर्वापर कोई सम्बन्ध ही नहीं होता है। (व चा ४/५२)

21/09/20, 7:38 pm - +91 98939 05087 left

21/09/20, 9:11 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *चक्षुदर्शन , अचक्षुदर्शन , अवधिदर्शन , केवलदर्शन - इन चारों के आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा , प्रचला , प्रचला - प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पांच निद्रादिक के भेद से दर्शनावरण कर्म के नौ भेद हैं।*

जो चक्षु के द्वारा होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे , वह *चक्षु:दर्शनावरण* है।

जो चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रियों से होने वाले सामान्य अवलोकन को न होने दे उसे *अचक्षुदर्शनावरण* कहते हैं।

जो अवधिज्ञान के पूर्व होने वाले सामान्य अवलोकन को नहीं होने दे वह *अवधिदर्शनावरण* है तथा जो केवलज्ञान के साथ होने वाले अवलोकन को नहीं होने दे , वह *केवलदर्शनावरण* है।

मद , खेद और परिश्रम के कारण हुई थकावट को दूर करने के लिए नींद लेना *निद्रा* है तथा निद्रा आने पर पुनः पुनः निद्रा लेना *निद्रा निद्रा* है ।

*निद्रावान* पुरुष आसानी से जाग जाता है जबकि *निद्रा निद्रा* वाला बहुत कठिनाई से जाग पाता है ।

जो शोक , श्रम और मद आदि के कारण उत्पन्न हुई है और जिस कर्म के कारण बैठे बैठे भी अर्द्ध निद्रा सी आने लगे या झपकी आदि आने लगे उसे *प्रचला कर्म* कहते हैं। प्रचला की बार बार आवृत्ति होने लगे , दांत ओंठ हाथ आदि चलायमान होने लगे , लार बहने लगे , उसे *प्रचला प्रचला कर्म* कहते हैं।

जिसके उदय से आत्मा दिन में करने योग्य अन्य रौद्र कार्यों को रात्रि में कर डालता है उसे *स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण कर्म* कहते हैं ।

चक्षु -अचक्षु -अवधि और केवलदर्शन की अपेक्षा दर्शन के चार ही भेद हैं तथा निद्रा आदि सामान्य आवरण कर्म हैं फिर भी संसारी जीव के पहले दर्शनोपयोग होता है और निद्रा आदि दर्शनोपयोग में बाधक हैं , इसलिए निद्रा आदि पांच कर्मो की भी दर्शनावरण के पांच भेदों में गणना की जाती है।इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के नौ भेद सिद्ध होते हैं ।

22/09/20, 11:22 am - Ashok Jain: वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां

*सदसद्वेद्ये॥८॥*

सूत्रार्थ: (सत्) साता (असत्) असाता (वेद्ये) वेदनीय कर्म के दो भेद हैं।

सातावेदनीय और असातावेदनीय इस प्रकार वेदनीय के दो ही स्वभाव हैं क्योंकि सुख व दुःख रूप वेदनाओं से भिन्न अन्य कोई वेदना पायी नहीं जाती है। (ध १२/४८१)

साता वेदनीय कर्म: जिस कर्म के उदय से अनेक प्रकार की जातियों से विशिष्ट देव आदि गतियों में अनुगृहीत (इष्ट) सामग्री के सन्निधान की अपेक्षा प्राणियों को शारीरिक मानसिक आदि अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव होता है वा प्रशस्त रूप सामग्री की प्राप्ति होती है, वह साता वेदनीय कर्म है। (रा वा १)

साता का नाम सुख है, उस सुख का जो वेदन कराता है, अर्थात् भोग कराता है, वह साता वेदनीय कर्म है। (ध ६/३५)

असाता वेदनीय कर्म: जो दुःख स्वरूप इन्द्रिय विषयों का अनुभव करावे उसे असाता वेदनीय कर्म कहते हैं। (क प्र १४)

तीन लोकों में जितने भी ताड़न, भेदन, आदि शारीरिक और शोक, चिन्ता आदि मानसिक दुःख होते हैं वे सब के सब जीव के साथ बन्धे असाता वेदनीय कर्म के ही परिपाक हैं। (व चा ४/५९).

22/09/20, 4:43 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विच्छेद इस प्रकार है

*सद् - असद्वेद्ये।।८।।*

*सद्* अर्थात् साता वेदनीय और *असद्* अर्थात् असाता वेदनीय , ये दो वेदनीय कर्म हैं ।

यहां वेदनीय कर्म में जो साता -असाता भेद कहे हैं , वे जीव विपाकी कर्म हैं।जिसका फल जीव वेदन करे सो जीव विपाकी है।वेदनीय कर्म के उदय से जिस सुख दुख का वेदन होता है वह जीव में होता है , बाह्य सामग्री निमित्त मात्र है।सातावेदनीय के उदय से जिस वस्तु से सुख की अनुभूति होती है , असाता वेदनीय के उदय से उसी वस्तु से दुख की अनुभूति होने लगती है।

कभी कभी दुखरूप सामग्री भी सातावेदनीय के उदय से सुख रूप प्रतीत होती है । जैसे नर्कों में घोर दुख है , लेकिन सातावेदनीय के उदय से प्राप्त देव उस दुख रूप सामग्री में भी दुखी नहीं होते।

उसी प्रकार सुख रूप सामग्री भी असातावेदनीय के उदय से दुख रूप लगती है । जैसे बुखार होने पर मीठा दूध भी कड़वा लगने लगता है ।

22/09/20, 8:42 pm - +91 86503 17452 left

23/09/20, 8:17 am - +91 89558 75264 left

23/09/20, 10:39 am - Ashok Jain: मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां

*दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदा: सम्यक्त्व-मिथ्यात्वतदुभयान्य-कषाय-कषायौ-हास्यरत्यरतिशोक-भयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान- संजव्लनविकल्पाश्चैकश: क्रोधमानमायालोभा:॥९॥*

सूत्रार्थ: दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, अकषाय वेदनीय और कषाय वेदनीय इनके क्रमशः तीन, दो, नौ और सोलह भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, और (तदुभय) सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय हैं। अकाषय वेदनीय और कषाय वेदनीय ये दो चारित्र मोहनीय है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, और नपुंसक वेद ये नौ अकषाय है।

तथा अनन्ततानुबन्धी, अप्रत्यख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन, ये प्रत्येक क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से सोलह कषाय वेदनीय है।

मोहनीय कर्म दो प्रकार का है: १) दर्शनमोहनीय और २) चारित्रमोहनीय।

चारित्र मोहनीय दो प्रकार का है: १) कषाय वेदनीय और २) अकाषय वेदनीय।

कषाय वेदनीय सोलह प्रकार का है: अनन्ततानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। अकषाय वेदनीय नौ प्रकार का है: हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसक वेद। (व चा ४/२७-३२)

दर्शन मोहनीय कर्म: जिस कर्म के उदय से अनाप्त में आप्त बुद्धि और अपदार्थ में पदार्थ बुद्धि होती है। अथवा आप्त, आगम, और पदार्थों में श्रद्धान की अस्थिरता होती है अथवा दोनों में श्रद्धा होती है वह दर्शनमोहनीय कर्म है, यह अर्थ कहा गया है। (ध ६/३८)

दर्शनमोहनीय के भेद: दर्शनमोहनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा एक ही प्रकार का है क्योंकि बन्ध मात्र मिथ्यात्व प्रकृति का ही होता है, परंतु सम्यग्दर्शन रूप घन की चोट लगने से उस मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं अतः सत्ता की अपेक्षा दर्शनमोहनीय तीन (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक् प्रकृति) भेद वाला है तथा उदय भी तीन रूप से होता है। (रा वा १)

१) मिथ्यात्व: जिसके उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में श्रद्धा नहीं होती है वह मिथ्यात्व है, यह कोदों के तुष की तरह है। (मू १२३३ आ)

जिस कर्म के उदय से प्राणी सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से पराङ्गमुख, तत्वार्थ श्रद्धान से निरुत्सक, हिताहित का विभाग करने में असमर्थ और मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है। (रा वा २)

२) सम्यग्मिथ्यात्व: जिस कर्म के उदय से आप्त आगम और पदार्थों में तथा उनके प्रतिपक्षियों में अर्थात् कुदेव, कुशास्त्र और कुतत्वों में युगपत् श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यग्मिथ्यात्व है। (ध ६/३९)

३) सम्यक् प्रकृति: जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का मूल से विनाश तो नहीं होता, किंतु स्थिरता व निष्कांछिता का घात होने से सम्यग्दर्शन में चल, मलिन आदि दोष लग जाते हैं, वह सम्यक्प्रकृति है।

(ज ध ५/१३०)

क्रमशः...

23/09/20, 1:23 pm - Ashok Jain: ... आगे

चारित्र मोहनीय-कषाय वेदनीय:

-अनन्ततानुबन्धी कषाय: जो क्रोध- मान- माया- लोभ सम्यग्दर्शन और स्म्यक्चारित्र का विनाश करते हैं तथा जो अनन्त भव के अनुबन्धन स्वभाव वाले होते हैं अथवा अनन्त भवों में जिनका साथी अनुबंध चला जाता है वे अनन्ततानुबन्धी कहलाते हैं।(ध १३/३६०)

-अप्रत्याख्यानावरण कषाय: जो (अ= ईषत्, प्रत्याख्यान= संयम) देशसंयम को अल्पमात्र भी न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान- माया- लोभ कहते हैं। (गो क जी ३३)

-प्रत्याख्यानावरण कषाय: प्रत्याख्यान का अर्थ महाव्रत है । उनका आवरण करने वाला कर्म प्रत्याख्यानावरणीय है। वह क्रोध-मान-माया-लोभ के भेद से चार प्रकार का है। (ध १३/३६०)

-संज्वलन कषाय: 'सं' एकीभाव अर्थ में रहता है संयम के साथ अवस्थान होने से एक होकर जो ज्वलित होते हैं अर्थात् चमकते हैं या जिनके सद्भाव में संयम चमकता रहता है वे संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ हैं। (सर्वा ७५१)

क्रोध: अपने या दूसरों के अपराध से अपना या दूसराें का नाश करना क्रोध है अथवा अशुभ भावों का उत्पन्न होना क्रोध है।(य ति च ८/४६७)

क्रोध चार प्रकार का होता है- १) पत्थर रेखा सद्दश, २) पृथ्वी रेखा सद्दश, ३) धूलि रेखा सद्दश और ४) जलरेखा सद्दश।

मान: रोष से अथवा विद्या, तप, जाति आदि मद से अन्य के प्रति नम्र न होने (दूसरों के तिरस्कार) रूप भाव को मान कहते हैं। (ध १२/२८३)

मान चार प्रकार का है:

१) पत्थर के खम्भे समान, २) हड्डी के समान, ३) गीली लकड़ी के समान ४) बेंत के समान। (य ति च ८/४६७)

माया: दूसरे को ठगने के लिए जो छल-कपट और कुटिल भाव होता है वह माया है। (रा वा ५)

माया चार प्रकार की होती है-

१) बांस की जड़ के समान, २) बकरी के सींग के समान, ३) गोमूत्र के समान, ४) चामरों (चंवर) के समान।

लोभ:- बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार का जो अनुराग रूप बुद्धि होती है, वह लोभ है। (ध १२/२८३)

योग्य स्थान पर धनव्यय का अभाव है, वह लोभ है। (नि सा ता ११२)

लोभ चार प्रकार का होता है: १) किरमिच रंग के सद्दश, २) नील रंग के सद्दश ३) शरीर के मल के सद्दश, ४) हल्दी के रंग सद्दश। (य ति च ८/४७३)

इन कषायों का वासना काल:

संज्वलन: अन्तर्मूहूर्त

अप्रत्याख्यान: एक पक्ष (१५ दिन)

प्रत्याख्यान: छह माह

अनन्तानुबंधी: असंख्यात अनन्त भव हैं। (गो क ४६)

क्रमशः...

23/09/20, 3:21 pm - Dr Nidhi Sethi, Indore left

23/09/20, 4:50 pm - Ashok Jain: ... आगे

अकषाय: अकषाय में 'अ' निषेध अर्थ में नहीं है परन्तु ईषद् अर्थ में 'नञ्' समास है। जिस प्रकार कुत्ता स्वामी का इशारा पाकर बलवन्त हो जाता है और जीवों को मारने के लिए प्रवृत्त हो जाता है तथा स्वामी के इशारे से वापिस आ जाता है; उसी प्रकार क्रोधादि कषायों के बल पर ही ईषत् प्रतिषेध होने पर हास्यादि नोकषयों की प्रवृत्ति होती है, क्रोधादि कषायों के अभाव में ये निर्बल रहती है। इसलिए हास्यादि को ईषत् कषाय, अकषाय या नोकषाय कहते हैं। (रा वा ३)

आकषाय वेदनीय के भेद:

१) हास्य: जिसके उदय से हंसी आती है वह हास्य कर्म है।(सर्वा ७५०)

२) रति: रमने को रति कहते हैं अथवा जिसके द्वारा जीव विषयों में आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते हैं।

३) अरति: जिसके उदय से आत्मा के देश आदि में उत्सुकता उत्पन्न होती है, वह रति नाम का द्रव्यकर्म है। इसके विपरीत अरति कर्म है। (क प्र ६२)

४) शोक: शोक करना और जो शोक किया जाता है वह अरति है। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शोक उत्पन्न होता है उसका नाम शोक है। (मू आ १२३५)

५) भय: भीति को भय कहते हैं। उदय में आये हुए जिन कर्म स्कन्धों के द्वारा जीव के भय उत्पन्न होता है उनकी कारण में कार्य के उपचार से 'भय' यह संज्ञा है। (ध ६/४७)

६) जुगुप्सा: जिसके उदय से अपने दोषों का संंवरण (ढकना) और पर के दोषों का आविष्करण (प्रगट करना) होता है वह जुगुप्सा है। (सर्वा ७५०)

ग्लानि करना जुगुप्सा है।...(मू १२३५ आ)

७) स्त्रीवेद: जिसके उदय से स्त्री सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह स्त्रीवेद है। (सर्वा ७५०)

८) पुंवेद: जिसके उदय से पुरुष सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है वह पुंवेद है। (रा वा ४)

९) नपुंसक वेद: जिसके उदय से नपुंसक सम्बन्धी भावों को प्राप्त होता है, वह नपुंसक वेद है। (सर्वा ७५०)

कषाय वेदनीय और अकषाय वेदनीय में अन्तर: १) कषाय वेदनीय चारित्र का आवरण करने वाली है और अकषाय वेदनीय के चारित्र को आवरण करने का विरोध है।

२) कषाय वेदनीय की अपेक्षा नोकषाय वेदनीय में कर्म की स्थितियों के अनुभाग और उदय की अपेक्षा अल्पता पायी जाती है। (ध पु ६/४५-४६ के आधार से)

23/09/20, 7:37 pm - +91 77908 91974 left

24/09/20, 11:31 am - Ashok Jain: आयु कर्म की उत्तर प्रकृतियां

*नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि॥१०॥*

सूत्रार्थ: नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार प्रकार की आयु है।

नरकायु: जिसके निमित्त से शीत-उष्ण वेदना कारक नरकों में भी दीर्घकाल तक प्राणी जीवित रहता है, वह नरकायु है। (रा वा ५)

तिर्यगायु: प्राणी तिर्यंच आयु के उदय से त्रस-स्थावर दो भेद रूप तिर्यंच गतियों में उत्पन्न होकर केवल दुःख ही दुःख भोगते हैं। (ज्ञा ३५/२१)

मनुष्यायु: जिसके उदय से शारीरिक मानसिक अत्यधिक सुख-दुख से भरे हुए मानुष पर्याय में जन्म होता है वा जिसके उदय से प्राणी मानुष भव धारण करता है। वह मनुष्यायु कहलाती है। (रा वा ७)

देवायु: जिसके उदय से शारीरिक मानसिक सुख स्वरूप देव पर्याय में जन्म होता है वह देवायु है। वा जिस कर्म के उदय से प्राय:कर शारीरिक मानसिक सुखों से युक्त देव पर्याय में जन्म होता है उसे देवायु जानना चाहिए। (रा वा ८)

देवों में कभी कभी देवांगना आदि के वियोग से, दूसरे महर्द्धिक देवों की महाविभूति को देखने से, देवपर्याय की समाप्ति के सूचक, आज्ञा-हानि, माला के मुरझाने, आभूषण एवं शरीर की कांति आदि की हीनता देखने से मानसिक दुःख होता है। (रा वा ८)

24/09/20, 8:57 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): दस प्राणों में *आयुप्राण* मुख्य है।यह जीवित रहने का सर्वोत्कृष्ट निमित्त माना गया है।जिसके सद्भाव में जीवन और अभाव में मरण हो , वह *आयु* है या जो नरक आदि भवों में रोके रखे वह *आयु* है ।

बहुत से लोग अन्न आदि के लाभ या अलाभ में जीवन मरण मानते हैं , लेकिन यह सही नहीं है।अन्न आदि तो आयु उपकारक हैं।जैसे घट आदि की उत्पत्ति में मूल कारण मिट्टी का पिण्ड है , कुम्भकार आदि उपकारक हैं , उसी प्रकार भवधारण का मूल कारण आयु ही है ।अन्न आदि तो उपकारक मात्र हैं क्योंकि अन्न आदि का सेवन करते हुए भी क्षीण आयु वाला मरते हुए देखा जाता है।

तिर्यंच , मनुष्य और देवायु शुभ है और नरकायु अशुभ है। यद्यपि तिर्यंच आयु में कोई जाना तो नहीं चाहता , इस अपेक्षा से उसे भी अशुभ कहा जा सकता है , लेकिन कोई भी तिर्यंच असमय में मरना नहीं चाहता , अत: तिर्यंच आयु शुभ है।

नरक आयु में कोई भी जाना नहीं चाहता , लेकिन कर्मोदय से चला भी गया तो वहां रहना नहीं चाहता। हर क्षण मरना ही चाहता है , अतः नरक आयु अशुभ है।

25/09/20, 10:38 am - Ashok Jain: पिछले कुछ दिनों से सदस्य निकल रहे हैं। कारण समझ में नहीं आ रहा। सात अध्याय तक साथ में स्वाध्याय करने वाले क्यों निकाल रहे हैं।

मैं सबसे निवेदन करता हूं मेरी ओर से कोई कमी हो तो मुझे अवश्य अवगत करायें, मैं निश्चित ही सुधारने की पूरी कोशिश करूंगा।

ग्रुप छोड़ने के पहले कृपया मुझे किसी सुधार के लिए ९९०३०४९७८३ नम्बर पर वाट्स-अप करके जानकारी दें । आप अपना नाम और स्थान अवश्य लिखें। 🙏

25/09/20, 11:14 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बिल्कुल सही कहा आपने , सभी से निवेदन है कि कृपया ग्रुप नहीं छोड़ें तथा कोई सुझाव तो अशोक जी को पर्सनल में लिखें।

25/09/20, 11:34 am - Ashok Jain: नामकर्म की उत्तर प्रकृतियां

*गति-जाति-शरीरांगोपांगनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थान-संहननस्पर्शरसगंधवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येक शरीरत्रस-सुभग- सुस्वर-शुभसूक्ष्म पर्याप्तिस्थिरादेययशः कीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥*

सूत्रार्थ: गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छवास, विहायो-गति, प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय, यशः कीर्ति, तथा (सेतराणि) इनसे विपरीत साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयशकीर्ति और तीर्थंकर ये नामकर्म की बयालीस प्रकृतियां हैं।

१) गति नामकर्म: गति कर्मोदय से जनित पर्याय 'गति' है *अथवा* चारों गतियों में गमन करने के कारण को गति कहते हैं। (गो जी १४६)

गति चार प्रकार की होती है- १) नरक गति, २) तिर्यञ्च गति, ३) मनुष्य गति, ४) देवगति। (सर्वा २६५)

२) जाति नामकर्म: जो कर्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भाव का बनाने वाला है वह जाति नामकर्म है। (ध १३/३६३)

*इस प्रकार जाति नामकर्म पांच प्रकार का है।*

३) शरीर नामकर्म: जिस कर्म के उदय से आत्मा के शरीर की रचना होती है वह शरीर नामकर्म है। (रा वा ३)

शरीर नामकर्म पांच प्रकार का है-

१) औदारिक शरीर नामकर्म, २) वैक्रेयिक शरीर नामकर्म, ३) आहारक शरीर नामकर्म, ४) तैजस शरीर नामकर्म और ५) कार्मण शरीर नामकर्म। (मू १२३६)

४) अंगोपांग नामकर्म: जिसके उदय से सिर, पीठ, जांघ, बाहु, उदर, नल, हाथ और पैर इन आठ अंगों की तथा ललाट, नासिका, आंख, अंगुली, आदि उपांगों की रचना होती है, विवेक (विभाजन) होता है उसे अंगोपांग नामकर्म कहते हैं। (रा वा ४)

.... शरीर में दो हाथ, दो पैर, नितम्ब, पीठ, हृदय और मस्तिष्क ये आठ अंग हैं। (ध पु ६/५४)

अंगोपांग तीन प्रकार का होता है-

१) औदारिक शरीर अंगोपांग, २) वैक्रियिक शरीर अंगोपांग और ३) आहारक शरीर अंगोपांग।(रा वा ४)

५) निर्माण नामकर्म: जिसके द्वारा जाति कर्म के अनुसार इन्द्रियों के आकार, तद्-तद् स्थान और शरीर प्रमाण उनकी रचना की जाती है वह निर्माण नामकर्म है। (रा वा ५)

निर्माण नामकर्म दो प्रकार का है:

१) प्रमाण निर्माण, २) स्थान नामकर्म (रा वा ५)

क्रमशः...

25/09/20, 4:07 pm - Ashok Jain: ... आगे

६) बन्धन नामकर्म: शरीर नामकर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों का परस्पर प्रदेश संश्लेष जिसके द्वारा होता है वह बन्धन नाम कर्म कहलाता है। यही अस्थि आदि का परस्पर बन्धन करता है। (रा वा ६)

बन्धन नामकर्म पांच प्रकार का होता है:

१) औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म, २) वैक्रियिक शरीर बन्धन नामकर्म, ३) आहारक शरीर बन्धन नामकर्म, ४) तैजस शरीर बन्धन नामकर्म, ५) कार्मण शरीर बन्धन नामकर्म।

(मू १२३६ आ)

७) संहात नामकर्म: जिसके उदय से औदारिक आदि पांच शरीरों के प्रदेशों में से अपने-अपने शरीर के प्रदेश परस्पर में अन्योन्य प्रवेश स्वरूप तथा छिद्र रहित एकत्व सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं, वह संहात नामकर्म है। (मू १२३६ आ)

संहात नामकर्म पांच प्रकार का है: १) औदारिक शरीर संहात नामकर्म, २) वैक्रियिक शरीर संहात नामकर्म, ३) आहारक शरीर संहात नामकर्म, ४) तैजस शरीर संहात नामकर्म, ५) कार्मण शरीर संहात नामकर्म।

(मू १२३६आ)

८) संस्थान नामकर्म: जाति नामकर्म के उदय से परतंत्र जिन कर्म स्कन्धों के उदय से शरीर का आकार बनता है वह शरीर संस्थान नामकर्म है। (ध ६/५३)

संस्थान नामकर्म छह प्रकार का है:

१) समचतुस्र संस्थान, २) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, ३) स्वाति संस्थान, ४) कुब्जक संस्थान, ५) वामन संस्थान और ६) हुण्डक संस्थान (रा वा ८)

९) संहनन नामकर्म: जिस कर्म के उदय से हड्डियों की सन्धि में बन्ध विशेष होता है वह संहनन नामकर्म है।

(ध १३/३६४)

संहनन छह प्रकार के होते हैं:

१) वज्रवृषभनाराच संहनन, २) वज्र नाराच संहनन, ३) नाराच संहनन ४)

अर्ध नाराच संहनन ५) कीलक संहनन ६) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन।

(रा वा ९)

*....अवसर्पिणी के पांचवें काल (वर्तमान) में अंतिम तीन संहनन हो सकते हैं। ...(क प्र टी ८८-९० अज्ञात अ.)

25/09/20, 4:26 pm - Ashok Jain: १०) स्पर्श नामकर्म: जिसके उदय से शरीर में स्पर्श का प्रादुर्भाव होता है वह स्पर्श नामकर्म है।

स्पर्श नामकर्म आठ प्रकार का है:

१) कर्कश स्पर्श नामकर्म, २) मृदु स्पर्श नामकर्म ३) गुरु स्पर्श नामकर्म ४) लघुक स्पर्श नामकर्म ५) स्निग्ध स्पर्श नामकर्म ६) रूक्ष स्पर्श नामकर्म ७) शीत स्पर्श नामकर्म ८) उष्ण स्पर्श नामकर्म। (मू १२३७ आ)

११) रस नामकर्म: जिसके उदय से शरीर में रस उत्पन्न होता है वह रस नामकर्म है। (सुख बो त वृ ४८१)

रस नामकर्म पांच प्रकार का है:

१) तिक्त रस नामकर्म २) कटुक रस नामकर्म ३) कषाय रस नामकर्म ४) अम्ल रस नामकर्म ५) मधुर रस नामकर्म।

१२) गंध नामकर्म: जिस कर्मस्कन्ध के उदय से जीव जीव के शरीर में जाति-प्रतिनियत गंध उत्पन्न होता है, उस कर्मस्कन्ध की 'गंध' यह संज्ञा कारण में कार्य के उपचार से की गई है। (ध ६/५५)

गंध के दो भेद हैं: १) सुगंध नामकर्म २) दुर्गंध नामकर्म (हरि पु ५८/२५९)

१३) वर्ण नामकर्म: जिस कर्म के उदय से शरीर में वर्ण उत्पन्न होता है वह वर्ण नामकर्म है। (मू १२३७ आ)

वर्ण नामकर्म पांच प्रकार का होता है:

१) कृष्ण वर्ण नामकर्म, २) नील वर्ण नामकर्म, ३) रूधिर वर्ण नामकर्म, ४) हरिद्र वर्ण नामकर्म ५) शुक्ल वर्ण नामकर्म। (मू १२३७ आ)

क्रमशः...

25/09/20, 9:23 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏

26/09/20, 10:43 am - Ashok Jain: ... आगे

१४) आनुपूर्वी नामकर्म: पूर्वायु के नाश हो जाने पर, पूर्व के निर्माण नामकर्म की निवृत्ति होने पर विग्रह गति में जिसके उदय से पूर्व के तैजस-कार्मण शरीर का विनाश न हो उसे आनु-पूर्वी नामकर्म कहते हैं। (हरि पु ५८/२६१ आधार से)

पूर्व और उत्तर शरीर के अन्तराल में एक, दो अथवा तीन समय तक होने वाला जो जीव के प्रदेशों का आकार विशेष जिस कर्म स्कन्ध के उदय से होता है उसका नाम आनुपूर्वी है। (मू १२३७ आ)

आनुपूर्वी नामकर्म चार प्रकार का होता है: १) नरक-गत्यानुपूर्वी, २) तिर्यक्-गत्यानुपूर्वी, ३) मनुष्य-गत्यानुपूर्वी ४) देव-गत्यानुपूर्वी (रा वा ११)

१५) अगुरुलघु नामकर्म: जिस कर्म स्कन्ध के उदय से यह जीव अनन्तानन्त पुद्गलों से पूर्ण होकर भी लोहपिण्ड के समान गुरु होकर न तो नीचे ही गिर जाता है और न रूई के समान हल्का होकर ऊपर चला जाता है, वह अगुरुलघु नामकर्म है। (मू १२३७ आ)

१६) उपघात नामकर्म: स्वयं प्राप्त

होने वाले घात को उपघात-आत्मघात कहते हैं। जो कर्म अवयवों को जीत की पीड़ा का कारण बना देता है, अथवा जीव पीड़ा के कारण स्वरूप विष, खड्ग, पाश आदि द्रव्यों को जीव के लिए ढोता है वह उपघात नामकर्म है। (ध ६/५९)

१७) परघात नामकर्म: पर जीवों के घात को परघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में पर को घात करने कारण भूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं, वह परघात नामकर्म है। (ध ६/५९)

तीक्ष्ण सींग, नख, सर्पादि की दाढ़ी में विष आदि परघात के कारण हैं। (गो क ३३)

१८) आतप नामकर्म: जिसके उदय से आतपन होता है, वह आतप नामकर्म है। अथवा जिसके उदय से आत्मा तपती है, जो सूर्य आदि में ताप का निर्वर्तक है। (रा वा १५)

१९) उद्योत नामकर्म: उद्योतित होना चमकना उद्योत है। जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में उद्योत ठण्डा प्रकाश उत्पन्न होता है वह उद्योत नामकर्म है।(मू १२३८ आ)

उद्योत नामकर्म का उदय चन्द्र के विमान में स्थित पृथ्वीकाय, एकेन्द्रिय जुगनू आदि तिर्यञ्चों में होती है। (रा वा १६)

२०) उच्छवास नामकर्म: जो उच्छवास प्राणापान का कारण होता है, वा जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास होता है, वह उच्छ्वास नामकर्म है। (रा वा १७)

२१) विहायोगति नामकर्म: विहाय का अर्थ आकाश होता है और आकाश में गमन का कारण विहायोगति नामकर्म है। (रा वा १८)

विहायोगति नामकर्म दो प्रकार का है:

१) प्रशस्त विहायोगति २) अप्रशस्त विहायोगति (रा वा १८)

क्रमशः...

26/09/20, 11:38 am - Ashok Jain: .. आगे

२२) प्रत्येक शरीर नामकर्म: शरीर नामकर्म के उदय से रचा हुआ और एक आत्मा के लिए उपभोग का कारण शरीर जिस कर्म के उदय से होता है वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। (मू १२३८)

२३) साधारण शरीर नामकर्म: जिसके उदय से एक ही शरीर बहुत सी आत्माओं के उपभोग कारण होता है वा एक ही शरीर के बहुत से जीव स्वामी होते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है। (रा वा २०)

२४) त्रस नामकर्म: जिस कर्म के उदय से जीव त्रसों में उत्पन्न होता है वह त्रस नामकर्म है। (मू १२३८ आ)

२५) स्थावर नामकर्म: जिस कर्म के उदय से प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति रूप पंच स्थावर एकेन्द्रियों में जन्म लेता है, पांच स्थावर काय में उत्पन्न होता है वह स्थावर नामकर्म है। (रा वा २२)

२६) सुभग नामकर्म: जिसके उदय से स्त्री और पुरुष में परस्पर प्रीति से उत्पन्न हुआ सौभाग्य होता है वह सुभग नामकर्म है। (मू १२३८ आ)

२७) दुर्भग नामकर्म: रूपवान, सौन्दर्यवान होते हुए भी जिस कर्म के उदय से दूसरों को प्यारा न लगे, दूसरे उससे प्रीति न करें, किंतु जो दूसरों की अप्रीति का कारण होता है, अप्रीतिकर प्रतीत होता है, वह दुर्भग नामकर्म है। (रा वा २४)

२८) सुस्वर नामकर्म: जिस कर्म के उदय से अन्य जनों को मोहित करने वाले मनोज्ञ स्वर हों, जिसका स्वर सबको कर्णप्रिय हो, वह सुस्वर नामकर्म है। (रा वा २५)

२९) दुस्वर नामकर्म: जिसके उदय से अमनोज्ञ स्वर होता है वह दुस्वर नामकर्म है। (मू १२३८ आ)

३०) शुभ नामकर्म: जिसके उदय से अंगोपांग-नामकर्म से उत्पन्न हुए अंगों और उपांगों में रमणीयता आती है वह शुभ नामकर्म है। (मू १२३८ आ)

३१) अशुभ नामकर्म: शुभ से विपरीत अशुभ नामकर्म है। देखने व सुनने वाले को रमणीय प्रतीत नहीं होता है, वह अशुभ नामकर्म है। (रा वा २८)

३२) सूक्ष्म नामकर्म: सूक्ष्म शरीर की रचना का कर्त्ता सूक्ष्म नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों के अनुग्रह या उपघात के अयोग्य सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति होती है वह सूक्ष्म नामकर्म है। (रा वा २९)

क्रमशः...

26/09/20, 3:36 pm - Ashok Jain: ... आगे

३३) बादर नामकर्म: जिस कर्म के उदय से अन्य को बाधा देने वाले शरीर में जीव का जन्म होता है वह बादर नामकर्म है। (मू १२३८ आ)

जिस कर्म के उदय से अन्य जीवों को बाधाकारक शरीर प्राप्त होता है वह स्थूल नामकर्म है। ((रा वा ३०)

३४) पर्याप्ति नामकर्म: जिसके उदय से आत्मा अन्तर्मूहूर्त में आहारादि पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है, पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, उसे पर्याप्ति नामकर्म कहते हैं। (रा वा ३१)

पर्याप्तियां छह होती हैं:

१) आहार पर्याप्ति २) शरीर पर्याप्ति ३) इन्द्रिय पर्याप्ति ४) श्वासोच्छवास पर्याप्ति ५) भाषा पर्याप्ति ६) मन: पर्याप्ति (रा वा ३१)

३५) अपर्याप्त नामकर्म: छह पर्याप्तियों की पूर्णता न होना अपर्याप्ति है। (मू १२३८ आ)

जो पर्याप्तियों का अभाव का हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। (सर्वा.७५५) इसके दो भेद हैं: १) लब्ध्यपर्याप्तक २) निर्वृत्यपर्याप्तक

३६) स्थिर नामकर्म: जिस कर्म के उदय से रस, रुधिर आदि सात धातुओं की स्थिरता, अविनाश, अगलन (गलना न हो) वह स्थिर नामकर्म है। (ध ६/६३)

रस, रुधिर, मेद, मज्जा, हड्डी, मांस और शुक्र ये सात धातुएं हैं। (मू १२३८ आ) वात, पित्त, कफ, शिरा, स्नायु, चाम, और जठराग्नि ये सात उपधातु हैं। (ह पु ५८/२७६)

३७) अस्थिर नामकर्म: जिस कर्म के उदय से रसादिकों का आगे की धातुओं स्वरूप से परिणमन होता है वह अस्थिर नामकर्म है। (ध १३/३६५)

३८) आदेय नामकर्म: जिस कर्म के उदय से आदेय-प्रभा सहित शरीर होता है वह आदेय नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से दृष्ट और इष्ट प्रभा से युक्त शरीर की प्राप्ति होती है वह आदेय नामकर्म है।(रा वा ३६)

३९) अनादेय नामकर्म: जिस कर्म के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी जीव गौरव को प्राप्त नहीं होता है वह अनादेय नामकर्म है। (ध १३/३६६)

४०) यशस्कीर्ति नामकर्म: यश नाम गुण का है, उसके उद्भावन (प्रकटीकरण) को कीर्ति कहते हैं। जिसके उदय से विद्यमान या अविद्यमान गुणों का उद्भावन लोगों के द्वारा किया जाता है, उस कर्म की यश: कीर्ति यह संज्ञा है। (ध ६/६५-६६)

४१) अयश:कीर्ति नामकर्म: यश: कीर्ति से विपरीत अयश: कीर्ति नामकर्म है। जिसके उदय से विद्यमान अथवा अविद्यमान भी दोषों की प्रसिद्धि हो जावे वह अयश: कीर्ति नामकर्म है। (मू १२३८ आ)

४२) तीर्थंकर नामकर्म: जिस कर्म के उदय से जीव की त्रिलोक में पूजा होती है वह तीर्थंकर नामकर्म है। (ध ६/६७)

जिस कर्म के उदय से तीनों लोक में पूजा का हेतु परम आर्हन्त्य पद प्राप्त होता है वह परमोत्कृष्ट तीर्थंकर नामकर्म है। (मू १२३८ आ)

27/09/20, 10:34 am - Ashok Jain: गोत्र कर्म के भेद

*उच्चैर्नीचैश्च॥१२॥*

सूत्रार्थ: (उच्चै:) उच्च गोत्र (च) और (नीचै:) नीच गौत्र ये गोत्र कर्म के दो भेद हैं।

[कर्मभूमि में पैदा होने वाले मनुष्यों में गोत्रपरिवर्तनशीलता होती है।इसी बात को सूत्रकार ने 'चकार' से सूचित किया है।]

{जो उचितज्ञाता, संतोषधाराणादि परिणामों के द्वारा देवों के साथ समानता रखते हों, वे उच्चगोत्र वाले हैं।}

उच्च गोत्र: जिस कर्म के उदय से लोकपूजित, महत्वशाली, इक्ष्वाकुवंश, उग्रवंश, कुरुवंश, हरिवंश और ज्ञानी आदि विशेष कुल में जन्म होता है, वह उच्चगोत्र है। (रा वा २)

° भवनत्रिक, वैमानिक देव, सभी देवियों के उच्च गोत्र का ही उदय रहता है। (गो क ३०४)

° भोगभूमिया मनुष्यों के उच्चगोत्र का ही उदय रहता है। (गो क ३०२)

° चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण, तीर्थंकर के माता-पिता आदि महापुरुषों के उच्च गोत्र का ही उदय होता है।

° संयमासंयम को पालने वाले तिर्यंचों के उच्च गोत्र पाया जाता है। (ध १५/१५२)

नीच गोत्र: जिस कर्म के उदय से निन्दनीय, दरिद्री, अप्रसिद्ध, दुखित परम्परा से नीच आचरण करने वाले दु:खाकुल और हीन कुल में प्राणियों का जन्म होता है वह नीचगोत्र है। (रा वा ३)

° सभी नरकों में नारकियों के नीच गोत्र का ही उदय होता है। (गो क २९०)

° कर्म भूमिया एवं भोगभूमिया सभी तिर्यंचों के नीच गोत्र का ही उदय होता है। (गो क २९४)

° एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों के नीच गोत्र का ही उदय होता है। (गो क २९५)

[कुभोगभूमि के मनुष्यों के समान आचार-व्यवहार होने से उनमें सदा नीचता मानी गई है]

27/09/20, 11:38 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गोत्रकर्म के कार्य के बारे में कहा है

*संताणकमेणागयजीवायरणस्य गोदमिदि सण्णा।*

*उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं।।* १३।। -क.का.

अर्थात् संतानक्रम से चले आये जीव के आचरण को गोत्र कहते हैं।उच्च व नीच आचरण से उच्च व नीच गोत्र होता है।

*उच्चं नीचं गमयतीति गोत्रम्* अर्थात् जो उच्च व नीच का आचरण कराता है वह *गोत्र* है।

गोत्रकर्म को निष्फल नहीं जानना चाहिए क्योंकि जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है , साधु आचार वालों के साथ जिन्होंने संबंध स्थापित किया है तथा जो *आर्य* इस प्रकार के ज्ञान और वचन व्यवहार के निमित्त हैं , उन पुरुषों की परम्परा को उच्च गोत्र कहा जाता है तथा इनमें उत्पत्ति का कारणभूत कर्म भी उच्च गोत्र है ।उससे विपरीत कर्म नीच गोत्र कर्म है।

27/09/20, 1:25 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): धवला जी में उच्चगोत्र को शुक्लध्यान का हेतु कहा है क्योंकि नीचगोत्री को शुक्लध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती ।यदि नीच गोत्री को शुक्लध्यान की सिद्धि होती है , यह मान लिया जाये तो शूद्र मुक्ति का भी प्रसंग आयेगा जो कि मूल आचार्यों के मत से आगम विरुद्ध है ।आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने *आचार्य भक्ति* में कहा है *देश कुल जाइ शुद्धा* अर्थात् आचार्य देश ,कुल एवं जाति से शुद्ध होना चाहिए । इससे यह सिद्ध होता है कि शूद्र को मुनिदीक्षा नहीं दी जा सकती।

गोत्रकर्म को जीव विपाकी जरूर कहा है , लेकिन उच्च पुद्गल द्रव्य के संयोग से ही जीव अपने आप को उच्च अनुभव करेगा ।जैसे करोड़पति व्यक्ति अपने करोड़ रुपये के पुद्गल द्रव्य के संयोग से ही करोड़पति होने का अनुभव करेगा , लेकिन मुनीम करोड़पति होने का अनुभव नहीं करेगा ।

जिस प्रकार शुद्ध रत्न ; खान से निकला रत्न ही शुद्धता के कारण बहुमूल्य है उसी प्रकार उच्च गोत्र के कारण ही परिवार की प्रतिष्ठा या कीर्ति होती है ।इसीलिए लोकपूजित लोक गर्हित *जन्म* को ही उच्च -नीच गोत्र कहा है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने बोधि दुर्लभ भावना में कहा है कि एक बार मनुष्य पर्याय मिलकर छूट जाये तो उसे पुनः प्राप्त करना उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार सूखे वृक्ष का जलकर राख हो जाना और पुनः उन्हीं परमाणुओं का मिलकर उसी

वृक्ष रूप हो जाना । हो सकता है कि जिस प्रकार  कदाचित् जले हुए वृक्ष की राख के वे परमाणु पुनः वृक्ष रूप हो जायें उसी प्रकार पुनः मनुष्य पर्याय भी मिल जाये , किन्तु उत्तम देश , उत्तम कुल , इन्द्रिय सम्पन्नता और निरोगता का पुनः पुनः मिलना बहुत ही कठिन है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उच्च कुल का मिलना भी बोधि दुर्लभ भावना से समझा जा सकता है।* *अतः जो लोग जाति-कुल-गोत्र का उपहास करते हैं या मद करते हैं उन्हें कभी समीचीन धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती।*

लिखने का आधार - परम पूज्य प्रज्ञाश्रमण मुनि श्री अमितसागर जी महाराज द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* की टीका से।

27/09/20, 2:18 pm - Ashok Jain: 👏👏👏

27/09/20, 9:21 pm - +91 96605 45007 left

27/09/20, 9:25 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *कुल परम्परा के आचरण के* *विषय में एक सुन्दर दृष्टान्त*

एक सियाल के बच्चे को बचपन से ही एक सिंहनी ने पाला।वह सिंह के बच्चों के साथ ही खेला करता था।एक दिन वे बच्चे खेलते हुए किसी जंगल में जा पहुंचे जहां उन्होंने हाथियों के एक समूह को देखा। यह देखकर जो सिंहनी के बच्चे थे , वे हाथी के सामने हो गये , लेकिन वह सियाल जिसमें अपने कुल के डरपोकपने के संस्कार थे , वह हाथियों को देखकर भागने लगा।तब वे सिंह के बच्चे भी सियाल को अपना बड़ा भाई मानकर उसका अनुकरण करते हुए भागने लगे तथा माता के पास आकर उसकी शिकायत की कि उसने हमें शिकार करने से रोका।

तब सिंहनी ने सियाल के बच्चे को एक श्लोक सुनाया -

*शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक।*

*यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते।।*

हे पुत्र , तू शूरवीर है , विद्यावान है , देखने में सुंदर है , जिस कुल में तुम उत्पन्न हुए हो उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते हैं ।अतः तू यहां से भाग जा नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि रजोवीर्य का संस्कार अवश्य आ जाता है , चाहे वह कैसे भी विद्या आदि गुणों से सहित क्यों न हो , उस पर्याय के संस्कार नहीं मिटते क्योंकि जैसे रजोवीर्य से शरीर - मस्तिष्क व मन का निर्माण होता है , वैसे ही जीव के विचार होते हैं।

28/09/20, 4:30 am - +91 87409 83851 left

28/09/20, 1:06 pm - +91 97659 25836 left

28/09/20, 1:39 pm - +91 98507 36515 left

28/09/20, 3:27 pm - Ashok Jain: अन्तराय कर्म के उत्तर भेद

*दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम्॥१३॥*

सूत्रार्थ: दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच अन्तराय कर्म की प्रकृतियां हैं।

दानान्तराय: जिसके उदय से देने की इच्छा होने पर भी न दे सके, वह दानान्तराय कर्म है।

लाभान्तराय कर्म: जिसके उदय से लाभ की इच्छा होने पर भी लाभ नहीं हो पाता हो वह लाभान्तराय कर्म है।

भोगान्तराय कर्म: जिसके उदय से भोगने की इच्छा होने पर भी भोग नहीं कर सकता है, वह भोगान्तराय कर्म है।

उपभोगान्तराय: जिसके उदय से उपभोग करने की इच्छा होने पर भी उपभोग नहीं कर सकता है वह उपभोगान्तराय कर्म है।

वीर्यान्तराय कर्म: जिसके उदय से कार्य करने का उत्साह होने पर भी निरुत्साहित हो जाता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

जो प्राणी दूसरों को दान देने और पाने में बाधक होते हैं वे भव-भव में दरिद्र ही होते हैं।

जो किसी को होते हुए लाभ में अकारण ही अड़ंगा लगा देते हैं उनकी सम्पति कमाने की इच्छा असफल ही रहती है।

अपने अपने पुण्य के फलस्वरूप भोगों का रस लेने वालों के मार्ग में जो बाधक होते हैं वे स्वयं भी सब ही भोगों से वञ्चित रह जाते हैं।

जिन्होंने दूसरे के उपभोग भोगने के मार्ग में रोड़े अटकाए हैं वे सम्पति आदि साधनों को पाकर भी उपभोगों के आनन्द से वञ्चित ही रह जाते हैं।

दूसरों की शक्ति वीर्य के विकास मार्ग में जो कांटे बोते हैं, वे भी इस संसार में शक्तिहीन और अक्षम होते हैं। (व चा ४/१०१-३)

28/09/20, 5:48 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏👏👏👏

29/09/20, 10:30 am - Ashok Jain: कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति

*आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य: परा स्थिति:॥१४॥*

सूत्रार्थ: (आदितस्तिसृणां) आदि के तीन कर्मों की (अन्तरायस्य च) तथा अन्तराय कर्म की (त्रिंशत्सागरोपम कोटिकोट्य:) तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण (परा) उत्कृष्ट (स्थिति:) स्थिति होती है।

ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की नौ, अन्तराय की पांच, तथा असतावेदनीय इन बीस प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मूल प्रकृतियों के समान तीस कोड़ाकोड़ी सागर है। सातावेदनीय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। (गो क १२८)

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण है। (रा वा ६)

29/09/20, 2:34 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): करोङ का करोड़ से गुणा करने पर *कोड़ाकोड़ी* का प्रमाण होता है। यहां पर *पर* शब्द उत्कृष्ट वाची है ।मिथ्यादृष्टि , संज्ञी, पंचेन्द्रिय और पर्याप्तक जीव को ही इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है।आगे भी इन्हीं जीवों की उत्कृष्ट स्थिति जानना चाहिए।अन्य जीवों की स्थिति आगम से जानना चाहिए।

30/09/20, 12:07 am - +91 79808 82242 left

30/09/20, 10:42 am - Ashok Jain: मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

*सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥*

सूत्रार्थ: (मोहनीयस्य) मोहनीय कर्म की स्थिति (सप्ततिः) सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध  सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (रा वा १)

एकेन्द्रिय पर्याप्तक के मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध एक सागर प्रमाण है। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के पच्चीस सागर, त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के पचास सागर, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकों के सौ सागर, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के एक हजार सागर तथा *संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है।*

अपर्याप्तक एकेन्द्रिय के मोहनीय कर्म का उत्कर्ष स्थिती बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर प्रमाण, द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवे भाग कम पच्चीस सागर प्रमाण, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवे भाग कम पचास सागर प्रमाण, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्योपम के संख्यातवे भाग कम सौ सागर प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्यप्तकों के संख्यातवें भाग कम एक हजार सागर प्रमाण तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्यप्तकों के अन्त: कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (रा वा १)

विशेष: मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध सत्तर कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है।

अनन्तानुबन्धी आदि सोलह कषायों का चालीस कोटाकोटी सागर प्रमाण,

हास्य रति तथा पुरुष वेद का दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

अरति, शोक, भय जुगुप्सा तथा नपुंसक वेद का बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। स्त्रीवेद का पन्द्रह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (गो क १२८-१३३)

01/10/20, 8:38 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में *सागरोपम कोटीकोट्य:* पद की अनुवृत्ति पूर्व के सूत्र से ली है जिससे इस सूत्र का पूरा अर्थ निकलता है कि *मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोङाकोड़ी सागरोपम है।*

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं - दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय।दर्शन मोहनीय का उत्कृष्ट बन्ध सत्तर कोङाकोड़ी सागरोपम है , चारित्र मोहनीय का उत्कृष्ट प्रमाण चालीस कोड़ाकोङी सागर प्रमाण होता है ।यह उत्कृष्ट बन्ध भी मिथ्यादृष्टि , संज्ञी , पंचेन्द्रिय , पर्याप्तक जीव के जानना चाहिए।

01/10/20, 10:49 am - Ashok Jain: नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

*विंशतिर्नामगोत्रयो: ॥१६॥*

सूत्रार्थ: (नामगोत्रयो:) नाम और गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध (विंशति:) बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है।

नाम कर्म का सामान्य उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। तथा उत्तर प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का वर्णन आगे किया जायेगा। (क प्र १२२)

गोत्र कर्म में से उच्चगोत्र का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध दस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। तथा नीच गोत्र का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (क प्र १२५-२७)

गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेष परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं। (गो क १३८)

पर्याप्तक जीवों के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध: एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों के नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, द्वीन्द्रिय पर्याप्तक के पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, त्रीन्द्रिय पर्याप्तकों के पचास सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तकों के सौ सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के एक हजार सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों के बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। (रा वा १)

अपर्याप्तक जीवों के उत्कृष्ट स्थिति बन्ध: संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्यप्तकों के नाम-गोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त: कोटाकोटी सागर प्रमाण, एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के असंख्यातवें भाग कम एक सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के संख्यातवे भाग कम पच्चीस सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक के पल्य के संख्यातवे भाग कम पचास सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक के सौ सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण, पंचेन्द्रिय असंज्ञी अपर्याप्तक के एक हजार सागर के सात भागों में से दो भाग प्रमाण जानना चाहिए। (रा वा १)

क्रमशः...

01/10/20, 5:01 pm - Ashok Jain: ...आगे

गति नामकर्म: नरक गति एवं देवगति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यंच करते हैं। तिर्यंच का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध (मिथ्यादृष्टि) देव व मिथ्यादृष्टि नारकी करते हैं। मनुष्य गति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले करते हैं। (गो क १३७-३८)

जाति नामकर्म: एकेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट बन्ध मिथ्यादृष्टि देव एवं पंचेन्द्रिय जाति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले तथा ईषत् मध्यम संक्लेश परिणाम वाले चारों गतियों के जीव करते हैं।

विकलत्रय का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यंच जीव करते हैं। (गो क १३७-३८)

शरीरबन्धन संघात एवं अंगोपांग नामकर्म: औदारिक वैक्रियिक तेजस तथा कार्मण शरीर का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है।

आहारक शरीर का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त:कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (इसी प्रकार पांच संघात एवं पांच बन्धन जानना चाहिए।)

औदारिक एवं वैक्रियिक अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

आहारक शरीर अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त:कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (गो क १२८-१३३)

शरीर एवं शरीर अंगोपांग: औदारिक शरीर एवं औदारिक अंगोपांग नामकर्म का बन्ध मिथ्यादृष्टि देव और नारकी जीव ही करते हैं।

वैक्रियिक शरीर एवं वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य एवं तिर्यंच जीव ही करते हैं।

आहारक शरीर एवं आहारक शरीर अंगोपांग का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध प्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख संक्लेश परिणामी अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीव करता है। (गो क १३६-३८)

क्रमशः...

02/10/20, 10:43 am - Ashok Jain: ... आगे

निर्माण नामकर्म: निर्माण नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है।(गो क १३१)

संस्थान एवं संहनन नामकर्म: समचतुस्र संस्थान एवं वज्रर्षभनाराच संहनन का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध दस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

न्याग्रोध परिमंडल संस्थान एवं वज्रर्षभनाराच संहनन का बारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। स्वाति संस्थान एवं नाराच संहनन का चौदह कोटाकोटी, कुब्जक संस्थान एवं अर्धनाराच संहनन का सोलह कोटाकोटी, वामन संस्थान एवं कीलक संहनन का अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण तथा हुण्डक संस्थान एवं असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन का बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गो क १२९)

स्पर्शादि, चार आनुपूर्वी, अगुरुषट्क एवं विहायोगति: स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात परघात आतप उद्योत उच्छवास तथा अप्रशस्त विहायोगति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

मनुष्य गत्यानुपूर्वी का पन्द्रह कोटाकोटी सागर प्रमाण है।  देवगत्यानुपूर्वी एवं प्रशस्त विहायोगति का दस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण होता है।(गो क १२८-३३)

प्रत्येक शरीर आदि:  प्रत्येक शरीर, त्रस, प्रर्याप्त का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण है।

सुभग, सुस्वर, शुभ, स्थिर आदेम और यश-कीर्ति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध दस कोटाकोटी सागर प्रमाण है। (गो क १२९-३३)

साधारण शरीर आदि: साधारण शरीर, अपर्याप्तक नामकर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अठारह कोटाकोटी सागर प्रमाण है। स्थावर, दुर्भग, दुस्वर, अशुभ, बादर, अस्थिर, अनादेय तथा अयशकीर्ति का बीस कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गो क १२९-३३)

तीर्थंकर प्रकृति: तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अन्त:कोटाकोटी सागर प्रमाण होता है। (गो क १३३)

तीर्थंकर प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति को (दूसरे या तीसरे) नरक में जाने के सम्मुख हुआ (क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि) असंयत मनुष्य ही बांधता है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाले नरक गति के अभिमुख असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के तीव्र संक्लेश पाया जाता है। (गो क १३६)

03/10/20, 10:53 am - Ashok Jain: आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध

*त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष:॥१७॥*

सूत्रार्थ: (आयुष:) आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध (त्रयस्त्रिंशत- सागरोपमाणि) तैंतीस सागर प्रमाण होता है।

देवायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अप्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख प्रमत्त गुणस्थान वाले जीव करते हैं। शेष तीन आयु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध मनुष्य और तिर्यंच जीव ही करते हैं। (गो क १३६-३८)

असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के आयु कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध पल्य के आठवें भाग से कुछ अधिक है।(क्योंकि वह ज्योतिष्क देवों में जा सकता है।)।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रिय जीवों के एक पूर्व कोटि प्रमाण है क्योंकि वह नरक, देव एवं एवं भोगभूमि में नहीं जा सकता। संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के तैंतीस सागर (नरक सम्बन्धी) मनुष्यों के तैंतीस सागर (नरक एवं स्वर्ग सम्बन्धी) भोगभूमिया मनुष्यों तिर्यंचों के दो सागर क्योंकि वे दूसरे स्वर्ग से आगे नहीं जाते, देव नारकियों के एक पूर्व कोटि प्रमाण क्योंकि वे देव और नारकी भोगभूमि में नहीं जाते।

03/10/20, 12:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*त्रयस्त्रिंशत्- सागर- उपमाणि - आयुष:।।१७।।*

अर्थात् आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है।

यहां टीका में आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध का स्वामी मिथ्यादृष्टि आदि पद टीका की अनुवृत्ति से आ रहा है ।जैसे कि मिथ्यादृष्टि , संज्ञी , पंचेन्द्रिय , पर्याप्तक जीव भी नरकायु बन्ध के योग्य उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों के होने पर नरकायु की

उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करता है।इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य गुणस्थान वाले के आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं होता ।देवायु में सर्वार्थसिद्धि के देवों की तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध सकल संयमधारी के उपशम श्रेणी में शुक्ललेश्या के धारक साधु के ही होता है, लेकिन टीकाकार का सामान्य कथन होने से उसकी यहां विवक्षा नहीं की अथवा उत्कृष्ट देवायु को भी ग्रहण किया जा सकता है।

परम पूज्य मुनिश्री अमित सागर जी द्वारा रचित टीका से।

04/10/20, 10:38 am - Ashok Jain: वैदनीय कर्म की जघन्य स्थिति

*अपरा द्वादस मुहूर्ता वेदनीयस्य॥१८॥*

सूत्रार्थ:  (वेदनीयस्य) वेदनीय कर्म की (अपरा) जघन्य स्थिति (द्वादशमुहूर्ति) बारह मुहूर्त प्रमाण होता है।

वेदनीय कर्म में साता वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध बारह मुहूर्त तथा असाता वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण होता है। (ध. ६/१८४)

वेदनीय कर्म में साता वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध सूक्ष्म साम्पराय क्षपक अपने अंतिम समय में करता है। (ध ६/१८६) तथा असता वेदनीय कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय प्रर्याप्त जीव करता है। (गो क १४३)

04/10/20, 4:48 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

05/10/20, 10:36 am - Ashok Jain: नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति

*नामगोत्रयोरष्टौ॥१९॥*

सूत्रार्थ: (नामगोत्रयो:) नाम और गोत्र कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध (अष्टौ) आठ मुहूर्त प्रमाण होता है।

नाम कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध आठ मुहूर्त का होता है।

गोत्र कर्म में से उच्चगोत्र का जघन्य स्थिति बन्ध आठ मुहूर्त प्रमाण तथा नीच गोत्र का पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सगरोपम के दो बटे सात भाग प्रमाण है। (ध ६/१९०)

05/10/20, 11:10 am - +91 93311 51244 left

05/10/20, 8:16 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*नाम गोत्रयो: अष्टौ।।१९।।*

सूत्र में *मुहूर्ता* तथा *अपरा* पद की अनुवृत्ति ऊपर के १८ वें सूत्र से ली गयी है तथा *स्थिति* पद की अनुवृत्ति सूत्र संख्या १४ से ली गयी है क्योंकि वहां *परा स्थिति* अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति पद लिया था , उसमें से *परा* हटाकर *अपरा* अर्थात् जघन्य स्थिति लगा दिया गया है जिससे इस सूत्र का पूर्ण अर्थ हो जाता है

*नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति अष्टौ अर्थात् आठ मुहूर्त है।*

07/10/20, 10:50 am - Ashok Jain: शेष कर्मों की जघन्य स्थिति

*शेषाणामान्तर्मूहूर्ता॥२०॥*

सूत्रार्थ: (शेषाणां) शेष (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, आयु और अन्तराय) कर्मों की जघन्य स्थिति बन्ध (अन्तर्मूहूर्ता) अन्तर्मूहूर्त प्रमाण है।

पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन), लोभ संज्वलन और पांचों अन्तराय, इन पन्द्रह कर्मों का जघन्य स्थिति बन्ध अन्तर्मूहूर्त प्रमाण है। (ध. ६/१८२)

निद्रादि प्रकृतियां: निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला तथा स्त्यानगृद्धि इन पांच प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के तीन बटे सात भाग प्रमाण है। (ध ६/१८४)

इन पांच प्रकृतियों का जघन्य स्थिति बन्ध सर्व विशुद्ध बादर एकेन्द्रिय प्रर्याप्तक के होता है। (गो क १४३)

मोहनीय: मिथ्यात्व कर्म का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के सात बटे सात भाग प्रमाण है।

अनन्तानुबन्धी आदि बारह कषायों का जघन्य स्थिति बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के चार बटे सात भाग प्रमाण है।

क्रोध संज्वलन का जघन्य स्थिति बन्ध दो मास प्रमाण है। मान कषाय का एक मास प्रमाण, माया का एक पक्ष प्रमाण है।

पुरुष वेद का आठ वर्ष प्रमाण है।

स्त्रिवेद, नपुंसक वेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा का पल्योपम के असंख्यातवें भाग से कम सागरोपम के दो बटे सात भाग है। (ध ६/१८६-९०)

सम्यक् प्रकृति और सम्यक् मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता है।

आयु कर्म: नरकायु और देवायु का जघन्य स्थिति बन्ध दस हजार (१००००) वर्ष प्रमाण तथा मनुष्यायु और तिर्यंचायु का अन्तर्मूहूर्त अर्थात् क्षुद्रभव या उच्छवास के अठारहवें भाग प्रमाण है। (गो क १४२)

07/10/20, 9:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सूत्र का सन्धि विग्रह - *शेषाणाम् - अन्तर्मुहूर्ता ।।२०।।*

*शेषाणां* अर्थात् शेष ज्ञानावरण , दर्शनावरण , मोहनीय , आयु और अन्तराय - इन पांच कर्म प्रकृतियों की जघन्य स्थिति *अन्तरमुहूर्त* है।

ज्ञानावरण , दर्शनावरण और अन्तराय - इन तीन कर्मो का जघन्य स्थिति बन्ध दशवें सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान में होता है।

मोहनीय की जघन्य स्थिति बन्ध अनिवृत्तिबादर साम्पराय गुणस्थान में होता है और आयु की जघन्य स्थिति बन्ध संख्यात वर्ष की तिर्यंचों और मनुष्यों में प्राप्त होता है।

08/10/20, 10:58 am - Ashok Jain: अनुभव/ अनुभाग बन्ध का लक्षण

*विपाकोऽनुभव:॥२१॥*

सूत्रार्थ: (विपाक:) फल देने को (अनुभव:) अनुभाग बन्ध कहते हैं।

कर्म के उदय और उदीरणा को विपाक कहते हैं। (ध १४/१०)

द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव लक्षण निमित्त भेद से उत्पन्न हुआ वैश्व रूप नाना प्रकार का का पाक विपाक है। इसी को अनुभाग कहते हैं। (सर्वा ७७४)

कर्मों का विपाक चार प्रकार से होता है:

१) पुद्गल विपाकी: (जो शरीर के आश्रय से फल दे) शरीर नामकर्म

से लेकर स्पर्श पर्यंत पचास प्रकृतियां, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ-अशुभ और निर्माण ये बासठ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी हैं।

२) क्षेत्र वित्रकी: (जो क्षेत्र विपाकी अर्थात् एक भव से दूसरे भव में जाते समय फल देती है।) चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां हैं।

३) भव विपाकी: (जो भव अर्थात् पर्याय विशेष में फल देती है।) चार आयु भव विपाकी हैं।

४) जीव विपाकी: जो जीव में फल देती हैं) शेष सभी प्रकृतियां जीव विपाकी हैं। (रा वा ८/२३)

08/10/20, 6:27 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *विपाक* अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति का पड़ना ही *अनुभव* या अनुभाग है।

कषायों के तीव्र ,मन्द आदि रूप भावाश्रव के भेद से विशिष्ट पाक का होना *विपाक* है।

शुभ परिणामों के प्रकर्ष भाव के कारण शुभ प्रकृतियों का प्रकृष्ट अनुभव होता है तथा अशुभ प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभव होता है। अशुभ परिणामों के प्रकर्ष भाव के कारण अशुभ प्रकृतियों का प्रकृष्ट अनुभव होता है और शुभ प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभव होता है।

09/10/20, 11:35 am - Ashok Jain: इन कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है

*स यथानाम॥२२॥*

सूत्रार्थ: (स) वह (यथानाम) अपने नाम के अनुसार फल देता है।

सभी कर्म अपने नाम के अनुसार फल देते हैं।

ज्ञानावरण का फल ज्ञान का अभाव करना है। दर्शनावरण का फल दर्शन-शक्ति का उपरोध करना है, इत्यादि रूप से सब कर्मों का फल जानना चाहिए। (सर्वा ७७६)

*इन कर्मों का स्वभाव इसी अध्याय के सूत्र ४ में दे आये हैं, वहां से जानना चाहिए।

09/10/20, 7:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): कर्म प्रकृतियों का अनुभव सार्थक अर्थात् नाम के अनुसार होता है या असार्थक होता है , इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए गुरुदेव कहते हैं

*स यथानाम्* अर्थात् वह अनुभव जिस कर्म का जैसा नाम है , उसके अनुरूप होता है।

ज्ञानावरण कर्म का फल है ज्ञानशक्ति का आच्छादन करना।

दर्शनशक्ति का आच्छादन करना दर्शनावरण कर्म का विपाक है।

मोह का उत्पादन करना मोहनीय कर्म का फल है।

आयु कर्म का विपाक भव धारण करना है।

नामकर्म का विपाक है नाना प्रकार की शरीर रचना का अनुभव कराना।

गोत्रकर्म का फल उच्चत्व नीचत्व का अनुभव कराना है।

अन्तराय कर्म का फल विघ्नों का अनुभव कराना है।

ज्ञानावरण , दर्शनावरण , मोहनीय और अन्तराय घातिया कर्मों की शक्ति लता , दारू , अस्थि और शैल के समान चार प्रकार की है । जिस प्रकार लता दारू आदि में क्रमश: अधिक से अधिकतर कठोरता पायी जाती है उसी प्रकार इन कर्मवर्गणा के समूह में अपने फल देने की शक्ति रूप अनुभाग भी क्रम से अधिक पाया जाता है।

अघातिया कर्मों में पुण्य व पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियां हैं ।पुण्य प्रकृतियों के अनुभव गुड़ , खाण्ड , शर्करा और अमृत के समान उत्तरोत्तर सुख के कारण हैं तथा पाप प्रकृतियों के अनुभव निम्ब , काञ्जीर , विष और हलाहल के समान उत्तरोत्तर कटु और दुख के कारण हैं।

10/10/20, 11:27 am - Ashok Jain: फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है

*तपश्च निर्जरा॥२३॥*

सूत्रार्थ: (तत:च निर्जरा) फल देने के बाद कर्मों की निर्जरा हो जाती है।

जिस प्रकार भात आदि का मल निवृत्त होकर निर्जीण हो जाता है उसी प्रकार आत्मा को पीड़ा (दुःख) और अनुग्रह (सुख) देकर पूर्व प्राप्त स्थिति का नाश हो जाने से स्थिति न रहने के कारण कर्म की निवृत्ति का होना निर्जरा है। (सर्वा ७७८)

निर्जरा दो प्रकार की है:

१) विपाकजा निर्जरा: चिरकाल से संसार भ्रमण करने वाले प्राणी के शुभाशुभ कर्मों का औदयिक भावों से उदयावलि स्रोतों से क्रम से यथाकाल प्रविष्ट होकर जिसका साता-असाता वा अन्यतर जिस रूप में बन्ध हुआ है उसका उस रूप में स्वभाविक फल देकर स्थिति समाप्त करके निवृत्त हो जाना, उदयागत कर्म का परिमुक्त होकर विनाश को प्राप्त हो जाना, उदयागत कर्म का परिमुक्त होकर विनाश को प्राप्त हो जाना ही विपाक निर्जरा है। (रा वा २)

२) अविपाकजा निर्जरा: जो कर्म विपाक काल को प्राप्त नहीं हुए हैं, अर्थात् जिन कर्मों का अभी उदयकाल नहीं आया है, उन्हें भी औपक्रमिक क्रिया विशेष के सामर्थ्य से, अनुदीर्ण कर्मों को भी बलात् उदयावली में लाकर पका देना, अनुभव करना अविपाक निर्जरा है, जैसे कच्चे आम, पनस आदि फलों को प्रयोग से पका दिया जाता है। (रा वा २)

10/10/20, 5:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है - *तत: स निर्जरा।।२३।।*

अर्थात् इसके बाद ( अनुभव के बाद ) कर्मों की निर्जरा होती है।

10/10/20, 6:09 pm - Ashok Jain: *ततश्च निर्जरा ॥२३॥*

कृपया सूत्र सुधार कर पढ़ें। टाइपिंग भूल हो गई। अभी श्री अविनाश जी ने ध्यान दिलाया, उन्हें साधुवाद।

10/10/20, 6:31 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏👏👏

11/10/20, 1:49 pm - Ashok Jain: प्रदेश बन्ध

*नामप्रत्यया: सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिता: सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा: ॥२४॥*

सूत्रार्थ: (नामप्रत्यया:) अपने नाम के अनुसार (सर्वत:) सभी भवों में (योगविशेषात्) योग की विशेषता से (सर्वात्मप्रदेशेषु) आत्मा के सभी प्रदेशों में (सूक्ष्म) सूक्ष्म (एक क्षेत्रावगाहस्थितिता:) एकक्षेत्रावगाह रूप से स्थित (अनन्तानन्तप्रदेशा:) अनन्तानन्त कर्म पुद्गल आते हैं, वह प्रदेशबन्ध है।

अपने नाम के अनुसार, सभी भवों में योग विशेष से आने वाले, आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही, अनन्तानन्त कर्मपुद्गल प्रदेशबन्ध है।

*नामप्रत्यय*: प्रदेशबंध का हेतु है, आठ कर्मरूप परिणमन करने वाली वर्गणाएं जिन्हें "विस्रसोपचय" कहते हैं।

*सर्वत:* - संसारी जीव के "प्रत्येक समय" प्रदेश बंध सभी जीवों को होता है।

*योग विशेष* - योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध होता है, यह उसका निमित्त है।

*सूक्ष्म*: कर्म रूप से ग्रहण योग्य पुद्गलों का "स्वभाव" दिखलाने के लिए किया है, जिससे स्थूलता का निषेध हो जाता है।

*एक क्षेत्रावगाह*: क्षेत्रान्तर का निराकरण करने के लिए।

*स्थिरता:* -क्रियान्तर की निवृत्ति के लिए वचन दिया है, अर्थात् ग्रहण योग्य पुद्गल स्थित होते हैं।

*सर्वात्मप्रदेशेषु:* -आधार निर्देश के लिए सर्वात्मप्रदेशेषु वचन दिया है अर्थात् एक प्रदेश आदि में कर्म प्रदेश नहीं रहते हैं, ऊपर, नीचे, तिरछे सब आत्म प्रदेशों में व्याप्त होकर स्थित होते हैं।

*अनन्तानन्त प्रदेशा:* -पद से उन प्रदेशों का परिणाम लिया है, जिससे कर्म प्रदेशों की संख्या नियत होती है अर्थात् ये संख्यात-असंख्यात-अनन्त नहीं होते बल्कि अनन्तानन्त होते हैं।

(प्रज्ञाश्रमण मुनिश्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

सभी मूल प्रकृतियों में आयु कर्म का भाग स्तोक है, नाम व गोत्र कर्म का भाग आपस में समान है तो भी आयु कर्म से अधिक है। अन्तराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन तीन घातिया कर्मों का भाग आपस में समान है तो भी नाम व गोत्र कर्म से अधिक है। इससे अधिक मोहनीय कर्म का भाग है तथा मोहनीय कर्म से भी अधिक वेदनीय कर्म का भाग है। (गो क १९२)

11/10/20, 7:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*नामप्रत्यया: सर्वत: योगविशेषात् सूक्ष्म - एकक्षेत्र - अवगाह स्थिता: सर्व आत्म प्रदेशेषु - अनन्तानन्त प्रदेशा: ।।२४।।*

कर्म प्रकृतियों के कारणभूत प्रति समय योगविशेष से सूक्ष्म , एकक्षेत्रावगाही और स्थिति अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशों में संबंध को प्राप्त होते हैं।

जो पुद्गल परमाणु कर्म रूप से ग्रहण किये जाते हैं वे ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार से परिणमन करते हैं ।उनका ग्रहण संसार अवस्था में हर समय होते रहता है।ग्रहण का मुख्य कारण योग है ।वे सूक्ष्म होते हैं। जिस क्षेत्र में आत्मा स्थित होता है उसी क्षेत्र के परमाणुओं का ग्रहण होता है , अन्य का नहीं। ग्रहण किये गये कर्म परमाणु आत्मा के सभी प्रदेशों में स्थित रहते हैं । वे अनन्तानन्त होते हैं , यह इस सूत्र का भाव है ।इस प्रकार इस सूत्र में प्रदेशबंध का हेतु क्या है , वह कब होता है , उसका निमित्त क्या है , उसका स्वभाव क्या है और उसका परिणाम क्या है - इसका क्रम से वर्णन है।

12/10/20, 10:50 am - Ashok Jain: पुण्य प्रकृतियां

*सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्॥२५॥*

सूत्रार्थ: (सद् वेद्य) साता वेदनीय (शुभ आयु:- नाम-गोत्राणि) शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र (पुण्यम्) ये पुण्य प्रकृतियां हैं।

पुण्य प्रकृतियां: साता वेदनीय, तिर्यंच आयु, मनुष्यायु और देवायु तथा नाम- कर्म की मनुष्य गति- देव गति, पंचेन्द्रिय जाति, पांच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुस्र संस्थान, वज्र- वृषभनाराचसंहनन, प्रशस्त वर्ण-रस- गंध-स्पर्श, मनुष्य एवं देव गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश-कीर्ति, निर्माण, एवं तीर्थंकर तथा गोत्र कर्म में से उच्चगोत्र ये ४२ प्रकृतियां शुभ हैं। (रा वा ३)

12/10/20, 7:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): २५ वें सूत्र का सन्धि विग्रह

*सद्वेद्य शुभ -आयु: नाम गोत्राणि पुण्यम्।।२५।।*

साता वेदनीय , शुभ आयु , शुभ नाम , शुभगोत्र ; ये पुण्य प्रकृतियां हैं।

1 साता वेदनीय + 3 शुभ आयु + 1 उच्च गोत्र + 37 शुभ नाम = कुल 42 प्रकृतियां पुण्य रूप हैं।

प्रशस्त परिणामों से जिनमें अधिक अनुभाग प्राप्त होता है वे पुण्य प्रकृतियां हैं ।यह लक्षण इन प्रकृतियों में घटित होता है , इसलिए ये पुण्य प्रकृतियां मानी गयी हैं।

13/10/20, 10:19 am - Ashok Jain: पाप प्रकृतियां

*अतोऽन्यत् पापम् ॥२६॥*

सूत्रार्थ: (अतः अन्यत्-पापम्) पुण्य प्रकृति से बची शेष प्रकृतियां पाप प्रकृतियां हैं।

पाप प्रकृतियां: पांच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, छब्बीस मोहनीय ( सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व बिना) पांच अन्तराय,की तथा नामकर्म में तिर्यंचगति, नरकगति, एकेन्द्रिय आदि चार जातियां, समचतुस्र संस्थान को छोड़कर पांच संस्थान, वज्रर्षभनाराच संहनन को छोड़कर पांच संहनन, अप्रशस्त स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नरक गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय तथा अयशकीर्ति ये चौंतीस प्रकृतियां नामकर्म की तथा नरकायु, असाता वेदनीय, और नीच गोत्र ये सब मिलकर बयासी पाप प्रकृतियां हैं।

13/10/20, 6:02 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): तिर्यंच आयु को शुभ प्रकृति और तिर्यंचगति को अशुभ प्रकृति में ग्रहण किया गया है इसका कारण यह है कि कोई भी तिर्यंच अपनी आयु छोङकर मरना नहीं चाहता है , अतः तिर्यंच आयु शुभ है , लेकिन कोई भी जीव मरकर तिर्यंच गति में जाना भी नहीं चाहता है , अतः तिर्यंच गति अशुभ है।

14/10/20, 9:52 am - Ashok Jain: आप सभी को सादर जय जिनेन्द्र 🙏

तत्वार्थसूत्र ग्रंथ का आठवां अध्याय का स्वाध्याय पूर्ण हुआ। प्रश्नपत्र आगामी रविवार दिनांक 18/10/20 को आयेगा।

आप सभी रिविजन कर लें।

इस बार सभी प्रतिभागियों की सूची ग्रुप में भेजी जाएगी अतः आप सबसे अपेक्षा है कि अधिकाधिक संख्या में भाग लें।

समय एक घंटे के बजाय डेढ़ घंटे का किया जा सकता है।🙏

14/10/20, 10:31 am - Ashok Jain: *आठवें अध्याय का सार*

इस अध्याय में मिथ्यात्वादि पांच विकारी परिणामों को कर्म बन्ध के हेतु बताया है।

बन्ध के चार भेद बताते हुए कर्मों की प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग और स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त की।

इस अध्याय में हमने ज्ञानावरण आदि आठ कर्म और उनकी एक सो अडतालीस उत्तर प्रकृतियां के बारे में जाना।

हमने जाना कि जीव के विकारी परिणामों से प्रतिसमय सात कर्म और किसी समय आठ कर्म बन्ध होते हैं।

कौन से कर्म की कितनी उत्तर प्रकृतियां हैं, उनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कितनी होती है, अनुभव/ अनुभाग कितना है और प्रदेश बन्ध कितने हैं, उनका हेतु क्या हैं, कब बन्ध होता है तथा उनके निमित्त, स्वभाव तथा परिणाम के बारे में जानकारी प्राप्त की।

हमने यह भी जाना कि सभी प्रकृतियां पाप रूप ही है या पुण्य रूप भी है।

हमें इस अवस्था में पाप कर्मों को छोड़ने की प्रतिक्षण कोशिश करते रहना चाहिए। हमारा उपयोग सही दिशा में मोड़ने की आवश्यकता है।🙏

15/10/20, 10:54 am - Ashok Jain: आप सभी को सादर जय जिनेन्द्र 🙏

तत्वार्थसूत्र ग्रंथ का आठवां अध्याय का स्वाध्याय पूर्ण हुआ। प्रश्नपत्र आगामी रविवार दिनांक 18/10/20 को आयेगा।

*आप सभी रिविजन अवश्य कर लें।*

इस बार सभी प्रतिभागियों की सूची ग्रुप में भेजी जाएगी अतः आप सबसे अपेक्षा है कि अधिकाधिक संख्या में भाग लें।

पेपर बहुत अच्छा लगेगा।

समय एक घंटे के बजाय डेढ़ घंटे का किया जाएगा।🙏

*समय सांयकाल 7.30 से 9 बजे तक। 🔸 ग्रुप में नाम उनके ही भेजे जायेंगे जो समयावधि में प्रश्नोत्तर सबमिट कर देंगे।*

15/10/20, 3:22 pm - +91 84487 08876 left

17/10/20, 2:47 pm - Ashok Jain: आप सभी को सादर जय जिनेन्द्र 🙏

तत्वार्थसूत्र ग्रंथ का आठवां अध्याय का प्रश्नपत्र आगामी कल रविवार दिनांक 18/10/20 को आयेगा।

*आप सभी रिविजन अवश्य कर लिया होगा नहीं तो एक बार अवश्य देख लें।

*पेपर बहुत अच्छा लगेगा।

समय एक घंटे के बजाय डेढ़ घंटे का किया जाएगा।🙏

इस बार सभी प्रतिभागियों की सूची ग्रुप में भेजी जाएगी अतः आप सबसे अपेक्षा है कि अधिकाधिक संख्या में भाग लें।

*समय सांयकाल 7.30 से 9 बजे तक। ◈ ग्रुप में नाम उनके ही भेजे जायेंगे जो समयावधि में प्रश्नोत्तर सबमिट कर देंगे।*

18/10/20, 10:20 am - Ashok Jain: सादर जय जिनेन्द्र

आज सांयकाल 7.30 बजे पेपर ग्रुप में भेज दिया जाएगा। आप सभी अवश्य प्रश्नोत्तर दें। प्राप्तांक कम या ज्यादा की बिल्कुल न सोचें, उत्तर देने से स्वयं को संतुष्टि मिलती है और यदि कोई गलत उत्तर हो भी जाता है तो सही उत्तर मालूम हो जाता है।

9.00 बजे तक जिनके उत्तर मिल जायेंगे उन सब के नाम और स्थान (प्राप्तांक छोड़कर) ग्रुप में सधन्यवाद भेजे जायेंगे।🙏

(पेपर तैयार है, यदि कोई उक्त समय पर उपलब्ध नहीं है और पहले पेपर देना चाहते हैं तो मुझे या राजेन्द्र भाई साहब को अपने नाम और स्थान तथा पेपर देने का समय बताकर, सम्पर्क कर सकते हैं।)

18/10/20, 10:22 am - Ashok Jain: आपकी एक ही एन्ट्री मान्य होगी, इसलिए निवेदन है कि कृपया दुबारा पेपर सबमिट नहीं करें।

18/10/20, 7:30 pm - Ashok Jain: https://docs.google.com/forms/d/1G_47OsSNlWl9ffvVwRiUF9cYIqSmTxnz9Yy6hBchLRI/edit?usp=drivesdk&chromeless=1

कृपया यदि कोई प्रश्न का उत्तर गलत हो जाये तो आप प्रश्न और उसका जो उत्तर आपने दिया है, नोट कर सकते हैं।

सही उत्तर प्रश्नोत्तर समाप्त होने के बाद ग्रुप में भेजे जायेंगे 🙏

18/10/20, 8:38 pm - Ashok Jain: लगभग 25 मिनट और है। आप सभी समय से उत्तर भेज दें।

18/10/20, 9:13 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

18/10/20, 9:15 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

18/10/20, 9:16 pm - Ashok Jain: आप सभी की बहुत बहुत अनुमोदना👏👏👏

18/10/20, 9:18 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बहुत सुन्दर । सभी को क्या ५० नम्बर मिले हैं ?

18/10/20, 9:23 pm - Ashok Jain: नम्बर किसी का नहीं दिखाया।

18/10/20, 9:23 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): Ok

18/10/20, 10:00 pm - Ashok Jain: पेपर कल सुबह 11बजे तक के लिए आपन कर दिया है। जिनके भाव हों उत्तर दे सकते हैं।

18/10/20, 10:02 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

18/10/20, 10:03 pm - Ashok Jain: सभी प्रश्नों के उत्तर कल 11 बजे बाद ग्रुप में भेजे जायेंगे

19/10/20, 11:06 am - Ashok Jain: <Media omitted>

19/10/20, 11:10 am - Ashok Jain: <Media omitted>

19/10/20, 11:14 am - Ashok Jain: <Media omitted>

19/10/20, 11:16 am - Ashok Jain: सभी प्रतिभागियों की बहुत बहुत अनुमोदना एवं बधाई 🙏

19/10/20, 11:25 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सभी प्रतियोगियों को बहुत बहुत बधाई और शुभकामनाएं 👏👏👏👏

19/10/20, 12:23 pm - Ashok Jain: तत्वार्थसूत्र अध्याय आठ

प्रश्नोत्तर:

१) बन्ध के हेतु कितने हैं।

उ. पांच

२) बन्ध किसे कहते हैं

उ. कषाय से युक्त जीव कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है, उसे बन्ध कहते हैं।

३)गाय का दूध पौष्टिक और बुद्धिवर्धक होता है, कौन सा बन्ध है।

उ. अनुभव बन्ध

४) प्रकृति बन्ध के कितने भेद हैं

उ. दो

५) प्रकृति बन्ध के उत्तर भेद कितने हैं

उ. 97

६) श्रुतज्ञान के कितने भेद हैं

उ. बीस

७) अभव्य जीव के किस अपेक्षा से केवल ज्ञान की शक्ति है

उ. द्रव्यार्थिक नय से

८) दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियां कितनी हैं

उ. नौ

९) अनेक प्रकार के सुख एवं प्रशस्त सामग्री किस कर्म के उदय से मिलती है

उ. साता वेदनीय कर्म से

१०) नोकषाय किस कर्म की प्रकृति है

उ. चारित्र मोहनीय कर्म

११) कौन सी आयु अशुभ है

उ. नरकायु

१२) पर्याप्ति के कितने भेद हैं

उ. छः

१३) कर्मभूमिज तिर्यंचों के किस कर्म का उदय है

उ. नीच गोत्र कर्म का

१४) जो दूसरों के शक्ति के विकास में कांटा बोते हैं, उनके कौन से कर्म का उदय होगा

उ. वीर्यान्तराय कर्म

१५) साता वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है

उ. पन्द्रह कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण

१६) संज्ञी पर्याप्तक जीवों के मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है

उ. सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण

१७) उच्चगोत्र कर्म का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है

उ. दस कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण

१८) तीर्थंकर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कितना होता है

उ. अन्त: कोटा-कोटी सागर प्रमाण

१९) देवायु का उत्कृष्ट स्थिति बन्ध कौन से गुणस्थान में होता है

उ. अप्रमत्त गुणस्थान के अभिमुख प्रमत्त गुणस्थान में

२०) असाता वेदनीय का जघन्य स्थिति बन्ध कितना होता है

उ. पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक सागर के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण

२१) पुरुष वेद का जघन्य स्थिति बन्ध कितना होता है

उ. आठ वर्ष

२२) विपाक किसे कहते हैं

उ. कर्म के उदय और

२३) फल देने के बाद कर्मों का क्या होता है.

उ. निर्जरा.

२४) प्रकृति और प्रदेश बन्ध किससे होता है.

उ. योग से.

२५) पुण्य प्रकृतियां कितनी होती हैं.

उ. बयालीस.

19/10/20, 1:00 pm - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

19/10/20, 1:05 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

19/10/20, 1:13 pm - P C Jain Rafigunj: जय जिनेन्द्र

प्रश्न पत्र बहुत ही अच्छा था.परीक्षा देने में आनन्द आया.आपके माध्यम से जिनवाणी समझने में आपका बहुत उपकार है.आपको बहुत धन्यवाद.

स्वाध्याय समुह के सभी सदस्यों को जय जिनेन्द्र

19/10/20, 1:15 pm - Ashok Jain: इसमें मेरा कोई उपकार नहीं है। मैं स्वयं आप सब के साथ स्वाध्याय कर रहा हूं।

🙏

19/10/20, 1:19 pm - Usha Jain, Nagour: 🙏👏🙏

एडमिन जी के लगन की सहराना, मेहनत की सहराना करती हूं 👍🙏🙏🙏🙏

प्रश्नोतर करने से नहीं जानकारी प्राप्त होती है।

अध्याय का रिवीजन होता है।जिससे जानकारी बढती है।

पेपर की वजह से थोड़ा अधिक ध्यान से पढा जाता है।जिससे ज्ञान की वृद्धि होती है।

हमारा समय शुभ मे व्यथित होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र बहुत अच्छा अध्ययन करवा रहे हो🙏 प्रश्नोतरी कराके अध्ययन में चार चांद लगा दिये आपने👍 बहुत-बहुत पुण्य संचय कर रहे हो आप🙏🙏🙏🙏

सभी को जय जिनेन्द्र👏👏👏👏👏🌹🌹🌹

आपके ज्ञान की बहुत-बहुत अनुमोदना करती हूं🙏🙏🙏🙏

19/10/20, 1:23 pm - +91 96305 95010: पेपर  देकर बहुत अच्छा लगा नई नई  जानकारी मिलती है

19/10/20, 1:23 pm - +91 96305 95010: 🙏

19/10/20, 1:27 pm - Ashok Jain: प्रश्नोत्तर कराने का उद्देश्य भी रिविजन ही है।

समय भी इसीलिए बढ़ाया जाता है कि सभी सदस्य भाग ले सकें।

सबका अपना-अपना उपयोग होता है।

आप सब के इतने उत्साह से सभी एडमिन उत्साहित होते हैं।

बहुत बहुत बधाई 🙏

19/10/20, 1:28 pm - Ashok Jain: आपका उपादान अच्छा है।🙏

19/10/20, 3:16 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 👏👏👏✅✅✅

20/10/20, 4:26 pm - Mrs Latha Jain changed their phone number to a new number. Tap to message or add the new number.

20/10/20, 7:01 pm - +91 90803 97509 changed to +91 94445 26597

21/10/20, 9:59 am - Ashok Jain: *इति तत्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे अष्टमोध्याय॥*

21/10/20, 9:59 am - +91 74157 27176 left

21/10/20, 10:00 am - Ashok Jain: *अथ नवम अध्याय*

21/10/20, 10:02 am - Ashok Jain: उमास्वामीआचार्यश्री नौवें अध्याय में ४७ सूत्रों के माध्यम से पांचवे;"संवर"और छटे"निर्जरा " तत्वों को उपदेशित किया है!सूत्र १ में,संवरतत्व ,सूत्र २ में,संवर के उपाय,सूत्र-३ में निर्जरा तत्व,सूत्र ४ में -गुप्ती  के भेद,सूत्र ५ में-समितियों के भेद,सूत्र ६ में -दसधर्मो के भेद,सूत्र ७ में-अनुप्रेक्षाओ के भेद,सूत्र ८-१७ तक परिषहजय और उनके भेद,सूत्र १८ में चारित्र के भेद,१९-२८ तक तप के भेद,२९-४४ तक ध्यान के भेद,४५ सूत्र में सम्यग्दृष्टि से जिनेन्द्र भगवान् के कर्मों की निर्जरा ,सूत्र ४६ में मुनियों के भेद,सूत्र ४७ में मुनि के संयम लब्धि के स्थानों का उल्लेख किया है!

अपने कर्मों का संवर और निर्जरा आचर्यश्री के उपदेशों का पालन कर कल्याण के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए !

21/10/20, 10:03 am - Ashok Jain: <Media omitted>

21/10/20, 10:03 am - Ashok Jain: आदरणीय श्री पारस भाई साहब द्वारा नौवें अध्याय का वाचन 🙏

21/10/20, 10:08 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏🙏🙏

22/10/20, 11:00 am - Ashok Jain: संवर का लक्षण

*आस्रव-निरोध: संवर:॥१॥*

सूत्रार्थ: आस्रव का निरोध (रुकना) संवर है।

आस्रव-निरोध- कर्मों के आगमन के निमित्तों का अप्रादुर्भाव ही आस्रव-निरोध है। बहुत विकल्पों वाले कर्मागम के निमित्तभूत मन वचन और काय के प्रयोग का स्वात्मलाभ हेतु के सन्निधान से उत्पन्न नहीं होना आस्रव निरोध है। (रा वा १)

*कर्मों का आस्रव-निरोध आत्मा में परिणामों की विशुद्धि और चारित्र धारकों के उत्तरोत्तर गुणस्थानों में वद्धि होने से ज्यादा होता जाता है।*

तथा संवर वृद्धिंगत होता जाता है।

22/10/20, 12:40 pm - +91 82913 23589: <Media omitted>

22/10/20, 6:56 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): नूतन कर्म ग्रहण करने के कारण को *आस्रव* कहते हैं ।उस आस्रव का निरोध , प्रतिषेध , आस्रवनिरोध *संवर* कहलाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन कारणों से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है , उन कारणों का निरोध करने से कर्मों का आगमन रुक जाता है , यही *संवर* है। संसार की कारणभूत पाप क्रियाओं का निरोध या त्याग करना संवर है। भाव और द्रव्य के भेद से संवर दो प्रकार का होता है।

*आत्मा के जो परिणाम कर्माश्रव को रोकने में कारण हैं , उन परिणामों को भावसंवर कहते हैं और द्रव्य कर्मों ( ज्ञानावरणादि कर्म के योग्य पुद्गल वर्गणाओं ) का आस्रव नहीं होना सो द्रव्यसंवर है।*

भावसंवर पूर्वक ही द्रव्यसंवर होता है अर्थात् कर्मपुद्गलों के ग्रहण का विच्छेद हो जाता है। दोनों प्रकार का संवर गुणस्थान की अपेक्षा कहा जाता है।

संवर जीवन में नये दोष और दोषों का कारण एकत्रित न होने देने का मार्ग है ।संवर के बाद ही संचित हुए दोषों व उनके कारणों का परिमार्जन किया जा सकता है , तभी मुक्ति लाभ होता है। इसीलिए कहा भी है

*संवर सहित करो तप प्राणी , मिले मुक्ति रानी ।*

*इस दुलहिन की यही सहेली जाने सब ज्ञानी।।*

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: <Media omitted>

23/10/20, 10:12 am - Ashok Jain: *संवर किस प्रकार करना चाहिए* 👆

23/10/20, 11:05 am - Ashok Jain: संवर के कारण:

*स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा- परीषहजयचारित्रैः॥२॥*

(सः गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा- परीषहजय-चारित्रैः।

सूत्रार्थ: (सः) वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, और चारित्र से होता है।

पांच महाव्रतों से नियमपूर्वक पांच अविरति रूप परिणामों का निरोध होता है और कषाय रहित परिणामों से क्रोधादि रूप आस्रवों के द्वार रुक जाते हैं। (बा अ ६२)

ध्यान, शास्त्राध्ययन एवं संयमादि से कर्मों का आना रुक जाता है। योग, व्रत, तेरह प्रकार का चारित्र, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परिषहजय, निर्मल सामायिक, पांच प्रकार का चारित्र, धर्म शुक्ल रूप शुभ ध्यान और ज्ञानाभास ये सब कर्मास्रव रोकने के उत्तम कारण हैं। (म पु ११)

संवर किसके:

जो मुनि विषयों से विरक्त होकर, मन को हरने वाले पांच इन्द्रियों के विषयों से अपने को सदा दूर रखता है, उनमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसी मुनि के निश्चय से संवर होता है। (का अ २०१)

मन वचन और काय की शुभ प्रवृत्तियों से अशुभ योग का संवर होता है और शुद्धोपयोग से शुभयोग का भी संवर हो जाता है। (बा अ ६३)

गुप्ति: जैसे खेत की रक्षा के लिए बाड़ है और नगर की रक्षा के लिए खाई अथवा परकोटा है, उसी प्रकार से जो अशुभ कर्म को रोकता है या संवृत होता है वही संयत की गुप्ति है। (मू ३३४)आ.

समिति: प्राणियों को पीड़ा न होवे, ऐसा विचार कर दया भाव से अपनी सर्व प्रवृत्ति करना समिति है। (भ आ वि ११४)

धर्म: जो प्राणियों को संसार के दुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख में धारण करे उसे धर्म कहते हैं, वह धर्म कर्मों का विनाशक एवं समीचीन है। (र क श्रा २)

अनुप्रेक्षा: सूत्र के अर्थ का श्रुत के अनुसार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। (ध १४/९) बार बार चिंतन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं। अपने अपने नाम के अनुसार वस्तु के स्वरूप का विचार करना अनुप्रेक्षा है। (का अ १)टी.

परीषह जय: जो सही (सहन) जाय वे परिषह हैं, परि उपसर्ग पूर्वक 'सह्' धातु से कर्म अर्थ में अकार प्रत्यय होकर 'परीषह' शब्द की निष्पत्ति होती है। परीषह का जीतना 'परीषह जय' है। (रा वा ६)  क्षुदा आदि वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा करने के लिए उसे सह लेना परीषह है और उसे जीतना परीषहजय है। (सर्वा ७८९)

चारित्र: जिससे हित की प्राप्ति करते हैं और अहित का परिहार करते हैं उसे चारित्र कहते हैं अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं उसे चारित्र कहते हैं। (भ आ वि ८)

चारित्र:

23/10/20, 2:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *यत: संसारकारणादात्मनो गोपनं भवति सा गुप्ति:* जिस के बल से संसार के कारणों से आत्मा की रक्षा होती है , वह *गुप्ति* है।

*प्राणिपीड़ापरिहार्थं सम्यगयनं समिति:* प्राणी पीड़ा के लिए भले प्रकार आना जाना उठना धरना , ग्रहण करना व मोचन करना *समिति* है।

*इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्म:* जो इष्ट स्थान में धरता है वह धर्म है।

*शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा* शरीर आदि से स्वभाव का बार बार चिन्तन करना *अनुप्रेक्षा* है।

*क्षुधादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परीषहः।परीषहस्य जयः परीषहजयः*।

वेदना के होने पर कर्मों की निर्जरा के लिए उसे सह लेना *परीषह* है और परीषह का जीतना *परीषहजय* है।

कर्मों के आस्रव में कारणभूत बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाओं के  त्याग करने को *चारित्र* कहते हैं।

सूत्र में वर्णित *सः* पद यह सूचित करता है कि वह *संवर* गुप्ति , समिति , धर्म , अनुप्रेक्षा , परिषहजय  और चारित्र के द्वारा ही हो सकता है , अन्य किसी उपाय से नहीं। इसलिए उपहार स्वरूप सिर को अर्पण करना , जल में डूबना , पहाड़ से गिरना , सिर मुण्डन करवाना , शिखा धारण करना , कुदेवों की पूजा करना आदि उपायों से कदापि संवर नहीं हो सकता , इस बात को समझते हुए हमें मूढतापूर्ण कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।

24/10/20, 11:52 am - Ashok Jain: संवर के अन्य कारण

*तपसा निर्जरा च॥३॥*

सूत्रार्थ: (तपसा) तप के द्वारा (निर्जरा च) निर्जरा और संवर होता है।

तप: तपोनिधियों ने ऐसी शारीरिक क्रिया और मानसिक क्रिया को तप कहा है, जो अंतरंग व बहिरंग मल के सन्ताप से सन्तप्त आत्मा की शुद्धि में कारण है। (य ति च ८/४६६)

मन और इन्द्रियों के नियंत्रित करने वाले अनुष्ठान को तप कहते हैं। (आ सा ६/३)

तप के भेद: आभ्यन्तर तप- प्रायश्चित आदि के भेद से छः प्रकार का होता है और बाह्य तप- अनशन आदि के भेद से छः प्रकार का होता है।

*विशेष वर्णन इसी अध्याय में आचार्य श्री ने आगे किया है।

24/10/20, 12:44 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏👐👐👐

24/10/20, 2:57 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): संवर और निर्जरा का विशेष हेतु क्या है , यह बतलाने के लिए आचार्य देव तीसरे सूत्र में कहते हैं कि *तप से संवर और निर्जरा दोनों होते हैं ।*

तप के द्वारा निर्जरा अर्थात् एकदेश कर्मों का गलन - क्षय होता है तथा सूत्र में वर्णित *च* शब्द *संवर* को सूचित करता है अर्थात् च शब्द संवर का प्रबोधक है।

यद्यपि दस धर्मों में *तप* गर्भित है तथा उसी तप से *संवर निर्जरा* का कारण भी सिद्ध हो जाता है फिर भी तप को अलग से ग्रहण करने की सार्थकता यह है कि तप नवीन कर्मों के संवरपूर्वक कर्मक्षय का कारण होता है तथा तप संवर का प्रधान कारण  है ।

यहां यदि कोई यह प्रश्न करे कि आचार्यों ने तप को अभ्युदय का कारण कहा है , वह संवर और निर्जरा का कारण कैसे हो सकता है क्योंकि *परमात्म प्रकाश* में यह कहा भी है

*दाणे लब्भइ भोउ पर इंदत्तणु वि तवेण।*

*जम्मणमरणविवज्जियउ पउ लब्भइ णाणेण ।।२/७२।।*

दान से भोग प्राप्त होते हैं , तप से परम इन्द्रत्व तथा ज्ञान से जन्म जरा मरण से रहित मोक्षपद प्राप्त होता है।

इस शंका का समाधान यह है कि एक ही तप इन्द्रादिक पद को भी देता है और वह संवर और निर्जरा का भी कारण होता है।एक पदार्थ भी अनेक कार्य करता है , जिस प्रकार एक ही छत्र छाया भी करता है तथा धूप और पानी से भी बचाता है , एक ही अग्नि से हम पकाना , जलाना , प्रकाशित करना आदि अनेक कार्य कार्य कर सकते हैं , एक ही नारी पितृकुल और पतिकुल दोनों को उज्ज्वल करती है उसी प्रकार एक ही तपश्चरण से संवर , निर्जरा भी होते हैं तथा स्वर्ग सुख आदि अनेक कार्य भी देखे जाते हैं , इसमें कोई विरोध नहीं है।

25/10/20, 11:27 am - Ashok Jain: गुप्ति का लक्षण

*सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति॥४॥*

सूत्रार्थ: (सम्यक्-योग) सम्यक् प्रकार से योगों का (निग्रहः) रोकना (गुप्तिः) गुप्ति है।

मन, वचन, और काय ये तीन योग पहले कहे गए हैं। उसकी स्वच्छन्द प्रवृत्ति रोकना निग्रह है। विषय सुख की अभिलाषा के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति का निरोध करने के लिए 'सम्यक्' विशेषण दिया है। इस सम्यक् विशेषण युक्त, संक्लेश को नहीं उत्पन्न होने देने रूप योग निग्रह से कायादि योगों का निरोध होने पर तन्निमित्तक कर्म का आस्रव नहीं होता है। (सर्वा ७९३)

गुप्तियों के भेद:

१) मनोगुप्ति: राग-द्वेष से अवलम्बित समस्त संकल्पों को छोड़कर जो मुनि अपने मन को स्वाधीन करता है और और समता भाव में स्थिर करता है, तथा सिद्धांत के सूत्र की रचना में निरन्तर प्रेरणा रूप करता है उस बुद्धि- मान मुनि के सम्पूर्ण मनोगुप्ति (निश्चय मनोगुप्ति) होती है। (ज्ञा १८/१५-१६)

~ यह मन पांचों इंद्रियों के विषयों में, समस्त बाह्य पदार्थों के संकल्प- विकल्पों में और समस्त कषायों में गमन करता है अतएव इस मन को सबसे रोककर शीघ्र ही ध्यान-अध्ययन आदि क्रियाओं में स्थिर कर देना सर्वोत्तम मनोगुप्ति (व्यवहार मनोगुप्ति) कहलाती है। (मू प्र १७०७-९)

वचन गुप्ति: भले प्रकार वश करी है वचनों की प्रवृत्ति जिसने ऐसे मुनि के तथा संज्ञा आदि का त्याग कर मौनारूढ होने वाले महामुनि के वचन गुप्ति (निश्चय वचन गुप्ति) होती है। (ज्ञा १८/१७)

पाप की हेतुभूत ऐसी स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा इत्यादि रूप वचनों का परिहार अथवा असत्यादिक की निवृत्ति वाले वचन वह वचन गुप्ति (व्यवहार वचन गुप्ति) है। (नि सा ६७)

कायगुप्ति: स्थिर किया है शरीर जिसने तथा परिषह आ जाने पर भी अपने पर्यंकासन से ही स्थिर रहे किंतु डिगे नहीं, उस मुनि के ही कायगुप्ति (निश्चय कायगुप्ति) मानी गई है। (ज्ञा १८/१८)

~ सर्वजनों को काय सम्बन्धी बहुत क्रियाएं होती है, उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है। वही कायगुप्ति है। अथवा पांच स्थावरों की और त्रसों की हिंसा निवृत्ति सो कायगुप्ति (व्यवहार काय गुप्ति है। (नि सा ता ७०)

योगनिग्रह से संवर: इसमें अयत्नाचारी (जीव) के बिना देखे, बिना शोधे भूमि प्रदेश पर घूमना, दूसरी वस्तु रखना, उठाना, शयन करना, बैठना आदि शारीरिक क्रियाओं के निमित्त से जो कर्म आते हैं वा कायिक निमित्त से जिन कर्मों का अर्जन होता है, उन कर्मों का आस्रव काययोग का निग्रह करने वाले अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती संयमी के नहीं होता। इसी प्रकार वाचनिक असंवरी (संवर रहित) असत् प्रलापी जीव के अप्रिय वचनादि के हेतुक वाचनिक व्यापार निमित्तक जो कर्म आते हैं, वचनों का निग्रह करने वाले योगी के उन कर्मों का आस्रव नहीं होता। राग-द्वेष आदि से अभिभूत प्राणी के अतीत, अनागत विषयाभिलासा आदि से मनोव्यापार निमित्तक जो कर्म आते हैं, वे कर्म मनोनिग्रही के नहीं आते, अतः योग निग्रह हो जाने पर तत्सम्बन्धी कर्म कभी नहीं आते हैं अतः योग निग्रही के संवर सिद्ध है। (रा वा ४)

25/10/20, 12:53 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सम्यक् प्रकार से लोक - सत्कार ख्याति ,पूजा , लाभ , कांक्षा आदि भावनाओं से रहित होकर मन , वचन , काय की क्रिया है लक्षण जिसका ऐसा योगनिरोध *सम्योग्योग निग्रह* कहलाता है ।

*सम्यग्योग निग्रह* अर्थात् मन , वचन , काय के निरोध को गुप्ति कहते हैं। योग का निग्रह होने पर आर्त्तरौद्रध्यानलक्षण संक्लेश परिणामों का प्रादुर्भाव नहीं होता तथा संक्लेश परिणामों के नहीं होने पर नूतन कर्मों का आस्रव नहीं होता है । अतः गुप्ति संवर की प्रसिद्धि के लिए है , ऐसा जानना चाहिए।

परम पूज्य आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी द्वारा आचार्य श्रीश्रुतसागरसूरि द्वारा रचित *तत्त्वार्थवृत्ति:* के हिन्दी अनुवाद से।

27/10/20, 12:05 pm - Ashok Jain: समितियां-सम्यक् प्रवृत्तियों का कथन

*ईर्याभाषैणादाननिक्षेपोत्सर्गा: समितय:॥*

सूत्रार्थ: (ईर्या-भाषा-एषणा-आदान निक्षेप- उत्सर्गा:) ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग (समितय:) ये पांच समितियां हैं।

ईर्या समिति: गमन में जीवबध का परिहार करना ईर्या समिति है।

सूर्य निकल आने पर लोगों का आवागमन होने लगे तब प्राणियों के आने-जाने से मार्ग मर्दित हो जाता है। ऐसे मार्ग में प्रमाद छोड़कर चार हाथ आगे की जमीन को शोधकर चलना सो पहली ईर्या समिति है।(पा पु ९/९१)

लाभ: १) यह समस्त गुणों की खान है और स्वर्ग की सीढ़ी है।

२) यह मोक्ष सुख को उत्पन्न करने वाली माता है।

३) यह हिंसादी पापों से दूर है एवं अत्यन्त पवित्र है।

४) तीर्थंकर और गणधर देवों के द्वारा सेवन करने योग्य है तथा समस्त दोषों से दूर है। (मू प्र २८४)

भाषा समिति: हित, मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषा समिति है।

हंसी आदि के वचनों को छोड़कर केवल धर्ममार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए, अपना और दूसरों का हित करने के लिए सारभूत, परिमित और धर्म से अविरोधि जो वचन कहते हैं वह भाषा समिति है। (मू प्र २८६)

एषणा समिति: उद्गमादि दोष रहित आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।

संतोष और क्रोध रहित साधु ज्ञान और ध्यान की सिद्धि के लिए जो यत्न पूर्वक प्रमाद रहित हो आहार ग्रहण करते हैं, यह एषणा समिति कहलाती है। (आ सा ५/१२९)

छ्यालीस दोषों से रहित शुद्ध, कारण से सहित, नवकोटि से विशुद्ध और शीत-उष्ण आदि में समान भाव से भोजन करना यह सम्पूर्णतया निर्दोष एषणा समिति है। (मू १३)

आदाननिक्षेप समिति: धर्मोपकरण के रखने और उठाने में सावधानी रखना आदान-निक्षेप समिति है।

धर्म अविरोधि और पर अनुपरोधि ऐसे जो ज्ञानोपकरण, संयमोपकरण, शौचोपकरण (कमण्डलु) आदि उपकरणों के ग्रहण करने में, रखने में सावधानी रखना, भूमि को देख- शोधकर सावधानी पूर्वक उठाना, आदान-निक्षेपण है।

उत्सर्ग समिति: जीवों के अविरोध से अङ्ग के मल का निर्हरण करना उत्सर्ग समिति है। इस समिति को प्रतीष्ठापन समिति और व्युत्सर्ग समिति भी कहते हैं।

जो स्थान प्राणी और उसके बिल आदि के छिद्रों से रहित हो, घन हो, ऐसे जोते हुए तथा जलाये हुए स्थान में मल आदि को छोड़ना व्युत्सर्ग समिति है। (आ सा ५/१३३)

27/10/20, 1:10 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में *सम्यक्* शब्द की अनुवृत्ति पूर्व के चौथे सूत्र से करना चाहिए। जैसे सम्यग्ईर्या आदि।

*सम्यग्ईर्यासमिति* जिसकी दृष्टि सावधान है , जिसने जीवों के स्थान को अच्छी तरह जान लिया है, जिसका चित्त दया से आर्द्र है , एकाग्र है , ऐसे मुनि का तीर्थयात्रा , धर्मकार्य आदि के लिए चार हाथ आगे की जमीन देख कर चलना सम्यक् ईर्यासमिति है।छहढाला में  कहा भी है

*परमाद ,तजि , चउ कर मही लखि समिति ईर्या ते चलें।।*

*सम्यक् भाषा समिति* असंदिग्ध , असूया , मात्सर्य आदि से सत्य कर्णप्रिय , संशय के अनुत्पादक , सभा स्थान के योग्य , मृदु , धर्म अविरोधी , देश-काल आदि के योग्य हास्य आदि से रहित वचनों को बोलना *सम्यक् भाषा समिति* है।छहढाला में दौलतराम जी ने कहा है

*जग सुहितकर सब अहितकर श्रुति सुख सब संशय हरै।*

*भ्रम रोग हर जिनके वचन मुख चन्द्रतैं अमृत झरै।।*

*सम्यक् एषणा समिति* छियालीस दोषों से रहित , बिना याचना किये , शरीर के दिखाने मात्र से प्राप्त अमृतसंज्ञक उद्गम , उत्पादन आदि आहार के दोषों से रहित , अस्पृश्य वस्तु संसर्ग से रहित , दूसरे के द्वारा बनाये गये भोजन को योग्य काल में ग्रहण करना *सम्यक् एषणा समिति* है।

*छियालीस दोष बिना सुकुल श्रावक तने घर अशन को ।*

*ले तप बढावन हेतु नहीं तन पोषतें तजि रसन को।।*

*सम्यक् आदान -निक्षेपण समिति* धर्म के उपकरणों को मयूरपंख की पीछी से या पीछी के अभाव में कोमल वस्त्र आदि से झाड़ पोंछ कर उठाना और रखना *सम्यक् आदान निक्षेपण समिति* है।

*शुचिज्ञान संयम उपकरण लखि के धरे , लखि के गहें।*

*सम्यक् उत्सर्ग समिति* जीवरहित स्थान में मल मूत्र का त्याग करना *सम्यक् उत्सर्ग समिति* है।

*निर्जन्तु थान विलोक , तन मल मूत्र श्लेषम परिहरै।*

पांच समितियां प्राणी पीड़ा के परिहार का उपाय हैं , अतः पांच समिति रूप क्रियाओं में प्रवृत्ति करने वाले मुनिराज के असंयम निमित्त होने वाले कर्मों के आस्रव का अभाव हो जाने से संवर होता है।

28/10/20, 10:19 am - Ashok Jain: 👆 सूत्र 5

28/10/20, 11:33 am - Ashok Jain: दस धर्म

*उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥*

सूत्रार्थ: उत्तम क्षमा-मार्दव, आर्जव-शौच, सत्य-संयम, तप-त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दस धर्म है।

*उत्तम क्षमा*: क्रोध की उत्पत्ति के निमित्त भूत असह्य आक्रोशादि के सम्भव होने पर भी कालुष्य भाव का नहीं होना क्षमा है।

*उत्तम मार्दव*: जाति आदि मद के आवेश से अभिमान का अभाव होना उत्तम मार्दव है।

*उत्तम आर्जव*: योग की सरलता आर्जव है।

*उत्तम सत्य*: साधु वचन बोलना सत्य है।

*उत्तम संयम*: समितियों में प्रवत्ति करने वाले के प्राणी और इन्द्रियों का परिहार संयम है।

*उत्तम तप*: कर्मों का क्षय करने के लिए जो तपा जाता है वह तप है।

*उत्तम त्याग*: परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं।

*उत्तम आकिञ्चञन्य*: 'यह मेरा है' इस प्रकार की अभिसन्धि का त्याग करना आकिञ्चञन्य है।

*उत्तम ब्रह्मचर्य*: अस्वतन्त्रता के लिए गुरु रूप ब्रह्म में आचरण करना उत्तम ब्रह्मचर्य है। (रा वा)

28/10/20, 11:36 am - Ashok Jain: *

*उत्तम शौच*: प्रकर्षता को प्राप्त लोभ की निवृत्ति शौच है

28/10/20, 12:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): धर्म शब्द *धृ* धातु से बना है जिसका अर्थ है धरना। अतः धर्म शब्द का अर्थ है - जो धरता है , वह धर्म है अर्थात् जो जीवों को संसार के दुख से उठाकर मोक्षसुख में धरता है उसे धर्म कहते हैं। यहां दस धर्मों का कथन समितियों में प्रवृत्ति करने वाले के प्रमाद का परिहार करने के लिए कहा गया है।यह धर्म एक ही है , इसके अंग दस हैं , इसलिए सूत्र में *धर्मः* एकवचन दिया गया है।

परकुलों में जाते हुए भिक्षु को दुष्ट जन गाली गलौज करते हैं , उपहास करते हैं , तिरस्कार करते हैं , मारते पीटते हैं , तो भी उनके कलुषता का उत्पन्न नहीं होना , *उत्तम क्षमा* है।

*मार्दव* का अर्थ है मान का नाश करना।

योगों का वक्र न होना *आर्जव धर्म* है।

*योगस्यावक्रताआर्जवम्*

*प्रकर्षलोभान्निवृत्ति शौच* प्रकर्ष लोभ का त्याग करना उत्तम शौच धर्म है।

*सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते* सज्जन पुरुषों के साथ साधु वचन बोलना उत्तम सत्य धर्म है।

*वदसमिदिकसायाणं , दंडाणं तहिंदियाणं पंचण्हं ।*

*धारणपालणणिग्गह चागजओ संजमो भणिओ।।४६५।।- गो.जी.*

अर्थात् अहिंसादि पांच व्रतों को धारण करना , पांच समिति का पालन करना तथा पांच इन्द्रियों को जीतना संयम कहलाता है।

क्रमशः ----

28/10/20, 8:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गतांक से आगे

*कर्मक्षयार्थ तप्यते इति तप:* कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है वह उत्तम तप धर्म कहलाता है।

*संयतस्तस्य योग्यं ज्ञानादि दानं त्याग:* अर्थात् संयत के योग्य शास्त्रादि ज्ञानोपकरण , पिच्छी आदि संयमोपकरण तथा कमण्डलु आदि शौचोपकरण आदि का दान करना उत्तम त्याग धर्म है।

जिसका कुछ नहीं है वह आकिंचन है और आकिंचन का भाव या कर्म *आकिंचन्य धर्म* है।

अनुभूत स्त्री का स्मरण न करने से , स्त्री विषयक कथा का त्याग करने से और स्त्री से सटकर सोने व बैठने का त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म होता है अथवा स्वतन्त्रवृत्ति का त्याग करने से गुरुकुल में निवास करना ब्रह्मचर्य धर्म है।

यद्यपि उपरोक्त वर्णित क्षमा आदि धर्म उत्तम ही हैं , फिर भी किसी लौकिक फल की अपेक्षा से पाले गये क्षमा आदि धर्म उत्तम नहीं होते । जैसे शत्रु को बलवान जानकर क्षमाभाव धारण करने को उत्तम क्षमा नहीं कहा जा सकता।अतः प्रत्यक्ष फल लाभ आदि की अपेक्षा नहीं होने से धर्म के साथ *उत्तम* पद लगाया है।

मुनिराज यदि तपस्वी होकर भी क्रोध आदि करते हैं तो उनकी गति द्वीपायन मुनि के समान होती है तथा इसके विपरीत क्षमा आदि धर्म को धारण करने वाले महामुनि पाण्डव आदि के समान अनन्त संसार का नाश कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

29/10/20, 11:32 am - Ashok Jain: अनुप्रेक्षाओं के नाम

*अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा:॥७॥*

सूत्रार्थ: अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, तथा बोधिदुर्लभ, धर्म रूप स्वतत्त्व का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है।

अनित्य भावना: उपात्त और अनुपात द्रव्य के संयोग के व्यभिचार स्वभाव का चिंतन करना अनित्य भावना है।

अशरण भावना: क्षुधित व्याघ्र के पंजों से पकड़े हुए हरिण के बच्चे के समान जन्म, जरा, रोग, मृत्यु से व्याप्त जन्तु का रक्षक कोई नहीं है, इस प्रकार चिंतन करना अशरण भावना है।

संसार भावना: द्रव्य- क्षेत्र- काल- भाव और भव के निमित्त से उत्पन्न संसार के स्वभाव का चिंतन करना संसार भावना है।

एकत्व भावना:जन्म, जरा, मरण, की आवृत्ति में महादु:खों का अनुभव करने में दूसरा कोई सहायक नहीं है, जीव अकेला ही सुख-दुख का भोक्ता है, ऐसा चिंतन करना एकत्व भावना है।

अन्यत्व भावना: लक्षण भेद से शरीर से भिन्न आत्मा का चिंतन करना अन्यत्व भावना है।

अशुचित्व भावना: शरीर में आदि और उत्तर दोनों ही कारणों से अशुचित्व है, इस प्रकार चिंतन करना अशुचित्व भावना है।

आस्रव भावना: आस्रव के दोषों का विचार करना आस्रव भावना है।

संवर भावना: संवर के गुणों का चिंतन करना संवर भावना है।

निर्जरा भावना: निर्जरा के गुण-दोषों का चिंतन करना निर्जरा भावना है।

लोक भावना: निर्जरा के गुण-दोषों का चिंतन करना संवर भावना है।

बोधिदुर्लभ भावना: त्रस-पर्यायादि के लाभ से भी दुष्प्राप्य बोधिदुर्लभत्व है, ऐसा चिंतन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

धर्मस्वाख्यातत्व भावना: जीवस्थान और गुणस्थानों की गति आदि मार्गणाओं में अन्वेषण रूप धर्म जिनशासन में स्वाख्यात अच्छी तरह कहा गया है, यह भावना धर्म स्वाख्याततत्व है। (रा वा)

29/10/20, 12:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): संसार ,शरीर एवं भोगों के स्वरूप का चिंतन करना *अनुप्रेक्षा* है अर्थात् इनके स्वरूप को अपने भावों में रखकर चिन्तन करना *अनुप्रेक्षा* है , जिससे संसार , शरीर एवं भोगों से विरक्ति - वैराग्य होता है और वैराग्य से कर्मों की संवर एवं निर्जरा भी होती है।यदि हम संसार , शरीर और कर्मों की चिन्ता करते हैं तो कर्मों का आस्रव और बन्ध होता है। इसलिए हमें चिन्ता न कर चिन्तन करना चाहिए , जिससे कर्मों की संवर और निर्जरा होती है।

29/10/20, 1:06 pm - Ashok Jain: लोक भावना: लोक संस्थान का वर्णन करना लोक भावना है।

कृपया सुधार कर पढ़ें 🙏

29/10/20, 1:07 pm - Ashok Jain: श्री पद्मजी जैन ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है, बहुत बहुत धन्यवाद 🙏

29/10/20, 6:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *अनित्य भावना*

ये समुदाय रूप शरीर ,इन्द्रिय  , विषय , उपभोग -  द्रव्य जल के बुदबुदे के समान अनवस्थित , क्षणभंगुर , विनाशीक स्वभाव वाले  होते  हैं ।  मोहवश अज्ञानी प्राणी इसमें नित्यता का अनुभव करता है परन्तु वास्तव में आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के सिवा इस संसार में कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है ।इस प्रकार चिन्तन करना *अनित्यानुप्रेक्षा* है ।

जो संसार - शरीर - भोगों की अनित्यता का बार बार स्मरण / चिन्तन करता है , उसके शरीर आदि में आसक्ति का अभाव होता है तथा भोगकर छोड़े हुए गन्ध - माला आदि के समान इष्टवियोग में सन्ताप नहीं होता है।

🙏🙏

29/10/20, 6:47 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *झूठे जग के सपने सारे, झूठी मन की सब आशायें।*

*तन- जीवन - यौवन अस्थिर है, क्षणभंगुर पल में मुरझाए।।२।।*

देव - शास्त्र - गुरु की पूजा की जयमाला के दूसरे से तेरहवें पद में कविवर युगल किशोर जी ने बारह भावनाओं का बड़ा ही सुन्दर चित्रवत् वर्णन किया है।

सबसे पहले *अनित्य भावना* का चित्रण करते हुए वे कहते हैं कि इस संसार के सारे सपने, सारी आशायें सब झूठी हैं।हमारा यह तन, जीवन, यौवन सब अस्थिर है - जो कभी भी विनष्ट हो सकता है।

परम पूज्य मुनि श्री१०८ प्रमाणसागर जी महाराज अपनी पुस्तक" *धर्म साधिये जीवन में*" में लिखते हैं कि अनित्य भावना का मतलब है - जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है सब विनाशीक है।जिसका जन्म हुआ है उसका मरण निश्चित है।

जब कोई जन्म लेता है तो हम हर्ष मनाते हैं और मरने पर मातम छा जाता है।

जन्म में जश्न, मृत्यु में मातम- यह सब  हमारे मन की दुर्बलता है।आना- जाना, मिलना - बिछुड़ना, सुख- दुख चलते रहते हैं, ये सब प्रकृति के नियम हैं।जो इस रहस्य को जानते हैं - वे इस उत्पत्ति और विनाश के क्रम में अपने अन्दर एक स्थायी भावना को बनाए रखते हैं।इस समता तक वही पहुँच सकता है जो इस अनित्य भावना का प्रतिदिन स्मरण करता रहता है।

इसीलिए हमें अपने इस क्षणभंगुर शरीर से जो बिल्कुल अस्थिर है, नाशवान है, जिसकी अन्तिम परिणति चिता की राख है - से आसक्ति नहीं रखकर अपने शरीर के भीतर के अविनश्वर शरीर को जानने की कोशिश करनी चाहिए।संसार की अनित्यता  को जानकर अपनी आत्मा की नित्यता  को पहचानने  का प्रयास करना चाहिए।

29/10/20, 7:41 pm - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 🙏🙏🙏

29/10/20, 7:54 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *अशरण अनुप्रेक्षा*

जिस प्रकार भूखे और बलवान सिंह के द्वारा पकड़े गए हिरणी के बच्चे के लिए कोई भी शरण नहीं होती , उसी प्रकार जन्म - जरा - मृत्यु और व्याधि आदि दुखों के मध्य परिभ्रमण करने वाले जीव का कोई भी शरण नहीं है। एकमात्र धर्म ही मुझे शरण है। कहा भी है

*पुनरपि जननं पुनरपि मरणं , पुनरपि जननी जठरे शयनम्।*

*इह संसारे खलु दुस्तारे त्राता नहि भव कारागारे।।*

महाकवि भूधरदास जी कहते हैं

*दल-बल देवी देवता मात-पिता परिवार।*

*मरती बिरिया जीव को कोई न राखनहार।।*

अशरण भावना का चिन्तन करने वाला जीव *मैं सदा अशरण हूं* ऐसा विचार कर सदा वैराग्यवान रहता है और संसार के कारणभूत पदार्थों में उसकी ममता नहीं रहती है।वह अरिहन्त प्रणीत मार्ग में ही प्रयत्नशील रहता है।

29/10/20, 9:49 pm - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: <Media omitted>

30/10/20, 8:46 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अशरण का अर्थ होता है कि संसार में कोई आश्रय देने वाला नहीं है।कोई भी संरक्षण देने वाला नहीं है।हम इस धारणा को पाले बैठे हैं कि हम इसकी शरण में हैं - उसकी शरण में हैं आदि आदि, लेकिन जब हम अशरण भावना का चिन्तन करते हैं तो सारी की सारी भ्रान्तियाँ टूट जाती हैं।हमें समझ में आ जाता है कि यह सब कुछ एक सपने की भाँति दिखाई दे रहा है।वास्तव में हमें कोई संरक्षण देने वाला नहीं है।

जैन दर्शन यह कहता है कि वास्तविक दृष्टि यही है कि हमारा आलम्बन कोई नहीं है।हम अस्पताल जाकर देखें - लोगों की क्या हालत है।चाहने वाला भी, जान को लुटाने वाला भी, धन दौलत पानी की तरह बहाने वाला भी - कोई सगा सम्बन्धी मरने वाले को नहीं बचा सकता।जिसने जीवन भर अपने परिवार का पालन पोषण किया, अनेक साधनों से दुनिया की धन दौलत जुटाई - आज वह जीना चाह रहा है, इस संसार में और रहना चाह रहा है, पर सभी बेबस हैं, कोई शरण नहीं दे सकता।

यदि हम अपने जीवन को उठाकर देखेंगे तो बचपन से ही हम भ्रम पाले हुए हैं।जैसे ही हम गर्भ से प्रसूत हुए, हमने माँ को शरण मान लिया, पिता को शरण मान लिया, भाई बहन को शरण मान लिया।थोड़ा और होश सँभाला तो धन सम्पत्ति

को शरण मान लिया।अशरण अनुप्रेक्षा कहती है कि वास्तविकता में तुम्हारी शरण कोई नहीं हो सकता।कितने तन्त्रवादी, कितने मन्त्रवादी मर गये।एक से एक विद्याओं को सिद्ध किया - अनेक लोगों को अपनी विद्याओं से वश में किया, सिर्फ एक मृत्यु को अपने वश में नहीं कर पाये ।

*रावण ने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की और जब काल सामने खड़ा हो गया तो उस विद्या ने भी हाथ जोड़ लिये।इधर लक्ष्मण का बाण निकल रहा है और रावण सोच रहा है कि मेरे अनेकानेक रूप बन जायें तो न जाने बाण कहाँ चला जाये, लेकिन बहुरूपिणी विद्या कहती है कि अब कुछ नहीं हो सकता।अब तुम्हारा काल आ गया है।जहाँ पर काल सामने आ जाता है वहाँ हमारा कोई काम नहीं है।*

हमें भी बारम्बार इस अशरण भावना का चिन्तन करते रहना चाहिए।संसार में कोई पालन पोषण करने वाला नहीं है, स्थाई संरक्षण देने वाला नहीं है, ऐसा मनन चिन्तन करते रहने से वैराग्य उत्पन्न होगा और अशरण भावना समाहित हो जायेगी।मोह समाप्त हो जायेगा।

*आचार्य कुन्दकुन्द देव द्वारा विरचित" *वारसाणुपेक्खा*" *पर मुनि श्री विनिश्चय सागर जी के अनुपेक्षा व्याख्यान का संक्षिप्त संकलन।*

30/10/20, 9:52 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जिस संसार में देवों के स्वामी इन्द्रों का विनाश देखा जाता है और जहाँ हरिहर ब्रह्मा आदि तक काल के ग्रास बन चुके हैं, उस संसार में क्या शरण है? प्राणी सोचता है कि यह संसार मेरा शरण है, इसमें रहकर मैं मृत्यु से बच सकता हूँ।किन्तु आचार्य कहते हैं कि जिस संसार में इन्द्र, हरिहर , ब्रह्मा जैसे देवता तक मृत्यु के मुख से नहीं बच सके, वहाँ कौन किसकी शरण हो सकता है।जैसे शेर के पंजे में फँसे हुए हिरन को कोई नहीं बचा सकता, वैसे ही मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी को भी कोई नहीं बचा सकता।

यदि मरते हुए मनुष्य को देव, मंत्र, तन्त्र क्षेत्रपाल आदि बचा सकते तो मनुष्य अमर हो जाते।मनुष्य अपनी और अपने प्रियजन की रक्षा के लिए मनौती करते हैं।कोई महामृत्युंजय आदि मन्त्रों का जप करवाते हैं।कोई टोटका करवाते हैं।कोई क्षेत्रपाल को पूजते हैं।किन्तु आचार्य कहते हैं कि उनकी यह सब चेष्टायें व्यर्थ हैं क्योंकि इनमें से कोई भी उन्हें मृत्यु के मुख से नहीं बचा सकता।यदि ऐसा होता तो सब मनुष्य अमर हो जाते।किसी न किसी की शरण में जाकर अपनी प्राणरक्षा कर लेते अत्यंत बलशाली, भयानक और रक्षा के अनेक उपायों से सदा सुरक्षित होते हुए भी कोई भी ऐसा नहीं दिखता, जिसका मरण नहीं होता हो ।
इसीलिए गुरु हमें कहते हैं कि हे भव्य ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही शरण है।परम श्रद्धा के साथ उन्हीं का सेवन कर।संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को उनके सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है।आत्मा को उत्तम क्षमा आदि भावों से युक्त करना भी शरण है।जिसकी कषाय तीव्र होती है वह स्वयं अपना ही घात करता है।

संसार के मूढ प्राणी शरीर को ही आत्मा समझ कर उसकी रक्षा के लिए शरण की खोज में भटकते फिरते हैं।किन्तु आत्मा तो शरीर से भिन्न है।वह अजर अमर है।वह कभी न मरता है न जन्म लेता है।अत: उसके मरण की चिन्ता ही व्यर्थ है।इसीलिए जिनेन्द्र देव ने हमें यह उपदेश दिया कि रत्नत्रय की शरण लेकर आत्मा को उत्तम क्षमादि रूप परिणत करना ही संसार में शरण है।वही आत्मा को संसार के कष्टों से बचा सकता है।

30/10/20, 3:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *संसार भावना*

जिस प्रकार रंगस्थल में नट नाना प्रकार के रूप धारण करता है उसी प्रकार पंचपरावतन रूप संसार ( द्रव्य - क्षेत्र - काल भव और भाव ) में यह जीव अनेक कुल और योनियों में भ्रमण करता हुआ पिता होकर भाई , पुत्र और पौत्र होता है । माता होकर भगिनी , भार्या और लड़की होती है ।स्वामी होकर दास और दास होकर स्वामी भी होता है ।इस प्रकार संसार के स्वभाव का चिन्तन करना *संसार अनुप्रेक्षा* है।छहढाला में लिखा भी है

*चहुंगति दुख जीव भरे हैं , परिवर्तन पञ्च करे हैं।*

*सब विधि संसार असारा ,यामें सुख नाहिं लगारा।।*

*संसार भावना* का चिंतन करने वाला संसार के दुखों से उद्विग्न होकर , इससे विरक्त होकर संसार के नाश के लिए पुरुषार्थ करता है।

30/10/20, 4:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *संसार महादुख सागर के प्रभु दुखमय सुख- आभासों में।*

*मुझको न मिला सुख क्षण भर*

*भी, कंचन- कामिनी - प्रासादों में।।४।।*

हे स्वामी ! यह संसार महा दुखों का सागर है।इसमे जितनी भी सुख की अनुभूतियाँ हैं - जितने भी सुख के आभास हैं - सब क्षणिक हैं।इन सुख के आभासों की परिणति दुखमय ही है।मुझे कंचन( धन दौलत) , कामिनी ( स्त्री) और प्रसादों ( महलों) में क्षण भर के लिए भी सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हुई। इस पद के द्वारा युगल किशोर जी ने तीसरी भावना" संसार भावना" का बहुत ही सटीक चित्रण किया है।इस संसार की नियति ही यही है कि जो भी यहाँ आता है उसे केवल कष्ट ही मिलता है।संसार में रोने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।इस संसार में जिसे भी हम देखेंगे, जिसे भी टटोलेंगे, हर प्राणी के जीवन में दुखों के अलावा कुछ है ही नहीं।

भूधरदास जी ने इन दो पंक्तियों के माध्यम से संसार की वास्तविकता का चित्र खींचा है

*दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णा वश धनवान्।*

*कहीं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान।।*

भगवान महावीर कहते हैं-जन्म दुख है, जरा दुख है, रोग दुख है, मरण दुख है।संसार में हमें कहीं सुख दिख ही नहीं सकता।यह संसार की वास्तविकता है। इन सब का अर्थ यह नहीं कि हम संसार को दुखमय जानकर उससे हताश हो जायें।संसार में यदि हम जीना चाहते हैं तो जो है, जैसा है, जितना है - उसी में सन्तुष्ट रहना होगा।तभी हमारा जीवन

सुखमय बन सकता है।संसार में सुख पाने की चाह में ज़ीवन में आकुलता के सिवाय कुछ नहीं मिलेगा क्योंकि संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है जो सर्वथा सुखी हो, दुखों से त्रस्त न हो।दुख संसार की अनिवार्यता है।

30/10/20, 6:18 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *संसार भावना के सन्दर्भ में एक कथा*

विदेह देश में मिथिला नामकी नगरी में राजा सुभोग राज्य करता था।उसकी पत्नी का नाम मनोरमा था।उन दोनों के देवरति नामका युवा पुत्र था।एक बार देवकुरु नामक तपस्वी आचार्य संघ के साथ मिथिला नामक उद्यान में ठहरे।यह जानकर राजा सुभोग मुनियों की वन्दना के लिए गया और आचार्य देव को नमस्कार करके पूछा-मुनिराज ! मैं यहाँ से मरकर कहाँ जन्म लूँगा? मुनिराज बोले हे राजन् ! आज से सातवें दिन बिजली गिरने से तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी और तुम मरकर अपने अशौचालय में टट्टी के कीड़े बनोगे।हमारे इस कथन की सत्यता का प्रमाण यह है कि तुम यहाँ से जाते हुए जब नगर में प्रवेश करोगे तो मार्ग में भौंरे की तरह एक काले कुत्ते को देखोगे।

मुनि के वचन सुनकर राजा ने अपने पुत्र को बुलाकर कहा, आज से सातवें दिन मरकर मैं अपने अशौचालय में टट्टी का कीड़ा बनूँगा।तुम मुझे मार देना।ऐसा कहकर राजा ने राजपाट छोड़ दिया और बिजली गिरने के भय से जल के अन्दर बने हुए महल में छिपकर बैठ गया।ठीक सातवें दिन बिजली गिरने से राजा की मृत्यु हो गयी और वह अपने अशौचालय के विष्ठा में सफेद कीड़ा हुआ।

पुत्र ने उसे देखते ही मारने का प्रयास किया तो वह कीड़ा विष्ठा के अन्दर घुस गया।संसार की इस विचित्रता को देखकर पुत्र आश्चर्यचकित हो गया और इस संसार की करुणाजनक स्थिति पर विचार करने लगा।

भाइयो,मोह का माहात्म्य तो देखो।पापकर्म के उदय से राजा भी मरकर विष्ठा का कीड़ा होता है और उसी विष्ठा में रति करने लगता है।

*लिखने का आधार कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ के ६३ वें श्लोक की टीका से।*

30/10/20, 7:02 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *एकत्व अनुप्रेक्षा*

जन्म -जरा और मरण की आवृति रूप महादुख का अनुभव करने के लिए मैं अकेला ही हूं। यहां न मेरा कोई अपना है न कोई पराया।मैं अकेला ही जन्मता हूं , अकेला ही मरता हूं।मेरे मरने के बाद बन्धु , मित्र या रिश्तेदार कोई भी श्मशान से आगे नहीं जायेंगे।

धर्म ही एकमात्र मेरा सहायक है जो सदा मेरा साथ देगा। धर्म कभी साथ छोड़ने वाला नहीं है । इस प्रकार चिन्तन करना *एकत्व अनुप्रेक्षा* है। मंगतराय  जी बारह भावना में कहते हैं

*जन्मै मरै अकेला चेतन , सुख -दुख का भोगी।*

*और किसी का क्या , इकदिन यह , देह जुदा होगी ।।*

*कमला चलत न पैड जाय , मरघट तक परिवारा।*

*अपने -अपने सुख को रोवें , पिता पुत्र दारा।।*

*ज्यों मेले में पंछीजन मिल नेह फिरैं धरते।*

*ज्यों तरवर पै रैन बसेरा , पंछी आ करते।।*

*कोस कोई दो कोस कोई उड़ फिर तक -थक हारै।*

*जाय अकेला हंस संग में , कोई न पर मारै।*

एकत्व भावना का चिन्तन करने वाले जीव के स्वजन में प्रीति और परजन में अप्रीति रूप परिणाम नहीं होते , अतः नि:संख्या को प्राप्त कर वह मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है।

30/10/20, 7:08 pm - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 🙏🙏🙏

30/10/20, 9:01 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

30/10/20, 9:01 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

30/10/20, 9:01 pm - Ashok Jain: ३१/१०/२० शरदपूर्णिमा आचार्य भगवंत श्री विद्यासागर जी महाराज का ७५वां अवतरण दिवस पर पारस चैनल दोपहर एक बजे से सपरिवार देखना न भूलें 🙏

30/10/20, 9:01 pm - Ashok Jain: आचार्य भगवंत द्वारा ग्रंथों के पद्यानुवाद के वीडियो बना रहे हैं, लगभग पूरा हो गया है। बड़ी टीम इस काम कर रही है

*मैं स्वयं भी बेक-आफिस टीम का सदस्य हूं।*

अशोक बज

30/10/20, 9:01 pm - Ashok Jain: कृपया आप अपने सभी ग्रुपों में भेज कर धर्म प्रभावना करें 🙏

30/10/20, 9:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏

30/10/20, 9:17 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व* *लिये सब ही आते ।*

*तन- धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड़ चले जाते।।५।।*

हे प्रभु ! मैं इस संसार में बिल्कुल अकेला आया हूँ।सभी लोग संसार में अकेले ही आते हैं।मैंने अपने तन को - धन को अपना साथी समझा था कि ये विपरीत परिस्थितियों में मेरा साथ देंगे, पर किसी ने मेरा साथ नहीं दिया।सभी मुझे अकेला छोड़ कर चले जाते हैं।

इस पद के माध्यम से चौथी एकत्व भावना को दर्शाया गया है।परम पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी लिखते हैं कि संसार की इस यात्रा में हर यात्री अकेला है।देखने में ऐसा लगता है कि संसार में बहुत भीड़ है, पर जब हम बारीकी से देखते हैं तो समझ में आता है कि इस भीड़ में हर कोई अकेला है।इस एकत्व के बोध का नाम ही एकत्व भावना है।

थोड़ी देर के लिए हम विचार करें कि हमारे जन्म के साथ हमारे पूरे परिवार का भी जन्म होता - हमारे माता पिता, भाई बन्धु आदि भी हमारे साथ जन्मे होते तो कितना अच्छा होता।पर यह संभव नहीं।जन्म में भी हमारा कोई साथी नहीं होता और मरने में भी हमारा कोई साथी नहीं होता।

एकत्व भावना का कुल अर्थ यही है कि हमें इस संसार को एक मेले की तरह मान कर चलना चाहिए।अपने भीतर संसार को विकसित नहीं होने देना चाहिए। हम यह मानकर चलें कि यह तो एक मेला है जहाँ विभिन्न दिशाओं से लोग आते हैं - इकट्ठे होते हैं और मेला पूरा होते ही सब अपनी अपनी दिशा में चले जाते हैं ।

हम अपने परिवार का संचालन करें - समाज में अपना कार्य करें, पर यह मानकर चलें कि मैं अकेला जन्मा था और अकेला ही मरूँगा।मेरा अपना कोई नहीं है।यह भाव मन में आने पर हमें न तो किसी से कोई आसक्ति रहेगी और न ही कोई उम्मीद।इस परम सत्य के बोध की प्राप्ति पर ही हम अपने जीवन का सच्चा कल्याण कर पाते हैं।

31/10/20, 11:21 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *अन्यत्व अनुप्रेक्षा*

छहढाला में लिखते हैं

*जल पय ज्यों जिय तन मैला , पै भिन्न भिन्न नाहीं भेला।*

*त्यों प्रगट जुदै धन धामा , क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा।।७।।*

शरीर और आत्मा में बन्ध अपेक्षा अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से *मैं* अन्य हूं , शरीर अन्य है, मैं चैतन्य हूं , शरीर जङ है , मैं अतीन्द्रिय हूं , शरीर ऐन्द्रेयिक है , शरीर अज्ञ है , मैं ज्ञाता हूं , शरीर अनित्य है , मैं नित्य हूं , शरीर आदि अन्त वाला है , मैं अनादि हूं अनन्त हूं , संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त शरीर अतीत हो गये उनसे भिन्न वह मैं ही हूं। ऐसा बार बार चिन्तन करना *अन्यत्व अनुप्रेक्षा* है।

अन्यत्व भावना के चिन्तन से भेद विज्ञान की सिद्धि होती है ।इससे तत्त्वज्ञानपूर्वक वैराग्य भावना प्रकर्ष होने से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।

31/10/20, 11:31 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *मेरे न हुए ये मैं इनसे, अति भिन्न अखंड निराला हूँ।*

*निज में पर से अन्यत्व लिये*

*निज सम रस पीने वाला हूँ।।६।।*

अन्यत्व भावना:- इससे पूर्व हमने एकत्व भावना में पढा था कि मैं इस संसार की भीड़ में रहते हुए भी बिल्कुल अकेला हूँ।अब अन्यत्व भावना कहती है कि मैं अकेला तो हूँ ही साथ ही संसार में सबसे अलग भी हूँ - सबसे भिन्न हूँ।मेरी कोई बराबरी नहीं कर सकता।मैं सबसे अलग हूँ - अनूठा हूँ - निराला हूँ।संसार के जितने भी पदार्थ दिखाई पड़ रहे हैं - मैं इन सबसे भिन्न अपना अलग स्वरूप धारण करने वाला हूँ।इस आत्मबोध की जागृति का नाम ही अन्यत्व भावना है। जन्म से लेकर आज तक मैंने कितने रूप धारण कर लिये।मेरा रूप परिवर्तनशील है - देह नाशवान है।मुझे मेरे नाम और देह से पहचाना जाता है, फिर भी मैं देही नहीं हूँ।देह के भीतर छिपे उस विदेही की पहचान ही अन्यत्व की अनुभूति है। मेरा यह शरीर तो ऊपर का आवरण है।शरीर तो ऊपर की चीज है। बिजली बहती है, प्रवाहित होती है, पर हमें दिखाई नहीं देती , उसका करंट दिखाई नहीं देता।मात्र ऊपर का तार दिखाई देता है।हम सिर्फ तार को ही सब कुछ मानने का भ्रम पाल रहे हैं।तार का महत्व नहीं है।उसके करंट का महत्व है।तार को देखते ही उसके भीतर के करंट का आभास हो जाता है।उसी प्रकार शरीर का महत्व नहीं है।चेतन का महत्व है।अपने इस स्वरूप की प्रतीति होना ही अन्यत्व की अनुभूति है जिसकी उपलब्धि होते ही पर पदार्थों से भिन्न आत्मा के अनुपम रस का अहसास होता है

31/10/20, 12:42 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इष्टोपदेश ग्रन्थ में कहते हैं

*न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।*

*नाहं बालो न वृद्धोऽहं,न युवैतानि पुद्गले।।२९ ।।*

मेरी मृत्यु नहीं होती,इसलिए मुझे भय का कोई कारण नहीं है।मुझे व्याधि नहीं होती ,इसलिए मेरे लिए पीड़ा का कोई कारण नहीं है।मैं बालक नहीं होता, बूढा नहीं होता ,जवान नहीं होता ,ये सब स्थितियाँ पौद्गलिक शरीर में ही घटित हैं।

मुमुक्षजीव संकल्प विकल्प से परे होकर नित्यानंद समरसी भाव का चिन्तन करता है।जो अवस्था कर्मातीत शुद्ध सिद्ध परमात्मा की है उसी अवस्था का दर्शन निज देहालय में विराजमान शक्तिरूप परमात्मा का करता है।शरीर के प्रति हमारा यह राग ही अशरीरी भगवान आत्मा को प्रकट नहीं होने देता।शरीर का ममत्व ही संकल्प विकल्पों का जनक है।ये संकल्प विकल्प तो समाधि के शत्रु हैं।समाधि साधक के लिए साधना की गहराइयों में उतरने के लिए सबसे पहले त्रैकालिक अवस्था का दृढ श्रद्धान करना जरूरी है।

इसीलिए मुमुक्षु साधक यह विचार करता है कि मैं तो नित्य ,निरंजन ,शुद्ध, आत्म तन्मय हूँ- यही मेरा स्वभाव है।मैं रागद्वेष, मोह आदि से रहित हूँ ।न मुझे कोई रोग है न शोक है।मेरा मरण नहीं हो सकता।बीमारी और मरण तो शरीर में होता है।जब यह शरीर मेरा है ही नहीं तो मुझे किस बात का दुख ? कैसी पीड़ा ?

भले ही इस शरीर के साथ मेरा संयोग हो रहा है तो क्या हुआ ? विकार उत्पन्न करने वाले मेघों के साथ आकाश का संयोग होता है तो क्या आकाश में कोई विकार होता है ? जन्म मरण तो पर्यायों का होता है।नित्य परिणमन करते रहता पर्याय का स्वभाव है ।उससे मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता।पर्यायों के परिणमन के कारण यह शरीर कभी बालक होता है ,कभी युवा होता है, फिर बूढा होता है और फिर मर कर चिता में जलकर राख में परिणत हो जाता है, किन्तु मैं तो ज्यों का त्यों हूँ ,मैं सबसे भिन्न हूँ ,अविनाशी हूँ ,सबसे निराला हूँ ।यह रोग व्याधि सब पुद्गल शरीर की है ,मेरी नहीं।मैं एक सुखमय ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण शुद्धात्मा हूँ।अन्य जो परभाव हैं ,वे सभी कर्मों से उत्पन्न हैं।मेरा सत्य स्वरूप तो वही है जो जन्म - जरा - मृत्यु से रहित निकल परमात्मा का है।

31/10/20, 6:13 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *अशुचि भावना*

यह शरीर अत्यंत अशुचि पदार्थों की योनि है ।शुक्र और शोणित रूप अशुचि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है , शौचगृह के समान अशुचि पदार्थों का भाजन है। त्वचामात्र से आच्छादित है । अति दुर्गन्ध रस को बहाने वाला झरना है । अंगार के समान अपने आश्रय में आये पदार्थों को शीघ्र नष्ट करता है।स्नान , इत्र , फुलेल आदि सुगन्धित पदार्थों द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर करना शक्य नहीं है , किन्तू अच्छी तरह धारण किया गया रत्नत्रय जीव की आत्यन्तिक शुद्धि को प्रकट करते हैं । इसी लिए कहा है

*स्वभावतो शुचौ काये , रत्नत्रय पवित्रिते।*

अशुचि भावना करने वाला जीव शरीर से विरक्त होता हुआ जन्मोदधि से तरने के लिए चित्त को लगाता है।

31/10/20, 6:19 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *जिसके श्रृंगारों में मेरा, यह महँगा जीवन घुल जाता।*

*अत्यंत अशुचि जड़ काया से, इस चेतन का कैसा नाता?।।७।।*

अशुचि भावना:- जिस नाशवान शरीर के श्रृंगार के पीछे मैंने अपना यह मूल्यवान जीवन नष्ट कर दिया - उस अत्यंत जड़ शरीर से मेरे इस चेतन का क्या सम्बन्ध है? अशुचि भावना हमारे चिन्तन को और आगे ले जाते हुए कहती है कि हमें अपने शरीर के स्वभाव को पहचानना है।यह स्वभाव से ही अपवित्र है।इस अपवित्र शरीर की आसक्ति में उलझ कर अपने मूल्यवान जीवन को यूँ ही नहीं गँवाना है।हमें जड़ से चेतन की ओर बढने का प्रयास करना है।अशुचि भावना शरीर की वास्तविकता का दर्शन कराती है।

कविवर भूधरदास जी कहते हैं

*दिपे चाम चादर मढी, हाड पींजरा देह। भीतर या सम जगत में और नहीं घिन गेह।।*

हमारा शरीर ऊपर से बड़ा up- to- date दिखाई पड़ता है, पर भीतर से यह हाड़- माँस का पुतला है।ऊपर से चमड़े की खोली लपेट दी गई है - इसीलिए यह सुन्दर दिखाई पड़ता है।अपने शरीर के प्रति, दूसरों के शरीर के प्रति आसक्ति ही हमारे जीवन में असंयम को जन्म देती है।उस असंयम से बचने के लिए हमें थोड़ा अपने भीतर झाँककर देखना होगा कि आखिर इस शरीर में है क्या? हमारे शरीर में नौ द्वार हैं जिनसे निरन्तर मल बहता रहता है।इनका नाम लेने से भी घृणा का अनुभव होता है।हमारे शरीर में हाड़- माँस और मल मूत्र के अलावा और क्या है? यही हमारी personality है जिसे ऊपर से सिर्फ ढक दिया गया है। सन्त कहते हैं कि न स्वयं के शरीर पर मुग्ध होओ न दूसरों के शरीर पर आकृष्ट होओ।शरीर के स्पर्शजन्य सुख की लालसा हमारे चित्त को अशांत करती है - पाप में निमग्न करती है।शरीर के श्रृंगार में हम जितना भी उलझें- उसे सजाया नहीं जा सकता।कोयले को कितना भी धोने का प्रयास करें उसमें सफेदी नहीं आ सकती।तन में पवित्रता ऊपर के श्रृंगार से नहीं, बल्कि आत्मा की साधना से आती है।यदि हम अपने जीवन को पवित्र करना चाहते हैं तो बाहर से नहीं भीतर से पवित्र होना होगा।जो तप और साधना के मार्ग को अंगीकार कर लेता है, अपने

आचरण में पवित्रता ले आता है उस व्यक्ति द्वारा स्पर्श की हुई धूल को भी लोग माथे पर लगाने को लालायित हो जाते हैं।यह धूल की पवित्रता नहीं है - चरणों की पवित्रता नहीं है, अपितु आचरण की पवित्रता है। हमें इस शरीर को धर्म ध्यान की भूमि में लगाना होगा।आत्मकल्याण में लगाना होगा।तभी अनन्त फल प्राप्त होगा।हमें इस शरीर का उपयोग करना है उपभोग नहीं।शरीर से आसक्त नहीं होना है - विरक्त होना है।जिस दिन यह दृष्टि प्रकट हो जायेगी, अशुचि भावना सार्थक हो जायेगी।

31/10/20, 8:06 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य पूज्यपाद स्वामी *इष्टोपदेश* ग्रन्थ में कहते हैं

*भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि।*

*स कायः सन्ततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ।। १८ ।।*

जिसके सम्बन्ध को पाकर पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं ,ऐसे दुखद ,उपद्रव ,झंझट और विघ्नकारी शरीर के लिए भोगोपभोग के लिए कामना व्यर्थ है।

मोह की स्थिति बड़ी विचित्र है।मोह के कीचड़ में फँसा हुआ प्राणी ऐसे शरीर के प्रति तीव्र राग करता है जिसका आत्म तत्व से दूर दूर तक कोई नाता नहीं है।हम जानते हैं कि हमारी यह नश्वर देह एक दिन मिट्टी में मिल जाने वाली है ,किन्तु जानते हुए भी मानने को तैयार नहीं हैं।स्पर्श ,रस,गन्ध,वर्ण - इस पुद्गल देह का धर्म है जबकि ज्ञान ,दर्शन चैतन्यमयी आत्मा का धर्म है।शरीर और आत्मा दोनों जुदे जुदे हैं, दोनों का भिन्न भिन्न धर्म है।जीव पुद्गल रूप न कभी हुआ न होगा।फिर भी रागी ,मोही देह में आत्मबुद्धि रखता है।

ज्ञानी कभी देह में आसक्ति नहीं करता।वह जानता है कि जैसे एक रत्नदीपक अनेक घरों में घुमाये जाने पर भी एक रत्न - तूप ही है वैसे ही अनेक शरीरों में घूमते रहने पर भी मैं वही आत्म द्रव्य हूँ।बिना तत्वनिर्णय किये पर्याय बुद्धि समाप्त नहीं हो सकती है।इसलिए शरीर की अशुचिता का चिन्तन हमें प्रतिक्षण करते रहना चाहिए ,अन्यथा सब कुछ त्याग देने पर भी हम वाह्य पदार्थों के पोषण में धर्म मान बैठेंगे।अतः देह के ममत्व का त्याग करना भव्य जीव के लिए बहुत आवश्यक है।वीभत्स शरीर के प्रति राग का त्याग करना चाहिए।

*संग पाय शुचि वस्तु भी जिससे होय मलीन।*

*दुखद , विघ्नकर देह की मत कर चाह नवीन ।। १८ ।।*

31/10/20, 8:27 pm - +91 97571 15950: This message was deleted

31/10/20, 8:40 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): कृपया इस तरह के पोस्ट डालकर स्वाध्याय में विघ्न न करें। इससे घोर ज्ञानावरणी कर्म का बन्ध होता है।

31/10/20, 8:55 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *आस्रव भावना*

मिथ्यात्व आदि भावों से आस्रव होता है।आस्रव इहलोक -परलोक दुखदायी है।महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय ,कषाय और अव्रतरूप हैं।ये आस्रव ही संसार के मूल कारण हैं , इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिन्तन करना *आस्रव अनुप्रेक्षा* है।

*मोहनींद के जोर , जगवासी घूमें सदा।*

*कर्मचोर चहुंओर , सरवस लूटें सुध - नहीं ।।७।।*

आस्रव भावना का चिन्तन करने वाले जीव कछुए के समान अपनी आत्मा को संवृत कर लेते हैं और आस्रव के दोषों से बच जाते हैं।

31/10/20, 10:54 pm - +91 82936 01525 left

31/10/20, 11:59 pm - +91 94349 31397: एक ही दिन मे इतने सारे पाठ स्मरण मे रखना वहुत कठिन होता है, महोदय/महोदया।

01/11/20, 6:03 am - Ashok Jain: ठीक है, अब थोड़ा कम पोस्ट करेंगे

01/11/20, 10:11 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *दिन - रात शुभाशुभ भावों से, मेरा व्यापार चला करता।*

*मानव वाणी और काया से, आस्रव का द्वार खुला रहता।।८।।*

रातदिन शुभ और अशुभ भावों से मेरा कर्म व्यापार निरन्तर चलता रहता है।मन, वचन और काय से मैंने इन कर्मों के आस्रव के दरवाजे को खोल रखा है। *आस्रव* का अर्थ होता है कर्मों का आना।" *आ* यानी सब ओर से तथा" *स्रव*" यानी बहना, रिसना, झरना।हमारी आत्मा में प्रतिपल कर्मों का रिसाव होता रहता है, कर्मों का बहाव होता रहता है।यह कर्म शक्ति ही है जो जीवन में विषमता और संसार में विविधता को जन्म देती है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जो कर्म है वह हमारा स्वभाव नहीं है विभाव है।हमारा अपना नहीं है, पराया है।हमने इस पराये को ही अपना लिया है।कर्मों की सत्ता में हमने अपनी आत्मा के स्वभाव को त्याग कर विभाव को अपना लिया है।यह ठीक ऐसा ही है मानो कोई दूसरा हमारे मकान पर कब्जा कर ले और हमें मकान मालिक होते हुए भी अपने ही घर से निकलना पड़े।हमारी आत्मा की भी यही स्थिति है।आत्मा के मूल गुणों को कर्मों के प्रभाव से बाहर होना पड़ रहा है।

आस्रव भावना कहती है - *इस बात को समझो।कर्मों के आने के कारण को समझो और उसके निवारण के उपाय को जानो।* जिस नाव में छेद हो जाता है उसका कभी न कभी पानी में डूबना निश्चित है।आस्रव भी ऐसा ही छेद है जो हमारी आत्मा में कर्म रूप जल का प्रवाह भरता है जिससे हमारी आत्मा रूपी नैया भवसागर में डूब जाती है। कर्म बिना बुलाया मेहमान है जो हमारे घर पर कब्जा बनाये हुए है।हम हैं कि रात दिन उस मेहमान की खातिरदारी में जुटे हुए हैं तो वह जाने का नाम कैसे लेगा? आस्रव भावना कहती है कि हम प्रतिपल अपनी आत्मा की दुर्गति कराने वाले कर्म से बचें।बुरी प्रवृत्ति, दुश्चिन्ता और दुर्व्यवहार से हम स्वयं को बचायेंगे तो निश्चित ही हमारे जीवन का कल्याण होगा।

01/11/20, 1:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *संवर भावना*

जिस प्रकार महासमुद्र में नाव के छेद के नहीं ढके रहने पर क्रम से झिरे हुए जल से व्याप्त होने पर उनके आश्रय में बैठे हुए मनुष्यों का विनाश अवश्यम्भावी है और छेद के ढके रहने पर उपद्रव रहित इष्ट स्थान को प्राप्त होना निश्चित है उसी प्रकार कर्मागम के द्वारा ढक जाने पर आत्मा का मुक्त होना निश्चित हो जाता है , उस मोक्षमार्गी का मोक्षगमन अवश्यम्भावी है।ऐसा संवर के गुणों का चिन्तन करना *संवर अनुप्रेक्षा* है।संवर ही कल्याण का मार्ग है।

*सतगुरु देय जगाय , मोहनींद जब उपशमै।*

*तब कछु बनै उपाय , कर्म - चोर आवत रुकैं।।८।।*

संवर भावना के चिन्तन से मोक्ष में प्रवृत्ति होती है और अन्त में मोक्षपद की प्राप्ति होती है।

01/11/20, 3:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *संवर भावना*

परम पूज्य मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज अपनी पुस्तक" *धर्म साधिये जीवन में*" में लिखते हैं कि संवर वह माध्यम है जो हमें कर्म के बन्धनों से बचाता है।छेद सहित हमारी नाव में लगातार जल का प्रवेश हो रहा है जिसके कारण हमारी आत्मा रूपी नाव डूबने वाली है।इस नाव को डूबने से बचाने के लिये हमें उन छेदों को बन्द करना होगा जहाँ से निरन्तर कर्मों का आगमन हो रहा है।

हमारे साथ एक बड़ी दुर्बलता यह है कि हम धर्म के महत्व को जानते हैं - अधर्म के प्रभाव को भी जानते हैं।फिर भी न अधर्म से दूर हो पाते हैं, न ही धर्म को अंगीकार कर पाते हैं।

मैं धर्म को जानता हूँ लेकिन उसमें प्रवृत्त नहीं होता, अधर्म के फल को भी जानता हूँ पर उससे दूर नहीं हटता।ऐसे जानने से क्या फायदा?

हमें अपने भीतर अच्छे संकल्प जाग्रत करने होंगे - इसी के लिए संवर भावना है।आस्रव भावना में हमने अपने कर्मों के आगमन का अवलोकन किया।अपनी आत्मा की audit की।हमने यह समझा कि किन किन छेदों से हमारी आत्मा कलंकित हो रही है।कहाँ कहाँ से कर्म रूपी जल का रिसाव आत्मा में हो रहा है।अब संवर भावना हमें हमारी इस दुर्दशा से सुरक्षा के लिए सक्षम बनाती है।

हमें अपना संकल्प दृढ करना होगा ।तभी हम जीवन में श्रेष्ठता की ऊंचाइयों को प्राप्त कर सकते हैं।जिन रास्तों से विकृतियाँ आ रही हैं - उन्हें पहले बन्द करना होगा।हमें यह ठान लेना है कि मैंने नाव को खेया है तो उस पार पहुँच कर ही दम लूँगा।मेरी सामर्थ्य और कुशलता इसी बात में है कि मैं अपनी जर्जर नाव को भी इस पार से उस पार उतार लूँ।यह प्रेरणा, यह संकल्प जब तक मेरे भीतर जाग्रत नहीं होगा - मुझे संवर भावना को भाते रहना है।

संवर को यदि हम अपने अन्दर अवतरित करना चाहते हैं तो अपनी चेतना को अन्तर्मुखी बनाना होगा।जिस दिन हमारी चेतना अन्तर्मुखी हो जायेगी हम अपनी तमाम दुर्बलताओं पर अंकुश लगाने में समर्थ हो सकते हैं।हम सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं और तभी शुभ और अशुभ की ज्वाला से दग्ध हमारा अन्त: स्थल शीतल समकित किरणों के स्पर्श को महसूस करते एक अद्भुत अन्तर्बल को प्राप्त करेगा।

01/11/20, 5:58 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *निर्जरा भावना*

वेदना विपाक का नाम *निर्जरा* है। निर्जरा दो प्रकार की है - सविपाक निर्जरा और अविपाक निर्जरा ।सविपाक निर्जरा से आत्मा का कुछ भला नहीं होता , आत्मा का कल्याण अविपाक निर्जरा से ही होता है , ऐसा चिन्तन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है। कहा भी है

*ज्यों सरवर जल रुका सूखता , तपन पड़ै भारी।*

*संवर रोकै कर्म निर्जरा ह्वै सोखन हारी।।*

*उदय भोग सविपाक समय , पक जाय आम डाली।*

*दूजी है , अविपाक पकावै , पाल विषै माली।।*

*पहली सबके होय , नहीं कुछ सरै काम तेरा।*

*दूजी करै जु उद्यम करके ,मिटे जगत् फेरा।।*

*संवर सहित करो तप प्रानी , मिलै मुकत रानी ।*

*इस दुलहिन की यही सहेली , जानै सब ज्ञानी।।*

01/11/20, 7:49 pm - P C Jain Rafigunj: अनित्य भावना में इन शब्दों का मतलब क्या है

उपात्त, अनुपात

01/11/20, 8:46 pm - Amrish Jain, Saharanpur: भाई साहब जय जिनेंद्र,🙏

सविपाक और अविपाक से क्या तात्पर्य है

01/11/20, 8:49 pm - Ashok Jain: अब अच्छा लग रहा है जब आप जिज्ञासा भेज रहे हैं🙏

01/11/20, 8:49 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): उदय में आकर कर्मों का खिर जाना सविपाक निर्जरा है , इससे आत्मा का कोई उपकार नहीं होता।

तप आदि के द्वारा कर्मों का एक देश खिर जाना या नष्ट हो जाना अविपाक निर्जरा है।

01/11/20, 8:52 pm - Amrish Jain, Saharanpur: जी समझ गया

01/11/20, 9:06 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): यहां उपात्त और अनुपात्त द्रव्य होगा , अनुपात टाइप मिस्टेक से लिखा गया है। उपात्त और अनुपात्त की व्याख्या राजवार्तिक ग्रन्थ में बहुत सुन्दर तरीके से बताई गई है।

01/11/20, 9:06 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): <Media omitted>

01/11/20, 9:21 pm - Ashok Jain:

01/11/20, 10:04 pm - P C Jain Rafigunj:

02/11/20, 9:47 am - P C Jain Rafigunj: अशुचित्व भावना - शरीर में आदि और उत्तर दोनों ही कारणो से अशुचित्व है. यहाॅ आदि और उत्तर क्या है.

जय जिनेन्द्र

02/11/20, 9:53 am - P C Jain Rafigunj: धर्म भावना में स्वाख्यात क्या है?

02/11/20, 9:53 am - Ashok Jain: <Media omitted>

02/11/20, 9:53 am - Ashok Jain:

02/11/20, 9:56 am - Ashok Jain: <Media omitted>

02/11/20, 10:10 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पारस जी भाई साहब ने उपात्त और अनुपात्त को इस तरह समझाया है

उपात्त और अनुपात्त

उपात्त यानि पर द्रव्य के संश्लेष से हुआ संबध, । जैसे जीव के साथ कर्म पुद्गल। वैसे ही घर मकान, स्त्री पुत्र आदि का संयोग संबध ये विनाशीक हैं। अनित्य भावना में इनके अनित्य पने का विचार करना चाहिए।

अनुपात्त यानि जीव के स्व चतुष्टय ये अविनाशी हैं ये मेरे अपने हैं इनका नाश नहीं होगा।

02/11/20, 10:12 am - Ashok Jain:

02/11/20, 10:34 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *रयणसार ग्रन्थ* की टीका करते हुए परम पूज्य मुनि श्री १०८ वासुपूज्य जी महाराज लिखते हैं कि

पूर्वबद्ध कर्मों का फल देकर या बिना फल दिये आत्मा से पृथक होने को या झड़ जाने को निर्जरा कहते हैं।जिन परिणामों से संवर होता है उन्हीं परिणामों से निर्जरा होती है।

जैसे भोजन के बाद भोजन का निष्कासन दो तरह से होता है।१) भोजन पच कर बाहर निकलना २) औषधि के प्रयोग से या अन्य प्रयोग से अपच भोजन उल्टी के द्वारा या अधोमार्ग से बाहर निकाल देना।ऐसे ही कर्म अपने समय पर फल देकर

स्वयं झड़ जाते हैं या  पुरुषार्थ के द्वारा समय के पहले, बदलकर कम मात्रा में फल देकर झड़ जाते हैं या झड़ा दिये जाते हैं - यही कर्मों की निर्जरा है।

हमें नये कर्मों से बचने के साथ साथ अनादि से जो कर्मों का बन्धन हमारी आत्मा से जुड़ा हुआ है, उसे काटना भी होगा।इन कर्मों को झाड़ने का नाम ही निर्जरा है।हमारी आत्मा स्वभावतः शुद्ध होने के बाद भी अनादि से कर्म के बन्धन से बन्धी हुई है।जब तक हम आत्मा पर चढी हुई कर्मों की कालिमा को साफ नहीं कर लेते - इसका शुद्ध स्वरूप निखर नहीं सकता।

पूज्य मुनि श्री १०८ प्रमाणसागर जी महाराज अपनी पुस्तक" " *धर्म साधिये जीवन में*" में कहते हैं कि ऐसा जरूरी नहीं कि निर्जरा भावना गृहस्थों के लिये संभव नहीं।कर्म की निर्जरा के लिए सन्यास जरूरी नहीं है।यदि व्यक्ति के अन्दर आन्तरिक नि: स्पृहता प्रकट हो जाये, समता का अभ्यास बन जाये, अनासक्ति का भाव उत्पन्न हो जाये तो गृहस्थ भी कर्म की निर्जरा का अधिकारी बन सकता है।

हमें निरन्तर सोचना चाहिए कि मेरे जीवन में भी वह निर्जरा घटित हो।कब वह समय आये जब मैं साक्षात् त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति बनकर आत्मा में संचित कर्मों को समाप्त कर सकूँ।मुझमें ऐसी सामर्थ्य विकसित हो, जिसके बल पर मैं जीवन को कुन्दन सा चमका सकूँ तथा अपनी आत्मा में  बहते हुए अमृत के निर्झर के अनवरत प्रवाह के आनन्द में निमग्न हो सकूँ।

02/11/20, 11:35 am - P C Jain Rafigunj: 🙏🙏🙏

02/11/20, 11:47 am - +91 82913 23589: <Media omitted>

02/11/20, 1:45 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *इष्टोपदेश ग्रन्थ के २४ वें श्लोक में आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं*

*परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।*

*जायतेऽध्यात्मयोगेन , कर्मणामाशु निर्जरा।। २४ ।।*

आत्म चिन्तन रूप ध्यान से परीषह आदि का अनुभव न होने से कर्मों के आस्रव को रोकने वाली अर्थात् संवर पूर्वक निर्जरा शीघ्र होने लगती है।

 आत्मध्यान में या आत्मा के चिन्तवन में लीन साधक जब इतना तन्मय हो जाता है कि वह बाहरी उपसर्गों से वितरित नहीं होता ,उन परीषहों का उसे अनुभव भी नहीं होता तब कर्मों के आस्रव को रोकने वाली निर्जरा शीघ्र होने लगती है।

मोक्षमार्ग का पथिक यह जानता है कि बन्धन ही जीव का सबसे बड़ा दुख है।वह सदा बन्धन के निमित्तों से हटने के प्रयास में लीन रहता है।जिन क्रियाओं से कर्मों के समूह धराशायी होते हैं उनका अवलम्बन लेता है ,लेकिन इसके लिए यह जरूरी है कि जीव अपने आप को बन्ध से दुखी समझे तभी तो दुख से छूटने का उपाय करेगा।

जैसे किसी मनुष्य को अजीर्ण दोष से पेट में मल का जमाव हो जाये तो वह आहार को छोड़कर किसी हरड़े आदि औषधि को ग्रहण करता है और जब औषधि से मल पक कर गल जाता है ,निर्जर जाता है तो बड़ी राहत का अनुभव करता है वैसे ही यह भव्य जीव भी अजीर्ण को उत्पन्न करने वाले जो मिथ्यात्व, राग ,अज्ञान आदि भाव हैं उनसे कर्म रूपी मल का संचय होने पर मिथ्यात्व, राग आदि को छोड़कर जीवनमरण ,सुख दुख आदि में समान भावना को उत्पन्न करने वाला ,कर्ममल को पकाने वाला तथा शुद्धध्यान रूपी अग्नि को प्रदीप्त करने वाली जिनवाणी रूपी औषधि का सेवन करता है ,उससे जब कर्ममलों का गलन और निर्जरण होता है तो बहुत सुख का अनुभव करता है।

*परीषहादि वेदन परे जो अध्यात्म सुलीन।*

*संवर युत कर निर्जरा शीघ्र कर्म - मल क्षीण ।।*

02/11/20, 2:39 pm - Asha Jain: सहोपलम्भमान क्या होता है

02/11/20, 3:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): यहाँ अनित्य भावना का वर्णन चल रहा है । सभी संयोग अनित्य हैं, स्थाई (नित्य) नहीं हैं । गर्भ आदि अवस्था से लेकर आज तक जो जो संयोग इस जीव के साथ हुए है वे अब नहीं हैं ।

02/11/20, 6:36 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *लोक अनुप्रेक्षा*

चारों ओर से अनन्त अलोकाकाश के बहुत मध्यप्रदेश में स्थित चौदह राजू प्रमाण लोक के आकार और उसके स्वभाव का बार बार चिन्तन करना *लोक अनुप्रेक्षा* है। कहा भी है

*चौदह राजू , उत्तुंग , नभ , लोकपुरुष संठान।*

*तामैं जीव अनादि तैं , भरमत हैं बिन ज्ञान।।*

पाताल लोक में नरक और निगोदियों का स्थान है ।मध्यलोक में शुभद्वीप , समुद्र ,नदी , पर्वत , मनुष्य आदि भरे हुए हैं तथा सूर्य , चन्द्रमा , नक्षत्र आदि भी मध्य लोक में स्थित हैं तथा ऊर्ध्वलोक में देवगण रहते हैं ।इस प्रकार तीन वातवलयों से वेष्ठित तीन लोक शाश्र्वत अनादिनिधन हैं , किसी रुद्र आदि के द्वारा निर्मित नहीं हैं। इस लोक में जीव अनादिकाल से भ्रमण कर रहा है , ऐसा चिन्तन करना *लोक अनुप्रेक्षा* है।

02/11/20, 8:07 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): परम पूज्य मुनि श्री १०८ प्रमाणसागर जी महाराज अपनी पुस्तक" *धर्म साधिये जीवन में*" में लिखते हैं कि लोक भावना का मतलब अपनी आत्मा का अन्त:विश्लेषण करना है।अपनी यात्रा के विवरण को पलट कर देखना है कि इस अनादि की यात्रा में हम कहाँ कहाँ भटक चुके हैं।कहाँ हमें कितना सुख मिला और कहाँ कितना दुख पाया - इस बात का अनुचिंतन करने का नाम लोक भावना है।

हमें थोड़ा विचार करना है कि हमारे जीवन की कहानी आखिर है क्या? हम इस लोक में कहाँ कहाँ घूम कर आये हैं? चौरासी लाख योनियों में हम अनादि काल से भटकते आये हैं, पर हमें कुछ याद नहीं है।सारी कहानी हमारी चेतना में फीड है, लेकिन वह हमारी स्मृति की स्क्रीन पर नहीं आ पा रही है।यदि यह फाइल खुल जाये और हम उसे स्मृति की स्क्रीन पर देखें तो ज्यादा कुछ समझाने की जरूरत ही नहीं पड़ती है। लोकभावना का अनुचिंतन हमारी आँखों की पट्टी को हटाने में सहायक होता है।हमारे अज्ञान को हरने का निमित्त बनता है और मोह को क्षीण करने में समर्थ होता है।ऐसी लोकभावना हमारे जीवन में आये तो यह बाहर का लोक छिप जायेगा।हम अंतर के लोक में लीन हो जायेंगे।जिस क्षण हम अपने अन्तर में लीन हो गये उसी क्षण हम आत्मा न होकर परमात्मा बन जायेंगे।हमेशा के लिये हमारे सभी शोकों का अन्त हो जायेगा और हमारी आत्मा लोक के अग्र भाग में विराजमान हो जायेगी।

02/11/20, 8:31 pm - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: <Media omitted>

03/11/20, 10:35 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): परम पूज्य मुनि श्री १०८ प्रमाणसागर जी महाराज द्वारा लिखित पुस्तक" *धर्म साधिये जीवन में" *लोक भावना* का विश्लेषण करते हुए संसारी जीव की अनन्तकालीन यात्रा का बङा ही हृदय विदारक वर्णन किया है।

जैसे ही अपने पापों के परिणामस्वरूप मैं नरक में जन्मा, मेरा शरीर जन्म लेते ही काफी ऊँचाई से उछला और उछलते ही जब नीचे गिरा तो छत्तीस प्रकार के तीक्ष्ण आयुधों पर मेरा शरीर क्षत विक्षत हो गया।वैक्रेयिक होने के कारण बिखरने के बाद भी मै ज्यों का त्यों खड़ा हो गया।मैं खड़ा हो भी नहीं पाया था कि पहले से तैयार नारकियों ने मुझपर हमला बोल दिया।एक साथ हजारों बिच्छुओं के काटने की पीड़ा से मैं कराह उठा।मुझे भयंकर प्यास लगी ऐसी प्यास कि मैं पूरे समुद्र का जल पी लेता, मगर नदी का जल तो एकदम तेजाब था।मुँह में डालते ही मेरा शरीर एकदम छलनी होकर जल गया।इस प्रकार मैं नरक में सागरों तक अनन्त दुख भोगता रहा - भोगता रह।लाखों वर्षों की मेरी आयु में मुझे एक क्षण के लिए भी सुख नसीब नहीं हुआ।मैं हर क्षण मरना चाहता था, पर मर नहीं सकता था। मैं कई बार वनस्पति बना।जल बना।अग्नि बना।कई बार मेरी चेतना इतनी कमजोर हो गयी कि जिसे जैन दर्शन के अनुसार निगोद बोलते हैं।जहाँ केवल जन्मना और मरना ही जीवन की नियति है।वहाँ मेरी आयु इतनी अल्प रही कि वर्तमान में मै जितनी देर में एक श्वास लेता हूँ, उतनी देर में उस पर्याय में मैंने अठारह बार जन्म और मरण कर लिया। भाग्य से वहाँ से मैं आगे बढा।द्विइन्द्रिय की पर्याय में कभी मै लट बना, कभी कृमि बना, कभी जोंक बना।त्रीन्द्रिय की पर्याय में कभी खटमल बना, चींटी बना और न जाने किन किन अवस्थाओं को मैंने प्राप्त किया। चतुरिन्द्रिय हुआ तो मैं कभी तितली बना, कभी तिलचट्टा बना, कभी भौंरा बना, कभी मच्छर बना और इन पर्यायों में न जाने कितनी बार मौत के मुँह में गया। पंचेन्द्रिय भी बना तो पशु - पक्षी की अवस्था को प्राप्त किया।मेरा सारा जीवन दुख और आतंक के साये में रहा।कई बार क्रूर प्राणियों का शिकार बना। यह मेरे जीवन की कहानी है।मैं पशु बना तो कई बार वाहन में जोता गया।जब तक मैं उपयोगी लगा मेरा उपयोग किया गया।बाद में मेरे शरीर में शिथिलता आने लगी तो क्रूर मनुष्यों ने बड़ी बेरहमी पूर्वक मुझे कसाई के हाथों बेच दिया।वहाँ मैं बेमौत मारा गया। कई बार मैं नाली में घूमने वाला जानवर बना।गन्दगी खाना और गन्दगी मचाना मेरे जीवन का नित्य का क्रम रहा।

कभी मै कुत्ता बना, कभी बिल्ली बना, कभी गधा बना।क्या क्या नहीं बना? आज दुनिया में जितने भी प्रकार के जानवर दिखाई पड़ते हैं - उन चोलों को मैं कई -कई बार धारण कर चुका हूँ। जो जो अज्ञान से ग्रसित होते हैं वे सब इन रूपों को धारण करते हैं।मैं भी अपने अज्ञान से अभिशप्त होकर ऐसी खोटी पर्यायों को पाता रहा हूँ।

*अब मुझे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे कि इस तरह के दुखों की पुनरावृत्ति हो।*

03/11/20, 11:15 am - Ashok Jain: राजेन्द्र भाई साहब बहुत अच्छा लिख रहे हैं, आप सबको यह पढ़ना चाहिए. बारह भावनाएं समझने के लिये.👐👐👐

03/11/20, 11:17 am - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 🙏🙏🙏

03/11/20, 11:23 am - Parasji Patni: अलग अलग ग्रंथों का प्रकरण एक जगह मिल जाता है । आप दोनों ही जैसे लिख रहे हैं यदि हम ध्यान से पढ़ें और मनन करें तो बहुत उपयोगी होगा आगे के लिए भी।

आप दोनों को ही साधुवाद।

03/11/20, 11:24 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): अनेक धन्यवाद अशोक जी , पारस भाई साहब।

🙏🙏🙏

03/11/20, 11:26 am - Ashok Jain: 🙏

03/11/20, 3:22 pm - +91 99451 30278: 🙏🙏

03/11/20, 6:53 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *बोधि दुर्लभ भावना*

एक निगोद शरीर में सिद्धराशि से अनन्तगुणे जीव हैं ।इस प्रकार सर्वलोक स्थावर जीवों से भरा हुआ है।

इसलिए इस लोक में त्रस पर्याय का पाना इतना दुर्लभ है जितना कि बालुका के समुद्र में पडी हुई वज्रसिकता की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ है।

त्रस जीवों में भी विकलेन्द्रिय जीवों की ही बहुलता होने के कारण पंचेन्द्रिय पर्याय को पाना उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार गुणों में कृतज्ञता गुण का प्राप्त होना अति कठिन है।

यदि पुण्य योग से पंचेन्द्रिय पर्याय पा भी ली तो उसमें भी पशु पक्षियों की ही बहुलता होने के कारण मनुष्य पर्याय का मिलना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार चौपथ पर रत्न राशि का प्राप्त होना अति कठिन है।

यदि मनुष्य पर्याय से एक बार च्युत हो गये तो उसका दुबारा मिलना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का पुनः उस वृक्ष पर्याय से उत्पन्न होना अति कठिन है।

कदाचित यदि मनुष्य पर्याय पुनः मिल भी जाये तो देश , कुल , इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता का प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

हे आत्मन् ! इतनी कठिनाई से ये दुर्लभ संयोग मिलने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति नहीं हुई तो मनुष्य जन्म का प्राप्त होना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ है।

इतनी दुर्लभता से धर्म प्राप्त होने के बाद भी यदि विषयों में यदि मन रमता है तो सब कुछ उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार भस्म को पाने के लिए चन्दन को जलाना निष्फल है।

यदि कदाचित् विषय सुखों से विरक्त हो भी गये तो हे जीव ! तप की भावना , धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधि का होना अति दुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सफल है , ऐसा विचार करना *बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा* है ।

*एक जथारथ ज्ञान सु दुर्लभ है जग में अधिकाना।*

*थावर त्रस दुर्लभ निगोद तैं नरतन संगति पाना।।*

*कुल श्रावक रत्नत्रय दुर्लभ अरु षष्ठम गुनथाना।*

*सबतैं दुर्लभ आतमज्ञान सु जो जगमाहिं प्रधाना।।*

03/11/20, 7:52 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभो, दुर्नय तम सत्वर टल जावे ।*

*बस ज्ञाता - दृष्टा रह जाऊँ मद- मत्सर- मोह विनश जावे।। १२।।*

हे प्रभु ! मेरे अन्दर *बोधिदुर्लभ भावना* जाग्रत हो, मेरे अन्तर्मन का मिथ्यात्व रूपी महा अन्धकार शीघ्र नष्ट हो जाये अर्थात् मुझे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो।मैं बस अपनी आत्मा का *ज्ञाता दृष्टा* मात्र बन कर रहूँ अर्थात् मुझे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो और मेरी *मद*( अहंकार), *मत्सर* ( मायाचारी) और *मोह* रूपी महा कषायों का अन्त हो जाये अर्थात् मुझे सम्यक्चारित्र भी प्राप्त हो।इस प्रकार इस पद में दुर्लभ रत्नत्रय पाने की भावना भाई गई है।

03/11/20, 9:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *बोधिदुर्लभ भावना* हमें केवल यही प्रेरणा देती है कि जीवन के जितने भी अनुकूल संयोग हैं, उन सबको दुर्लभ मानो और उनका सदुपयोग करो अपने जीवन के प्रति जागरूक रहो।लेकिन क्या करें, हमारी जागरूकता जड़ के प्रति है जीवन के प्रति नहीं।दुर्लभ मनुष्य जीवन पा लेने के बाद भी जो अपने कल्याण को उत्सुक नहीं होता - वह अपने मूल्यवान जीवन को व्यर्थ ही गँवाता है।

हमने जितनी दुर्लभता से जीवन को पाया है उतनी ही सहजता से इसे खो रहे हैं।यही हमारा अज्ञान है।जिस दिन हमें यह समझ में आ जायेगा कि जीवन से अमूल्य और कुछ नहीं है उस दिन जड़ पदार्थों का मूल्य भी समझ में आ जायेगा और जीवन से कीमती और कुछ नहीं लगेगा। जिससे राग नष्ट हो और कल्याण के मार्ग के प्रति अनुराग हो वही सच्चा ज्ञान है ।बाक़ी सब दिमागी बोझ हैं।

दिमागी बोझ रखने वाले बहुत लोग हैं।हर बात में अपनी बुद्धि को ले जाते हैं लेकिन पाते कुछ भी नहीं । समयग्ज्ञान यथार्थ का ज्ञान है, जिसे हम *बोधि* कहते हैं।यह हमें कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त करता है।जब तक हम इस ज्ञान को नहीं प्राप्त करते हमारा कल्याण सम्भव नहीं है।

04/11/20, 10:07 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *धर्म भावना*

जिनेन्द्र देव द्वारा कथित अहिंसा लक्षण धर्म है। इस धर्म का सत्य आधार है , विनय उसकी जड़ है , क्षमा उसका बल है , ब्रह्मचर्य से रक्षित है , उपशम की उसमें प्रधानता है , नियति उसका लक्षण है , परिग्रहरहितपना उसका आलम्बन है । इस पावन धर्म की प्राप्ति नहीं होने से यह जीव अनादि संसार में परिभ्रमण करते हैं।परन्तु धर्मलाभ होने पर नाना प्रकार के अभ्युदयों की प्राप्ति पूर्वक मुक्ति की प्राप्ति सुनिश्चित होती है ,ऐसा चिन्तन करना *धर्म भावना* है।

धर्म भावना के चिन्तन करने वाले व्यक्ति के धर्मानुराग वश सदा धर्म प्राप्ति का प्रयत्न होता है।

04/11/20, 11:15 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *चिर रक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिर साथी।*

*जग में न हमारा कोई था, हम भी न रहें जग के साथी।।१३।।*

कवि इस पद के माध्यम से धर्म भावना का विश्लेषण करते हैं।यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि धर्म भावना तो सबसे पहले होनी चाहिए।इसका नम्बर सबसे last में क्यों?इसका कारण यह है कि धर्म भावना वस्तुत: भावना नहीं, बल्कि ग्यारह भावनाओं का फल है। अभी एकत्व भावना में हमने पढा कि हम इस संसार में बिल्कुल अकेले आये हैं और अकेले ही जायेंगे।धर्म भावना हमें हिम्मत प्रदान करती है कि हम अकेले नहीं हैं।चिर काल से धर्म हमारा रक्षक रहा है और आगे भी रहेगा।इस संसार में अन्य कोई न हमारा साथी था न ही हमें किसी का साथी बनना है।हमारा धर्म ही जन्म जन्मांतर तक हमारा साथ देता रहेगा। अनित्य भावना से हमने अपनी चिन्तन यात्रा की शुरुआत की थी।सभी भावनाओं का मूल लक्ष्य धर्म की प्राप्ति ही है।अनित्य से लेकर बोधिदुर्लभ भावना तक ग्यारह भावनाओं का केन्द्र तो धर्म ही बना रहा और अन्त का निचोड़ यही है कि कल्याण मार्ग पर बढने के लिए धर्म भावना को भाओ।

अन्य भावना और धर्म भावना के बीच फूल और फल जैसा सम्बन्ध है।बिना फूल के कभी फल नहीं लगता - उसी प्रकार अन्य भावनाओं को भाये बिना हम धर्म भावना रूपी फल को नहीं पा सकते। धर्म का केवल गुणगान करने मात्र से हमारा कल्याण नहीं हो सकता।कल्याण तभी होगा जब हम धर्म का आचरण करें।गुरुओं द्वारा बताये मार्ग पर चलें।धर्म वह नाव है जिस पर यदि हम एकबार सवार हो गये और साधना की पतवार चलाने लगे तो हमें भवसागर से पार उतरने में देर नहीं लगेगी। हमें सच्चे धर्म को प्राप्त करना है तो उत्तम क्षमा को प्राप्त करना होगा।धर्म तो एक है, उसके लक्षण दस हैं।ये दशलक्षण धर्म हमारी आत्मा में विलक्षण गुणों का प्रादुर्भाव करते हैं।इन दस धर्मों को किसी जाति या सम्प्रदाय से कोई प्रयोजन नहीं।

इन दस धर्मों को राम, कृष्ण, जीसस,अल्लाह या महावीर से कोई प्रयोजन नहीं।यह तो मानवीय मूल्यों की पूजा है।ये दस धर्म हमें आत्मा से परमात्मा की ओर अग्रसर करते हैं।जीवन के कल्याण का यही असली मूल मन्त्र है।

05/11/20, 11:48 am - Ashok Jain: परीषहों को सहन करने का कारण

*मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्या: परीषहा:॥८॥*

सूत्रार्थ: (मार्गाच्यवन निर्जरार्थं) मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा निर्जरा के लिए (परीषहा:) परीषह (परिसोढव्या:) सहन करना चाहिए।

जिनेन्द्र देव द्वारा बताए गए मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा निर्जरा के लिए परीषहों को सहन करना चाहिए।

परीसहों को जीतने वाले सन्त उन परीषहों के द्वारा तिरस्कृत नहीं होते हुए प्रधान संवर का आश्रय लेकर अप्रतिबन्ध से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होने के लिए सामर्थ्य को प्राप्त कर उत्तरोत्तर साहस को बढ़ाते हुए सकल कषायों की प्रध्वंश शक्ति वाले होकर ध्यान रूपी परशु के द्वारा कर्मों की जड़ को उखाड़ कर जिनके पंखों पर जमी हुई धूल झड़ गई है, उन उन्मुक्त पक्षियों की तरह पंखों को फड़फड़ाकर ऊपर उठ जाते हैं। इसीलिए संवरमार्ग और निर्जरा की सिद्धि के लिए परीषह सहन करनी चाहिए। (रा वा ३)

आत्मा को जानने के लिए परीषह सहन करनी चाहिए, जो परीषहों को सहन नहीं करता, उसका स्वात्मज्ञान परीषहों के उपस्थित होने पर स्थिर नहीं रहता- नाश को प्राप्त हो जाता है। (यो सा ६/२६)

05/11/20, 12:03 pm - +91 82913 23589: <Media omitted>

05/11/20, 7:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सुखपूर्वक प्राप्त किया गया ज्ञान दुख आने पर जीव भूल जाता है , इसलिए परीषहों के सहन का अभ्यास जरूरी है।यदि  परीषह सहने का अभ्यास नहीं है तो आत्मा विपत्ति आने पर मोक्षमार्ग से च्युत हो सकता है और यदि मोक्षमार्ग से च्युत हो गये तो फिर संवर और निर्जरा नहीं हो सकते।अतः परीषहों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

भूख , प्यास आदि बाधाओं को सहन करने वाले व्रतों से कभी नहीं डगमगाते हैं ।वे मोक्षमार्ग के सतत अभ्यास रूप परिचय के द्वारा कर्मागम के द्वार को रोकते हैं , संवर करते हैं तथा क्रम से कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इसलिए इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि *संवरनिर्जरामोक्षाणां साधनं परीषहसहनमित्यर्थ:।* संवर , निर्जरा और मोक्ष का साधन परीषहसहन है।

06/11/20, 10:47 am - +91 82913 23589: <Media omitted>

06/11/20, 10:50 am - +91 90343 31521: बहुत सुन्दर👏👏👏👌👌👌🙏🙏

06/11/20, 11:15 am - Parasji Patni: 👌👌👌

06/11/20, 11:18 am - Ashok Jain: परीषहों के नाम

*क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारति-स्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभ-रोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञाना-दर्शनानि॥९॥*

सूत्रार्थ: (क्षुत्पिपासा) क्षुधा, पिपासा, (शीतोष्ण) शीत, उष्ण, (दंशमशकनाग्न्या- रति) दंशमशक, नाग्न्य, अरति, (स्त्रीचर्यानिषद्याक्रोश) स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश (वधयाचनाऽलाभरोग) वध, याचना, अलाभ, रोग,

(तृणस्पर्शमल) तृणस्पर्श, मल (सत्कारपुरस्कार) सत्कार, पुरस्कार, (प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि) प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये बाईस परीषह है।

क्षुधा: भोजन की अभिलाषा क्षुधा है।

तृषा: जल पीने की इच्छा तृषा (पिपासा) है।

शीत: शरीर को ढकने की इच्छा के कारण भूत पुद्गल स्कन्ध है वह शीत है।

उष्ण: ठण्ड की अभिलाषा का कारण सूर्य अथवा ज्वर आदि से उत्पन्न संताप उष्ण है।

दंशमशक: डांस और मच्छरों के द्वारा डसने पर जो पीड़ा होती है वह दंशमशक है।

नग्नता: नग्न अवस्था का नाम अचेलकत्व (नाग्न्य) है।

अरतिरति: चारित्र में द्वेष और असंयम की अभिलाषा होना सो अरतिरति परीषह है।

स्त्री: स्त्रियों द्वारा कटाक्ष से देखने आदि से जो बाधा है वह स्त्री परीषह है।

चर्या: नंगे पैरों जो मार्ग में चलना है वह चर्या परीषह है।

निषद्या: वीरासन आदि आसनों से बैठने पर जो पीड़ा होती है वह निषद्या परीषह है।

शय्या: ऊंची-नीची आदि भूमि में जो एक पसवाड़े या दण्डाकार आदि रूप से सोने के कारण जो पीड़ा होती है वह शय्या परीषह है।

आक्रोश: मिथ्यादृष्टि के द्वारा अवज्ञा, संघ के लिए निन्दापरक वचन सुनने से उत्पन्न हुई बाधा आक्रोश परीषह है।

वध: मुद्गर आदि के प्रहार से की गई पीड़ा वध परीषह है।

अयाचना: किसी भी परिस्थिति में मुख के म्लान आदि किसी संकेत के द्वारा कुछ भी नहीं मांगना अयाचना परीषह है।

अलाभ: आहार आदि का लाभ नहीं होने पर उत्पन्न बाधा अलाभ है।

रोग: ज्वर, खांसी आदि व्याधियों से हुई पीड़ा रोग परीषह है।

तृणस्पर्श: कांटा, मिट्टी आदि से जो शरीर या पैर में वेदना होती है वह तृणस्पर्श परीषह है।

मल: पसीना आदि से उत्पन्न हुआ कष्ट जल्ल या मल परीषह है।

सत्कार-पुरस्कार: सत्कार-पुरस्कार के न होने से जो मानसिक ताप होता है वह सत्कार-पुरस्कार है।

प्रज्ञा- विद्वान के मद से उत्पन्न हुआ गर्व प्रज्ञा परीषह है।

अज्ञान: सिद्धांत आदि का ज्ञान न होने से अंतरंग में संताप उत्पन्न होना है अज्ञान परीषह है।

अदर्शन: महाव्रतादि से भी कोई अतिशय नहीं दिख रहा है, ऐसा सोचना अदर्शन परीषह है। (मू २५५ आ )

06/11/20, 6:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *बाईस परीषह*

१) *क्षुधा परीषह*

जो मुनि निर्दोष आहार करते हैं और निर्दोष आहार के नहीं मिलने पर या थोड़ी मात्रा में मिलने पर क्षुधा अर्थात् भूख की वेदना को प्राप्त नहीं होते , अकाल ( असमय) में जो भिक्षा लेने की इच्छा नहीं करते तथा जो भिक्षा लाभ की अपेक्षा उसके अलाभ को गुणकारी मानते हैं उनके द्वारा क्षुधाजन्य वेदना का चिन्तन नहीं करना क्षुधा परीषह जय कहलाता है । कहा भी है -

*अनशन ऊनोदर तप पोषत पक्षमास दिन बीत गये हैं।*

*जो नहिं बने योग्य भिक्षा विधि सूख अंग सब शिथिल भये हैं।।*

*तब तहां दुस्सह भूख की वेदन सहत साधु नहीं नेक नये हैं।*

*तिनके चरण -कमल प्रति प्रतिदिन हाथ जोड़ हम शीश नये हैं।।*

*पिपासा परीषह*

पानी आदि पीने की इच्छा पिपासा ( प्यास) कहते हैं।जिस मुनि ने जल स्नान , जल अवगाह , जल से सिंचन करने का त्याग कर दिया है , जो प्रकृति विरुद्ध आहार , ग्रीष्मकालीन ताप , पित्तज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई तीव्र प्यास का प्रतिकार करने की इच्छा से रहित हैं और जो प्यास रूपी अग्निशिखा को सन्तोष रूपी शीतल सुगन्धित जल से शान्त करते हैं उन मुनिराज के *तृषा परीषह* जय होता है।

*पराधीन मुनिवर की भिक्षा परघर लेंय कहैं कछु नाहीं।*

*प्रकृति विरुद्ध पारणा भुंजत बढ़त प्यास की त्रास तहां ही।। **ग्रीष्मकाल पित्त अतिकोपै लोचनदोय फिरे जब जाहीं।*

*नीर न चहैं सहैं ऐसे मुनि जयवन्ते वर्तो जगमांही।।*

06/11/20, 6:21 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): क्रमशः

06/11/20, 6:50 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *शीत परीषह जय*

जिन मुनिराज ने पांच प्रकार के वस्त्रों ( चर्मज , वल्कल , रोमज , तृण और सूतादि ) का त्याग कर दिया है , पक्षी के समान जिनका कोई निश्चित आवास या ठौर ठिकाना नहीं है , जो ग्रीष्म ऋतु में आतापन योग धारण कर शिलातल अर्थात् पत्थर की शिला पर , शीत ऋतु में अभ्रावकाश योग धारण कर चौपथ पर तथा वर्षाकाल में वृक्षमूलयोग धारण कर वृक्षमूल पर निवास करते हुए शीत का प्रतिकार करने की इच्छा नहीं करते हैं , अतीत में शीत का प्रतिकार करने योग्य वस्तुओं के व्यवहार को याद तक नहीं करते तथा जो ज्ञानभावना रूपी गर्भगृह में निवास करते हैं उनके *शीत परीषह* जय होता है।

*शीतकाल सबही तन कम्पत खड़े तहां वन वृक्ष डहे हैं।*

*झंझा वायु चलै वर्षा ऋतु वर्षत बादल झूम रहे हैं।।*

*तहां धीर तटनी तट चौपट ताल पाल परकर्म दहे हैं।*

*सहैं संभाल शीत की बाधा ते  मुनि तारण - तरण कहे हैं।।*

*उष्ण परीषह जय*

छायारहित वृक्षों से युक्त जंगल के बीच में जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त हुए हैं , अनशन आदि की अधिकता से जिन्हें दाह उत्पन्न हुई है , दावाग्निजन्य दाह , अति कठोर वायु , और भीषण गरमी के कारण जिनके गले में शोष उत्पन्न हुआ है , जो इस गर्मी से राहत पाने के बहुत से उपायों को जानते हुए भी उनका चिंतन नहीं करते हैं , जिनका हृदय प्राणियों की पीड़ा के परिहार में ही लगा हुआ है , ऐसे महान साधु के चारित्र रक्षण रूप *उष्ण परीषह जय* होता है।

*भूख प्यास पीडे उर अंतर प्रजुलै आंत देह सब दागै।*

*अग्नि सरूप धूप ग्रीष्म की ताती वायु झालसी लागै।।*

*तपे पहाड़ ताप तन उपजति कौपे पित्त दाह ज्वर जागैं।*

*इत्यादिक गर्मी की बाधा सहैं साधु धीरज नहिं तृयागै।।*

क्रमशः

06/11/20, 6:51 pm - +91 99236 62505 left

06/11/20, 10:11 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB) added +91 76194 64330

07/11/20, 7:26 am - +91 89895 40000 joined using this group's invite link

07/11/20, 7:50 am - +91 92895 67506 joined using this group's invite link

07/11/20, 8:24 am - +91 98306 20770 joined using this group's invite link

07/11/20, 9:13 am - +91 94611 23679 joined using this group's invite link

07/11/20, 9:27 am - +91 76689 43582 joined using this group's invite link

07/11/20, 9:39 am - +91 94227 10574 joined using this group's invite link

07/11/20, 9:41 am - +91 94227 10574: तत्वार्थ  जुडा वाला है

07/11/20, 10:05 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सभी नये सदस्यों का ग्रुप में हार्दिक अभिनन्दन।

इस ग्रुप में आचार्य उमास्वामी महाराज द्वारा रचित ग्रंथ तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ का धारावाहिक स्वाध्याय चल रहा है। अभी नौवें अध्याय के नौवें सूत्र के अन्तर्गत बाईस परीषहों का वर्णन चल रहा है जिन पर मुनिराज जय प्राप्त करते हैं।बाईस परीषहों में क्षुधा , तृषा , शीत और उष्ण परीषह का वर्णन हो चुका है। अब आगे *दंशमशक परीषह जय* के बारे में हम जानेंगे।

07/11/20, 10:05 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 5) *दंशमशक परीषह*

जो साधु दंशमशक अर्थात् मच्छर आदि के उपद्रव को सहन करते हैं उन्हें *दंशमशक परीषह जय* होता है। सूत्र में *दंशमशक* पद का ग्रहण उपलक्षण हेतु है । जैसे यदि हम कहते हैं कि कौओं से घी की रक्षा होनी चाहिए तो इसका अर्थ यह नहीं कि कुत्ते , बिल्ली आदि से घी की रक्षा नहीं होनी चाहिए । उसी प्रकार जो दंशमशक के उपद्रव को सहन करते हैं इसका अर्थ यह नहीं कि वे दीमक , चींटी , खटमल , बिच्छू , मधुमक्खी आदि के उपद्रव को सहन नहीं करते अर्थात् उन्हें भी सहन करते हैं ।मन - वचन - काय से किसी जीव को बाधा नहीं पहुंचाना और निर्वाण प्राप्ति मात्र ही जिनका ओढ़ना है ऐसी उदार भावना से अनुप्रेररित मुनिराज *दंशमशक परीषह जयी* होते हैं।

*दंश मशक मक्खी तनु काटैं पीडैं वन पक्षी बहुतेरे।*

*इसैं ब्याल विषहारे बिच्छू लगै खजूरे आन घनेरे।*

*सिंह स्याल सुंडाल सतावैं रीछ रोझ दुख देहि घनेरे।।*

*ऐसे कष्ट सहैं मन भावन ते मुनिराज हरो अघ मेरे।।*

07/11/20, 10:25 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): प्रश्न :-

क्या मच्छरों को शाँत मन से हटा सकते हैं क्योंकि काटने से व्याधि होती है बे चेनी तो सह लेगें

मेरा उत्तर :-

(१) कीजे शक्ति प्रमाण शक्ति बिना श्रद्धा धरे ।

(२) मुझे आज भी वो दृश्य याद है जब 1983 में आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज कलकत्ता आये थे और कलकत्ता प्रवेश से पूर्व बाली मंदिर में ठहरे थे । मैं सुबह 4 बजे गुरुदेव का दर्शन करने तथा उनके साथ विहार करने के उद्येश्य से गया था । आचार्य श्री नवम्बर महीने की सर्दी में खुले में बैठकर सामायिक / ध्यान कर रहे थे । *सारा शरीर मच्छरों से ढका था ।* मैं टकटकी लगाकर उन्हें देखता रहा । आँखों पर, कानों में, नाक में, हाथों पर, हाथों की अंगुलियों पर, पूरे पैरों पर मोटे मोटे मच्छर जमा हो रखे थे । आचार्य श्री दो घंटे से भी अधिक उसी अवस्था में बैठे थे । सामायिक / ध्यान से उठे तो सारे शरीर पर मच्छरों के काटे हुए उभरे हुए लाल निशान बन गये थे । मेरी आँखों से झर झर आंसू गिर रहे थे पर मैं कुछ नहीं कर सकता था । आस पास आने वाले व्यक्तियों को इशारे से मौन रहने का निवेदन करता रहता था ।

मैंने आचार्यश्री को श्रीफल चढ़ाकर नमोस्तु किया और मच्छरों के काटे हुए निशानों की ओर इशारा किया । आचार्यश्री कुछ नहीं बोले, बस मुस्करा दिये और कहा - कुछ नहीं सब ठीक है । और मैं और भी आश्चर्य चकित तब हुआ जब मैंने

शाम को बेलगछिया मन्दिर जी में जाकर आचार्य श्री के दर्शन किये तो देखा कि मच्छर काटने का एक भी निशान शरीर पर नहीं था । पूरा शरीर बिल्कुल सामान्य था । यह कहलाती है साधना ! तपस्या और तपस्या का फल !उपसर्ग सहना ! परिषह सहना !

धन्य हैं ऐसे सच्चे गुरु !!

लेखक -आदरणीय सात प्रतिमाधारी श्री कैलाश चन्द्र जी जैन ,कोलकाता

07/11/20, 10:29 am - +91 91569 83140 joined using this group's invite link

07/11/20, 10:30 am - +91 91569 83140 left

07/11/20, 10:49 am - +91 94211 33566 joined using this group's invite link

07/11/20, 12:39 pm - +91 92220 46532 joined using this group's invite link

07/11/20, 12:51 pm - +91 98300 43433 joined using this group's invite link

07/11/20, 1:00 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 6 ) *नाग्न्य परीषह जय*

जो बालक के स्वरूप के समान निष्कलंक रूप है , याचना , रक्षा , हिंसादि दोषों से जो रहित हैं , जो निष्परिग्रहणरुप होने से निर्वाण प्राप्ति का अनन्य साधन हैं , जो अन्य बाधाकार नहीं हैं , ऐसे नाग्न्यरूप को धारण करने वाले मुनिराज को *नाग्नपरीषह जय* होता है ।

मन के विक्रिया रूप उपद्रव से रहित होकर मुनिराज निरन्तर स्त्रियों के रूप को अत्यंत बदबूदार , दुर्गन्धियुक्त , घृणित अनुभव करते हैं तथा रात-दिन अखंड ब्रह्मचर्य की भावना का स्मरण करते हुए *नाग्न्यपरीषह* को जीतते हैं।

*अन्तर विषय वासना बरतै बारहलोक लाज भय भारी।*

*यातैं परम दिगम्बर मुद्रा धर नहिं सकैं दीन संसारी।।*

*ऐसी दुर्द्धर नगन परीषह जीतैं साधु शीलव्रतधारी।*

*निर्विकार बालकवत् निर्भय तिनके चरणों धोक हमारी।।*

07/11/20, 1:14 pm - +91 82913 23589: <Media omitted>

07/11/20, 1:42 pm - +91 89999 45736 joined using this group's invite link

07/11/20, 1:44 pm - +91 89999 45736 left

07/11/20, 1:55 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जैन मुनि

वैसे तो जैन मुनि का कोई वेश नहीं होता, निर्वेश रहना ही उनका वेश( dress) है, किन्तु बाहर से जहाँ कहीं भी आपको जन्म लेने वाले शिशु की तरह निर्विकार नग्न मुद्रा दिखाई पड़े, जिनके सिर और दाढी मूँछों के बाल हाथ से उखाड़े गये हों

तथा जिनका शरीर किसी प्रकार से भी संस्कारित या अलंकृत न हो , मात्र हाथ में मयूर से निर्मित सुकोमल पिच्छी हो- काष्ठ निर्मित कमण्डलु हो , इसके अतिरिक्त तिल मात्र भी परिग्रह नहीं हो तो बस समझ लीजिए यही जैन मुनि हैं।

यह जैन मुनि का बाहरी चिह्न है तथा ममत्व और आरम्भ से रहित योग और उपयोग की शुद्धि पूर्वक सब प्रकार से निरपेक्ष और निरीह होकर अपने ज्ञान ध्यान और तप में लीन रहना इनकी भीतरी पहचान है।

07/11/20, 2:43 pm - +91 83694 02917 joined using this group's invite link

07/11/20, 3:11 pm - +91 94052 36969 joined using this group's invite link

07/11/20, 3:12 pm - +91 94052 36969: 🙏🙏

07/11/20, 3:25 pm - +91 98881 04988 joined using this group's invite link

07/11/20, 4:17 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 7 ) *अरति परीषह जय*

जो मुनि इन्द्रिय विषयों से विरक्त रहते हैं , गीत , नृत्य , वादित्र आदि से उदासीन शून्यघर , तरुकोटर और शिलागुफा आदि में  स्वाध्याय , ध्यान और भावना में लीन हैं , अतीत में देखे , सुने और अनुभव किये विषय भोगों का कभी स्मरण नहीं करते , उससे संबंधित कथा को नहीं सुनते , कामबाण के प्रवेश करने लायक जिनके हृदय में कोई छेद नहीं है , जो सदाकाल दया परिणाम वाले होते हैं उनके *अरति परीषह जय* होता है।

वे साधु निरन्तर ज्ञान , ध्यान लीन होकर विचार करते हैं कि हे आत्मन् ! इस संसार में तूने काम - भोग और बन्ध को अनेक बार सुना , उनका परिचय किया तथा उन्हें अनुभव में भी लाया , किन्तु इन सबसे भिन्न एकत्व विभक्त आत्मा का आज तक चिन्तन , श्रवण या स्मरण नहीं किया , उसी की प्राप्ति दुर्लभ है , उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ कर।

*देश-काल का कारण लहिकै होत अचैन अनेक प्रकारैं।*

*तब तहां छिन्न होत जगवासी कलमलाय थिरतापद छाडैं।।*

*ऐसी अरति परीषह उपजत तहां धीर धीरज उर धारैं।*

*ऐसे साधुन को उर अंतर वासो निरंतर नाम हमारे।।*

07/11/20, 7:47 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 8) *स्त्री बाधा परीषह*

एकान्त , उद्यान , भवन आदि स्थान पर नवयौवना , प्रमत्त मदभ्रमित काम से पीड़ित स्त्रियों के द्वारा बाधा पहुंचाने पर भी जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को कछुए के समान समेट लिया है , जिन्होंने हृदय विकार को रोक लिया है तथा जिसने मन्द मुस्कान , कोमल सम्भाषण , तिरछी नजरों से देखना , हंसना और कामवाण मारना आदि को विफल कर दिया है , उन मुनिराज के *स्त्रीबाधा परीषह जय* होता है , ऐसा जानना चाहिए।

*चर्या परीषह जय*

जिसने लम्बे समय तक गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया है , जिसने पदार्थों के मर्म को जान लिया है , जो संयम के आयतन एवं साधुजनों की विनय तथा भक्ति करने के लिए गुरुजनों की आज्ञा पाकर देशान्तरों में विहार करते हैं , जो वायु के समान नि:संग हैं , अनशन , ऊनोदर आदि तपों से शरीर को कृष करने वाले हैं , सहिष्णु हैं , देश-काल के अनुसार संयम के अविरोधी गमनागमन करते हैं , जो खड़ाऊ आदि पदरक्षक वस्तुओं के त्यागी हैं , तीक्ष्ण बालू , पत्थर , कांटे और मिट्टी के कठोर टुकड़े आदि के लगने से उत्पन्न पीड़ा को पीडा नहीं मानते हैं , गृहस्थ अवस्था के योग्य यान वाहन आदि का स्मरण नहीं करते हैं , ऐसे मुनिराज के *चर्या परीषह जय* होता है।

*चार हाथ परवान परख पथ चलत दृष्टि इत उत नहिं तानैं।*

*कोमल  चरण कठिन धरती पर धरत धीर बाधा नहिं मानैं।।* *नाग तुरंग पालकी बढ़ते ते सर्वादि यादि नहिं आनैं।*

*यो मुनिराज सहैं चर्य्या दुख तब दृढकर्म कुलाचल भानैं।।*

07/11/20, 10:24 pm - +91 94257 65546 joined using this group's invite link

07/11/20, 10:24 pm - +91 94257 65546: I am interested

07/11/20, 10:47 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आपका स्वागत है।🙏🙏

08/11/20, 9:04 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *10 ) निषद्या परीषह जय*

पूर्व में जिनका अभ्यास नहीं था ऐसे श्मशान , शून्यघर , पर्वत , गुफा आदि में निवास करते हैं , सामायिक आदि आवश्यक क्रियाओं में नियत काल तक आसन अर्थात् निषद्या लगाकर बैठते हैं , सिंह , व्याघ्र , भालू , हाथी आदि के भीषण शब्दों को सुनकर भी जो निर्भय रहते हैं , देवकृत , तिर्यंचकृत , मनुष्यकृत और अचेतनकृत - चार प्रकार के उपसर्गों को जो शान्त भाव से सहन करते हैं , नाना आसनों को स्थिरता से धारण करते हुए जरा भी शरीर को चलायमान नहीं करते , नाना प्रकार के उपसर्गों के आने पर भी जो मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होते , उन मुनीश्वरों के *निषद्या परीषहजय* होता है।

*गुफा मशान शैल तरुकोटर निवसैं जहां शुद्ध भू हेरैं।*

*परिमितकाल रहैं निश्चल तन बार - बार आसन नहिं फेरैं।।*

*मानुषदेव अचेतन पशुकृत बैठे विपति आन जब घेरै।*

*ठोर न तजैं भजैं थिरतापद ते गुरु सदा बसो उर मेरे।।*

*11) शय्या परीषहजय*

स्वाध्याय - अध्ययन , ध्यान आदि के कारण थककर जो कठोर , विषम तथा प्रचुर मात्रा में कंकड़ और खपरों के टुकड़ों से व्याप्त ऐसे अतिशीत तथा अति उष्ण भूमि प्रदेशों में यथाकृत एक पार्श्वभाग से जो शयन करते हैं , करवट लेने से प्राणियों को बाधा होगी , ऐसा विचार कर लकड़ी के कुन्दे के समान या मुर्दा के समान करवट नहीं बदलते हैं , जिनका चित्त ज्ञानभावना में लगा हुआ है , ऐसे मुनिराजों के *शय्या परीषहजय* होता है । ये मुनिराज कभी खेदखिन्न नहीं होते हैं तथा ऐसा विचार भी नहीं करते हैं कि इस स्थान में सिंह आदि प्राणी रहते हैं , अतः यहां से जाना ही अच्छा है या रात्रि का अन्त कब होगा - इस प्रकार के विकल्पों से वे रहित होते हैं। अतः अखेदित मन वाले अपनी रक्षा के लिए जंगली प्राणियों को भगाने का विचार तो वे कभी कर ही नहीं सकते।

*जो प्रधान सोने के महलन सुन्दर सेज सोय सुख जोवैं।*

*ते अब अचल अंग एकासन कोमल कठिन भूमि पर सोवैं।।* *पाहनखंड कठोर कंकरी गड़त कोर कायर नहिं होवैं।*

*ऐसी शयन परीषह जीतैं ते मुनि कर्मकालिमा धोवैं।।*

08/11/20, 2:14 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

08/11/20, 2:16 pm - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 🙏🙏🙏सुंदर वर्णन एवं विवेचन

08/11/20, 2:18 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *11)  आक्रोश परीषह जय*

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी प्राणी तीव्र क्रोध के वशीभूत होकर मुनियों को निन्दारूप असभ्य वचन बोलते हैं , इन वचनों को सुनकर भी जो क्रोधित नहीं होते , उन अमर्यादित वचनों का प्रतिकार करने की क्षमता होते हुए भी उन्हें शान्त भाव से सहन करते हैं , कषाय रूपी विष का कण मात्र भी अपने हृदय में नहीं रखते तथा बार बार यही विचार करते हैं कि *यह सब मेरे स्वयं के पाप कर्म का उदय है , मेरे लिए अपने तपश्चरण द्वारा  इन कर्मों को खपा देना ही उचित है , प्रतिकार करना मेरा स्वभाव नहीं है* । इस प्रकार विचार करते हुए वे अपने ज्ञान , ध्यान में ही लीन रहते हैं , वे *आक्रोशपरीषहजयी* कहलाते हैं।

*जगतजीव जावन्त चराचर सबके हित सबको सुखदानी।*

*तिन्हैं देख दुर्वचन कहैं खल पाखंडी ठग यह अभिमानी।।*

*मारो याहि पकड़ पापी को तपसी भेष चोर है छानी।*

*ऐसे वचन बाण की बेला क्षमा ढाल ओढैं मुनि ज्ञानी।।*

*12) वध परीषह जय*

जो मुनि तीक्ष्ण शस्त्र , मुद्गर , मूसल , भाला आदि के द्वारा पीड़ित होने पर भी मारने वाले पर लेशमात्र भी कलुषता नहीं करते हैं , जिनके वसूले से छीलने में और सुगन्ध युक्त द्रव्य के अनुलेपन में समभाव हैं अर्थात् जिनके शत्रु मित्र में समभाव हैं वे मुनि *वध परीषह विजयी* होते हैं। वध - बन्धन आदि होने पर मन ही मन यही विचार करते हैं कि *यह तो मेरे पूर्व

जन्म के कर्मों का फल है ।ये बेचारे क्या कर सकते हैं ? यह शरीर तो जल के बुदबुदे के समान नाशवान है , लेकिन मेरे दर्शन , ज्ञान , चारित्र का तो कोई घात नहीं कर सकता ।*

*हाथ से मारने पर वे यह सोचते हैं कि इस भलेमानुष ने मुझे लाठी से तो नहीं मारा , लाठी से मारने पर सोचते हैं कि इसने मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये , दो टुकड़े करने पर सोचते हैं कि इसने मेरे प्राण तो नहीं लिए और जान से मारने पर सोचते हैं कि कोई बात नहीं , इसने मेरा धर्म तो नष्ट नहीं किया।*

*निरपराध निर्वैर महामुनि तिनको दुष्ट लोग मिल मारैं।*

*कोई खैंच खंभ से बांधे कोई पावक में परजारै।।*

*तहां कोप करते न कदाचित् पूरब कर्म विपाक विचारैं।*

*समरथ होय सहैं वध- बन्धन ते गुरु भव-भव शरण हमारे।।*

08/11/20, 6:11 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

08/11/20, 6:25 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *14 ) याचना परीषहजय*

जिन मुनिराज ने बाह्य और आभ्यन्तर तपों के द्वारा शरीर को कृश किया है तथा तप रूपी सूर्य के द्वारा शरीर को सुखा दिया है , जले हुए वृक्ष के समान जो निष्कान्ति शरीर वाला है , हड्डी और शिराओं के बीच जिनका शरीर यन्त्र रह गया है , जो प्राण चले जाने पर भी कभी आहार , वसति और औषधि आदि की कभी दीनतापूर्ण याचना नहीं करते तथा भिक्षा के समय भी जिनकी मूर्ति ( शरीर ) बिजली की चमक के समान रहती है , ऐसे साधु के *याचना परीषहजय* होता है।

*घोर वीर तप करत तपोधन भये क्षीण सूखी गल बांही।*

*अस्थिचाम अवशेष रहो तन नसौंजाल झलकैं तिसमांही।।*

*औषधि असन पान इत्यादिक प्राण जाउ पर जांचत नाहीं।*

*दुर्द्धर अयाचीक व्रत धारैं करैं न मलिन धरम परछाहीं।।*

*15 ) अलाभ परीषहजय*

जो अनेक देशों में विचरण करते हैं , जिन्होंने दिन में एक काल के भोजन को स्वीकार किया है , जो मौन रहते हैं या भाषा समिति का पालन करते हैं , एकबार शरीर दिखलाना मात्र जिनका सिद्धांत है , पाणिपुट ही जिनका पात्र है , बहुत दिन तक भिक्षा के प्राप्त नहीं होने पर भी जिनका चित्त संक्लेश से रहित है , दाता विशेष की परीक्षा लेने की जिन्हें कोई उत्सुकता नहीं है तथा लाभ से भी अलाभ मेरे लिए परम तप है , ऐसा चिंतन जो करते हैं , उन मुनिराज के *अलाभ परीषहजय* जानना चाहिए।

*एक बार भोजन की बेला मौन साध बस्ती में आवैं।*

*जो न बनै योग्य भिक्षा विधि तो महन्त मन खेद न लावैं।।*

*ऐसे भ्रमत बहुत दिन बीतैं तब तपवृद्धि भावना भावैं।*

*यों अलाभ की परम परीषह सहैं साधु सो ही शिव पावैं।।*

09/11/20, 9:41 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *16) रोग परीषहजय*

जिन मुनिराज ने शरीर की स्थिति के निमित्त भोजन को प्रचुर उपकार मानकर स्वीकार किया है।प्रकृति विरुद्ध आहार पान के सेवन से जिनके वात आदि विकार रूप रोग उत्पन्न हुए हैं , एक साथ सैंकड़ों व्याधियों का प्रकोप होने पर भी जो उनके अधीन नहीं हुए हैं तथा शरीर से निस्पृह होने के कारण जो रोगों के प्रतिकार की अपेक्षा नहीं करते हैं उन मुनिराज के *रोगपरीषह जय* होता है।रोगादि के आने पर ये मुनि चिंतन करते हैं कि

*हे आत्मन् ! यह शरीर तो अशुचि पदार्थों का आश्रय है , अनित्य है , रोगों का घर है , इस शरीर में 56899584 रोग हैं ।तुम किस किस का उपकार करते फिरोगे ।* इस प्रकार के चिन्तन द्वारा वे रोगजनित पीड़ा को शान्त भाव से सहते हैं।

*वात पित्त कफ श्रोणित चारों ये जब घटैं बढैं तनु माहीं।*

*रोग संयोग शोक जब उपजत जगत जीव कायर हो जाहीं।।*

*ऐसी व्याधि वेदना दारुण सूर उपचार न चाहीं।*

*आतमलीन विरक्त देहसों जैनयती निज नेम निवाहीं।।*,

*17) तृणस्पर्श परीषहजय*

जो कोई बंधने रूप दुखों का कारण है उसके लिए *तृण* पद का ग्रहण किया गया है। इसलिए सूखा तिनका , कठोर कंकड़ , कांटा , तीक्ष्ण मिट्टी और शूल आदि के बिंधने से पैरों में वेदना होने पर भी जिसका चित्त चलायमान नहीं है तथा निषद्या , चर्या और शय्या में प्राणियों की पीड़ा का परिहार करने के लिए जिनका चित्त निरन्तर प्रमाद रहित है उन मुनिराज के *तृणस्पर्शादि बाधापरीषहजय* होता है।

*सूखे तृण अरु तीक्ष्ण कांटे कठिन कांकरी पांय विदारैं।*

*रज उर आन पड़े लोचन में तीर फांस तनु पीर विथारैं।।*

*तापर पर सहाय नहिं वांछत अपने करसैं काढ न डारैं।*

*यों तृण परस परीषह विजयी ते गुरु भव भव शरण हमारैं।।*

09/11/20, 11:14 am - +91 89895 40000: <Media omitted>

09/11/20, 11:14 am - +91 89895 40000: <Media omitted>

09/11/20, 11:14 am - +91 89895 40000: <Media omitted>

09/11/20, 11:27 am - Ashok Jain: इस ग्रुप में स्वाध्याय होता है, अनावश्यक मैसेज न भेजें।

अंतराय कर्म का बंध होता है

09/11/20, 12:11 pm - +91 93231 88361: <Media omitted>

09/11/20, 1:57 pm - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 🙏

09/11/20, 3:26 pm - +91 88005 05179: भाईसाहब जय जिनेन्द। 22 परीषहो मे से एक साथ 19परीषह ही हो सकते है, वो 3 परीषह कौन से है, जो कामन है, कृपया उनके नाम बता दीजिये।

09/11/20, 3:59 pm - Parasji Patni: आसन, शयन और चर्या में से एक समय में एक ही होगी अतः दो कम हो गई। उष्ण और शीत में एक ही होगी। अतः ये तीन परिषह कम हो जाती है

09/11/20, 4:01 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): [🙏

09/11/20, 4:02 pm - +91 89895 40000: 👋 sorry

09/11/20, 4:06 pm - Jitendra Shantinath Beed Maharashtra: 👌🙏

09/11/20, 4:09 pm - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

09/11/20, 4:11 pm - Ashok Jain: 🙏

09/11/20, 4:11 pm - Ashok Jain: ❓

09/11/20, 4:12 pm - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

09/11/20, 7:15 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *18) मलपरीषह जय*

जलकायिक जीवों की पीड़ा का परिहार करने के लिए जिन्होंने आजीवन स्नान नहीं करने का व्रत लिया है , तीक्ष्ण सूर्य की किरणों की प्रचण्ड गर्मी से उत्पन्न पसीने में जिनके शरीर में धूल चिपक गयी है , खाज - दाद आदि के होने पर जन्तुओं की पीङा का परिहार करने की भावना से जो खुजलाना या अन्य पदार्थ से घिसने जैसी क्रिया नहीं करते , मेरा शरीर मैल से भरा है और इस साधु का शरीर कैसा चमचमा रहा है - ऐसा विकल्प जो नहीं करते तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी निर्मल जल के प्रक्षालन द्वारा जो कर्मकलंक को साफ करने के लिए सदा प्रयत्नशील हैं , जो केशलोंच के संस्कार से खेद खिन्न नहीं होते , उन मुनिराज के *मल परीषहजय* होता है।

*यावज्जीव जलन्हौन तजो नग्नरूप वनदान खङे हैं।*

*चलै पसेव धूप की बेला उड़त धूल सब अंग भरे हैं।।*

*मलिन देह को देख महामुनि मलिन भाव उर नांहि करैं हैं।*

*यों मल जनित परीषह जीतैं तिनहिं हाथ हम सीस धरे हैं।।*

*19 ) सत्कार - पुरस्कार परीषह जय*

इस विषय में यह मेरा आदर नहीं करता है , चिरकाल से मैंने ब्रह्मचर्य का पालन किया है , मैं महा तपस्वी हूं , मैंने बहुत बार परवादियों को जीता है , फिर भी कोई मुझे प्रणाम नहीं करता , भक्ति नहीं करता , कोई मुझे उत्साह नहीं देता , इनसे अच्छे तो मिथ्यादृष्टि ही हैं जो कुछ नहीं जानने वाले को भी सर्वज्ञ समझकर उनका आदर सत्कार करके अपने समय की प्रभावना करते हैं , इस प्रकार के खोटे अभिप्राय से जिनका चित्त रहित है उन महामुनि के *सत्कार - पुरस्कार परीषहजय* होता है।

*जो महान विद्यानिधि विजयी , चिर तपसी गुण अतुल भरे हैं।*

*तिनकी विनय वचन से अथवा उठ प्रणाम जन नाहिं करे हैं।।*

*तो मुनि तहां खेद नहिं मानत , उर निर्मल  भाव रहे हैं ।*

*ऐसे परम साधु के अहनिशि हाथ जोड़ हम पांव परे हैं।।*

09/11/20, 10:06 pm - Maya Devi delhi joined using this group's invite link

10/11/20, 7:11 am - +91 82913 23589: <Media omitted>

10/11/20, 8:18 am - +91 99451 30278: 🙏🙏

10/11/20, 8:58 am - +91 89895 40000: 👋

10/11/20, 10:02 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *20) प्रज्ञा परीषहजय*

मैं अंग पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रों में विशारद हूं तथा शब्दशास्त्र , न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र में निपुण हूं । मेरे सामने दूसरे लोगों की सूर्य के तेज के समक्ष खद्योत अर्थात् जुगनू के प्रकाश की तरह कोई औकात नहीं है , इस प्रकार के ज्ञान के मद को जो तनिक भी नहीं फटकने देते , उन मुनिराज को *प्रज्ञापरीषहजय* होता है।

*तर्क छन्द व्याकरण कलानिधि आगम अलंकार पढ़ जानैं।*

*जाकी सुमति देव परवादी बिलखत होंय लाज उर आनैं।।* *जैसे सुनत नाद केहरि का वनगयंद भाजत भय मानैं।*

*ऐसी महाबुद्धि के भाजन पर मुनीश मद रंच न ठानैं।।*

*21) अज्ञान परीषहजय*

यह मूर्ख है , कुछ नहीं जानता है , पशु के समान है , ऐसे तिरस्कार पूर्ण वचनों को मैं सहन करता हूं , मैंने परम दुश्चर तप का अनुष्ठान किया है , मेरा चित्त सदा अप्रमत्त रहता है , फिर भी मेरे अभी तक ज्ञान का अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ है , ऐसा विचार नहीं करने वाले मुनिराज के *अज्ञानपरीषहजय* होता है।

जो मुनि इतने ज्ञानी हैं कि सकल शास्त्रार्थ रूपी सुवर्ण की परीक्षा में कसौटी के समान हैं , फिर भी मूर्खों द्वारा *यह तो मूर्ख है , यह बैल है* - ऐसे अविवेकी वचनों द्वारा तिरस्कृत होने पर भी इस अपमान को समता भाव से सहते हैं , वे मुनि *अज्ञानपरीषहजयी* होते हैं।

*सावधान वर्ते निशिवासर संयमशूर परम वैरागी।*

*पालत गुप्ति गये दीरघ दिन सकलसंग ममता परत्यागी।।*

*अवधिज्ञान अथवा मनपर्यय केवल ऋद्धि न अजहूं जागी।*

*यों विकल्प नहिं करैं तपोनिधि सो अज्ञान विजयी बड़भागी।।*

10/11/20, 1:51 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *22 ) अदर्शन परीषहजय*

परम वैराग्य की भावना से मेरा हृदय शुद्ध है , मैंने समस्त पदार्थों के रहस्य को जान लिया है , मैं अरहन्त , आयतन , साधु और धर्म का उपासक हूं , फिर भी मेरे अभी तक ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ है , महा उपवास करने वालों के प्रातिहार्य विशेष उत्पन्न हुए , यह सब प्रलाप मात्र है , व्रतों का पालन करना बेकार है - इस प्रकार की बातों का दर्शनविशुद्धि के योग से मन में विचार नहीं करने वाले मुनिराज के *अदर्शन परीषहजय* होता है।

*मैं चिरकाल घोर तपकीना अजों ऋद्धि अतिशय नहिं जागैं।*

*तपबल सिद्ध होत सब सुनियत सो कुछ बात झूठ सी लागै।।*

*यों कदापि चित में नहिं चिंतत समकित शुद्ध शांति रस पागैं।*

*सोई साधु अदर्शनविजयी ताके दर्शन से अघ भागैं।।*

10/11/20, 2:03 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस प्रकार बाईस परीषहों का वर्णन पूर्ण हुआ।

लिखने का आधार - परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* की प्रश्नोत्तरी टीका से।

10/11/20, 9:24 pm - +91 99701 19183 joined using this group's invite link

11/11/20, 12:24 am - +91 98509 81008 joined using this group's invite link

10/11/20, 10:52 pm - +91 98715 89049 left

11/11/20, 10:09 am - Ashok Jain: कौन-कौन से गुणस्थान में कौन-कौन से परीषह होते हैं:

मिथ्यात्व गुणस्थान से अप्रमत्त गुणस्थान तक सभी परीषह होते हैं। अपूर्वकरण गुणस्थान में अदर्शन के बिना इक्कीस, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अरति के नष्ट होने पर बीस, वेद के नष्ट होने पर स्त्री परीषह नष्ट होने से उन्नीस परीषह हैं।

मान कषाय का उपशम या क्षय होने पर नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा और सत्कार परीषह नष्ट हो जाते हैं अतः चौदह परीषह रह जाती हैं।

इसके आगे बारहवें गुणस्थान तक उपर्युक्त चौदह परीषह।

केवली भगवान के घातिया कर्म नष्ट हो जाने से प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह नहीं होते हैं अतः ग्यारह परीषह होते हैं।

(मू प्र ३१८५-९२)

11/11/20, 10:24 am - +91 98306 20770: 🙏

11/11/20, 10:58 am - +91 94227 10574: गणधरपुजा pdf भोजिए

11/11/20, 11:05 am - +91 99773 98161: Gun sthan kya hota hai bhaiya

11/11/20, 11:10 am - Ashok Jain: आपको अलग से भेज दिया है

11/11/20, 11:15 am - Parasji Patni: ग्रुप में डालिए तो सब को लाभ मिलेगा pdf

11/11/20, 11:23 am - Ashok Jain: विषय बहुत बड़ा है फिर भी संक्षेप में:

मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्मपरिणामों के तारतम्य को गुणस्थान कहते हैं। कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर जिन परिणामों से युक्त जो जीव देखे जाते हैं, उनके उन परिणामों को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान १४ होते हैं: १) मिथ्यात्व, २) सासादन, ३) मिश्र या सम्यग्मिथ्यात्व, ४) अविरत सम्यग्दृष्टि, ५) देशविरत या संयमासंयम, ६) प्रमत्तविरत, ७) अप्रमत्त- विरत, ८) अपूर्वकरण, ९) अनिवृत्तिकरण, १०) सूक्ष्मसाम्पराय, ११) उपशांत मोह, १२) क्षीणमोह, १३) संयोग केवली और १४) अयोगकेवली।

सभी ससारी जीव किसी न किसी गुणस्थान में होते हैं। वर्तमान में अधिकतम सप्तमगुणस्थानवर्ती मुनिराज के दर्शन होते हैं। इससे ऊपर का काल अभी नहीं है।

*विशेष के लिए इस स्वाध्याय के बाद में ग्रुप बनाया जा सकता है।*🙏

11/11/20, 11:24 am - Ashok Jain: <Media omitted>

11/11/20, 11:24 am - Ashok Jain: <Media omitted>

11/11/20, 11:24 am - Ashok Jain: *परम पूज्य  संत शिरोमणि आचार्य गुरुवर विद्यासागर जी के परम शिष्य निर्यापक श्रमण मुनिपुंगव शान्तिधारा निर्देशक 108 श्रीसुधासागर जी महाराज*

दीपावली पूजन व धन्य दिवस (धनतेरस की पूजा)pdf

*ब्र महावीर**

11/11/20, 11:24 am - Ashok Jain: 🙏

11/11/20, 12:16 pm - Usha Jain, Nagour: जी🙏

11/11/20, 12:51 pm - +91 99773 98161: Ji bhaiya ji 🙏🙏🙏😊😊😊

11/11/20, 9:08 pm - Ashok Jain: किस चारित्र में कितने परीषह:

*सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश॥१०॥*

सूत्रार्थ: (सूक्ष्मसाम्पराय) सूक्ष्मसाम्पराय तथा (छद्मस्थवीतरागयो:) छद्मस्थ वीतराग में (चतु:दश) चौदह परीषह होते हैं।

यद्यपि सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र में सूक्ष्म लोभ संज्वलन कषाय का उदय है पर वह अत्यंत सूक्ष्म होने से कार्यकारी नहीं है, मात्र उसका सद्भाव ही है अतः वीतराग छद्मस्थ कल्प (समान) होने से छद्मस्थ वीतराग के समान सूक्ष्मसाम्पराय में भी चौदह परीषहों का नियम  घटित हो जाता हैं। (रा वा २)

सूक्ष्मसाम्पराय आदि में निम्न चौदह परीषह होते हैं: क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान ये चौदह परीषह होते हैं  (सर्वा ८३९)

11/11/20, 9:38 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): दशम गुणस्थानवर्ती मुनि *सूक्ष्म -साम्पराय मुनि* होते हैं।

*छद्म* का अर्थ होता है *ज्ञानावरण और दर्शनावरण* ।छद्म में रहने वाला *छद्मस्थ* कहलाता है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण का उदय होने पर भी जिनको अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होने वाला है , उन क्षीणकषायी बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को *छद्मस्थ वीतरागी* या *वीतराग छद्मस्थ* भी कहते हैं।

छद्मस्थ वीतरागी मुनियों के मोहनीय कर्म के उदयजनित आठ परीषह  - *नाग्न्य , अरति , स्त्री , निषद्या , आक्रोश , याचना , सत्कार -पुरस्कार और अदर्शन* नहीं होते।

*सूक्ष्मसाम्पराय* संयमी जीवों के सर्वमोहनीय कर्म का उदय नहीं है , मोहनीय की सत्ता मात्र है , वहां सिर्फ संज्वलन का लोभ कषाय का उदय है , इसलिए सूक्ष्मसाम्पराय भी वीतराग छद्मस्थ के सदृश होने से उनमें भी चौदह परीषह ही घटित होते हैं।

यद्यपि इन दोनों गुणस्थानवर्ती मुनियों के ये  चौदह परीषह नहीं होते हैं फिर भी उनको सहन करने की शक्तिमात्र से चौदह परीषह ठीक उसी प्रकार कहे जाते हैं जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धि के देवों का सातवें नरक में गमन नहीं है , लेकिन गमन करने की शक्ति की अपेक्षा से उन देवों के सातवें नरक तक गमन कहा जाता है।

11/11/20, 10:38 pm - +91 97668 60919: ❌❌❌

12/11/20, 6:34 am - +91 76689 43582: Sorry,  deewali wish karne ke purpose  se humne ye bheja tha, mera ye rocket  bejne ka purpose  kisi ko pareshan karna nhi tha.  Again sorry.

12/11/20, 10:43 am - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

12/11/20, 11:08 am - Ashok Jain: केवली भगवान के होने वाले परीषह

*एकादश जिने॥११॥*

सूत्रार्थ: (जिने) जिन [सयोग केवली भगवान] के (एकादश) ग्यारह परीषह होते हैं।

केवली भगवान के वेदनीय कर्म के विद्यमान रहने से उपचार से ग्यारह परीषह रह जाते हैं। केवली भगवान के घातिया कर्मों का नाश हो जाने से वे परीषह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकते। तथा उन भगवान के अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है इसलिए वे परीषह रंचमात्र भी दुःख नहीं दे सकते। (मू प्र ३१९२-९३)

केवली भगवान के ग्यारह परीषहः १) क्षुधा, २) पिपासा, ३) शीत, ४) उष्ण, ५) दंशमशक ६) चर्या, ७) शय्या, ८) वध, ९) रोग, १०)  तृणस्पर्श और ११) मल।

केवली भगवान के असतावेदनीय की अपेक्षा साता वेदनीय का उदय अननतगुणा है। इसलिए शक्कर की राशि में नीम की कणिका के समान असातावेदनीय का उदय होने पर भी ज्ञात नहीं होता। (प्र सा ता २१)

12/11/20, 4:53 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *एक अधिक एकादश हैं या एक और दश एकादश हैं।*

वेदनीय कर्म का सद्भाव होने से घातिया कर्म के नाशक सयोग केवली जिनके ग्यारह परीषह होती हैं।परन्तु क्या सचमुच में सयोग केवली भगवान के क्षुधादि ग्यारह परीषह होते हैं , यह एक प्रश्न है जिसका समाधान आचार्यो ने अपनी टीकाओं में दो प्रकार से किया है ।

पहले तो यह कि केवली भगवान के वेदना का अभाव होने पर भी वेदनीय द्रव्य कर्म का सद्भाव है , अतः उसकी अपेक्षा उपचार से सयोगी जिन के ग्यारह परीषह कहे जाते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो वेदनीय कर्म के सद्भाव में केवली जिनके कवलाहार का भी प्रसंग आयेगा । इसलिए केवली भगवान में परीषहों का कथन उपचार मात्र है।

दूसरे  केवली भगवान में ११ परीषह नहीं हैं , ऐसा वाक्य शेष *न सन्ति*  अर्थात् *नहीं है*

की योजना कर

कल्पना कर लेना चाहिए। वाक्य वक्ता के अधीन होता है , ऐसा स्वीकार भी किया गया है। मोह के उदय की सहायता से होने वाली क्षुधादि वेदनाओं का अभाव होने से यह वाक्यशेष उपन्यसत किया गया है।

केवली भगवान के शरीर में निगोद और त्रस जीव नहीं रहते। उनका क्षीणमोह गुणस्थान में अभाव होकर वे परम औदारिक शरीर के धारी होते हैं । उन्हें भूख , प्यास या रोगादिक की बाधा नहीं होती ।देवों के शरीर में निगोद और त्रस जीव नहीं होने से जो विशेषता होती है उससे अनन्त गुनी विशेषता केवली जिन के परमौदारिक शरीर में उत्पन्न हो जाती है। सुख दुख का वेदन वेदनीय कर्म का कार्य होते हुए भी वह मोहनीय की सहायता से ही होता है । केवली भगवान के मोहनीय का अभाव होता है । अतः वहां क्षुधादि रूप वेदनाओं का मानना युक्तिसंगत नहीं होता । इससे यह सिद्ध होता है कि केवली जिन के क्षुधादि ग्यारह परीषह नहीं होते।

यद्यपि केवली भगवान के असाता वेदनीय कर्म का उदय है , लेकिन तेरहवें गुणस्थान में होने वाला असाता प्रकृति का उदय इतना बलवान नहीं होता जिससे उसे क्षुधादि कार्यों का सूचक माना जा सके। दूसरी विशेषता यह है कि साता आस्रव सदा काल होने से उसकी निर्जरा भी सदाकाल होती रहती है , इसलिए जिस समय असाता का उदय होता है उस समय केवल उसका ही उदय नहीं होता है , बल्कि अनन्तगुणी शक्ति वाले साता के साथ वह उदय में आता है।यद्यपि उसका स्वमुख से उदय होता है फिर भी प्रति समय बंधने वाले साता परमाणुओं की निर्जरा के साथ ही होता है , इसलिए असाता का उदय वहां क्षुधादि वेदना का कारण नहीं हो सकता।

12/11/20, 6:27 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य श्री श्रुतसागरसूरि ने *तत्त्वार्थवृत्तिः* में इस सूत्र की टीका करते हुए *आदिपुराण* के २५ वें सर्ग के ३९ वें से ४२ वें श्लोक को उद्धृत किया है

*न भुक्तिः क्षीणमोहस्य तवानन्तसुखोदयात्*

*क्षुत्क्लेशबाधितो जन्तुः कवलाहारभुग्भवेत्*।। ३९।।

अनन्त सुख का उदय होने से तुझ क्षीणमोही के भुक्ति ( आहार ) नहीं है , क्योंकि भूख की बाधा से बाधित प्राणी ही कवलाहार का भोक्ता होता है।

*असद्वेद्योदयाद् भुक्ति त्वयि यो योजयेदधीः।।*

*मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृतम्।।४०।।*

जो अज्ञानी असातावेदनीय का उदय होने से तुझमें जो भुक्ति की कल्पना करते हैं मानो वे मोहरूपी अग्नि का प्रतिकार करने के लिए जरद् घृत का अन्वेषण करते हैं।

*असद्वेद्यविषं घातिविध्वंसध्वस्तशक्तिकम्।*

*त्वय्यकिञ्चिरं ( त्करं ) मन्त्रशक्त्ये वापवनं ( बलं ) विषम्।।४१ ।।*

घातिया कर्म के नष्ट हो जाने से जिसकी शक्ति नष्ट हो गयी है , ऐसा असातावेदनीय रूप विष तुझमें कुछ भी नहीं कर सकता , जैसे मंत्र शक्ति से निर्विष हुआ विष मारक नहीं हो सकता।

*असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायत:।*

*त्वय्यकिञ्चितकरो नाथ सामग्रया हि फलोदय:।।*

इसलिए हे नाथ ! घातिया कर्म की सहायता का अभाव हो जाने से असातावेदनीय कर्म का उदय तुझमें कुछ भी नहीं कर सकता - अर्थात् असातावेदनीय का उदय होने पर भी वह आकिंचित्कर है , क्षुधादि को उत्पन्न नहीं कर सकता - क्योंकि समग्र सामग्री ही फलोदय में समर्थ होती है।

12/11/20, 6:38 pm - Ashok Jain: 👏👏👏

13/11/20, 11:27 am - Ashok Jain: सर्व परीषह किसके होते हैं

*बादर साम्पराये सर्वे॥12॥*

सूत्रार्थ: (बादर साम्पराये) बादर साम्पराय गुणस्थान तक साधुओं के (सर्वे) सर्व परीषह होते हैं।

साम्पराय: कषाय को साम्पराय कहते हैं।

बादर साम्पराय: बादर साम्पराय अर्थात् प्रमत्तसंयतादि छठे से नौवें गुणस्थान तक सभी के (बादर साम्पराय जिनके है, वे बादर साम्पराय हैं)। (रा वा १)

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान का दूसरा नाम बादर साम्पराय है। इस गुणस्थान तक स्थूल कषाय का सद्भाव रहता है इसलिए अन्तदीपक न्याय से इस गुणस्थान का नाम भी बादर साम्पराय है।

बादर साम्पराय में तो बाइस परीषह सम्भव है अकेले नौवें गुणस्थान में नहीं। क्योंकि इस गुणस्थान में दर्शनमोहनीय का उदय नहीं रहता।सम्यक्त्व मोहनीय का उदय सातवें गुणस्थान तक ही रहता है क्योंकि यहीं तक वेदक सम्यक्त्व होता है।

इसलिए बादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषायों में सब परीषह सम्भव है।

(प्रज्ञा श्रमण मुनि श्री अमित सागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

13/11/20, 5:44 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏

13/11/20, 6:34 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *बादरसाम्पराय*( कषाय ) जिस गुणस्थान में होती है उसे *बादरसाम्पराय* कहते हैं। इस कषाय के योग से मुनिगण भी बादरसाम्पराय कहलाते हैं।उस बादरसाम्पराय मुनि के सारी परीषह होती है। इसलिए बादरसाम्पराय कहने से सिर्फ नौवां गुणस्थान ही ग्रहण नहीं करना चाहिए , बल्कि प्रमत्तसंयत , अप्रमत्तसंयत , अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण

- ये चार गुणस्थान लेने चाहिए। यह इसलिए क्योंकि इन चार गुणस्थानों में मानसिक दोष सर्वथा क्षीण नहीं होने से सभी परीषह होती है । सामायिक , छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि इन तीन चारित्रों में सर्व परीषहों का होना संभव है।

बादर साम्पराय में सभी बाईस परीषह संभव हैं , लेकिन बादर साम्पराय गुणस्थान में नहीं क्योंकि इस गुणस्थान में दर्शन मोहनीय का उदय नहीं होता।दर्शन मोहनीय के तीन भेदों में सम्यक्त्व मोहनीय का उदय सातवें गुणस्थान तक ही संभव है क्योंकि यहीं तक वेदक सम्यक्त्व होता है। इसलिए यहां बादर साम्पराय ( स्थूल कषाय ) में सब परीषह संभव है । दर्शन मोहनीय के उदय से होने वाले परीषह नौवें गुणस्थान में नहीं होते।

13/11/20, 7:10 pm - Laxmipat Jain Barjatya, Howrah left

15/11/20, 1:20 pm - +91 87920 24002 left

16/11/20, 11:35 am - Ashok Jain: ज्ञानावरण से होने वाले परीषह:

*ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने॥१३॥*

सूत्रार्थ: (ज्ञानावरणे) ज्ञानावरण के उदय से (प्रज्ञाज्ञाने) प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं।

प्रज्ञा परीषह: क्षायोपशमिक प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के होने पर मद को उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरण के क्षय होने पर नहीं, इसलिए ज्ञानावरण के होने पर प्रज्ञा परीषह होती है यह कथन बन जाता है। (सर्वा ८४५)

प्रज्ञा मोह कर्म के उदय से नहीं होती है। क्योंकि मोहनीय कर्म के भेद गिने हुए हैं और उनका कार्य भी सम्यग्दर्शन और स्म्यक्चारित्र का नाश करना सुनिश्चित है अतः इसका अन्तर्भाव मोह में नहीं हो सकता अतः "मैं बड़ा विद्वान हूं" यह मद मोहनीय कर्म का न होकर ज्ञानावरण कर्म का कार्य है, क्योंकि चारित्रधारी सम्यग्द्दष्टियों के भी प्रज्ञा परीषह का सद्भाव पाया जाता है अतः प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होती है ऐसा निश्चय करना चाहिए। (रा वा २)

मति-श्रुतज्ञान की अपेक्षा, एक दूसरे में प्रज्ञा-अज्ञान बन जाता है। जैसे- किसी के मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम अधिक हो तो प्रज्ञा परीषह, किंतु उसके श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम कम हो तो अज्ञान परीषह; कारण कि जिसके विषय का क्षयोपशम कम हो तो अज्ञान परीषह, क्योंकि " *जो जिस विषय का जानकर नहीं है, वह उस विषय का अज्ञानी है*।" यदि किसी के श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम अधिक है तो उसके प्रज्ञा परीषह है, किंतु उसके अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो अज्ञान परीषह। यदि किसी के अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम है तो प्रज्ञा परीषह है; किंतु उनके मन:पर्यय ज्ञान का क्षयोपशम नहीं है तो अज्ञान परीषह है, यदि उसके मन:पर्ययज्ञान का क्षयोपशम है तो प्रज्ञा परीषह है, किंतु उसके केवलज्ञानावरण का क्षय नहीं है तो अज्ञान परीषह है। क्योंकि औदयिक भाव में ज्ञानावरण का उदय बारहवें गुणस्थान तक होता है, अतः अज्ञान भाव बारहवें गुणस्थान तक चलता है। केवलज्ञानी के प्रज्ञा-अज्ञान परीषह नहीं है।

इस प्रकार प्रज्ञा-अज्ञान; ये दोनों परीषह एक साथ रह सकते हैं, इसमें कोई विरोधाभास नहीं है।

(प्रज्ञाश्रमण मुनिश्री अमितसागर जी महाराज द्वारा हिन्दी टीका से)

16/11/20, 5:51 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सूत्र का सन्धि विग्रह -

*ज्ञान - आवरणे प्रज्ञा - अज्ञाने।।१३।।*

ज्ञान का आवरण जिसके होता है वह *ज्ञानावरण* है।उस ज्ञानावरण वाले मुनि के दो परीषह होती है अथवा ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर *प्रज्ञा अज्ञान* परीषह होती है।

प्रज्ञा का अर्थ ज्ञान होता है तथा किसी को यह शंका हो सकती है कि ज्ञानावरण कर्म के उदय से अज्ञान परीषह होती है , लेकिन प्रज्ञा परीषह तो ज्ञानावरण के विनाश से होती है , ज्ञान से मद होता है , प्रज्ञा परीषह ज्ञानावरण के उदय से कैसे हो सकती है ?

इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रज्ञामद मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोशम होने पर ही होता है ।अवधि , मन:पर्यय और केवल ज्ञानावरण का उदय होने पर ही प्रज्ञामद उत्पन्न होता है , सभी आवरणों के क्षय होने पर मद उत्पन्न नहीं होता।

अपनी अज्ञानतावश जो अल्पज्ञान को महा ज्ञान मानने का विकल्प होता है , यहां उसका ग्रहण किया है और वह ज्ञानावरण कर्म के उदय से होता है।

17/11/20, 11:35 am - Ashok Jain: दर्शनमोहनीय एवं अन्तराय कर्म के उदय से होने वाले परीषह:

*दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ॥१४॥*

सूत्रार्थ: (दर्शनमोहान्तराययो:) दर्शनमोहनीय और अन्तराय कर्म में (अदर्शनालाभौ) अदर्शन और अलाभ परीषह होते हैं।

दर्शनमोह के उदय से अदर्शन और अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होता है।

सूत्र में 'दर्शनमोह' इस विशिष्ट कारण का निर्देश करने से अवधिदर्शन आदि के संदेह का अभाव हो जाता है, सन्देह नहीं रहता कि अवधिदर्शन का कार्य अदर्शन परीषह है। (रा वा १)

यद्यपि सूत्र में अन्तराय यह सामान्य निर्दश है, तथापि यहां सामर्थ्य से लाभान्तराय विशेष ही विवक्षित है, लाभान्तराय विशेष का ही ज्ञान है। (रा वा २)

17/11/20, 7:59 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*दर्शनमोह -अन्तराययो: अदर्शन - अलाभौ।।१४।।*

दर्शनमोह से यहां *सम्यक्त्वमोहनीय* प्रकृति का ग्रहण किया गया है।इसके उदय रहते हुए चल , मल और अगाढ दोष उत्पन्न होते हैं।सम्यक्त्व के रहते हुए भी आप्त , आगम और पदार्थों के विषय में नाना प्रकार के विकल्प होना चल दोष है। जिस प्रकार जल के स्वस्थ होते हुए भी उसमें वायु के निमित्त से तरंगमाला उठा करती है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष यद्यपि अपने स्वरूप में स्थिर रहता है फिर भी सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आप्त , आगम और पदार्थों के विषय में उसकी बुद्धि चलायमान होती रहती है , यही *चल दोष* है।

*मल* का अर्थ मैल है ।शंकादि दोषों के निमित्त से सम्यग्दर्शन का मलिन होना *मलदोष* है। यह भी सम्यक्त्व मोहनीय के उदय में होता है।

*अगाढ* का अर्थ है स्थिर नहीं रहना। सम्यग्दृष्टि जीव लौकिक प्रयोजनवश कदाचित् तत्त्वों से चलायमान होने लगता है जिसे अगाढ दोष कहते हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से ये तीन दोष होते हैं ।ये तीनों एक ही हैं , फिर भी भिन्न भिन्न अभिप्राय की दृष्टि से इन्हें भिन्न ग्रहण किया गया है। इसी दोष को ध्यान में रखकर *अदर्शन परीषह* का निर्देश किया है जो दर्शनमोहनीय के उदय से होता है।

भोजन आदि पदार्थों का नहीं मिलना अन्य बात है , पर इन पदार्थों के न मिलने पर जो *अलाभ* परिणाम होता है , उसका वह परिणाम लाभान्तराय कर्म का कार्य होने से अलाभ को लाभान्तराय कर्म का कार्य कहा है। इस प्रकार अदर्शन भाव मोहनीय कर्म का और अलाभभाव लाभान्तराय कर्म का कार्य है।

18/11/20, 10:28 am - Ashok Jain: चारित्र मोहनीय के उदय से परीषह:

*चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्या -क्रोशयाचना सत्कारपुरस्कारा:॥१५॥*

सूत्रार्थ: (चारित्रमोहे) चारित्र मोहनीय के उदय से (नाग्न्यारति स्त्री निषद्याक्रोश याचना सत्कारपुरस्कारा:) नाग्न्य अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार-पुरस्कार ये परीषह होते हैं।

मान कषाय नामक चारित्र मोहनीय के उदय से नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, यांचा, और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं।

अरति नामक नोकषाय के उदय से अरति परीषह होता है।

स्त्रीवेद नामक नोकषाय के उदय से स्त्री परीषह होता है।

इस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से नाग्न्यादि सात परीषह होते हैं। (मू प्र ३१७८-८०)

18/11/20, 9:10 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है -

*चारित्रमोहे नाग्न्य - अरति स्त्री निषद्या - आक्रोश याचना सत्कारपुरस्कारा:।।१५।।*

चारित्रमोह के सद्भाव में नाग्न्य , अरति , स्त्री , निषद्या , आक्रोश , याचना और सत्कारपुरस्कार परीषह होते हैं ।

चारित्रमोह एक कषाय है।

नग्न का भाव *नाग्न्य* है।

रति अर्थात् प्रेम और प्रेम का नहीं होना *अरति* है।

जो अपने दोषों का और दूसरे के गुणों का आच्छादन करे वह *स्त्री* कहलाती है।

जिसमें बैठे रहना पड़े उसे *निषद्या* कहते हैं।

गाली आदि देना *आक्रोश* है , मांगना *याचना* है।

मान सम्मान की इच्छा *सत्कार पुरस्कार* है ।

19/11/20, 10:19 am - Ashok Jain: वेदनीय जन्य परीषह

*वेदनीये शेषा:॥१६॥*

सूत्रार्थ: (वेदनीये) वेदनीय कर्म के उदय से (शेषा:) शेष परीषह होते हैं।

वेदनीय कर्म के उदय से शेष क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल ये ग्यारह परीषह होते हैं। (रा वा १)

19/11/20, 9:58 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

19/11/20, 10:12 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इसके पहले आचार्य देव ग्यारह परीषह कह आये हैं , यथा

१) ज्ञानावरण कर्म के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान , दो परीषह

२) दर्शन मोहनीय और अन्तराय कर्म के सद्भाव में अदर्शन और अलाभ दो परीषह

३)चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से नाग्न्य , अरति , स्त्री , निषद्या , आक्रोश , याचना और सत्कार पुरस्कार - ये सात परीषह होते हैं।

इस प्रकार कुल ग्यारह परीषह किस कर्म के उदय से होते हैं , हमने जाना।

अब आचार्य देव अगले १६ वें सूत्र में कहते हैं *वेदनीये शेषा:।।१६।।* अर्थात् शेष ग्यारह परीषह ( क्षुधा , तृषा , शीत , उष्ण , दंशमशक , चर्य्या , शय्या , वध , रोग , तृण स्पर्श और मल ) वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

यहां विशेष रूप से यह जानना चाहिए कि शरीर में भोजन का कम होना , कंठ का सूखना , ठंड या गर्मी का ऋतु के अनुसार परिवर्तन होना , डांस मच्छर का काटना , गमन या शयन करते समय कांटा आदि का चुभना , शरीर में रोग का होना , शरीर में मल का जमा होना इत्यादि अपने अपने कारणों से होते हैं । इनका कारण वेदनीय कर्म का उदय नहीं है , लेकिन इन कामों के होने पर जो भूख प्यास , सर्दी गरमी या रोग आदि के कारण जो वेदना होती है वह वेदनीय कर्म का कार्य है।

20/11/20, 10:15 am - Ashok Jain: एक आत्मा में एक समय में होने वाले परीषह

*एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकोनविंशतेः॥१७॥*

सूत्रार्थ: (एकादयः) एक को आदि लेकर (युगपत्) एक साथ (एकस्मिन्) एक आत्मा में (एकोनविंशतेः) उन्नीस परीषह (भाज्या) भजनीय हैं।

एक आत्मा में एक साथ एक से लेकर उन्नीस परीषह विकल्प से हो सकते हैं।

एक आत्मा में शीत और उष्ण परीषहों में से कोई एक तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनों में से कोई एक परीषह ही होता है, क्योंकि शीत और उष्ण इन दोनों के तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनों के एक साथ होने में विरोध आता है। इन तीनों को कम कर देने पर एक साथ एक आत्मा में इतर परीषह सम्भव होने से वे सब मिलकर उन्नीस परीषह जानना चाहिए। (सर्वा ८५२)

परीषहों को न सहने से हानि:  जो कायर मुनि परीषह रूपी योद्धाओं से डर कर भाग जाते हैं वे उस चारित्र रूपी युद्ध में तीनों लोकों में फैलने वाली अपकीर्ति प्राप्त करते हैं, अपने स्वजन और साधुओं के मध्य में उनकी हंसी होती है तथा परलोक में पापकर्म के उदय से उन्हें चारों गतियों के समस्त महादु:ख प्राप्त होते हैं। (मू प्र ३२००-०१)

20/11/20, 10:06 pm - +91 82913 23589 left

21/11/20, 8:11 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*एक - आदय: - भाज्या युगपद् - एकस्मिन् न् - आ- एकोनविंशते:।।१७।।*

एक साथ एक जीव में १९ परीषह तक हो सकती है।

एक है आदि में जिनके वह *एकोदय:* कहलाते हैं।किसी आत्मा में एक समय में एक परीषह , किसी के दो , किसी के तीन से लेकर   *एकोनविंशते:* अर्थात् एक कम बीस = उन्नीस परीषह तक हो सकती है । *भाज्या:* का अर्थ यथासंभव एक , दो , तीन आदि लगाना चाहिए।

जैसा कि हमने पहले जाना कि शीत , उष्ण में से कोई एक परीषह होती है , दोनों एक साथ नहीं हो सकती , उसी प्रकार निषद्या , चर्या और शय्या में से भी कोई एक ही होती है - तीनों एक साथ नहीं हो सकती।अतः एक समय में एक साथ उन्नीस परीषह ही हो सकते हैं।

अब यहां यह शंका हो सकती है कि प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और अज्ञान भी परस्पर विरूद्ध हैं , तो ये दोनों परीषह एक साथ कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान करते हुए आचार्यों ने बतलाया है कि श्रुतज्ञान की अपेक्षा प्रज्ञा ( ज्ञान) का मद उत्पन्न होता है और अवधि मन:पर्यय और केवलज्ञान की अपेक्षा अज्ञान भी रहता है , अतः इसमें कोई विरोध नहीं है।

21/11/20, 10:54 am - Ashok Jain: चारित्र का कथन

*सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातमिति चारित्रम्॥१८॥*

सामायिक-छेदोपस्थापना-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातं इति चारित्रम्।

सूत्रार्थ: सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात ये चारित्र हैं।

चारित्र के अलग-अलग प्रकार से एक से पांच प्रकार के चारित्र बताए गए हैं।

यहां मुख्य दो भेद और पांच भेद का वर्णन करते हैं:

दो प्रकार से: १) सराग चारित्र, २) वीतराग चारित्र।

१) सराग चारित्र: वीतराग चारित्र के परम्परा साधक सराग चारित्र को कहते हैं, जो अशुभ कार्य से निवृत्त होना और शुभ कार्य में प्रवृत्त होना है, उसको चारित्र जानना चाहिए, व्यवहारनय से उसको व्रत, समिति, गुप्ति स्वरूप कहा है। (वृ द्र सं टी ४५)

श्रमणों के मूल गुण तथा उतर गुणों का धारण करना, उनका कथन करना, पांच प्रकार का आचार, आठ शुद्धि तथा सुनिष्ठा ये सब सराग चारित्र है। (न च ३३४)

२) वीतराग चारित्र: उस शुद्धात्मा में रागादि विकल्प रूप उपाधि से रहित स्वाभाविक सुख के आस्वादन से निश्चल चित्त होना वीतराग चारित्र है।(वृ द्र सं टी ५२)

जिसे शुभ-अशुभ दोनों प्रकार का राग नहीं है वह श्रमण वीतराग है।(न च ३३१)

सामायिक: सर्व सावद्य  योग का त्याग करना सामायिक है।

हिंसा, झूठ, चोरी आदि सभी सावद्य योगों का अभेद रूप से सार्वकालिक वा नियमित समय तक त्याग करना सामायिक है। (रा वा २)

छेदोपस्थापना: प्रमादकृत अनर्थ के प्रबंध का नाश करने के लिए सम्यक् प्रतिक्रया छेदोपस्थापना है।

त्रस-स्थावर जन्तुओं का देश-काल, उत्पत्ति, नाश और स्थान छद्मस्थों के अप्रत्यक्ष है अतः प्रमादवश स्वीकृत निरवद्य क्रियाओं में दूषण लगने पर उसका सम्यक् प्रतिकार करना छेदोपस्थापना है। (रा वा ६)

विकल्पों की निवृत्ति का नाम छेदोपस्थापना है। (सर्वा ८५४)

परिहार विशुद्धि: परिहार से विशुद्धि जिस चारित्र में होती है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

प्राणिवध से निवृत्ति को परिहार कहते हैं। इससे युक्त शुद्धि जिस चारित्र में होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। (सर्वा ८५४)

सूक्ष्मसाम्पराय: अतिसूक्ष्म कषायपना होने से सूक्ष्मसाम्पराय कहलाता है।

सूक्ष्म का अर्थ अल्प है और साम्पराय का अर्थ कषाय है। जिस संयम में अत्यंत सूक्ष्म कषाय रहती है, वह सूक्ष्मसाम्पराय कहलाता है। यह द्रव्य और भाव सामायिक रूप होता है। (आ सा ५/१४६)

जिस चारित्र में कषाय अतिसूक्ष्म हो जाती है वह सूक्ष्म साम्पराय चारित्र है। (सर्वा ८५४)

यथाख्यात: जैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव अवस्थित है, वैसा ही इसमें प्राप्त होता है अतः यह यथाख्यात कहा जाता है।

जो मुनिराज मोहनीय कर्म से रहित हैं और जो शुक्लध्यान रूपी अमृत का पान कर रहे हैं, ऐसे मुनिराज जो समस्त व्रतादिकों का यथार्थ रीति से पालन करते हैं और आगम में कहे अनुसार अपने आत्मा में परमात्मा का अनुभव करते हैं उनके घातिया कर्मों का नाश करने वाला यथाख्यात चारित्र कहते हैं। (मू प्र २९८२-८३)

आत्मा का जैसा वीतराग स्वरूप है वैसा ही जिस संयम में कहा है वह यथाख्यात संयम माना गया है। यह संयम पाप समूह रूप मेघों के समूह को नष्ट करने वाला है। (आ सा ५/१४७)

21/11/20, 6:54 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में *इति* शब्द समाप्ति अर्थ में है , इसलिए *यथाख्यात चारित्र* से परिपूर्ण कर्मों का क्षय होता है , ऐसा जानना चाहिए।यद्यपि दशलक्षण धर्म में जो संयम का वर्णन

किया गया है वही चारित्र है ,फिर भी साक्षात् परम निर्वाण का कारण चारित्र होता है , इस बात को बताने के लिए पुनः पांच प्रकार के चारित्र का वर्णन किया गया है।

*सामायिक* शब्द का प्रयोग अनेक रूप से किया जाता है।दूसरी प्रतिमा में सामायिक शिक्षाव्रत अभ्यास रूप है , तीसरी सामायिक प्रतिमा व्रतरूप है , सामायिक आवश्यक नियम रूप है तथा *सामायिक चारित्र* यम रूप है।

प्रमाद से किये गये हिंसादि अव्रतों का अनुष्ठान , व्रतों का विलोपन, आगमोक्त विधि से सर्वथा परित्याग करने पर उसकी प्रतिक्रिया की जाती है , पुनः व्रतों का आरोपण दिवस पक्ष महीना आदि से दीक्षा का छेदन करके पुनः उपस्थापन , व्रतारोपण को *छेदोपस्थापना* कहते हैं।

परिहरण , परिहार और प्राणिवध की निवृत्ति , ये एकार्थवाची हैं ।परिहार - प्राणिवध की निवृत्ति से विशिष्ट शुद्ध कर्म मल कलंक का प्रक्षालन जिस चारित्र में होता है , वह *परिहारविशुद्धि चारित्र* है।इस चारित्र के संबंध में कहा गया है

*बत्तीसवासजम्मो वासपुधत्तं च तित्थयरमूले।*

*पच्चक्खाणं पढिदो संझूणदुगाऊअविहारो।।*

*बत्तीस वर्ष तक जिसने सांसारिक सुखों का अनुभव किया है - आठ वर्ष तक तीर्थंकर के चरणमूल में प्रत्याख्यान नामक ग्रंथ का अध्ययन किया है , तीनों संध्याकाल को छोङकर जो प्रतिदिन दो कोस विहार करता है , उसके परिहारविशुद्धि संयम होता है ।*

जन्तुओं की रक्षा कैसे करनी चाहिए , वे किस द्रव्य के निमित्त से किस क्षेत्र और किस काल में विशेषतः उत्पन्न होते हैं , जीवों की योनि और जन्म कितने प्रकार के होते हैं , इन बातों को परिहार विशुद्धि चारित्र का धारक अच्छी तरह जानता है ।वह प्रमादरहित , महाबलशाली , कर्मों की महानिर्जरा करने वाला और अति दुष्कर चर्या का अनुष्ठान करने वाला होता है ।इन सब कारणों से इस संयत के ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है जिससे यह अन्य जीवों को बाधा पहुंचाये बिना चर्या करने में समर्थ होता है।

क्रमशः

21/11/20, 7:56 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *नौवां अध्याय - सूत्र १८ , गतांक से आगे , भाग २*

*सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र* सूक्ष्म साम्पराय नामके दशवें गुणस्थान में होता है।इस चारित्र में कषाय अति सूक्ष्म हो जाती है।

जिस चारित्र में सम्पूर्णतया मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय हो गया है या जिस चारित्र में जैसा आत्मा का स्वभाव कहा गया है , वैसा ही स्वभाव है , उसे *यथाख्यात चारित्र* कहते हैं। ग्यारह , बारह , तेरह और चौदह ये चार गुणस्थान यथाख्यातचारित्र के होते हैं।

21/11/20, 9:47 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): भाग ३

सामायिक , छेदोपस्थापना की जघन्य विशुद्धिलब्धि सबसे अल्प होती है, अतः उन्हें सबसे पहले रखा गया है।

सामायिक , छेदोपस्थापना से परिहारविशुद्धि चारित्र की जघन्य विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी होती है , अतः उसे दोनों के बाद रखा गया है।

परिहारविशुद्धि की जघन्य विशुद्धि लब्धि से उसी की उत्कृष्ट विशुद्धि लब्धि अनन्त गुणी होती है तथा इससे सामायिक और छेदोपस्थापना की उत्कृष्ट विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी होती है और इससे भी सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र की जघन्य विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी होती है। अतः परिहारविशुद्धि के बाद सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र को रखा है।

सूक्ष्मसाम्पराय की जघन्य विशुद्धि लब्धि से इसी की उत्कृष्ट विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी होती है तथा सूक्ष्मसाम्पराय से यथाख्यात चारित्र की विशुद्धि लब्धि अनन्तगुणी होती है , इसीलिए सूक्ष्मसाम्पराय के बाद यथाख्यात चारित्र को कहा गया है।यथाख्यात चारित्र में विशुद्धि लब्धि के उत्कृष्ट या जघन्य आदि भेद नहीं होते।मोक्ष सबसे अन्त में प्राप्त होता है, इसीलिए मोक्ष का साक्षात् कारण होने से यथाख्यात चारित्र को सबसे अंत में कहा गया है।

यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति कर्मभूमिया मनुष्य , उनमें भी संयमी , संयमी में भी दर्शनमोह , चारित्र मोह का पूर्ण उपशम या पूर्ण क्षय करने वाले निकट भव्य जीव के ही होती है। सामायिक आदि पांचों चारित्र को धारण करने का अधिकारी मनुष्य गति का जीव तथा उसमें भी द्रव्य पुरुष ही चारित्र का धारक हो सकता है , द्रव्य स्त्री वेदी या नपुंसक वेदी मनुष्य चारित्र धारण नहीं कर सकता।

22/11/20, 3:20 pm - +91 76194 64330 left

22/11/20, 10:55 pm - +91 94236 87517 joined using this group's invite link

23/11/20, 3:45 pm - Ashok Jain: बाह्य तप

*अनशनावमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान- रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन- कायक्लेशा बाह्यं तप:॥१९॥*

सूत्रार्थ: (अनशानवमौदर्य) अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन (कायक्लेशा) और कायक्लेश (बाह्यं तप:) यह बाह्य तप है।

बाह्य तप: बाह्य तप वही है जिससे मन अशुभ को प्राप्त नहीं होता है, जिससे श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा जिससे योग-मूलगुणहीन नहीं होते हैं (मू ३५८)

बाह्य तप छः प्रकार के होते हैं।

१) अनशन तप: जो पुरुष कर्मों की निर्जरा के लिए दिन आदि का प्रमाण करके लीला मात्र से आहार का त्याग करता है, उसके अनशन नामक तप होता है। (का अ ४४१)

मोक्ष प्राप्त करने के लिए जो अन्न, पान, स्वाद्य, खाद्य के भेद से चार प्रकार के आहार का त्याग कर दिया जाता है उसको अनशन नाम का तप कहते हैं। (मू प्र १७८८)

२) अवमौदर्य तप: जिस व्रत में अपने आहार से एक-दो- आदि ग्रास कम-कम आहार किया जाता है वह अवमौदर्य तप है। (आ सा ६/९)

आधे आहार का नियम करना अवमौदर्य तप है। जो जिसका प्राकृतिक आहार है उससे न्यून आहार विषयक अभिग्रह करना अवमौदर्य तप है। (ध १३/५६)

३) वृत्तिपरिसंख्यान तप: मैं चौराहे पर आहार लूंगा, इस मार्ग में वा इस गली में आहार मिलेगा तो आहार लूंगा, एक पहले ही घर में आहार मिलेगा तो लूंगा अथवा दाता ऐसा होगा, उसके पात्र वा भोजन पात्र ऐसे होंगे तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं लूंगा इस प्रकार वृत्तीपरिसंख्यान करना चाहिए। (मू प्र १८०७)

४) रसपरित्याग तप: दूध,दही, घी, तेल, गुड़ और नमक तथा घृतपूर्ण, अपूप, लड्डू आदि का जो त्याग करना है; इनमें एक-एक का या सभी का छोड़ना तथा तिक्त, कटुक, कषायले, खट्टे और मीठे इन रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है। इस तप में प्रासुक वस्तुओं का भी तपश्चरण की बुद्धि से त्याग किया जाता है। (मू ३५२ आ)

५) विविक्तशय्यासन तप: मुनिराज स्त्री, देवी, नपुंसक, आदि तथा गृहस्थ जहां निवास न करते हों ऐसे सूने प्रदेशों में वा श्मशान में वा निर्जन वन में, अथवा गुफा आदि में शयन करते हैं वा बैठते हैं उसे विविक्त शय्यासन तप कहते हैं। (मू प्र १८१९-२०)

६) कायक्लेश तप: शास्त्रानुसार नाना प्रकार की शरीर बाधाओं को सहना कायक्लेश तप है। (सु र सं ८८५)

अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, मौन रखना, आतापन, वृक्षमूल, सर्दी में नदी तट पर ध्यान करना आदि क्रियाओं से शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है। (रा वा १३)

सबसे श्रेष्ठ तप: वास्तव में गणधर देव ने कायक्लेश करने को ही उत्कृष्ट और कठिन तप कहा है क्योंकि इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि शरीर का निग्रह होने से चक्षु आदि सभी इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है और इन्द्रियों का निग्रह होने से मन का निरोध हो जाता है अर्थात् संकल्प-विकल्प से दूर होकर चित्त स्थिर हो जाता है, मन का निरोध हो जाना ही उत्कृष्ट ध्यान कहलाता है तथा यह ध्यान ही कर्मों के क्षय हो जाने का साधन है। कर्मों का क्षय हो जाने से अत्यंत सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए शरीर को कृश करना चाहिए। (म पु २०/१७८-८०)

23/11/20, 7:04 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB) added +91 76194 64330

23/11/20, 7:29 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): चार प्रकार के आहार के त्याग या उपवास को *अनशन* कहते हैं। लौकिक फलों की अपेक्षा न कर संयम की सिद्धि , राग का उच्छेद , कर्मों का विच्छेद , सद् ध्यान की प्राप्ति और शास्त्रों के अभ्यास के लिए अनशन किया जाता है।

भूख से एक , दो , चार आदि ग्रास कम खाना *अवमौदर्य* है।संयम के साधन के लिए , वात ,पित्त , कफ आदि दोषों के शमन के लिए और ज्ञान - ध्यान आदि की सुखपूर्वक सिद्धि के लिए अवमौदर्य तप करना चाहिए।

भिक्षा के इच्छुक मुनि का आशा अर्थात् तृष्णा का निरास या दमन करने के लिए  एक घर आदि विषयक संकल्प अर्थात् चिन्ता का अवरोध करना *वृत्ति* है , भोजन की प्रवृत्ति है , उससे *परि* अर्थात् चारों ओर से *संख्यान* अर्थात् मर्यादा करना *वृत्तिपरिसंख्यान तप* है।

इन्द्रियों के मद का निग्रह करने के लिए , निद्रा को जीतने के लिए और स्वाध्याय आदि की सुख सिद्धि के लिए कामोत्पादक घृत आदि रसों का त्याग करना *रसपरित्याग तप* है।

क्रमशः

23/11/20, 9:28 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *गतांक से आगे , भाग २*

प्राणियों की पीड़ा से रहित ऐसे शून्य अर्थात् *विविक्त* घर , गुफा , पर्वतों की कन्दरा आदि में *शयन* अर्थात् सोना  और *आसन*  अर्थात् बैठना *विविक्तशय्यासनतप* है।ब्रह्मचर्य की सिद्धि और स्वाध्याय आदि की प्राप्ति के लिए मुनिराज विविक्तशय्यासन तप करते हैं।

काय का क्लेश अर्थात् शारीरिक कष्ट सहना *कायक्लेश तप* है। मुनिराज ग्रीष्म ऋतु में धूप में खड़े होकर , वर्षाऋतु में वृक्षमूल में निवास कर , शीत ऋतु में आवरण रहित स्थान में शयन आदि कर कायक्लेश नामक छठे बाह्य तप को करते हैं।शरीर के दुखों को सहन करने के लिए और जिनधर्म की प्रभावना करने के लिए यह तप किया जाता है। बहुत से लोग परीषह और कायक्लेश को एक ही समझते हैं , लेकिन ऐसा नहीं है । परीषह अपने आप  प्राप्त होता है और कायक्लेश स्वयं किया जाता है।

बाह्य तप अन्तरंग तप की वृद्धि के कारण होते हैं। आभ्यन्तर तपों की वृद्धि के लिए यदि बाह्य तप तपे जाते हैं तो ये सुतप कहलाते हैं , मोक्षमार्ग में कार्यकारी होते हैं , अन्यथा कायक्लेश मात्र के कारण होते हैं।

24/11/20, 8:13 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *आचार्य समन्तभद्र स्वामी स्वयम्भू स्तोत्र में भगवान कुन्थुनाथ की स्तुति गाते हुए कहते हैं*

*बाह्यं तप: परमदुश्चरमाचरंस्त्व*

*माध्यात्मिकस्य तपस: परिवृंहणार्थम् ।*

*ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्*

*ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥३॥*

*हे भगवन् ! आपने अन्तरङ्ग तप की वृद्धि के लिए अत्यन्त कठिन अनशनादि बाह्य तप का आचरण किया था तथा आर्त्तरौद्र रूप दो खोटे ध्यानों को छोड़कर आप उत्कृष्ट अतिशय से युक्त अथवा अपने अवान्तर भेदों से सहित आगे के धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानों में स्थिर हुए थे ।*

*कष्ट-साध्य बहु बाह्य तपों से,*

*तन को मन को जला दिया ।*

*आभ्यन्तर तप उद्दीपित हो,*

*यही प्रयोजन बना लिया ॥*

*आर्तध्यान को रौद्रध्यान को,*

*पूर्ण-ध्यान से हटा दिया ।*

*धर्म ध्यान में शुक्ल ध्यान में,*

*क्रमश: निज को बिठा दिया ॥ ३ ॥ ८३ ॥*

24/11/20, 9:10 pm - Ashok Jain: [24/11, 4:24 pm] Ashok Jain: अभ्यन्तर तप

*प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्वाध्याय- व्युतसर्गध्यानान्युत्तरम्॥२०॥*

सूत्रार्थ: प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये (उत्तरम) अभ्यन्तर तप के भेद हैं।

प्रायश्चित: पूर्व में किये गये अपराधों का सोधन करना।

जिसके द्वारा प्राचीन पाप नष्ट हो जावें वह प्रायश्चित कहलाता है। अथवा प्रायस् का अर्थ मनुष्य है और चित्त का अर्थ कर्म है चूंकि प्रायश्चित मनुष्य के कर्म हर लेता है नष्ट कर देता है, इसलिए उसे प्रायश्चित कहते हैं।

विनय: उद्धतपनरहित वृत्ति का होना अर्थात् नम्र वृत्ति का होना विनय है।

पूज्य पुरुषों का आदर करना विनय तप है।

वैयावृत्य: अपनी शक्ति के अनुसार उपकार करना वैयावृत्य है।

गुणों में अनुराग संयमी पुरुषों के खेद को दूर करना, पांव दबाना तथा और भी जितना कुछ उपकार करना है वह वैयावृत्य कहा जाता है। (र श्रा ११२)

स्वाध्याय: सिद्धान्त आदि ग्रंथों का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

अपने हित के लिए जो अध्ययन होता है वह स्वाध्याय कहलाता है।(आ सा ६/९५)

व्युत्सर्ग: उपधि का त्याग करना व्युत्सर्ग है।

शरीर से ममत्व तथा अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह के समागम का त्याग करना मुनि का व्युत्सर्ग तप है।

ध्यान: एक विषय पर चिन्ता का निरोध करना ध्यान है।

बुद्धिमान मनुष्य जो अन्य समस्त चिन्तवनों को रोककर एकाग्रचित्त से द्रव्यों के समूह का चिंतन करते हैं उसको ध्यान कहते हैं।

24/11/20, 9:39 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जो साधु का उत्कष्ट चारित्र है उसे *प्राय* अर्थात् लोक कहते हैं और उन लौकिक जनों के मन को *चित्त* कहते हैं तथा उन लौकिक जनों के चित्त को शुद्ध करने की क्रिया को *प्रायश्चित* कहते हैं जो आत्म विशुद्धि की एक प्रक्रिया है अथवा *प्रा* अर्थात् नष्ट हो गया है *अय:* अर्थात् अपराध जिससे , उसके *चित्त* की शुद्धि हो गयी है उसको *प्रायश्चित* कहते हैं।

ज्येष्ठ या पूज्य पुरुषों के प्रति जो आदर भाव है उसे *विनय* कहते हैं।

शारीरिक प्रकृति से यात्रादिक से या अन्य किसी कारण से थके हुए मुनि का पादमर्दन आदि के द्वारा सेवा आदि करना *वैयावृत्य तप* है।

आलस्य को त्याग कर ज्ञान की आराधना करना *स्वाध्याय तप* है।

यह शरीर मेरा है इस प्रकार के अहंकार और ममकार रूप संकल्प का त्याग करना *व्युत्सर्ग तप* है।

चित्त के विक्षेप का त्याग करना *ध्यान तप* है या मानसिक चंचलता का परिहरण *ध्यान* है।

प्रायश्चित आदि ये छह तप मन का नियमन करने वाले होने से इन्हें *अन्तरंग तप* कहते हैं।

25/11/20, 10:20 am - Ashok Jain: अंतरंग तपों के भेद

*नवचतुर्दशपञ्चद्विभेदा यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्॥२१॥*

सूत्रार्थ: (प्राग्ध्यानात्) ध्यान से पहले-पहले तपों के (यथाक्रमं) क्रमशः (नवचतुर्दश पञ्चद्वि भेदा) नौ, चार, दश, पांच और दो भेद होते हैं।

प्रायश्चित तप: नौ प्रकार का होता है

विनय तप: चार प्रकार का होता है।

वैयावृत्य तप: दश प्रकार का होता है।

स्वाध्याय तप: पांच प्रकार का होता है।

व्युतसर्ग तप: दो प्रकार का होता है।

प्राग्ध्यानात्: ध्यान के विषय में बहुत कुछ कहना है इसलिए इसका वर्णन बाद में करेंगे।

25/11/20, 10:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

25/11/20, 10:10 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*नव चतुः - र्दश , पञ्च द्वि भेदा यथाक्रमं , प्राग्ध्यानात्।।२१।।*

*प्राग्* अर्थात् प्रायश्चित से लेकर ध्यान से पहले व्युत्सर्ग तक *यथाक्रम* अर्थात् यथासंख्या क्रम से

नव , *चतु:* अर्थात् चार , दस , *पञ्च* अर्थात् पांच और *द्वि* अर्थात् दो जिनके भेद हैं वे  *नवचतुर्दशपंचद्विभेद* कहलाते हैं।

*

प्रायश्चित के नौ भेद

विनय के चार भेद

वैयावृत्ति के दस भेद

स्वाध्याय के पांच भेद और

व्युत्सर्ग के दो भेद होते हैं।

ध्यान के बहुत से भेद और उपभेद होने के कारण उसका विस्तृत वर्णन आचार्य देव अलग से करेंगे।

26/11/20, 10:36 am - Ashok Jain: प्रायश्चित तप के भेद

*आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेद-परिहारोपस्थापना:॥२२॥*

सूत्रार्थ: आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना ये प्रायश्चित के नौ भेद हैं।

१) आलोचना: गुरु के समक्ष दस दोषों को टालकर अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है। (सर्वा. ८३२)

आचार्य महाराज के समीप एकांत में बैठकर अपने व्रत, तप आदि की शुद्धि के लिए बिना किसी छल-कपट के मन-लचन-काय और कृत-कारित- अनुमोदना से किये हुए समस्त अतिचारों का निवेदन करना आलोचना है

आलोचना के दस दोष: १) आलोचना, २) अनुमापपित दोष, ३) मायाचार यद्दष्ट, ४) स्थूल दोष, ५) प्रतिपादन,-सूक्ष्माचार निवेदन, ६) छन्नदोष, ७) शब्दाकुलित दोष, ८) बहुजन दोष, ९) अव्यक्त दोष और (१०) तत्सेवित दोष। (रा वा १०)

२) प्रतिक्रमण: दिन वा रात के व्रतों में जो अतिचार लगे हों, उनको मन-लचन-काय की शुद्धता पूर्वक निन्दा-गृहा आदि के द्वारा शुद्ध करना प्रतिक्रमण है। (मू प्र १८७०)

३) तदुभय प्रायश्चित: व्रतादिक के कितने ही दोष आलोचना से नष्ट होते हैं और दु:स्वप्न आदि से उत्पन्न होने वाले कितने ही दोष प्रतिक्रमण से नष्ट होते हैं। यही समझकर पाक्षिक-चातुर्मासिक-वार्षिक दोषों को दूर करने के लिए वचन पूर्वक जो आलोचना सहित प्रतिक्रमण किया जाता है। उसको तदुभय कहते हैं। (मू प्र १८७१-७२)

४) विवेक प्रायश्चित: द्रव्य, क्षेत्र, अन्न पान उपकरण आदि के दोषों से शुद्ध हृदय से अलग रहना विवेक है। वह विवेक अनेक प्रकार का है। अथवा- भूल से, त्याग की की हुई वस्तु का ग्रहण हो जाय और स्मयण हो आने पर उसका त्याग कर दिया जाय उसको विवेक कहते हैं।

५) व्युत्सर्ग प्रायश्चित: काल का नियम करके कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित है।(रा वा ६)

६) तप प्रायश्चित: व्रतों के अतिचारों को दूर करने के लिए उपवास करना, आचाम्ल करना, निर्विकृति करना अथवा एकासन करना आदि तप कहलाता है।(मू प्र १८७७)

७) छेद प्रायश्चित: कल्याणाकांछी चिर काल के दीक्षित मुनि ने यदि अभिमान वश संयम में कोई दोष लगाया है तो एक दिन को आदि लेकर किसी निश्चित समय तक उनके तप के काल को कम कर दिया जाता है वह छेद प्रायश्चित है। (आ सा ६/४७)

८) परिहार प्रायश्चित: किसी दोष के हो जाने पर चिर प्रव्रजित साधु को पक्ष, माह आदि काल के विभाग ने संघ से दूर कर देना, उसका संसर्ग नहीं करना परिहार नामक प्रायश्चित है। (रा वा ९)

९) उपस्थापन प्रायश्चित: चिरप्रव्रजित साधुओं के महाव्रतों का मूलोच्छेद करके पुनः दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित है। (रा वा १०)

१०) दर्शन या श्रद्धान प्रायश्चित: मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से प्रकट हुए मिथ्यात्व को प्राप्त होकर जो मुनि महाव्रतियों के साथ रहता है, उसे जो पुनः तत्त्वश्रद्धान कराया जाता है वह दर्शन नामक प्रायश्चित है। (आ सा ६/६५)

प्रायश्चित तप को धारण करने से मन शल्य रहित हो जाता है, सम्यग्दर्शनज्ञानादिक गुणों के समूह सब निर्मल हो जाते हैं, चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाता है, वे मुनिसंघ में माननीय माने जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहता और उनका मरण शल्य रहित सर्वोत्तम होता है। इस प्रकार प्रायश्चित धारण करने से सज्जनों को बहुत से गुण प्रकट हो जाते हैं। (मू प्र १९०८-९)

26/11/20, 7:44 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*आलोचन  प्रतिक्रमण तद् - उभय विवेक व्युत्सर्ग  तपः   छेद परिहार - उपस्थापनाः।।२२।।*

*भगवती आराधना* में बतलाये हुए दस प्रकार के दोषों से रहित विधि से अपने दोषों को प्रगट कर देना आलोचना है ।यदि पुरुष आलोचना करे तो एक गुरु एक शिष्य इस प्रकार दो के आश्रय से आलोचना होती है और यदि स्त्री आलोचना करे तो चन्द्र , सूर्य , दीपक आदि के प्रकाश में एक गुरु और दो स्त्रियां या दो गुरु और एक स्त्री , इस प्रकार तीन के होने पर आलोचना होती है। आलोचना नहीं करने वाले के या आलोचना करके प्रायश्चित नहीं करने वाले के दुर्धर तप भी इच्छित फलदायक नहीं होते हैं।

अपने दोषों का उच्चारण करके कहना कि *मिच्छा मे दुक्कडं* मेरे दोष मिथ्या हों , इस प्रकार प्रकटीकृत प्रतिक्रिया *प्रतिक्रमण* है।

आलोचना और प्रतिक्रमण , इन दोनों का संसर्ग होने पर दोषों का शोधन होने से *तदुभय प्रायश्चित* है।

जिस वस्तु के न खाने का नियम हो उस वस्तु के बर्तन या मुख में आ जाने पर या जिन वस्तुओं से कषाय आदि उत्पन्न हो उन सभी वस्तुओं का त्याग कर देना *विवेक* नामक प्रायश्चित है।

नियत काल पर्यन्त शरीर , वचन और मन का त्याग कर देना *व्युत्सर्ग* है ।

उपवास आदि छह प्रकार का बाह्य तप तप प्रायश्चित है।

दिन , पक्ष , मास आदि दीक्षा का छेद कर देना *छेद* नामक प्रायश्चित है

दिन , पक्ष , मास आदि आदि नियत काल तक संघ से अलग कर देना *परिहार* नामक प्रायश्चित है ।

महाव्रतों का मूलच्छेद करके पुनः दीक्षा देना *उपस्थापना* नामका प्रायश्चित है ।

क्रमशः

26/11/20, 9:37 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *प्रश्न - आलोचना प्रायश्चित कब कब करना चाहिए?*

उत्तर -१) आचार्य से बिना पूछे आतापन आदि योग करने पर ।

२) पुस्तक , पीछी , कमण्डलु आदि दूसरों के लेने पर ।

३) परोक्ष में प्रमाद से आचार्य की आज्ञा का पालन नहीं करने पर।

४) दूसरे संघ से बिना पूछे अपने संघ में आने पर ।

५) आचार्य से बिना पूछे आचार्य के काम को चले जाकर आने पर।

६) नियत देश काल में करने योग्य कार्य को धर्मकथा आदि में व्यस्त रहने के कारण भूल जाने पर

इसी प्रकार अन्य कार्यों में भी स्खलित होने पर आलोचना नामक प्रायश्चित होता है।

*प्रश्न - प्रतिक्रमण प्रायश्चित किन दोषों के होने पर किया जाता है?*

उत्तर - १) पांच इन्द्रिय और मन में से वचन आदि की दुष्प्रवृत्ति होने पर।

२) आचार्य आदि से हाथ , पैर आदि का संघट्ट अर्थात् रगङ हो जाने पर।

३) व्रत समिति और गुप्ति में स्वल्प अतिचार लगने पर।

४) पैशून्य कलह आदि करने पर ।

५) वैयावृत्य , स्वाध्याय आदि में प्रमाद करने पर ।

६) कामविकार होने पर तथा दूसरों को संक्लेश देने पर *प्रतिक्रमण* प्रायश्चित किया जाता है।

*प्रश्न - तदुभय ( आलोचना और प्रतिक्रमण ) प्रायश्चित कब - कब किया जाता है ?*

उत्तर - १) दिन और रात्रि के अन्त में ।

२) भोजन , गमन आदि करने पर।

३) केशलोंच करने पर।

४) नखों का छेद करने पर ।

५) स्वप्नदोष होने पर।

६) रात्रिभोजन करने पर।

७) पक्ष , मास , चार मास , वर्ष पर्यन्त दोष करने पर आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों प्रायश्चित किये जाते हैं।

क्रमशः

27/11/20, 8:17 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *प्रश्न - साधु को रात्रि भोजन दोष किस प्रकार होता है ?*

उत्तर - यद्यपि साधु रात्रिभोजन नहीं करते , फिर भी कथंचित कदाचित् उन्हें काल की मर्यादा भूल जाने से रात्रि भोजन दोष लग सकता है।

*प्रश्न - वह कैसे ?*

उत्तर - जैसे कोई साधु रात्रि में अधिक बीमार हो गये , अब उन्हें पानी की बहुत प्यास सता रही है ।ऐसी स्थिति में सूर्योदय के ४८ मिनट बाद ही उन्होंने आहार ले लिया , यह रात्रिभोजन का दोष कहा जायेगा क्योंकि साधु को सूर्योदय के ढाई घड़ी बाद आहार लेने का विधान है ।इसी प्रकार कोई साधु तीर्थराज की वन्दना करने गये थे । आने में कुछ देर हो गयी । आहार को गये , अब आहार करने में समय कुछ अधिक हो गया । सूर्यास्त होने में मात्र ३० मिनट शेष था , तब उनका आहार पूर्ण हुआ , ऐसी स्थिति में भी साधु रात्रि भोजन दोष को प्राप्त होते हैं क्योंकि सूर्यास्त होने के दो घड़ी पूर्व आहार हो जाना चाहिए था , अधिक समय होने पर प्रायश्चित का भागीदार होता है।

*प्रश्न - व्युत्सर्ग प्रायश्चित कब दिया जाता है ?*

उत्तर - १) मौन के बिना केशलोंच करने पर २) पेट से कीड़े निकलने पर ३) हिमपात , मच्छर या प्रचण्ड वायु से संघर्ष होने पर ४) गीली भूमि में चलने पर ५) कीचड़ में चलने पर ६) जंघा तक जल में घुसने पर ७) दूसरे की वस्तु उपयोग में लेने पर ८) नाव आदि से नदी पार करने पर ९) बिना देखे स्थान में शौच आदि करने पर १०) पुस्तक के गिर जाने पर ११) प्रतिमा के गिर जाने पर १२) स्थावर जीवों का विघात होने पर १३) पाक्षिक प्रतिक्रमण व्याख्यान आदि क्रियाओं के अंत में अनजान में मल निकल जाने पर १४) मल मूत्र करके आने पर और भोजन करके आने पर व्युत्सर्ग प्रायश्चित किया जाता है।

*प्रश्न - प्रायश्चित करने से क्या लाभ है ?*

उत्तर - प्रायश्चित करने से व्रतों की शुद्धि होती है , भावों की शुद्धि होती है , चंचलता का अभाव होता है , शल्य का परिहार होता है और धर्म में दृढ़ता आती है । अतः निर्दोष व्रतों की आराधना करने वाले आराधक को नव प्रकार का प्रायश्चित अवश्य करना चाहिए।

लिखने का आधार - परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* ग्रन्थ की प्रश्नोत्तरी टीका से।

28/11/20, 11:26 am - Ashok Jain: विनय तप के भेद

*ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारा:॥२३॥*

सूत्रार्थ: ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय ये विनय के चार भेद हैं।

ज्ञान विनय: विनय के साथ एवं कालाचार आदि आचारों के साथ समस्त अंग और पूर्वों की पूजा करना, मन-वचन-काय की शुद्धि पूर्वक अंग-पूर्वों को शुद्ध पढ़ना, अन्य योगियों को पढ़ाना, उनका चिंतन करना, हृदय में बार-बार विचार करना, उनकी प्रसिद्धि करना, प्रशंसा करना, लोक में निरंतर उनका प्रचार करना, ज्ञानी पुरुषों की भक्ति और सम्मान करना, ज्ञानादिक गुणों का उपदेश देना तथा और भी श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करना ज्ञान विनय है। (मू प्र १९१९-२२)

ज्ञान विनय आठ प्रकार का है: (भ आ ११२)

१) कालाचार- द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों को कालशुद्धि से पढ़ना, व्याख्यान करना अथवा परिवर्तन फेरना काल शुद्धि है।

२) विनयाचार: द्वादशांग आदि ग्रंथों का हाथ-पैर धोकर पर्यंकासन बैठकर अध्ययन करना विनय शुद्धि नाम का ज्ञानविनय है। (मू ३६७ आ)

३) उपधानाचार: उपधान, अवग्रह, नियम विशेष करके पठन आदि करना उपधानाचार है। यहां भी साहचर्य से इसे ही उपधान आचार कह दिया है। (मू २६९आ.)

४) बहुमानाचार: पूजा-सत्कार आदि के द्वारा पठन आदि करना बहुमान आचार है। (मू २६९ आ)

५) अनिह्नवाचार: जिस ग्रंथ को पढ़ते हैं और जिनसे पढ़ते हैं उनका नाम कीर्तित करना अनिह्नवाचार है। (मू ३६७ आ.)

६) व्यंजनाचार: चतुर पुरुष गुरु के उपदेश के अनुसार जो अक्षर और स्वर मात्राओं का शुद्ध उच्चारण करते हैं उसको व्यंजनाचार कहते हैं। (मू प्र १६७३)

७) अर्थाचार: अर्थ से अत्यंत सुशोभित शास्त्रों का शुद्ध पढ़ना और शुद्ध अर्थ पढ़ाना ज्ञान का अर्थाचार कहलाता है। (मू प्र १६७४)

८) तदुभयाचार:... कोई सूत्र भी विपरीत पढ़ता है और उसका अर्थ भी विपरीत कहता है। इन दोनों दोषों को दूर करने के लिए तदुभय शुद्धि को कहा है। (भ आ वि ११२)

२) दर्शन विनय: जिनेन्द्र भगवान ने सामायिक आदि से लेकर लोकबिन्दुसार पर्यंत श्रुतरूपी महा-समुद्र में जिन पदार्थों का जैसा उपदेश दिया है उनका उसी रूप से श्रद्धान करना, किसी भी विषय में शंका नहीं करना तथा सम्यग्दर्शन के निशंकितादि गुणों को धारण करना दर्शनविनय है।

३) चारित्र विनय: कषाय और इन्द्रिय रूपी चोरों का सर्वथा त्याग कर देना, व्रत-समिति, गुप्ति आदि के पालन करने में प्रतिदिन प्रयत्न करना, महातपस्वियों के अद्भुत आचरणों को सुनकर उनके लिए भक्तिपूर्वक हाथ जोडना चारित्र पालन करने वालों को भक्तिपूर्वक प्रणाम करना तथा इसी प्रकार और भी संसार में चारित्र के महात्म्य को प्रकट करना चारित्र विनय कहलाता है। (मू प्र १९२३-२५)

४) तप विनय: आतापन आदि श्रेष्ठ योगों में सर्वोत्कृष्ट उत्तरगुणों में तथा बारह प्रकार के घोर दुर्धर और कठिन तपश्चरण में श्रद्धा करना, अनुराग करना तथा बहुत बड़ी आकांक्षा करना, महातपस्वियों को प्रणाम करना, उनकी स्तुति करना, छहों आवश्यक पालन करना, हृदय के समस्त क्लेशों का त्याग कर देना, अनेक प्रकार के तपश्चरण पालन करने के लिए अपनी

शक्ति प्रकट करना, पांचों इंद्रियों को जीतना तथा इसी प्रकार तपश्चरण के श्रेष्ठ गुणों की प्रशंसा और तपश्चरण से उत्पन्न हुई ऋद्धियों की प्रशंसा करना तपोविनय है। (मू प्र १९२६-२९)

५) उपचार विनय: पूज्य पुरुषों का उप अर्थात् समीप में जाकर जो यथायोग्य उपचार-सेवा आदि की जाती है, वह उपचार विनय है। (आ सा ६/७७)

पूजनीय आचार्य आदि को सामने देखकर  खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना, अंजुलि जोड़ना, उनकी वन्दना करना, उनकी आज्ञा में चलना आदि आत्मानुरूप उपचार विनय है। (रा वा ५)

औपचारिक विनय तीन प्रकार का होता है- १) कायिक विनय, २) वाचिक विनय और ३) मानसिक विनय (मू ३७२)

**

*विनय पांच प्रकार का है- १) दर्शन विनय, २) ज्ञान विनय, ३) चारित्र विनय, ४) तप विनय और ५) उपचार विनय (मू प्र १९१३*)

29/11/20, 9:12 am - Swarup Ji Patodi Howrah left

29/11/20, 10:04 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में कथित विनय शब्द ज्ञानादि में लगाना चाहिए। जैसे ज्ञानविनय , दर्शन विनय , चारित्र विनय और उपचार विनय।इस प्रकार आचार्य देव ने विनय के चार भेद बतलाये।

आलस्य रहित होकर देश काल भाव आदि की शुद्धि पूर्वक विनय सहित मोक्ष के लाए यथाशक्ति ज्ञान का ग्रहण , ज्ञान का अभ्यास , स्मरण आदि करना *ज्ञानविनय* है ।

तत्त्वों के श्रद्धान में शंका , कांक्षा आदि दोषों का न होना *दर्शनविनय* है।

निर्दोष चारित्र का स्वयं पालन करना और ज्ञानदर्शन चारित्र धारक पुरुषों की भाव से भक्ति आदि करना चारित्र विनय है ।

आचार्य , उपाध्याय आदि को देखकर खड़े होना , नमस्कार करना , हाथ जोङना तथा उनके परोक्ष होने पर मन , वचन , काय से हाथ जोड़ना , उनके गुणों का स्मरण करना , कीर्तन करना , स्वयं ज्ञान का अनुष्ठान करना आदि *उपचार विनय* है।

विनय के होने पर ज्ञानलाभ , आहारविशुद्धि , सम्यग्आराधना आदि होती हैं , ऐसा विनय का फल जानना चाहिए।

30/11/20, 10:53 am - Ashok Jain: वैयावृत्य तप के भेद

*आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षग्लानगणकुल संघ साधु मनोज्ञानाम्॥२४॥*

सूत्रार्थ: आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी सेवा करना वैयावृत्य है।

वैयावृत्य तप दश प्रकार का होता है।

१) आचार्य: जिनके निमित्त से (शिष्य) व्रत का आचरण करते हैं वह आचार्य है। (सर्वा ८६६) मुनियों के दीक्षा गुरु और उपदेश दाता स्वयं आचरण शील होते हुए अन्य मुनियों को आचार पालन कराने वाले मुनि आचार्य हैं। ये कमल के समान निर्लिप्त, तेजस्वी, शा़तिप्रदाता, निश्चल, गम्भीर और नि:स़ग होते हैं। (प पु) जो आचार्य के छत्तीस गुण एवं पंचाचारों का पालन करते हैं। (मू प्र १९७०) (अनशनादि) बारह तप, उत्तम क्षमादि दस धर्म, समतादि छह आवश्यक, मनोगुप्ति आदि तीन गुप्ति और ज्ञानाचारादि पांच आचार। इस प्रकार छत्तीस गुण हैं।

२) उपाध्याय: मोक्ष के लिए पास जाकर जिससे शास्त्र पढ़ते हैं वे उपाध्याय हैं। (सर्वा ८६६) जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके मोक्षमार्ग में स्थित है तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों (मुनियों) को उपदेश देते हैं, उन मुनिश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। (ध १/५१)

३) तपस्वी: महोपवास आदि का अनुष्ठान करने वाले तपस्वी हैं। (सर्वा ८६६) जो सर्वतोभद्र आदि घोर तपस्चरण करते हैं उनको तपस्वी कहते हैं। (मू प्र १९७१) कायक्लेश में तत्पर मुनि को तपस्वी कहते हैं। (मू ३९०) आ.

४) शैक्ष्य: शिक्षाशील शैक्ष कहलाते हैं। (सर्वा ८६६) जो सिद्धांत शास्त्रों के पढ़ने में तत्पर हैं और मोक्षमार्ग में लगे हुए है उनको शैक्ष्य कहते हैं। (मू प्र १९७१)

५) ग्लान: रोग से क्लांत शरीर वाले ग्लान हैं। (सर्वा ८६६) दु: शील या दुर्बल अथवा व्याधि से पीड़ित साधु को ग्लान कहते हैं। (मू ३९० आ)

६) गण: स्थविरों की संतति को गण कहते हैं। (सर्वा ८६६) वृद्ध मुनियों के समूह को गण कहते हैं। (आ सा ६/८७)

७) कुल: दीक्षकाचार्य के शिष्य समुदाय को कुल कहते हैं। (सर्वा ८६६) आचार्यों की शिष्य परम्परा को उत्तम कुल कहते हैं। (मू प्र १९७३)

८) संघ: चार वर्ण के श्रमणों के समुदाय को संघ कहते हैं। (सर्वा ८६६)

९) साधु: चिरकाल से प्रव्रजित को साधु कहते हैं। (सर्वा ८६६) जो मुनि त्रिकाल योग धारण करते हैं और मोक्ष की सिद्धि करने में लगे हैं उनको साधु कहते हैं।

१०) मनोज्ञ: लोक सम्मत साधु मनोज्ञ कहलाते हैं। (सर्वा ८६६) अभिरूप को मनोज्ञ कहते हैं अथवा जो विद्वान मुनि वाग्मिता, महाकुलीनता आदि गुणों के द्वारा के द्वारा लोक में प्रसिद्ध हैं, वे मनोज्ञ हैं। ऐसे लोगों का संघ में रहना, लोक में प्रवचन गौरव का कारण बनता है। अथवा संस्कारों से सुसंस्कृत असंयत सम्यग्दृष्टि को भी मनोज्ञ कहते हैं। (रा वा १२-१४)

सभाधिमरण, विचिकित्सा भाव (ग्लानि पर विजय), प्रवचन, वात्सल्य, सनाथता तथा दूसरों में सनाथवृत्ति जताने आदि के लिए वैयावृत्य करना आवश्यक है। (रा वा १७)

वैयावत्य करने से लाभ: १) विचिकित्सा का सर्वथा नाश हो जाता है।

२) तीर्थंकर प्रकृति आदि श्रेष्ठ पुण्य का बंध होता है और सर्वोत्कृष्ट परोपकार होता है।

३) समस्त संसार में यश फैलता है और संघ में मान्यता बढ़ती है।

४) साधर्मी जनों के साथ अत्यंत प्रेम बढ़ता है।

५) रत्नत्रय की विशुद्धि एवं तपश्चरण की वृद्धि होती है।

६) आचार्य वा उपाध्याय आदि की वैयावृत्य करने से धर्मध्यान उत्पन्न होता है। मन निराकुल होता है तथा पीड़ा और दुर्ध्यान का सर्वथा नाश हो जाता है। (मू प्र १९८१-८३).

01/12/20, 8:43 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*आचार्य - उपाध्याय तपस्वि शैक्ष ग्लान गण कुल संघ साधु मनोज्ञानाम्।।२४।।*

आचार्य , उपाध्याय , तपस्वी , शैक्ष , गलान ,गण , कुल , संघ , साधु और मनोज्ञ ; इन दश की वैयावृत्त्य के भेद से वैयावृत्त्य दश पत्रकार का है।

१) जो स्वयं व्रतों का आचरण करते हैं और दूसरों को कराते हैं उनको *आचार्य* कहते हैं।

२) जिनके पास जाकर मोक्ष के लिए शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है उनको *उपाध्याय* कहते हैं।

३) जो महा उपवास आदि तपों को करते हैं वे *तपस्वी* हैं।

४) शास्त्रों का अध्ययन करने में तत्पर मुनियों को *शैक्ष्य* कहते हैं।

५) रोग आदि से जिनका शरीर पीड़ित हो उस मुनि को *ग्लान* कहते हैं।

६) वृद्ध मुनियों के समूह को *गण* कहते हैं।

७) दीक्षा देने वाले आचार्यों के शिष्यों के समूह को *कुल* कहते हैं।

८) मुनि , आर्यिका , श्रावक और श्राविकाओं के समूह को *संघ* कहते हैं।

९) जो चिरकाल से दीक्षित हों उनको *साधु* कहते हैं।

१० ) वक्तृत्व आदि गुणों से शोभित और लोगों द्वारा प्रशंसित मुनि को *मनोज्ञ* कहते हैं।

इन दश प्रकार के मुनियों को व्याधि आदि होने पर प्रासुक औषधि आदि के द्वारा उनकी वैयावृत्ति करनी चाहिए ।इसी प्रकार धर्मोपकरण देकर , परीषहों का नाश कर , मिथ्यात्व आदि के होने पर सम्यक्त्व में स्थापना करके तथा बाह्य वस्तु के न होने पर अपने हाथ से ही शरीर के मल आदि को पोंछ कर उनके अनुकूल अनुष्ठान कर वैयावृत्ति करनी चाहिए।

क्रमशः,--------

01/12/20, 10:17 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): नारायण श्रीकृष्ण ने मुनिराज को रोग होने पर उन्हें उचित औषधि देकर उनकी वैयावृत्ति की थी।

राजा चन्द्रगुप्त ने भी अपने गुरु भद्रबाहु की महान वैयावृत्ति करके प्रसिद्धि पाई थी।

चेलना रानी ने यशोधर मुनिराज पर अपने पति द्वारा किये गये घोर उपसर्ग को दूर कर वैयावृत्ति की थी ।

वारिषेण मुनिराज ने पुष्पडाल मुनि जो दीक्षा के बाद बारह वर्ष तक मिथ्यात्व में रहे को सम्यक्त्व में स्थापित कर उनका परम उपकार किया था।

आचार्य श्री भरतसागर जी ने अपने गुरुदेव के अनुकूल रहकर उनके चरण कमल में सत्ताइस वर्ष रहकर महान वैयावृत्ति की थी ।

वर्तमान में आचार्य गुरुवर विद्यासागर जी महाराज ने अपने गुरु ज्ञानसागर जी की कितनी महान वैयावृत्ति की थी यह हम सभी जानते हैं।

वर्तमान में बालाचार्य मुनि मोक्षसागर जी अपने गुरु सम्भवसागर जी की अति समर्पण भाव के साथ लम्बे समय से वैयावृत्ति करते आ रहे हैं।

यह वैयावृत्य अन्तरंग अनुकंपा , करुणा रूप परिणामों के बिना नहीं हो सकती। ग्लानि को जीते बिना , मान का मर्दन किये बिना कोई वैयावृत्ति नहीं कर सकता , इसीलिए वैयावृत्ति को अन्तरंग तप कहा गया है।

समाधि की प्राप्ति , ग्लानि का अभाव , प्रवचन वात्सल्य की प्रकटता , नीरोग शरीर , उत्तम संहनन आदि वैयावृत्ति के फल हैं। हम सभी को अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार गुरुओं की वैयावृत्ति अवश्य करनी चाहिए क्योंकि कहा भी गया है -

*निशिदिन वैयावृत्य करैया  सो निहचै भवनीर तिरैया।*

02/12/20, 10:02 am - Ashok Jain: स्वाध्याय तप के भेद

*वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा:॥२५॥*

सूत्रार्थ: वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्याय तप के भेद हैं।

स्वाध्याय तप पांच प्रकार का होता है।:-

१) वाचना: शास्त्र का व्याख्यान करना वाचना है। (मू ३९३), जो मुनि मोक्ष प्राप्त करने के लिए सज्जनों को अंग पूर्व आदि शास्त्रों का यथार्थ व्याख्यान करते हैं उसको वाचना स्वाध्याय कहते हैं। (मू प्र १९८७)

२) पृच्छना: शास्त्र का श्रवण करना पृच्छना है। (मू ३९३)

अपना संदेह दूर करने के लिए किसी अन्य के पास जाकर प्रश्न पूछना अथवा महागूढ सिद्धांत शास्त्रों के अर्थ को सुनना पृच्छना नाम का स्वाध्याय है। (मू प्र १९८८)

३) अनुप्रेक्षा: अधिगत अर्थ का मन के द्वारा अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है।

वस्तु के स्वरूप को जानकर संतप् लोहपिण्ड के समान चित् को तद्रूप बना लेना और बार-बार मन से उसका अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। (रा वा ३)

४) आम्नाय: विशुद्ध घोष से पाठ का परिवर्तन करना आम्नाय है।

पढ़ें हुए शास्त्रों का बार-बार  पाठ करना और ऐसे पाठ करना जो न तो धीरे धीरे हो हो, न जल्दी हो और न अक्षर मात्रा आदि से रहित हो, ऐसे पाठ करने को आम्नाय नाम का स्वाध्याय कहते हैं। (मू प्र १९९०)

५) धर्मोपदेश: धर्मकथा आदि का अनुष्ठान करना धर्मोपदेश है।

द्वादशांग के एकदेश का उपदेश देना धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय है।(आ सा ४/९२)

03/12/20, 8:27 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*वाचना , पृच्छना - अनुप्रेक्षा - आम्नाय धर्म - उपदेशा:।।२५ ।।*

जो गुरु पापक्रियाओं से विरत हैं , अध्यापन की क्रिया फल की अपेक्षा से नहीं करते हैं , शास्त्र पढ़ाते हैं , अर्थ वाच्य को कहते हैं , ग्रन्थ और अर्थ इन दोनों की व्याख्या करते हैं , पात्र के लिए ग्रन्थ ( अक्षर ) , अर्थ और उभय इन तीनों प्रकार के शास्त्र का उपदेश देते हैं , वह *वाचना* कहलाती है

संशय को दूर करने के लिए , निश्चित अर्थ को पुष्ट करने के लिए या ग्रन्थ और अर्थ की प्रबलता के निमित्त से जानते हुए भी शिष्य गुरु से पूछता है उसे *पृच्छना*  कहते हैं।

जाने हुए अर्थ का एकाग्र मन से बार बार अभ्यास करने और चिंतन करने को *अनुप्रेक्षा* कहते हैं।

अक्षरों के तालु आदि आठ उच्चारण स्थान हैं।उस उच्चारण की शुद्धि पूर्वक बार बार पाठ को करना , दुहराना *आम्नाय* है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष फल की अपेक्षा नहीं करके उन्मार्ग का छेदन करने के लिए , संशय को दूर करने के लिए , अपूर्व अर्थ का प्रकाशन करने के लिए तथा आत्म कल्याण के लिए महापुराण आदि धर्मकथाओं का कथन करना *धर्मोपदेश* है।

स्वाध्याय से प्रज्ञा का अतिशय , प्रशस्त अध्यवसाय और परम उत्कृष्ट संवेग होता है तथा प्रवचन स्थिति की जागृति होती है अर्थात् जिनधर्म का उद्योतन होता है , तप की वृद्धि होती है , अतीचारों की विशुद्धि होती है , संशय का उच्छेद होता है और मिथ्या मतों का खण्डन होता है।इस प्रकार साक्षात् और परम्परा से स्वाध्याय के अनेक लाभ हैं। हम सभी को नियमित स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

03/12/20, 11:42 am - Ashok Jain: व्युत्सर्ग तप के भेद

*बाह्याभ्यन्तरोपध्योः॥२६॥*

सूत्रार्थ: बाह्य उपधि और अभ्यन्तर उपधि के भेद से उपधि दो प्रकार की है।

बाह्य उपधि त्याग: अनुपात्त वस्तु का त्याग बाह्योपधि त्याग है।

जो बाह्य पदार्थ आत्मा के द्वारा उपात्त नहीं है वा जो बाह्य पदार्थ आत्मा के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन पदार्थों का त्याग करना उसे बाह्योपधि व्युत्सर्ग जानना चाहिए। (रा वा ३)

अभ्यन्तर उपधि त्याग: क्रोधादि भावों की निवृत्ति अभ्यन्तर उपधि व्युत्सर्ग है।

क्रोधादि रूप आत्म भाव अभ्यन्तर उपधि है तथा नियत काल तक या यावज्जीवन काय का भी त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधि त्याग कहा जाता है। (सर्वा ८७०)

जीवनपर्यंत त्याग तीन प्रकार का है:

१) भक्त प्रत्याख्यान, २) इंगिनीमरण, ३) प्रायोपगमन।

नियतकाल अभ्यन्तर उपधि दो प्रकार से है

१) नित्य २) नैमेतिक

व्युत्सर्गतप: नि:सङ्गत्व, निर्भयत्व, जीविताशा का त्याग, दोषों का उच्छेद और मोक्षमार्ग की भावना में तत्परता आदि के लिए दो प्रकार का व्युत्सर्ग तप कहा जाता है अतः दोनों प्रकार के व्युत्सर्ग अवश्य करने चाहिए। (रा वा १०)

03/12/20, 6:29 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*बाह्य - आभ्यन्तर - उपध्यो: ।।२६।।*

व्युत्सर्जन करना *व्युत्सर्ग* है । *उपधि* का अर्थ है परीग्रह ।बाह्य और आभ्यन्तर उपधि अर्थात् परिग्रह का त्याग यह दो प्रकार का व्युत्सर्ग है।

आत्मा से एकत्व को नहीं प्राप्त हुए ऐसे धन धान्य आदि बाह्य उपधि हैं ।इनका त्याग करना *बाह्य उपधि व्युत्सर्ग* है ।

क्रोधादिरूप आत्म भाव आभ्यन्तर उपधि हैं । नियत काल तक या यावज्जीवन के लिए शरीर के ममत्व का त्याग कर कायोत्सर्ग करना भी *आभ्यन्तर उपसर्ग* कहा जाता है।

व्युत्सर्ग के अनेक फल प्राप्त होते हैं , जैसे १) निस्संगता २) निर्भयता ३) जीवित आशा का परिहार ४) व्रतों में लगे हुए दोषों का उच्छेदन और ५) मोक्षमार्ग की प्रभावना ।

03/12/20, 8:39 pm - +91 92132 46272 left

04/12/20, 10:53 am - Ashok Jain: ध्यान के स्वामी, लक्षण एवं काल का कथन

*उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मूहूर्त्तात् ॥२७॥*

सूत्रार्थ: (उत्तम संहनन) उत्तम संहनन वाले के (एकाग्र चिन्ता निरोध:) चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही अर्थ में लगाना (ध्यानं) ध्यान कहलाता है। यह ध्यान (अन्तर्मूहूर्त्तात) अन्तर्मूहूर्त तक हो सकता है।

चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही अर्थ में लगाने को ध्यान कहते हैं, यह ध्यान उत्तम संहनन वाले के अन्तर्मूहूर्त तक हो सकता है।

ध्याता तीन प्रकार के होते हैं:

१) उत्तम ध्याता: उत्तम सामग्री का योग मिलने पर ध्यान करने वाले व्यक्ति में उत्तम दर्जे का ध्यान होता है। (वह उत्तम ध्याता है)

२) मध्यम ध्याता: मध्यम सामग्री के योग से मध्यम ध्यान होता है। मध्यम ध्यान वाला मध्यम ध्याता है।

३) जघन्य ध्याता: जघन्य सामग्री के योग मिलने पर जघन्य ध्यान होता है। जघन्य ध्यान वाला जघन्य ध्याता होता है। (त अ ४८-४९)

ध्यान करते समय आठ बातों का ध्यान रखना चाहिए: १) ध्याता: ध्यान करने वाला, २) ध्यान: चिंतन क्रिया, ३) ध्यान का फल: प्रयोजन निर्जरा, संवर रूप, ४) ध्येय: चिंतन योग्य पदार्थ, ५) यस्य: जिस पदार्थ का ध्यान करता है, (द्रव्य), ६) यंत्र: जहां ध्यान करता है। (क्षेत्र) ७) यदा: जिस समय ध्यान करता है। (भाव), ८) यथा: जिस रीति से ध्यान करता है। (भाव) (तत्त्वानुशासन ३७)

ध्यान करते समय योग्य द्रव्यादि:

१) द्रव्य: जो पदार्थ क्षुधा आदि से उत्पन्न हुए संक्लेश को दूर करने में समर्थ है ऐसे पदार्थ (द्रव्य) ध्यान के योग्य द्रव्य कहलाते हैं।

२) क्षेत्र: जो एकांत हो, मनोहर हो और राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली सामग्री से रहित हो, जहां न अधिक गर्मी हो, न अधिक शीत हो, जहां साधारण गर्मी-सर्दी हो अथवा समान रूप से सभी आ जा सकते हों, ऐसे गुफा, नदियों के किनारे, पर्वत के शिखर, जीर्ण उद्यान और वन आदि प्रदेश ध्यान के योग्य क्षेत्र कहे जाते हैं।

काल: जिस काल में न बहुत गर्मी न बहुत सर्दी पड़ती हो तथा जो प्राणियों को दुखदायी भी न हो ऐसा काल ध्यान के योग्य काल है।

भाव: ज्ञान, वैराग्य, धैर्य और क्षमा आदि के भाव ध्यान के भाव कहलाते हैं। (म पु २०/२०८-१०)

इस काल (समय) में शुक्ल ध्यान नहीं है, परंतु धर्म्य ध्यान है। श्री *कुन्दकुन्द स्वामी* ने मोक्ष प्राभृत में कहा है- भरत क्षेत्र में दु:षमा नामक पंचमकाल में ज्ञानी जीव के धर्म ध्यान आत्मस्वभाव में स्थित के होता है। जो यह नहीं मानता, वह अज्ञानी है। इस समय भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान स्म्यक्चारित्र रत्नत्रय से शुद्ध जीव आत्मा का ध्यान करके इन्द्र पद अथवा लौकांतिक देव पद को प्राप्त होते हैं। और वहां से चयकर नरदेह ग्रहण करके मोक्ष जाते हैं। (द्र सं टी ५७)

05/12/20, 5:48 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏🙏🙏🙏🙏

05/12/20, 8:03 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *उत्तम संहनन* तीन प्रकार के होते हैं - १) वज्रवृषभनाराच , २ ) वज्रनाराच और ३ ) नाराच । ये तीनों ही संहनन ध्यान के साधन हैं , मोक्ष का साधन एक मात्र वज्रवृषभनाराचसंहनन ही है। अपर दो संहननों से ध्यान तो हो सकता है , लेकिन मोक्ष नहीं हो सकता।सूत्र में वर्णित *उत्तमसंहननस्य* पद से ध्याता का लक्षण सूचित होता है।

सूत्र में वर्णित *एकाग्रचिन्तानिरोध* अर्थात् आत्मचिन्ता को छोड़कर अपर चिन्ता निरोध । यह पद ध्यान का लक्षण बतलाता है अर्थात् नाना पदार्थों का अवलम्बन लेने से चिन्ता परिस्पन्दवती या चंचल होती है। उसे अन्य मुखों से लौटाकर *एक अग्र* अर्थात् एक विषय में नियमित करना एकाग्रचिन्ता निरोध ध्यान कहलाता है या निश्चल अग्निशिखा के समान निश्चल रूप से अवभासमान ज्ञान ही ध्यान है।

आचार्य देव द्वारा वर्णित *अन्तर्मुहूर्तात्* पद से हमें ध्यान की अवधि का ज्ञान होता है अर्थात् ध्यान की अवधि अन्तर्मुहूर्त मात्र है। २४ मिनट की एक घटिका होती है , दो घटिका समान एक मुहूर्त होता है , जो मुहूर्त के भीतर होता है वह अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद एकाग्र चिन्ता दुर्धर होती है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के बाद एकाग्रचिन्तानिरोध नहीं होता , इसीलिए यहां ध्यान का काल अन्तर्मुहूर्त ही कहा है।

अचलत्व से प्रकाशमान यह ध्यान सभी कर्मों को भस्म कर देता है । अन्तर्मुहूर्त किया हुआ एक बार भी ध्यान घातिया कर्म को नष्ट कर केवल ज्ञान प्राप्त कराता है।

05/12/20, 4:28 pm - Ashok Jain: ध्यान के भेद

*आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि*

सूत्रार्थ: आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये ध्यान के भेद हैं।

आर्त्तध्यान: आर्त्ति का अर्थ दुःख है, दुःख असाता वेदनीय के उदय से प्राप्त विष, कण्टकादि कारणों से होता है। आर्ति-दुख में होने वाला आर्त्त कहलाता है। जिस प्रकार गीला वस्त्र धूलि को आश्रय देता है, उसी प्रकार यह आर्त्तध्यान पाप को ग्रहण करता है। (आ सा १०/१९)

आर्त्तध्यान चार प्रकार का होता है:

१) इष्ट वियोग, २) अनिष्ट संयोग, ३) वेदना, ४) निदान। (ज्ञा. २५/२४)

अथवा:

१) सभी प्रकार के अमनोज्ञ विषयों की उत्पत्ति नहीं हो, इस प्रकार बार-बार चिंतन करना।

२) किसी प्रकार के अमनोज्ञ विषय की उत्पत्ति हो गईं हो तो उसका अभाव किस प्रकार हो, ऐसा निरंतर संकल्प करना।

३) मेरे इहलोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी इष्ट विषय का वियोग न हो, ऐसा बार-बार चिंतन करना।

४) पहले उत्पन्न इष्ट विषय के वियोग के अभाव का बार-बार चिंतन करना। (हरि. ५६/१२-१७)

रौद्रध्यान: जिसका भाव अत्यंत क्रूर है तथा जिसकी दया नष्ट हो गई है, ऐसा प्राणी रूद्र कहलाता है, और रूद्र में जो हो वह रौद्र कहलाता है। जिस प्रकार गीला चमड़ा बहुत भारी धूलि का घर होता है उसी प्रकार यह रौद्र ध्यान पाप कर्मों का घर होता है।(आ सा १०/२३)

रौद्रध्यान चार प्रकार का होता है:

१) हिंसानन्द, २) मृषानन्द, ३) स्तेयानन्द ४) विषय संरक्षणानन्द

धर्मध्यान: व्रतों में दृढ़ रहना, सदाचार पालन करना और तत्त्वों का चिंतन करना धर्मध्यान का लक्षण है। (मू प्र २०४१)

जो धर्म से युक्त है वह धर्म है।(सर्वा ८४७)

शुक्लध्यान: जो निष्क्रिय है, इन्द्रियातीत है और ध्यान की धारणा रहित है अर्थात् मैं इसका ध्यान करूं ऐसी इच्छा से रहित है और जिसमें चित्त अन्तर्मुख होता है उसको शुक्लध्यान कहते हैं। (ज्ञा ४२/४)

जहां गुण अति विशुद्ध होते हैं, जहां क्रमों का क्षय और उपशम होता है, जहां लेश्या भी शुक्ल होती है उसे शुक्लध्यान कहते हैं।

बाह्य और आध्यात्मिक शुक्लध्यान के दो-दो भेद हैं।

बाह्य शुक्ल ध्यान: १) पृथक्त्व वितर्क विचार, २) एकत्व वितर्क विचार।

आध्यात्मिक/परम शुक्ल ध्यान:

१) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति, २) व्युपरत क्रियानिवृत्ति

05/12/20, 8:22 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *आर्त्त* शब्द *ऋत* अथवा *अर्ति* इनमें से किसी एक से बना है । इनमें से ऋत का अर्थ दुख है और अर्ति की *अर्दनं अर्ति:* ऐसी निरुक्ति होकर पीड़ा पहुंचाना उसका अर्थ है । अतः ऋत या अर्ति में जो होता है वह आर्त्त है । आर्त्त परिणामों में होने वाला चिन्तानिरोध *आर्त्तध्यान* है ।

*रुद्र* का अर्थ क्रूर आशय वाला प्राणी है ।रुद्र का कर्म या रुद्र में होने वाला चिन्तानिरोध *रौद्रध्यान* है।

वस्तु के स्वरूप को *धर्म* कहते हैं।जो धर्म से युक्त होता है उसे *धर्म्य* कहते हैं। धर्म्यरूप परिणामों में चिनृतानिरोध *धर्म्यध्यान* कहलाता है।

जो कषाय रहित जीव के परिणामों में उत्पन्न होता है , वह शुक्ल है । शुक्ल परिणामों में चिंतारहित हो जाना *शुक्लध्यान* है।

चार प्रकार के ध्यानों में आर्त्त और रौद्र ध्यान को अप्रशस्त तथा धर्म्य और शुक्लध्यान को प्रशस्त ध्यान कहते हैं।

पापास्त्रव के कारण होने से आर्त्त रौद्र ध्यानों को अप्रशस्त ध्यान कहते हैं।कर्म कलंक को क्षय करने में समर्थ होने से धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान को प्रशस्त ध्यान कहते हैं।

05/12/20, 9:08 pm - You added Anupam KL

06/12/20, 9:41 am - Ashok Jain: *सूत्र॥२८॥*

ये ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त के नाम से भी जाना जाते हैं।

06/12/20, 9:47 am - Ashok Jain: प्रशस्त ध्यानों का फल

*परे मोक्षहेतू॥२९॥*

सूत्रार्थ: (परे) पीछे के दो ध्यान १) धर्मध्यान और २) शुक्लध्यान (मोक्षहेतू) मोक्ष के हेतु है।

पीछे के दो ध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु (कारण) है।

06/12/20, 11:15 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): २८ वें सूत्र में जिन चार प्रकार के ध्यान का वर्णन किया गया था उनमें से *पर* अर्थात् अंत के दो ध्यान *मोक्ष* के हेतु हैं - यह देशना आचार्य देव २९ सूत्र के माध्यम से दे रहे हैं।

परम शुक्लध्यान साक्षात् उसी भव में मोक्ष का कारण है , जबकि धर्म्यध्यान को गौण रूप से , उपचार से मोक्ष का कारण कहते हैं।

धर्म्य और मोक्ष , ये दो ध्यान मोक्ष के कारण होते हैं। *पर* का अर्थ यहां अन्तिम शुक्ल ध्यान है और उसका समीपवर्ती होने से धर्म्य ध्यान भी पर है , ऐसा उपचार किया जाता है। सूत्र में *परे* द्विवचन है , इसलिए उसकी सामर्थ्य से गौण का भी ग्रहण हो जाता है ।अतः धर्म्यध्यान भी मोक्ष का हेतु है।

धर्म्य - शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु हैं तथा आर्त्त - रौद्र ध्यान संसार के हेतु हैं क्योंकि मोक्ष और संसार के सिवाय तीसरा कोई साध्य है ही नहीं।

07/12/20, 10:34 am - Ashok Jain: प्रथम आर्त्तध्यान- अनिष्ट संयोग

*आर्त्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार:॥३०॥*

सूत्रार्थ: (अमनोज्ञस्य) अप्रिय पदार्थों का (सम्प्रयोगे) संयोग होने पर (तद्विप्रयोगाय) उनका वियोग करने के लिए (स्मृति समन्वाहार:) निरंतर चिंतन करना (आर्त्त) आर्त्तध्यान है।

अर्थ : अमनोज्ञ वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग के लिए निरंतर चिंतन करना आर्त्तध्यान है।

समन्वाहार: स्मृति को दूसरे पदार्थ की और न जाने देकर बार-बार उसी में लगाये रखना समन्वाहार है।

अमनोज्ञ: दुखों के कारणों को अमनोज्ञ कहते हैं। (चा सा २२५)

बाह्य अमनोज्ञ: चेतन और अचेतन

अभ्यन्तर अमनोज्ञ: शारीरिक और मानसिक

अनिष्ट संयोग: उपर्युक्त चार प्रकार के अमनोज्ञों का सम्बन्ध मेरे साथ उत्पन्न न हो, इस प्रकार संकल्प का बार-बार चिंतन करना और वह भी तीव्र कषायों के सम्बन्ध से चिन्तन करना अमनोज्ञ पदार्थ के साथ सम्बन्ध उत्पन्न न होने के संकल्प का चिंतन (अमनोज्ञ संयोग) नाम का पहला आर्त्तध्यान है। (चा सा २२५)

08/12/20, 6:06 am - +91 95609 10261 joined using this group's invite link

08/12/20, 10:03 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): This message was deleted

08/12/20, 10:04 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*आर्त्तम् - अमनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद् - विप्रयोगाय स्मृति - समन्वाहारः।।३०।।*

अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त  होने पर ; उसके वियोग के लिए चिन्ता सातत्यता का होना , प्रथम आर्त्ध्यान है ।

विष , कण्टक , शत्रु , शस्त्र आदि अप्रिय पदार्थ बाधा पहुंचाने वाले होने के कारण *अमनोज्ञ* कहे जाते हैं।

कुत्सित रूप , दुर्गन्धयुक्त शरीर ,सर्प आदि चेतन अमनोज्ञ तथा शस्त्र , विष , कण्टक आदि अचेतन अमनोज्ञ पदार्थ हैं।

चिन्ता के अन्य विकल्पों से हटकर बार बार उसी चिन्ता में लगे रहना *स्मृति समन्वाहार* है।

अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर *इनका मेरे से विनाश या वियोग कब होगा या ये मेरे से कब अलग होंगे* ऐसे अशुभ परिणाम सतत होते रहते हैं जो पहला *अनिष्ट संयोगज आर्त्त ध्यान* है ।

08/12/20, 8:52 pm - +91 76194 64330 left

09/12/20, 10:19 am - Ashok Jain: दूसरा आर्त्तध्यान: इष्टवियोग

*विपरीतं मनोज्ञस्य ॥३१॥*

सूत्रार्थ: मनोज्ञ वस्तु का वियोग हो जाने पर उसके संयोग के लिए बार-बार चिंतन करना (इष्टवियोग) आर्त्तध्यान है।

विपरीत: पूर्व में कहे हुए सूत्र से विपरीत, इससे यह तात्पर्य निकलता है कि मनो इष्ट अपने पुत्र, स्त्री और धन आदि का वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिए संकल्प, निरंतर चिन्ता करना दूसरा आर्त्तध्यान जानना चाहिए। (सर्वा ८८०)

इष्टवियोग आर्त्तध्यान: इष्ट पुत्र, स्त्री राज्य, भाई आदि मनोज्ञ पदार्थों का वियोग होने पर लोभी पुरुष जो मन में क्लेश उत्पन्न कर उनके संयोग का प्रतिदिन बार-बार चिंतन करते हैं उसको इष्टवियोगज नाम का दूसरा आर्त्तध्यान कहते हैं। (मू प्र २००८-९)

09/12/20, 7:42 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पूर्व के सूत्र में यह समझाया गया था कि अमनोज्ञ पदार्थ या अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर  किस प्रकार उनसे छुटकारा पाया जा  सके , इसी का बार बार ध्यान करना अनिष्ट संयोगज आर्त्त ध्यान है , इस सूत्र में आचार्य देव कह रहे हैं कि इससे विपरीत अर्थात् जो मनोज्ञ पदार्थ हैं , जो हमारे चित्त को रुचिकर लगते हैं - उनका ( संयोग के विपरीत ) वियोग होने पर जो विपरीत चिन्तन या विपरीत ध्यान होता है वह दूसरा *इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान* है।

09/12/20, 7:45 pm - +91 94052 36969 left

09/12/20, 7:46 pm - +91 97400 30700 left

09/12/20, 8:04 pm - +91 98271 95101 left

10/12/20, 10:11 am - Ashok Jain: तीसरा आर्त्तध्यान: पीड़ा चिंतन

*वेदनायाश्च ॥३२॥*

सूत्रार्थ: (वेदनाया:च) शारीरिक वेदना होने पर उसकी निवृत्ति के लिए चिन्तन करना पीड़ा चिंतन आर्त्तध्यान है।

वेदना: प्रकरण से दुःख वेदना का बोध है। यद्यपि वेदना शब्द सुख-दुख के अनुभव करने के विषय में सामान्य है तथापि यहां पर आर्त्तध्यान का प्रकरण होने से दुख से वेदना का अवबोध होता है। (रा वा १)

वेदना आर्त्तध्यान: वात-पित्त-कफ के प्रकोप से उत्पन्न हुए, शरीर को नाश करने वाले, वीर्य से प्रबल और क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले कास-श्वास, भगंदर, जलोदर, जरा-कोढ़, अतिसार, ज्वारादिक रोगों से मनुष्यों को जो व्याकुलता होती है उसे अनिंदित पुरुषों ने रोग-पीड़ा चिंतन नाम का आर्त्तध्यान कहा है। यह ध्यान दुर्निवार और दुखों का आकार है, जो कि आगामी काल में पापबन्ध का कारण है। जीवों के ऐसी चिंता हो कि मेरे किंचित भी रोग की उत्पत्ति स्वप्न में भी न हो ऐसा चिंतन करना तीसरा आर्त्तध्यान है। (ज्ञा २५/३२-३३)

यह वेदना जन्य तीसरा आर्त्तध्यान अङ्गविक्षेप, शोक, आक्रंदन और अश्रुपात से अभिव्यक्त होता है। (रा वा २)

11/12/20, 8:01 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सूत्र में वर्णित *चकार* यह सूचित करता है कि अमनोज्ञ या मनोज्ञ के संयोग - वियोग के अलावा  *वेदना* में भी विपरीत ध्यान होता है।

सुख - दुख का वेदन करना *वेदना* है।दुख रूपी वेदना से आर्त्तध्यान होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर में वात आदि विकार जन्य वेदना के होने पर उसके अभाव के लिए निरन्तर चिन्ता करना वेदना जनित आर्त्तध्यान है ।

वेदना से पीड़ित कायर पुरुष आकुल व्याकुल होकर *यह वेदना केसे दूर होगी* , यही चिन्तन बार बार करता है , हाथ पैर पटकता है , चिल्लाता है , रोता है , आंसू बहाते हुए विलाप करता है *हाय , मेरे तीव्र पाप का उदय है ।यह वेदना मुझे बहुत दुख दे रही है , इससे कैसे छुटकारा मिलेगा* इत्यादि विपरीत  परिणामों में ही वह डूबा रहता है।

11/12/20, 10:33 am - Ashok Jain: चौथा आर्त्तध्यान: निदान

*निदानं च॥३३॥*

निदान भी आर्त्तध्यान है।

धरणीन्द्र के सेवने योग्य तो भोग और तीन भुवन को जीतने वाली रूप-साम्राज्य की लक्ष्मी तथा क्षीण हो गये हैं शत्रुओं के समूह जिसमें ऐसा राज्य और देवांगनाओं के नृत्य की लीला को जीतने वाली स्त्री इत्यादि और भी आनन्द रूप वस्तुएं "मेरी कैसे हों" इस प्रकार के चिंतन को, परम गुणों को धारण करने वालों ने *भोगार्त्त नामा चौथा आर्त्तध्यान* कहा है। जो प्राणी पुण्याचरण के समूह से तीर्थंकर के अथवा देवों के पद की वांछा करे अथवा उन्हीं पुण्याचरणों से अत्यंत कोप के कारण शत्रु समूह रूपी वृक्षों को उच्छेदने की वांक्षा करे तथा उन विकल्पों से अपनी पूजा प्रतिष्ठा लाभादिक की याचना करे, उसको निदानजनित आर्त्तध्यान कहते हैं। मनुष्यों के इष्ट भोगादिक की सिद्धि के लिए तथा शत्रु के घात के लिए जो निदान हो, सो चौथा आर्त्तध्यान है। (ज्ञा. २५/३४-३६)

उपरोक्त चारों आर्त्तध्यान का फल:

ये ध्यान अज्ञानमूलक, तीव्र पुरुषार्थ जन्य, पापप्रयोगाधिष्ठान, परिभोगप्रसंग, नाना संकल्पों से आकुलित, विषयतृष्णा से परिव्याप्त, धर्माश्रयी के परित्यागी, कषायस्थानों से युक्त, अशान्तिवर्धक, प्रमाद के कारण, अप्रशस्त कर्म के हेतु, कटु फल देने वाले, असातावेदनीय के बन्धक और तिर्यञ्चगति में ले जाने वाले हैं। (रा वा उ १)

11/12/20, 8:07 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पूर्व के सूत्र की तरह इस सूत्र का *चकार* भी यह बतलाता है कि केवल इष्टवियोगज , अनिष्टसंयोगज , पीडा चिन्तन ही आर्त्तध्यान नहीं है , *निदान* नामक चौथा आर्त्तध्यान भी है।

अनागत भोगों की वाञ्छा को *निदान* कहते हैं। भोगों की आकांक्षा के प्रति आतुर हुए व्यक्ति के आगामी विषयों की प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता करना निदान नामका आर्त्तध्यान है।

11/12/20, 9:55 pm - +91 95278 46326 left

12/12/20, 9:56 am - Ashok Jain: आर्त्तध्यान के स्वामी

*तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्॥३४॥*

सूत्रार्थ: (तत्) वह आर्त्तध्यान (अविरत देशविरत प्रमत्तसंयतानां) अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयतों के होता है।

यह आर्त्तध्यान उत्कृष्टता से पहले गुणस्थान में होता है, प्रमत्त नाम के छठे गुणस्थान में जघन्य होता है और शेष गुणस्थानों में मध्यम होता है। (मू प्र २०१९)

आर्त्तध्यान असंयत सम्यग्दृष्टि पर्यंत (पहले से चौथे गुणस्थान तक), देशविरत के और पन्द्रह प्रमाद सहित क्रिया का अनुष्ठान करने वाले प्रमतसंयतों के होते हैं। (रा वा १)

अवीरत एवं देशविरत जीवों के चारों ही प्रकार का आर्त्तध्यान होता है, क्योंकि असंयम रूप परिणाम से युक्त होते हैं। (सर्वा ८८६)

प्रमत्तसंयत के निदान नामक आर्त्तध्यान नहीं होता क्योंकि निदान शल्य होने से व्रतों की घातक है। (रा वा १)

12/12/20, 9:00 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): जिसके व्रत नहीं हैं , वे जीव *अविरत* हैं।मिथ्यादृष्टि , सासादन , मिश्र और असंयत समृयग्दृष्टि इन चार गुणस्थान के जीवों को अविरत कहते हैं।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक *देशविरत* कहलाता है।

चारित्र का अनुष्ठान करने वाले प्रमादयुक्त मुनिगण *प्रमत्तसंयत* कहलाते हैं।

मिथ्यात्व , सासादन , मिश्र , असंयत , देशसंयत , प्रमत्तसंयत - इन छह गुणस्थानों में आर्त्तध्यान होता है। फिर भी इन गुणस्थानों में होने वाले आर्त्तध्यानों में कुछ विशेषता हैं । अविरत देशविरत जीवों के अर्थात् पहले से चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों के चारों प्रकार का आर्त्तध्यान होता है क्योंकि ये जीव असंयत रूप परिणामों से युक्त होते हैं। प्रमत्तसंयत मुनियों के निदान को छोङकर बाकी के तीन आर्त्तध्यान प्रमाद की तीव्रतावश कदाचित होते हैं।

पुराण ग्रन्थों में मुनियों के निदान करने का उल्लेख कदाचित पाया जाता है , लेकिन इन उदाहरणों से हमें यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि प्रमत्तसंयत मुनियों ने निदान किया । भावलिंगी साधुओं के आगामी भोगों की इच्छा होती ही नहीं है और यदि कदाचित होती है तो उस समय से वे भावलिंगी नहीं रहते , ऐसा अर्थ लेना चाहिए।

14/12/20, 10:38 am - Ashok Jain: रौद्रध्यान के भेद और स्वामी

*हिंसानृतस्तेयविषयसंरेक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयो:॥३५॥*

सूत्रार्थ: (हिंसानृतस्तेयसंरक्षेणभ्य:) हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह का संरक्षण ये (रौद्रं) रौद्रध्यान है। यहि (अविरत-देशविरतयो:) अविरत और देशविरत गुणस्थान में होता है।

हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द ये रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं, यह रौद्रध्यान अविरत गुणस्थान और देशविरत गुणस्थान में होता है।

हिंसानन्द रौद्रध्यान: जीवों को भेदना, छेदना, विदारण तथा प्राणहरण आदि दुखोत्पत्ति के कारणों से एवं इसी प्रकार के अन्य भयंकर कारणों से हिंसा में रूचि होना हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है। (आ सा १०/२०)

क्रूर होना, हिंसा के उपकरण तलवार आदि को धारण करना, हिंसा की कथा करना, और स्वभाव से ही हिंसक होना ये हिंसानन्द रौद्रध्यान के चिन्ह हैं। (म पु २१/४९)

मृषानन्द रौद्रध्यान: जो मनुष्य असत्य कल्पनाओं के समूह पापरूप मैल से मलिनचित होकर जो कुछ मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा करे उसे निश्चय करके "मृषानन्द रौद्रध्यान" कहते हैं।

जो ज्ञानरहित मूर्ख प्राणी है, इनको ऊंचे चतुराई के वचनों से अभी ठग लेता हूं, मैं ऐसा चतुर हूं। तथा ये प्राणी मेरी प्रवीणता से बड़े अकार्यों में प्रवतेंगे ही, इसमें कुछ संदेह नहीं है इस प्रकार विचार करना रौद्रध्यान है। इस प्रकार अन्य अनेक प्रकार के असत्य संकल्पों से जो प्रमाद उत्पन्न हो उसे पुरातन पुरुषों ने रौद्रध्यान कहा है। (ज्ञा २६/१६-२३)

चौर्यानन्द रौद्रध्यान: जो चोरी के कार्यों की अधिकता तथा चौर्यक्रम में चतुरता तथा चोरी के कार्यों में ही तत्परचित हो वह चौर्यानन्द नामा रौद्रध्यान है। जीवों के चौर्यक्रम के लिए निरंतर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चोरी कर्म करके भी निरंतर अतुल हर्ष माने, उसे निपुण पुरुष चौर्यक्रम से उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं। इस धारित्रि में लोगों के धन अलभ्य है तथा बहुत काल के संचित किए हुए हैं, तो भी मैं बड़े-बड़े सुभटों की सेना की सहायता से तथा अनेक उपायों से तत्काल ही हर लूंगा ऐसा चोर हूं। पर के द्विपद-चौपद में जो उत्तम है तथा धन, ध्यान्य, श्रेष्ठ स्त्री सहित अन्य कु जो वस्तुएं हैं, सो मेरे चोरी कर्म की सामर्थ्य से मेरे ही स्वाधीन है, इस प्रकार चोरी में जीवों के द्वारा जो अनेक प्रकार की वांछा की जाय वह चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। (ज्ञा (२६/२४-२८)

परिग्रहानन्द रौद्रध्यान: यदि मेरा द्रव्य कोई चुरायेगा तो मैं उसे मार डालूंगा, इस प्रकार से आयुध को हाथ में लेकर मारने का अभिप्राय करना परिग्रह संरक्षण रौद्रध्यान है। (मू आ ३९६)

'ये पदार्थ, यह राज्य, यह सेना, यह स्त्री और यह सम्पति सब मेरी है, जो दुरात्मा इसका हरण करेगा उसे मैं अपने पुरुषार्थ से मारूंगा' इस प्रकार दुर्बुद्धि लोग अपने पदार्थों की रक्षा करने के लिए अपने हृदय में संकल्प करते हैं, वह सब विषयसंरक्षणानन्द नाम का रौद्रध्यान है। (मू प्र ३०३१-३२)

ये रौद्रध्यान अविरत अर्थात् प्रथमगुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक तथा देशविरत अर्थात् पंचम गुणस्थान में भी होता है। (त सू ३५)

ये रौद्रध्यान पहले गुणस्थान में उत्कृष्ट और पंचम गुणस्थान में जघन्य होता है और दूसरे-तीसरे-चौथे में मध्यम होता है। (मू प्र २०३६-३८)

पांचवें गुणस्थान में हिंसादि के आवेश में और परिग्रह आदि के संरक्षण के कारण देशविरत के कभी-कभी रौद्रध्यान होता है। परंतु यह देशविरत का रौद्रध्यान सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से नरकगति आदि का कारण नहीं होता है। (रा वा ३)

15/12/20, 8:51 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): १ ) हिंसा - जीवों की विराधना ,

२) अनृत - असत्यभाषण ,

३) स्तेय परद्रव्य अपहरण ,

४) विषय संरक्षण - पञ्चेन्द्रिय विषय संबंधी भोगोपभोग सामग्री का परिपालन , उनके संरक्षण का प्रयत्न

इन चार कारणों से रौद्र ध्यान उत्पन्न होता है।

दूसरे जीवों का प्राणघात कर या दूसरों को दुखी कर आनंद मनाना *ह़िसानन्द रौद्रध्यान* है।

झूठ बोलकर आनन्द मनाना *मृषानन्द रौद्रध्यान* है।

दूसरे की वस्तु का अपहरण कर आनंद मनाना *चौर्यानन्द रौद्रध्यान* है।

परिग्रह संचय करके या विषय भोगों की वस्तुओं के संरक्षण में आनंद मनाना *परिग्रहानंद रौद्रध्यान है।

आर्त्तध्यान का फल तिर्यंचगति तथा रौद्रध्यान का फल नरक गति है।

15/12/20, 10:48 am - Ashok Jain: धर्मध्यान के भेद

*आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्॥३६॥*

सूत्रार्थ: आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, ये धर्मध्यान के चार भेद हैं।

आज्ञाविचय: इस काल में उपदेष्टा का अभाव है, बुद्धि मंद है, कर्मों का उदय तीव्र है, पदार्थ सूक्ष्म हैं, उन सूक्ष्म पदार्थों की सिद्धि के लिए हेतु और दृष्टांत मिलते नहीं है, अतः सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण मानकर 'यह ऐसा ही है, जिनेन्द्र अन्यथावादी नहीं हो सकते' इस प्रकार गहन पदार्थों का श्रद्धान करके अवधारणा करना, उन पर विश्वास करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। (रा वा ४)

यह ध्यान मिथ्या नयों के समूह से रहित है तथा सम्यग्ज्ञान का पवित्र उदय करने वाला है अथवा सम्यग्ज्ञान के द्वारा इसका उदय होता है।

अपाय विचय धर्मध्यान: अनेक दुखों का समुद्र ऐसे इस अनादि संसार में मैं तथा अन्य जीव अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण कर रहे हैं इसलिए ध्यान से अथवा तपश्चरण से मेरे अथवा अन्य जीवों के मन-वचन-काय से उत्पन्न होने वाले अशुभ कर्म शीघ्रता के साथ कब नष्ट होंगे इस प्रकार का चिंतन करना अपायविचय धर्मध्यान है। (मू प्र २०४६-४७)

विपाक विचय धर्मध्यान: ज्ञानावरणदि आठ प्रकार के कर्मों के द्रव्य-क्षेत्र-काल भव और भाव के कारण होने वाले फलानुभव का विचार करना विपाक विचय धर्मध्यान है। (रा वा ८)

संस्थान विचय धर्मध्यान: लोक के अवयव द्वीप, समुद्र, आदि के स्वभाव का चिंतन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है। (रा वा १०)

16/12/20, 9:17 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य देव ने इस सूत्र के माध्यम से मोक्ष के कारण भूत प्रथम धर्म्यध्यान के प्रकार , लक्षण और स्वामित्व आदि का निर्देश करने के लिए सर्वप्रथम धर्म्यध्यान के भेदों का निरूपण किया है।

विचयन करना *विचय* है। विचय , विवेक और विचारणा - ये पर्यायवाची शब्द हैं । इस सूत्र के साथ ३० वें सूत्र में वर्णित *स्मृतिसमन्वाहार* पद की अनुवृत्ति होती है जिसका प्रत्येक भेदों के साथ संबंध है । चिन्तन को स्मृतिसमन्वाहार कहते हैं। प्रश्न उठता है - किसका चिन्तन ? जिसका उत्तर हमें सूत्र द्वारा मिलता है

१) उपदेश देने वाले उपदेष्टा का अभाव होने से सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण करके उनकी आज्ञा का चिन्तन करना , उसी का ध्यान करना , जिनेन्द्र देव अन्यथावादी नहीं हो सकते - ऐसे गहन श्रद्धा द्वारा अर्थ को धारण करना *आज्ञाविचय धर्म्यध्यान* है।

२) मिथ्यादृष्टि पुरुष जन्मान्ध व्यक्ति की तरह जिनेन्द्र देव द्वारा बताये मार्ग से विमुख होते हैं , ये प्राणी मिथ्यात्व से कैसे रहित होंगे , इस प्रकार का निरंतर चिंतन करना *अपायविचय धर्मध्यान* है ।

३) ज्ञानावरण आदि कर्मों के द्रव्य , क्षेत्र , काल , भव और भाव निमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना *विपाकविचय धर्म्यध्यान* है।

४) तीन लोक के आकार और स्वभाव का निरंतर चिंतन करना या तीन सौ तैंतालीस राजू प्रमाण तीन लोक में जीव ने कहां कहां भ्रमण किया ? कैसे घोर दुख सहन किये ? ऐसा चिन्तन करना *संस्थान विचय धर्म्यध्यान* है ।

उत्तम क्षमा , मार्दव , आर्जव , शौच , सत्य , संयम , तप , त्याग , आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य - दशलक्षणमय धर्म है। निज शुद्ध , बुद्ध , एकस्वभाव रूप आत्मभावना लक्षण धर्म है , प्राणियों की रक्षा रूप अहिंसा परम धर्म है । इन लक्षणों से युक्त ध्यान *धर्म्यध्यान* है जिसके चार भेद बताये गये।

*आज्ञाविचय* तत्त्वनिष्ठा में सहायक होता है , *अपायविचय* संसार , शरीर और भोगों से विरक्ति उत्पन्न करता है , *विपाकविचय* से कर्मफल और उसके कारणों की विचित्रता का ज्ञान दृढ़ होता है तथा *संस्थानविचय* से लोक की स्थिति का ज्ञान होता है।

ये चारों प्रकार के ध्यान अविरत, देशविरत , प्रमत्त संयत और अप्रमत्तसंयत के होते हैं। अप्रमत्तसंयत मुनि के साक्षात् धर्म्यध्यान होता है जबकि अविरत , देशसंयत और प्रमत्तसंयत जीवों के गौण वृत्ति से धर्म्यध्यान होता है।

16/12/20, 10:42 am - Ashok Jain: दो शुक्ल ध्यानों के स्वामी

*शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः॥३७॥*

सूत्रार्थ: (शुक्ल-च-आद्ये) आदि के शुक्ल ध्यान (पूर्व-विदः) पूर्वविद् के होते हैं।

पूर्वविद् : आदि के दो शुक्ल ध्यान धारण करने का सामर्थ्य सकल श्रुत के धारी के है, अन्य के नहीं।

च: पूर्व कथित धर्मध्यान के समुच्चय के लिए 'च' शब्द का उल्लेख किया है कि पूर्वविद् के आदि के पृथक वितर्क विचार और एकत्व वितर्क विचार ये दो ध्यान होते हैं और धर्मध्यान भी होता है।

'च' शब्द से धर्मध्यान को ग्रहण करने पर विषय के भेद का अभाव नहीं होता, क्योंकि धर्मध्यान श्रेणी आरोहण के पहले होता है तथा श्रेण्यारोहण काल में शुक्ल ध्यान होता है। यह बात व्याख्यान से ज्ञात हो जाती है। (रा वा ३)

16/12/20, 9:08 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आचार्य देव आगे शुक्लध्यान के भेदों के बारे में बतलायेंगे , जिनमें प्रथम दो शुक्लध्यान पृथकत्ववितर्कविचार और एकत्व वितर्क विचार *पूर्वविद्* अर्थात् श्रुतकेवली के होते हैं। श्रेणी आरोहण के पहले धर्म्यध्यान होता है तथा दोनों श्रेणियों में आदि के शुक्लध्यान होता है।

सकल श्रुतधारी के अपूर्वकरणगुणस्थान के पहले अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थान तक धर्म्यध्यान होता है तथा अपूर्वकरण , अनिवृत्तिकरण , सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्त कषाय - इन चार गुणस्थानों में पृथकत्व विचार नामक प्रथम शुक्लध्यान होता है तथा क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में एकत्व वितर्क नामक दूसरा शुक्लध्यान होता है।

17/12/20, 10:51 am - Ashok Jain: अंतिम दो शुक्ल ध्यानों के स्वामी

*परे केवलिनः॥३८॥*

सूत्रार्थ: (परे) अन्तिम के दो शुक्ल ध्यान में (केवलिनः) केवलज्ञानी के होते हैं।

यदि आदि के दो शुक्ल ध्यान उपशांत- कषायी और क्षीण मोह के नियम से होते हैं तो शेष दो शुक्ल ध्यान किसके होते है, इसके उत्तर में यह सूत्र कहा गया है। (रा वा ३७ उ)

केवली: इस केवली शब्द से अचिंत्य विभूति रूप केवलज्ञान साम्राज्य का अनुभव करने वाले सयोग केवली और अयोग केवली इन दोनों का ग्रहण करना चाहिए। (रा वा १)

सयोग केवली भगवान के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ध्यान होता है और अयोग केवली भगवान के व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान होता है। (सर्वा ८९४)

18/12/20, 9:09 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *परे* अर्थात् अन्त के दो सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ति नामक दो शुक्ल ध्यान , जिनको सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म का अभाव होने से केवलज्ञान की उत्पत्ति हो गयी है ऐसे सयोगकेवली , अयोगकेवली के होता है , ऐसा अनुक्रम से लगाना चाहिए।

यहां सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान सयोगकेवली के होता है तथा व्युपरतक्रियानिवर्ति अयोगकेवली के होता है, यह अनुक्रम है।

18/12/20, 1:57 pm - Ashok Jain: शुक्लध्यानों के नाम

*पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरत-क्रियानिवर्तीनि॥३९॥*

सूत्रार्थ: पृथकत्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती, और व्युपरतक्रियानिवृत्ति ये चार शुक्ल ध्यान हैं।

पृथकत्व वितर्क शुक्लध्यान: पृथकत्व वितर्क वीचार ध्यान में अनेक द्रव्यों का वा अनेक प्रकार के द्रव्यों का ध्यान होता है। मन, वचन, काय तीनों योगों से होता है इसलिए इसे *पृथकत्व* कहते हैं। *वितर्क* का अर्थ श्रुतज्ञान है। इस ध्यान को नौ, दस या चौदह पूर्व को जानने वाला ही प्रारम्भ करता है। अर्थ, शब्द और योगों के संक्रमण को *वीचार* कहते हैं। इस ध्यान में शब्दों से शब्दान्तर, योग से योगान्तर और अर्थ से अर्थान्तर का चिंतन होता है। इसलिए *सवीचार* है। आत्मा को जानने वाले मुनिराज पृथकत्व वितर्क और वीचार के साथ-साथ ध्यान करते हैं, उसको 'पृथकत्व वितर्क वीचार' नामक शुक्लध्यान कहते हैं। (मू प्र २०८०-८१)

एकत्व वितर्क शुक्लध्यान: मोहनीय कर्म को क्षय करने वाले जो मुनिराज शब्द, अर्थ और योग के संक्रमण से रहित नौ, दस वा चौदह पूर्व श्रुतज्ञान के साथ-साथ किसी एक ही द्रव्य का निश्चल ध्यान करते हैं उसको 'एकत्ववितर्क अवीचार' नाम का शुक्ल ध्यान होता है। (मू प्र २०८२)

यह अंतिम शुक्ल ध्यान वितर्क रहित है, वीचार रहित है, अनिवृत्ति है, क्रिया रहित है, शैलेशी अवस्था को प्राप्त है और योग रहित है। (ध १६/८७)

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती: जिस समय सयोग केवली भगवान अत्यंत सूक्ष्म काय योग में निश्चल विराजमान होते हैं उस समय उनके निश्चल होने को उपचार से ध्यान कहते हैं, यह तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान है। (आ सा)

तृतीय शुक्ल ध्यान में कृष्टिगत क्रिया सूक्ष्म रह जाती है तथा काय योग भी सूक्ष्म हो जाती है, इसलिए यह सूक्ष्म क्रिया कहलाता है, इसके सिवाय यह अप्रतिपाति अविनाशी होता है, इस तरह उसका सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम सार्थक है। (आ सा १०/५२)

व्युपरत क्रियानिवृत्ति: अयोग केवली भगवान क्रिया रहित और योग रहित होकर जिस ध्यान से मोक्ष-पद प्राप्त करते हैं उसको व्युपरत क्रियानिवृत्ति नाम का शुक्ल ध्यान कहते हैं। (मू प्र २०८४)

19/12/20, 9:57 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पृथक् पृथक् अर्थ , व्यञ्जन , योग की संक्रान्ति और श्रुत जिसका आधार है ,वह *पृथकत्ववितर्क शुक्लध्यान* होता है।

जो शुक्लध्यान तीनों योगों में से किसी एक योग के साथ होता है तथा अर्थ , व्यञ्जन योग की संक्रान्ति से रहित है वह *एकत्व वितर्क शुक्लध्यान* है।

सूक्ष्मकाययोग का अवलंबन लेकर केवली जिन के जो ध्यान होता है वह *सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती* है।

जिस ध्यान में सर्व मन - वचन - काय संबंधी क्रियाओं का निरोध होता है उसे *समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति* या *व्युपरतक्रियानिवर्ती ध्यान* कहते हैं।

परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित *तत्त्वार्थ सूत्र* की प्रश्नोत्तरी टीका से।

19/12/20, 11:00 am - Ashok Jain: चारों शुक्ल ध्यानों के अवलम्बन

*त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम् ॥४०॥*

सूत्रार्थ: प्रथम शुक्लध्यान (त्रि) (योग) तीनों योगों से, दूसरा शुक्लध्यान (एक-योग) एक योग से, तीसरा शुक्लध्यान (काययोग) काय योग से तथा चौथा शुक्लध्यान (अयोगानाम्) अयोगियों के होता है।

तीन योग वालों के पहला पृथकत्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान, तीनों में से किसी एक योग वाले के दूसरा शुक्लध्यान एकत्व वितर्क शुक्लध्यान, काययोग के तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान एवं अयोगी के चौथा व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक शुक्लध्यान होता है। (रा वा २)

20/12/20, 10:38 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): मन - वचन - काय के अवलंबन से आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन या कंपन *त्रियोग* कहलाता है।

मन - वचन - काय तीन रूप के मध्य में से किसी एक योग के द्वारा आत्मप्रदेशों का जो कम्पन होता है उसे एक योग कहते हैं।

काययोग के अवलंबन से आत्मप्रदेशों का अवलंबन *काययोग* है तथा *अयोग* का अर्थ *अयोगकेवली* है।

आचार्य महाराज कह रहे हैं कि १) तीन योगों वालों के प्रथम *पृथकत्ववितर्कवीचार* नामक शुक्ल ध्यान होता है।

२) मन - वचन - काय रूप तीन योग के मध्य किसी एक योग वाले के दूसरा *एकत्ववितर्कवीचार* शुक्लध्यान होता है।

३ ) काययोग वाले के *सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती* शुक्लध्यान होता है ।

४ ) *व्युपरतक्रियानिवर्ति* शुक्ल ध्यान किसी भी योग के आश्रय से नहीं होता है अर्थात् अयोगकेवली के होता है।

20/12/20, 10:51 am - Ashok Jain: पहले शुक्ल ध्यान की विशेषता

*एकाश्रये सवितर्कवीचार पूर्वे ॥४१॥*

सूत्रार्थ: (पूर्वे) पूर्व के दो शुक्ल ध्यान (एकाश्रये) एक आश्रय (सवितर्क वीचार) वितर्क सहित और वीचार सहित होते हैं।

पहले के दो शुक्ल ध्यान एक आश्रय से होते हैं और वितर्क तथा वीचार सहित होते हैं।

आश्रय: ये दोनों (पृथकत्व वितर्क वीचार और एकत्व वितर्क अविचार) शुक्ल ध्यान श्रुत केवली के द्वारा प्रारम्भ किए जाते हैं अतः दोनों का आश्रय एक ही है। (रा वा १)

जिसने सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त कर लिया है उसके द्वारा ही ये दो ध्यान प्रारम्भ किये जाते हैं। (सर्वा ९००)

20/12/20, 10:16 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): आदि के दो शुक्ल ध्यान एक श्रुत ज्ञान के आश्रय होते हैं अर्थात् एक अद्वितीय परिपूर्ण श्रुतज्ञान वाला पुरुष ही दोनों का आश्रय है , अतः *एकाश्रय* है

अथवा

पूर्व के दोनों शुक्लध्यान श्रुतकेवली द्वारा आरंभ किये जाते हैं , अतः दोनों का आश्रय एक होने से एकाश्रय कहते हैं अर्थात् इन दोनों ही ध्यानों का एक ही प्रकार का सकल श्रुतकेवली स्वामी है।

जो वितर्क और वीचार सहित होता है वह *सवितर्क सवीचार* कहलाता है ।पृथकत्व भी वीचार सहित है और एकत्व भी वीचार सहित है । अतः पृथकत्ववितर्क , एकत्ववितर्क कहलाते हैं । पृथकत्व भी वीचार सहित है तथा और एकत्व भी वीचार सहित है , अतः *पृथकत्ववितर्कवीचार* प्रथम शुक्लध्यान है और *एकत्ववितर्कवीचार* द्वितीय शुक्लध्यान है , यह *पूर्वे* पद से स्पष्ट होता है।

20/12/20, 11:53 pm - Tushar Kothari Dayoday left

21/12/20, 9:39 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): एक प्रश्न आया है

🙏सादर जय जिनेंद्र और शुभ प्रभात भैया जी.... मेरी जिज्ञासा इस प्रश्न को लेकर है कि *योग संक्रांति*.. किसे कहते हैं? इस की व्याख्या क्या है? कृपया इस शंका का समाधान करें..... 🙏....

........ *जय जिनेन्द्र*

आपके प्रश्न का उत्तर ४४ वें सूत्र में आने वाला है।

मन , वचन , काय योगों का परिवर्तन योग सङ्क्रान्ति है।काययोग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करना और दूसरे योग को छोड़कर काय योग को स्वीकार करना , यह योग सङ्क्रान्ति है।

21/12/20, 11:18 am - Ashok Jain: इसमें विशेष कहते हैं

*अवीचारं द्वितीयम्॥४२॥*

सूत्रार्थ: (द्वितीयम्) दूसरा शुक्लध्यान (अवीचारं) वीचार से रहित है।

पूर्व के दो ध्यानों में जो पूर्व है वह प्रथम है और द्वितीय शेष है। वह द्वितीय शुक्लध्यान में वितर्क तो है परन्तु वीचार से रहित है, ऐसा जानना चाहिए परन्तु पहला शुक्लध्यान वितर्क और वीचार सहित है। (रा वा १)

21/12/20, 11:51 am - +91 84260 17434 left

21/12/20, 8:20 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पूर्व के सूत्र में जो वीचार शब्द स्थापित किया गया है , वह आगम अभिमत नहीं है, अतः उसका निषेध करने के लिए सिंहावलोकन न्याय से भगवान उमास्वामी आगे का सूत्र कहते हैं

*अवीचारं द्वितीयं।।४२।।*

दूसरा शुक्लध्यान वीचार रहित है। नहीं है वीचार जिसमें वह

*अवीचार* कहलाता है। द्वितीय का अर्थ एकत्ववितर्क है।अतः पहला शुक्लध्यान सवितर्क और सवीचार है और दूसरा शुक्लध्यान सवितर्क और अवीचार होता है।

इसलिए आद्य शुक्लध्यान पृथकत्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्क अवीचार है।

परम पूज्य आचार्य श्रीश्रुतसागरसूरि द्वारा रचित संस्कृत टीका के आर्यिका सुपार्श्वमती माताजी द्वारा रचित हिन्दी अनुवाद से।

23/12/20, 10:25 am - Ashok Jain: वितर्क का लक्षण

*वितर्क: श्रुतम्॥४३॥*

सूत्रार्थ:  (श्रुतम्) श्रुतज्ञान को (वितर्क:) कहते हैं।

विशेष रूप से तर्कणा-ऊहन को वितर्क कहते हैं। वितर्क का दूसरा नाम श्रुत है। (रा वा १)

तर्कणा अर्थात् ऊहा-खोज करना, ऐसे विशेष तर्कपूर्ण श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं।

23/12/20, 8:23 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): वितर्क का अर्थ  श्रुतज्ञान है।

*विशेषेण तर्कणमूहनं वितर्क:*

अर्थात् विशेष रूप से तर्कणा करना  या ऊहा - खोज करना वितर्क है।

व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं । ऐसे विशेष तर्कपूर्ण ज्ञान को *वितर्क* कहते हैं।

पृथकत्व वितर्क और एकत्ववितर्क , ये दोनों श्रुत ज्ञान के बल से होते हैं । अतः ये दोनों ध्यान *सवितर्क* हैं।

24/12/20, 10:53 am - Ashok Jain: वीचार का अर्थ

*वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति:॥४४॥*

सूत्रार्थ: (वीचार: अर्थ-व्यंञ्जन-योग -संक्रान्ति:) अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति (परिवर्तन) को वीचार कहते हैं।

संक्रांति: परिवर्तन को संक्रांति कहते हैं। संक्रांति तीन प्रकार की होती है:

१) अर्थ संक्रांति: द्रव्य को छोड़कर पर्याय का ध्यान करना और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का ध्यान करना, इस प्रकार बार-बार ध्येय में परिवर्तन होना अर्थ संक्रांति है।

२) व्यञ्जन संक्रांति: श्रुतज्ञान के किसी शब्द को छोड़कर अन्य शब्द का अवलम्बन लेना तथा और उसे छोड़कर पुनः अन्य शब्द को ग्रहण करना व्यञ्जन संक्रांति है।

३) योग संक्रांति: काय योग को छोड़कर मनोयोग वा वचनयोग का अवलंबन लेना तथा उन्हें भी छोड़कर काययोग का अवलम्बन लेना योग संक्रांति है।

25/12/20, 10:53 am - Pt Sikher Ch Ji changed the group description

25/12/20, 10:23 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): परिवर्तन को *संक्रान्ति* कहते हैं।

ध्येय को *अर्थ* कहते हैं। इससे द्रव्य और पर्याय लिखते जाते हैं।

वचन या शब्द को *व्यञ्जन* कहते हैं।

मन - वचन - काय की क्रिया को *योग* कहते हैं।

द्रव्य से पर्याय , पर्याय से द्रव्य का अवलंबन , एक श्रुत वचन से दूसरे श्रुत वचन , दूसरे से तीसरे का आलंबन , इसी प्रकार एक योग से दूसरे योग का आलंबन - इस प्रकार द्रव्य , पर्याय , वचन से वचनान्तर , योग से योगान्तर परिवर्तन को *वीचार* कहते हैं।

25/12/20, 11:24 am - Ashok Jain: निर्जरा के स्थान

*सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक-क्षीणमोहजिना: क्रमशोऽसंख्येयगुणानिर्जरा:॥४५॥*

सूत्रार्थ: (सम्यग्दृष्टिश्रावक विरतानन्त वियोजक दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त मोह क्षपक क्षीणमोहजिना:) सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्ततानुबन्धी कषाय का विसंयोजक, दर्शनमोह का क्षपक, चारित्र मोह का उपशमक, उपशान्त मोह, चारित्र मोह का क्षपक और जिन ये (क्रमशः) क्रम से (असंख्येयगुणनिर्जरा:) असंख्यात गुणी निर्जरा वाले हैं।

- सम्यग्दृष्टि की निर्जरा के स्थान: सम्यक्त्वोत्पति (सातिशय मिथ्यादृष्टि), सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनंतानुबंधी कषाय का विसंयोजन करने वाला, दर्शन मोह का क्षय करने वाला, कषायों का उपशमक, उपशांत कषाय, कषायों का क्षपक, क्षीण मोह, सयोगी और अयोगी दोनों प्रकार के जिनों में क्रमशः असंख्यात गुणी- असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। (गो जी ६६-६७)

१) सम्यग्दृष्टि: काललब्धि आदि की सहायता से जो परिणामों की विशुद्धि द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो रहा है ऐसा भव्य जीव पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक जीव क्रम से अपूर्वकरण आदि सोपान-पंक्ति पर चढ़ता हुआ बहुतर कर्मों की निर्जरा करने वाला होता है। वही प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के निमित्त मिलने पर सम्यग्दृष्टि होता हुआ असंख्येय गुण कर्म-निर्जरा वाला होता है। (सर्वा ९०८)

२) सम्यग्दृष्टि से श्रावक- वही जीव चारित्र मोहनीय के एक भेद अप्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की प्राप्ति के समय विशुद्धि का प्रकर्ष होने से श्रावक होता हुआ सम्यग्दृष्टि से असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है। (सर्वा ९०८)

पुनः वही प्रत्याख्यानावरण कर्म के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की विशुद्धि वश विरत संज्ञा को प्राप्त होता हुआ उससे असंख्यात गुणी निर्जरा वाला होता है।

पुनः वही दर्शनमोहनीयत्रिक रूपी तृण समूह को भस्मसात् करता हुआ परिणामों की विशुद्धि के अतिशय वश दर्शनमोह क्षपक संज्ञा को प्राप्त होता हुआ पहले से असंख्येय गुण निर्जरा वाला होता है।

वही जीव क्षायिक सम्यक्दृष्टि होकर श्रेणी पर आरोहण करने के सम्मुख होता हुआ तथा चारित्र मोहनीय का उपशम करने के लिए प्रयत्न करता हुआ विशुद्धि के प्रकर्षवश उपशमक संज्ञा का अनुभव करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

वही समस्त चारित्र मोहनीय के उपशम के निमित्त मिलने पर उपशांत कषाय (मोह) संज्ञा को प्राप्त होता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

वही समस्त चारित्र मोहनीय की क्षपणा के लिए सम्मुख होता हुआ परिणामों की विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होकर क्षपक संज्ञा का अनुभव करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

वही चारित्र मोहनीय की क्षपणा के कारणों से प्राप्त हुए परिणामों के अभिमुख होकर क्षीणकषाय (क्षीणमोह) संज्ञा को प्राप्त करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है।

वही द्वितीय शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा घातिकर्म समूह का नाश करके 'जिन' संज्ञा को प्राप्त करता हुआ पूर्वोक्त निर्जरा से असंख्येयगुण निर्जरा वाला होता है। (सर्वा ९०८)

25/12/20, 7:53 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): सूत्र में निर्जरा स्थानों में सर्वप्रथम *सम्यग्दृष्टि* को लिया गया है जिससे *प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि* को ग्रहण करना चाहिए। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सबसे पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ही प्राप्त होता है , उसे ही सातिशय मिथ्यादृष्टि से असंख्येयगुणी निर्जरा होती है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में जो जीव सम्यक्त्व के सन्मुख है , वह कर्मों की निर्जरा का प्रारंभ है जिसे *सातिशय मिथ्यादृष्टि* कहते हैं। सम्यग्दृष्टि अवस्था , जहां से असंख्येय गुण निर्जरा प्रारंभ होती है , बहुत ही दुर्लभता से प्राप्त होती है। अननंतकाय आदि एकेन्द्रियों में बार बार जन्म मरण परिभ्रमण करते करते दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय त्रस पर्याय बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होती है ।कोई तो निगोद से निकलकर दो इन्द्रिय आदि में भ्रमण कर फिर से निगोद में चले जाते हैं।कोई कोई हजारों बार एकेन्द्रिय आदि में भ्रमण कर नरकादि पर्यायों से होते हुए अति कठिनता से मनुष्य पर्याय को प्राप्त करते हैं।

मनुष्य पर्याय प्राप्त कर भी उत्तम देश , कुल आदि बहुत ही दुर्लभता से मिलता है , इसके बावजूद भी योग्य उपदेश के अभाव में जीव सत्पथ पर नहीं चल पाता। मिथ्या दृष्टि होकर कुतीर्थों द्वारा प्रतिपादित मिथ्या पदार्थों में ही श्रद्धान कर दिग्भ्रमित होता रहता है। बहुत ही कठिनता से कदाचित मुनिराज कथित जिनधर्म को सुनकर उस पर श्रद्धान करता हुआ उपशम सम्यग्दृष्टि होता है तथा कर्मों की असंख्यात गुणी निर्जरा करता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि पंचपरावर्तन रूप संसार में त्रस पर्याय उसमें भी मनुष्य पर्याय , उत्तम कुल , बुद्धि आदि बहुत दुर्लभ हैं ।सब प्राप्त होने पर भी देशना मिलना बहुत कठिन है , देशना मिलने पर भी श्रद्धान किसी किसी को ही होता है जो अत्यंत सौभाग्यशाली होते हैं।

*क्रमशः*

25/12/20, 9:46 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): निर्जरा का द्वितीय स्थान *श्रावक* को प्राप्त है।जो प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से पूर्ण संयम को प्राप्त नहीं होता , लेकिन अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से एकदेशव्रतधारी है , ऐसे व्रती को यहां *श्रावक* ग्रहण करना चाहिए ।

छठे , सातवें गुणस्थानवर्ती

सकलसंयमी को यहां सूत्र में *विरत* नाम से ग्रहण किया गया है ।

दर्शनमोह की क्षपणा को प्रारंभ करने वाले असंयत , देशसंयत , प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त जीव जो अनंतानुबंधी की विसंयोजना करने वाले हैं , उनका वाचक यह *अनंतानुबंधी वियोजक* पद है।

सात अनंतानुबंधी 4 और मिथ्यात्व , सम्यक् मिथ्यात्व , सम्यक् प्रकृति का क्षय इनकी सत्ता व्युच्छित्ति करने वाला जीव *दर्शनमोहक्षपक* है ।

यहां सूत्र में प्राप्त *उपशमक* शब्द उपशम श्रेणी में स्थित 8-9-10 वें गुणस्थान वाले जीवों का वाचक है जो चारित्र मोह की इक्कीस प्रकृतियों के उपशामक हैं।

*उपशान्तमोह* के वाच्य जीव ११ वें गुणस्थानवर्ती हैं।

आठवें , नौवें , दशवें गुणस्थानवर्ती जीव जो क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हैं , वे यहां *क्षपक* पद से ग्राह्य हैं जो चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का क्षय करने वाले हैं।

१२ वें गुणस्थानवर्ती जीव *क्षीणमोही* कहलाते हैं जहां मोहकर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है।

*जिन पद* से यहां सयोगी जिन और अयोगी जिन ग्रहण योग्य हैं।

इस प्रकार निर्जरा के कुल दस स्थान बतलाये जिनमें जिन के सयोगी और अयोगी , दो भेद करने से निर्जरा के ग्यारह स्थान हो जाते हैं। ये क्रम से असंख्येय गुण निर्जरा वाले होते हैं।

26/12/20, 2:17 pm - Ashok Jain: निर्ग्रंथों के भेद

*पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्तानका: निर्ग्रन्था: ॥४६॥*

सूत्रार्थ: पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्तानक ये निर्ग्रन्थ मुनि होते हैं।

पुलाक मुनि: जिनका मन उत्तर गुणों की भावना से रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् व्रतों में भी परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होते, वे अविशुद्ध पुलाक (धान) के समान होने से पुलाक कहे जाते हैं। (सर्वा ९१०)

बकुश मुनि: जो निर्ग्रन्थ यद्यपि मूलगुणों का अखण्ड रूप से पालन करते हैं, परंतु शरीर और उपकरणों की सजावट में जिनका चित्त लगा है, यश और ऋद्धियों की जो कामना करते हैं, सात और गौरव से युक्त हैं, परिवार के ममत्व से जिनकी चित्तवृत्ति निवृत्त नहीं हुई है और छेद से जिनका चित्त शबल (चित्रित) है वे बकुश हैं, क्योंकि बकुश शब्द शबल का पर्यायवाची है। (रा वा २)

कुशील मुनि: दो प्रकार के होते हैं-

१) प्रतिसेवना कुशील: जो परिग्रह से घिरे रहते हैं, जो मूल और उत्तरगुणों में परिपूर्ण हैं लेकिन कभी-कभी उत्तरगुणों की विराधना करते हैं वे प्रतिसेवना कुशील कहलाते हैं।

२) कषाय कुशील: जिन्होंने अन्य कषायों के उदय को जीत लिया है और जो केवल संज्वलन कषाय के अधीन हैं वे कषाय कुशील मुनि कहलाते हैं।

निर्ग्रन्थ मुनि: जिस प्रकार जल में लकड़ी से की गई रेखा अप्रकट रहती है उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रकट हो और जो अन्तर्मूहूर्त के बाद प्रकट होने वाले केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त करते हैं वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। (सर्वा ९९०)

जिसके अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह नष्ट हो चुके हैं वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। (रा वा)

स्नातक मुनि: ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों के नाश हो जाने से जिनके केवलज्ञानादि अतिशय विभूतियां प्रकट हुई हैं, जो योग सहित हैं, सम्पूर्ण शीलों के स्वामी हैं, वा शैल पर्वत के समान अचल-अडोल अकम्प हैं, लब्दास्पद् (कृतकृत्य) हैं वे सयोग केवली स्नातक कहलाते हैं। अथवा स्नात् धातु वेद और परिसमाप्ति में आती है, स्वार्थ में 'इकण' प्रत्यय लगाकर स्नातक शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है, जिनके सर्व कार्य समाप्त हो चुके हैं, वे स्नातक हैं। (रा वा ५)

चारित्र आदि की उत्तरोत्तर प्रकर्षता बताने के लिए पुलाकादि का उपदेश है। (रा वा १२)

26/12/20, 5:12 pm - +91 74474 44495 left

27/12/20, 10:10 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): पुलाक , बकुश , कुशील , निर्ग्रन्थ और स्नातक - ये पांचों मुनिराज निर्ग्रन्थ ही होते हैं। इन मुनियों के चारित्र परिणाम न्यूनाधिकता की अपेक्षा से भेद किया गया है।नैगम , संग्रह आदि की अपेक्षा से वे सभी निर्ग्रन्थ ही हैं , चारित्र गुण का क्रम विकास और क्रम प्रकर्ष दिखाने के लिए पुलाक आदि भेद किये गये हैं।

इस प्रसंग में यदि कोई यह शंका करे कि पुलाक मुनि के मूलगुण भी अपरिपूर्ण होते हैं , किंचित विराधित व्रतों में भी यदि निर्ग्रन्थ शब्दों का प्रयोग किया जाता है तो श्रावक में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए तो इसका समाधान यह है कि हम निर्ग्रन्थ रूप को प्रमाण मानते हैं , अतः भग्नव्रत में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग करके भी श्रावक शब्द में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि श्रावक में निर्ग्रन्थरूपता नहीं है ।इस कथन का आशय यह भी नहीं है कि हम हर किसी नग्नवेशधारी के लिए निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। हर किसी में सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता , इसलिए बिना सम्यग्दर्शन के कोई भी नग्न  व्यक्ति निर्ग्रन्थ कहलाने का अधिकारी नहीं है। चारित्र की हीनाधिकता हो सकती है , लेकिन सम्यग्दर्शन का होना निर्ग्रन्थ मुद्रा की अनिवार्यता है । कहा भी है

*दव्वेण सयलणग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया।* *परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता।।*

द्रव्य अर्थात् शरीररूप बाह्य कारण की अपेक्षा सभी जीव नग्न हैं ।नारकी और तिर्यंच तो समुदाय रूप से नग्न ही रहते हैं , परन्तु भाव से अशुद्ध हैं , मिथ्या दृष्टि हैं , अतः भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते ।

आगे और भी लिखा है

*णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई।*

*णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं।।*

जिन भावना जिन सम्यक्त्व से रहित नग्न पुरुष दुख प्राप्त करता है ।जिन भावना से रहित नग्न पुरुष चिरकाल तक संसार भ्रमण करता है और रत्नत्रय को प्राप्त नहीं कर सकता। जिन भावना से यहां तात्पर्य सम्यक्त्व से है।

27/12/20, 10:11 am - Ashok Jain: 🙏🙌🙌🙌

27/12/20, 10:53 am - Ashok Jain: पुलाक आदि मुनियों की विशेषता

*संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपादस्थानविकल्पत: साध्या:॥४७॥*

सूत्रार्थ: संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान के विकल्प से सिद्ध किए गए हैं।

संयम: पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना- कुशील मुनि के सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो संयम होते हैं।

कषाय कुशील मुनि के सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसाम्पराय ये चार संयम होते हैं।

निर्ग्रन्थ और स्तानक मुनि के एक यथाख्यात संयम ही होता है। (रा वा ४)

श्रुत: पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना-कुशील मुनि उत्कृष्ट से अभिन्न अक्षर दशपूर्व के धारी होते हैं।

कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ मुनि उत्कृष्ट से चौदह पूर्व के धारी होते हैं।

स्नातक मुनियों के श्रुतज्ञान नहीं होता है। (क्योंकि वे केवलज्ञानी होते हैं।)

पुलाक का जघन्य श्रुत आचार वस्तु के ज्ञान तक सीमित है।

बकुश, कुशील और निर्ग्रन्थों का जघन्य आठ प्रवचन मातृका तक होता है। (रा वा ४)

*(श्रेणी माण्डने के लिए या शुक्लध्यान प्राप्त करने के लिए आचार वस्तु तक का ज्ञान जरूर प्राप्त कर लेना चाहिए।)(त दी ९/४७)

(ऐसा है नहीं! इसके बिना भी पुलाकपन होता है)

क्रमशः..

27/12/20, 11:43 am - Ashok Jain: प्रतिसेवना:

पुलाक मुनि पांच मूलगुण तथा रात्रिभोजनत्याग रूप षष्ठ व्रत में से, किसी पर के दवाब से प्रतिसेवना करने वाले होते हैं।

बकुश मुनि दो प्रकार के होते हैं:

१) उपकरण बकुश- उपकरणों में जिनका चित्त आसक्त है, जो अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न परिग्रहों से युक्त हैं, जो सुन्दर, बहु, विशेष रूप से अलंकृत उपकरणों के आकांक्षी हैं तथा जो उन उपकरणों का संस्कार किया करते हैं अथवा उनके उपकरण सुंदर, स्वच्छ दीखते रहें ऐसा उनका संस्कार पसंद करते हैं, ऐसे मुनि उपकरण बकुश कहलाते हैं।

२) शरीर बकुश: शरीर-संस्कार सेवी भिक्षु शरीर बकुश कहलाते हैं।

जो मूलगुणों का निर्दोष पालन करने वाले हैं, परंतु उत्तर गुणों में कभी-कभी विराधना करते हैं, वे प्रतिसेवना कुशील मुनि हैं।

कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ और स्तानक के कभी भी व्रतों की विराधना नहीं होती अतः ये प्रतिसेवना से रहित हैं। (रा वा ४)

तीर्थ और लिंग:

सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में पुलाकादि मुनि होते हैं।

भावलिंङ्ग की अपेक्षा पांचों ही निर्ग्रन्थ लिंगी होते हैं, परंतु द्रव्यलिंग की अपेक्षा भाज्य हैं। (रा वा ४)

लेश्याएं:

पुलाक मुनि के उत्तर की तीन (पीत-पद्म-शुक्ल लेश्या होती हैं।

बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्या होती हैं। (*क्योंकि ये दोनों मुनि उपकरणों में आसक्त हुआ करते हैं इसलिए आर्त्तध्यान हो जाने से खोटी लेश्या भी बन जाती है। त. दी ९/४७)

कषाय कुशील और परिहार विशुद्धि वाले के उत्तर की चार (कपोत, पीत, पद्म, शुक्ल) लेश्या होती है।

सूक्ष्मसाम्पराय, निर्ग्रन्थ और स्तानक के एक शुक्ल लेश्या होती है। अयोग केवली लेश्या रहित होते हैं। (रा वा ४)

उपपादः पुलाक का उत्कृष्ट उपपाद सहस्रार स्वर्ग में उत्कृष्ट स्थिति वाले देवों तक होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट रूप से उपपाद आरण-अच्युत कल्प बाईस सागर की उत्कृष्ट स्थिति में होता है।

कषाय कुशील और निर्ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि में तैंतीस सागर की स्थिति में उत्पन्न होते हैं। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ का उपपाद जघन्य रूप से सौधर्म-स्वर्ग में दो सागर की आयु वाले देवों में होता है।

स्नातक को तो उसी भव में निर्वाण पद की प्राप्ति होती है। (रा वा ५)

27/12/20, 4:27 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): निर्ग्रन्थ के भेद - विषय पर पूज्य मुनिश्री अमोघकीर्ति महाराज की देशना अवश्य सुनें।

27/12/20, 4:27 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): https://youtu.be/fwImxqObRNA

27/12/20, 4:27 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): https://youtu.be/fwImxqObRNA

27/12/20, 4:39 pm - Parasji Patni: बहुत ही सुन्दर तरीके से विश्लेषण कर के समझाया है

29/12/20, 9:08 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है , आपने।

29/12/20, 2:25 pm - Ashok Jain: *नवम अध्याय का सारांश*

इस अध्याय में संवर और निर्जरा तत्त्वों का विवेचन करते हुए उनके हेतु का वर्णन किया है। जिनमें तीन गुप्ति, पांच समिति, क्षमादि दश धर्म, क्षुधादि बाईस परीषह जय, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का सद्भाव, तप से निर्जरा, अंतरंग और बहिरंग तप के भेद-उत्तर भेद, चार प्रकार के ध्यान- भेद- प्रभेद, संहनन, सम्यग्दृष्टि और गुणस्थानों की अपेक्षा असंख्यात निर्जरा,

पुलाक आदि पांच प्रकार के मुनि, केवली जिनेन्द्र देव आदि प्रकरणों पर आचार्य भगवन् पूज्य श्री उमास्वामी जी ने प्रकाश डाला है।🙏

29/12/20, 2:27 pm - Ashok Jain: *इति तत्वार्थसूत्रे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्याय:*

29/12/20, 2:29 pm - Ashok Jain: आगामी रविवार को नवम अध्याय की परीक्षा होगी। हम सब स्वयं को जांचेंगे। आप सभी से निवेदन है इस अवसर का लाभ अवश्य लें।🙏

29/12/20, 8:32 pm - You changed this group's settings to allow all participants to send messages to this group

30/12/20, 6:14 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

31/12/20, 8:50 am - +91 94140 01655: [12/31, 12:31 AM] Milap Chand Jain, Kota: *श्री वाणी Youtuve चैंनल पर कुसुम जैन कोटा से लेकर आई है जैन रेसिपि*

*काजू कतली*

👇👇 *नीचे दी हुई लिंक पर जाए और कुसुम जैन कोटा से सीखे घर बैठे काजू कतली*👇👇

*जल्दी से जल्दी आप भी पार्टिसिपेट करे श्री वाणी चैंनल की रेसिपी प्रतियोगिता में और घर बैठे जीत सकते है हजारों के इनाम*

*प्रथम पुरस्कार (1) -5100 रुपये नकद*

*द्वितीय पुरुस्कार (2)-3100 रुपये नकद*

*तृतीय पुरुस्कार (3)-2100 रुपये नकद*

*सांत्वना पुरस्कार (11) -1100 रुपये नकद*

*जिसमे आपको वीडियो बनानी है सिर्फ 5 मिनट की वो भी बिना जमीकंद के*

*देखे व बनाये घर में नए नए व्यंजन और भेज दे बना कर 5 मिनट की वीडियो और जीते नकद पुरस्कार।*

*अधिक जानकारी के लिए व्हाट्सएप करे ।*

*9958125626, 9971206251*

*चैंनल सब्सक्राइब जरूर करे।*

*यदि आप भी इस कार्यक्रम में अपना विज्ञापन देना चाहते हैं तो नीचे दिए हुए नंबर पर सम्पर्क कर सकते है 9024620835*

https://youtu.be/WGoDHzD3yzQ

[12/31, 12:31 AM] Milap Chand Jain, Kota: दीदी/भैया यह विडियो को लाईक ओर कोमेट करें यह श्रीमति कुसुम जैन कोटा दारा बनाया गया है

मिलाप जैन कोटा

9414001655

31/12/20, 9:59 am - +91 99773 98161: No kjau katli in this group ...🤲🤲🤲🤲

31/12/20, 10:07 am - +91 94339 42777: https://youtu.be/e_04ZrNroTo

31/12/20, 10:16 am - Ashok Jain: आप सब ग्रुप के पूराने स्वाध्यायी है। फिर इस प्रकार के मार्केटिंग आदि मैसेज भेज कर क्यों अन्तराय कर्म का बंध करते हैं।

विचार करें।

31/12/20, 11:02 am - Ashok Jain: *अथ दशमोऽध्याय:*

आचार्य भगवंत श्री उमास्वामी महाराज ने इस अध्याय में मोक्ष तत्व का निर्देशन किया है। इसके पहले केवलज्ञान, औपशमिक आदि भावों का अभाव, लोकांत तक जीव की ऊर्ध्व गति, मुक्त जीवों के भेद बताए गए हैं।🙏

31/12/20, 11:02 am - Ashok Jain: <Media omitted>

31/12/20, 11:05 am - You changed this group's settings to allow only admins to send messages to this group

31/12/20, 11:38 am - Ashok Jain: केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण

*मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्॥१॥*

सूत्रार्थ: (मोहक्षयात्) मोहनीय कर्म का क्षय होने से (ज्ञानदर्शनावरणान्तराय- क्षयाच्च) ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय होने से केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

केवलज्ञान, संवर के द्वारा जिसकी परम्परा की जड़ काट दी गई है तथा सम्यग्चारित्र और ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिसकी सत्ता का सर्वथा लोप कर दिया गया है उस मोहनीय कर्म के मूल से क्षय हो जाने पर तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय होते ही केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है- केवलज्ञान उत्पन्न होता है। (रा वा)

मोहनीय कर्म का क्षय: कोई जीव विशुद्धि के अध्यवसाय से अपूर्व उत्साह को धारण करते हुए अनन्ततानुबन्धी आदि सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यक्दृष्टि होता है।

तदन्तर बड़ी भारी विशुद्धि से क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर अध:प्रवत आदि कारणों के द्वारा अपूर्वकरण क्षपक अवस्था को प्राप्त कर उससे आगे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कषायों को नष्ट कर नपुंसक वेद और स्त्रीवेद को उखाड़ कर, छह नोकषायों को पुरुषवेद में क्षेपण कर, पुरुष वेद को संज्वलन में, क्रोध संज्वलन को मान संज्वलन में, मान संज्वलन को लोभ संज्वलन में क्षेपण कर क्रम-क्रम से बादर कृष्टि विभाग से इनका क्षय करके अनिवृत्ति बादर साम्परायिक क्षपक नामक गुणस्थान को प्राप्त होता है। तदन्तर लोभ संज्वलन को सूक्ष्म कर दशम गुणस्थान प्राप्त होता है। सूक्ष्मसाम्पराय अवस्था का अन्तर्मूहूर्त तक अनुभव करके समस्त मोहनीय कर्म का समस्त भार उतार करके फेंक देता है। (रा वा ३)

केवलज्ञान: क्षपक बारहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला कर्म का नाश कर अन्त समय में पांच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय कर्म का नाश कर अचिंत्य विभूति युक्त केवलज्ञान एवं केवलदर्शन स्वभाव को निष्प्रतिपक्षी रूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त एवं निर्लेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्ती सर्व द्रव्य-पर्यायों के स्वभाव का ज्ञाता सर्वत्र अप्रतिहित अननतदर्शनशाली निरवशेष पुरुषार्थ को प्राप्त, कृतकृत्य मेघ-पटलों से विमुक्त शरत्कालीन स्वकिरणकलापों से पूर्ण चन्द्रमा के समान सौम्यदर्शन तथा देदीप्यमान मूर्त्ति केवली हो जाता है। (रा वा ३)

01/01/21, 11:41 am - Ashok Jain: मोक्ष का लक्षण

*बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यांं कृत्स्न-कर्म- विप्रमोक्षो मोक्ष:॥२॥*

सूत्रार्थ: (बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां) बन्ध के हेतुओं का अभाव और निर्जरा के और निर्जरा के द्वारा (कृत्स्नकर्मविप्रमोक्ष:) सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाने पर (मोक्ष:) मोक्ष होता है।

पूर्वोक्त कथित मिथ्यादर्शन आदि रूप बन्ध के कारणों का निरोध (अभाव) हो जाने पर नूतन कर्मों का आना रुक जाता है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का विनाश होता ही है। पूर्वोक्त तप आदि निर्जरा के कारणों का सन्निधान होने पर पूर्व अर्जित कर्मों का विनाश हो जाता है। उन बन्ध हेतुओं का अभाव और निर्जरा में हेतु अर्थ पंचमी विभक्ति का निर्देश किया गया है, इन दोनों कारणों से भवस्थिति (आयु) के बराबर जिनकी स्थिति कर ली गई ऐसे वेदनीय आदि शेष कर्मों का युगपत् आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही सर्व कर्मों का नाश मोक्ष जानना चाहिए।

(रा वा १-२)

कृत्स्न (सम्पूर्ण) कर्मों का क्षय हो जाना कर्मक्षय है, क्योंकि 'सत्' द्रव्य का द्रव्यत्व रूप से विनाश नहीं है किन्तु पर्याय रूप से उत्पत्तिमान होने से उसका विनाश होता है तथा पर्याय द्रव्य को छोड़कर नहीं है अतः पर्याय रूप से द्रव्य का व्यय होता है। अतः कारणवशात् कर्मत्व पर्याय को प्राप्त पुद्गल द्रव्य का कर्मबंध के प्रत्यनीक कारणों के सन्निधान होने पर उस कर्मत्व पर्याय की निवृत्ति होने पर उसका क्षय होता है, उस समय वह पुद्गल द्रव्य अकर्म पर्याय से परिणत हो जाता है। इसलिए कृत्स्न कर्मक्षय को मुक्ति कहना युक्त ही है। (रा वा ३)

02/01/21, 9:54 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): घातिया कर्मों के क्षय से केवलज्ञान दर्शन वाले सशरीरी अपनी प्रभा से उपार्जित अनन्त ऐश्वर्यशाली और वेदनीय , आयु , नाम , गोत्र की सत्तावाले केवली के बंध के हेतुओं का अभाव और सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

मोक्ष शब्द भाव साधन है। *मोक्षणं* = छूट जाना मोक्ष है । *कृत्स्न* शब्द से बन्ध , उदय , उदीरणा , सत्ता इन चार भागों में बंटे आठ कर्मों का छूटना *मोक्ष* है।

02/01/21, 11:06 am - Ashok Jain: मोक्ष में जिन भावों का अभाव होता है उनका कथन

*औपशमिकादि भव्यत्वानां च॥३॥*

सूत्रार्थ: मोक्ष में औपशमिक आदि भावों और भव्यत्व भाव का भी अभाव हो जाता है।

भव्यत्व का ग्रहण अन्य पारिणामिक भावों की अनिवृत्ति के लिए है। पारिणामिक भावों में जीवत्व भाव की मोक्ष में अनिवृत्ति के लिए भव्यत्व भाव ग्रहण किया गया है। अतः पारिणामिक भावों में भव्यत्व का तथा औपशमिकादि भावों का अभाव मोक्ष में हो जाता है। (रा वा १)

मोक्ष में औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और भव्यत्व इन चार भावों का अभाव हो जाता है।

03/01/21, 10:50 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र में *मोक्ष* पद की अनुवृत्ति है। औपशमिक , क्षायोपशमिक , औदयिक और भव्यत्व , इन चार भाव कर्मों का नाश होने से मोक्ष होता है।

सूत्र में वर्णित *चकार* शब्द समुच्चय अर्थ में है जिसका तात्पर्य है कि मात्र पौद्गलिक सर्व कर्मों का नाश होने से ही मोक्ष नहीं होता, अपितु औपशमिक , क्षायोपशमिक , औदयिक और भव्यत्वभाव रूप भाव कर्मों के नाश से मोक्ष होता है।

03/01/21, 11:39 am - Ashok Jain: मोक्ष में कौन-कौन से भाव रहते हैं-

*अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञान- दर्शन -सिद्धत्वेभ्य:॥४॥*

सूत्रार्थ: मोक्ष में केवल सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व इन चार भावों का क्षय नहीं होता है।

सिद्धों में गुण: अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व ये सिद्धों के आत्यन्तिक गुण हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व ये सिद्धों के आठ गुण वर्णन किये गये हैं। (ल सि भ १)

सम्यक्त्वादि आठ गुण मध्यम रूचि वाले शिष्यों के लिए हैं। विस्तार रुचि वाले शिष्यों के प्रति विशेष भेद नय के अवलम्बन से गति रहितता, इन्द्रिय रहितता, शरीर रहितता, योग रहितता, वेद रहितता, कषाय रहितता, नाम रहितता, गोत्र रहितता तथा आयु रहितता आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि सामान्य गुण इस तरह जैनागम के अनुसार अनन्तगुण जानने चाहिए। (वृ द्र सं टी १४)

ज्ञानावरण कर्म के क्षय से - केवलज्ञान

दर्शनावरण कर्म के क्षय से - केवलदर्शन

वेदनीय कर्म के क्षय से - अव्याबाधत्व गुण (सुख)

मोहनीय कर्म के क्षय से - सम्यक्त्व

आयु कर्म के क्षय से - अवगाहनत्व

नाम कर्म के क्षय से - सूक्ष्मत्व

गोत्र कर्म के क्षय से - अगुरुलघुत्व

अन्तराय कर्म के क्षय से - अनन्तवीर्य

(त सा ८/३७-४०)

03/01/21, 2:52 pm - Ashok Jain: आज सांयकाल सात बजे तत्त्वार्थसूत्र अध्याय नौ का प्रश्नपत्र ग्रुप में आ जायेगा।

आप सभी अधिक से अधिक भाग लें।

पेपर बहुत सरल आयेगा और स्वयं का रिविजन भी हो जायेगा।

टोप पांच के नाम जो समय-सीमा एक घंटे में पेपर सबमिट कर देंगे उनका नाम विशेष रूप से ग्रुप में अलग से भेजा जाएगा। फर्स्ट पांच का नाम भी ग्रुप में भेजा जायेगा। और भी है..

03/01/21, 4:43 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र के अनुसार यदि मुक्त जीवों के चार ही भाव शेष रहते हैं तो यहां यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि क्या तब अनन्तवीर्य , अनन्तसुख आदि भावों का अभाव प्राप्त होता है ? इसका समाधान यह है कि अविनाभावी अनन्तवीर्य आदि सिद्धों में अवशिष्ट रहते हैं । अनन्त सामर्थ्य से हीन व्यक्ति के अनन्तज्ञान की वृत्ति प्राप्त नहीं हो सकती है ।सुख तो ज्ञान दर्शन की पर्याय है । सुख ज्ञानमय होता है , इसलिए अनन्तसुख का भी कभी नाश नहीं होता है । इस प्रकार ज्ञान दर्शन कहने से उनका अविनाभावी  अनन्तवीर्य आदि अनंत संज्ञक गुण भी गृहीत हो जाते हैं , उनका अभाव नहीं होता।

यदि कोई ऐसा कहे कि सिद्ध जीव निराकार होने से उनके अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है तो यह भी भ्रांत धारणा है । उनके अतीत अनन्तर ( अंतिम ) शरीर का आकार प्राप्त होता है । सिद्धों का लक्षण बताते हुए लिखा भी है

*सायारमणायारा लक्खणमेयं तु सिद्धाणं*

सिद्ध कथंचित साकार है और कथंचित निराकार भी है ।

बंध के कारण मिथ्यादर्शन , अविरति , प्रमाद और कषाय आदि के समूल उच्छेद होने से मुक्त जीवों के बन्धन रूप कार्य का भी सर्वथा अभाव हो जाता है , इसलिए एक बार मुक्त हो जाने के बाद मुक्त जीव पुनः बंधन को कभी प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि उनके सभी आश्रवों का परिक्षय हो गया है तथा अवगाहन शक्ति के योग से ये सिद्ध परमात्मा बिना किसी विरोध के अल्प स्थान में अवगाहन प्राप्त करते हैं और अनन्त काल तक अनन्त सुख की अनुभूति करते हैं।

03/01/21, 6:51 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *सिद्ध पूजा( हिन्दी भाषा ) की जयमाला*

*जय जय श्री सिद्धन कूं प्रणाम,जय शिव सुख सागर के* *सुथान।जय बलि बलि जात सुरेश जान,जय पूजत तन मन हर्ष ठान।।*

मोक्ष सुख के समुद्र सिद्ध भगवान जिन्हें देवों के राजा इन्द्र भी नतमस्तक होकर पूजा करते हूए तन मन से अति हर्षित होते हैं,उनकी जयजयकार करते हुए उन्हें प्रणाम करता हूँ।

*जय क्षायिक गुण सम्य्क्त्व लीन,जय केवलज्ञान सुगुण नवीन।जय लोकालोक* *प्रकाशवान,यह केवल अतिशय हिये जान।।*

हे भगवान !

आपने मोहनीय कर्म का नाश कर क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त किया है।यह आपका पहला गुण है।ज्ञानावरण कर्म के नाश से आप अनन्तज्ञान के धारी सिद्ध भगवान  आपकी जय हो।यह आपका दूसरा गुण है।इस केवलज्ञान से सम्पूर्ण लोक अलोक प्रकाशवान है जो इसका अतिशय है।

*जय सर्व तत्व दरसे महान,सो दर्शन गुण तीजो जान।*

दर्शनावरण कर्म के नाश से समस्त तत्वों के युगपत् दर्शन करने वाले अनन्तदर्शनधारी सिद्ध भगवान आपकी जय हो।यह अनन्तदर्शन आपका तीसरा महान गुण है।

*जय वीर्य अनन्तो है अपार,जाकी पटतर दूजो न सार।।*

अन्तराय कर्म के नाश से उत्पन्न अनन्तवीर्य धारक सिद्ध भगवान आपकी जय हो।आपके समान बलशाली इस संसार में दूसरा कोई नहीं है।

*जय सूक्षमता गुण हिये धार,सब ज्ञेय लख्यो एकहि सुवार।*

नामकर्म के नाश से सूक्ष्मत्व गुण के धारी सिद्ध भगवान की जय हो ।सभी ज्ञेय आपके ज्ञान में एक साथ झलकते हैं।

*इक सिद्ध में सिद्ध अनन्त जान,अपनी अपनी सत्ता प्रमाण।।अवगाहन गुण अतिशय* *विशाल,तिनके पद वन्दों नमित भाल।*

आयु कर्म के विनाश से उत्पन्न अवगाहनत्व गुण धारी श्री सिद्ध भगवान ! एक सिद्ध में अनन्त सिद्धों का वास होते हुए भी आपकी अपनी अपनी स्वाधीन सत्ता है।सब अपने आप में स्वतन्त्र रूप में रहते हैं।ऐसे छठे अतिशय कारी महान गुणधर भगवान ! आपके चरणों में अपना शीश झुकाता हूँ।

03/01/21, 6:52 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *कछु घटि न बाधि कहे प्रमाण,गुण अगुरु लघु धारें महान।।*

हे भगवन् ! गोत्र कर्म के विनाश से आपने सातवें महान अगुरु लघु गुण को प्राप्त किया है जिसके कारण आपका ज्ञान और गुण अनन्तकाल से यथावत् है।कुछ भी घटता बढता नहीं है।आपकी सदा जय हो।

*जय बाधा रहित विराजमान,सो अव्याबाध कह्यो बखान।*

वेदनीय कर्म के विनाश से आप अव्याबाधत्व गुण को प्राप्त कर आप सिद्धलोक में सदा सदा के लिए विराजमान हैं।आपकी सदा जय हो।

*ये वसुगुण हैं व्यवहार सन्त,निश्चय जिनवर भाषे अनन्त।।*

हे जिनेन्द्र देव ! व्यवहार से तो आपके ये आठ गुण कहे जाते हैं।निश्चय से आप अनन्त गुणों के धारी हैं।

*सब सिद्धनि के गुण कहे गाय,इन गुणकरि शोभित हैं जिनाय।तिनको भविजन मनवचन काय,पूजत वसु विधि अति हर्ष लाय।।*

हे आत्मन् ! इन गुणों से शोभित सभी अनन्तानन्त सिद्धों का यशोगान करते हुए मन वचन काय की श्रद्धा पूर्वक अत्यन्त हर्ष भाव से अष्ट द्रव्यों से इनकी पूजा करो।

*सुरपति फणपति चक्री महान ,बलि हरि प्रतिहरि मनमथ सुजान।गणपति मुनिपति मिल धरत ध्यान,जय सिद्ध शिरोमणि जग प्रधान।।*

देवेन्द्र,धरणेन्द्र, चक्रवर्ती,बलभद्र,नारायण,प्रतिनारायण तथा मुनियों के स्वामी गणधर सभी आपका नित्य ध्यान करते हैं।हे जगत् शिरोमणि सिद्ध देव ! आपकी सदा जय हो।

03/01/21, 7:08 pm - Ashok Jain: https://docs.google.com/forms/d/1vTVqGrKE4GQQ9H3g6_mLzaDpPkg4NG4nA0Efh8VdhAI/edit

03/01/21, 7:09 pm - Ashok Jain: सबमिट करने की अवधि 8.10 तक

03/01/21, 7:36 pm - Ashok Jain: सबसे निवेदन है कृपया दुबारा पेपर सबमिट न करें, पहला ही मान्य होगा।

03/01/21, 8:12 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

03/01/21, 8:12 pm - Ashok Jain: <Media omitted>

03/01/21, 8:28 pm - Ashok Jain: 38 / 50 ललिता जैन बैंगलोर

28 / 50 Usha jain Thakurganj

26 / 50 Vinod vidyadhar Akkole Chipri

30 / 50 Ramesh Kumar jain Jaipur

40 / 50 Rekha Jain Saharanpur

*फास्टेस्ट फर्स्ट*

03/01/21, 8:32 pm - Ashok Jain: *50 / 50 माधुरी विद्याधर हेरवाडे इचलकरंजी

50 / 50 अनीता दिल्ली *

*टाप मार्क्स*

03/01/21, 8:33 pm - Ashok Jain: पेपर सुबह 10 बजे तक के लिए रिआपन कर रहा हूं। आप सब अधिकाधिक भाग लें।

*पेपर बहुत सरल है।*

*एक बार ही सबमिट करें*

03/01/21, 8:35 pm - Ashok Jain: https://docs.google.com/forms/d/1vTVqGrKE4GQQ9H3g6_mLzaDpPkg4NG4nA0Efh8VdhAI/edit

03/01/21, 8:35 pm - Ashok Jain: सबसे निवेदन है कृपया दुबारा पेपर सबमिट न करें, पहला ही मान्य होगा।

03/01/21, 8:43 pm - +91 72492 56885 left

03/01/21, 10:25 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): बहुत सुंदर । हार्दिक बधाई।

04/01/21, 5:36 am - Ashok Jain: आप सब उत्साह पूर्वक भाग ले रहे हैं। बहुत अच्छा।

जिन्होंने अभी तक भाग नहीं लिया है उनके लिए अभी दस बजे तक समय है। बहुत सरल पेपर है। आप भी पेपर सबमिट करें।

04/01/21, 9:17 am - Ashok Jain: Last 45 minutes.

All of you can still submit your paper.

04/01/21, 10:18 am - Ashok Jain: माधुरी विद्याधर हेरवाडे इचलकरंजी

अनीता दिल्ली

माधुरी विद्याधर हेरवाडे इचलकरंजी

Shreyas jain Anand

रेनू जैन पता सी 158गलीन 7भजनपूरा

रजनी जैन नागपुर

Sushama Sagar

राजकु मारी जैन नागपुर

आप सब ने 50/50 अंक प्राप्त किए हैं।

बहुत बहुत बधाई💐🙈

04/01/21, 10:18 am - Ashok Jain: https://docs.google.com/spreadsheets/d/1br302Z9GVk33dUkaYcdwuX75hlZRAdpXxTUuDDSFMkc/edit?usp=drivesdk

टाप 46+ बोल्ड एवं हाइलाइट किये गये हैं।

समय-सीमा 8.10pm में सबमिट करने वालों को येलो हाइलाइट किया है।

आप सब ने बहुत अच्छी तैयारी की है। बहुत बहुत अनुमोदना एवं बधाई💐🙈👌👑

04/01/21, 10:28 am - Ashok Jain: Follow this link to join my WhatsApp group: https://chat.whatsapp.com/Kv6HBpxMJ9oJ2wLvAlXKO3

*जिन्हें स्वाध्याय करना हो और पेपर देने हों वे ही इस ग्रुप को जाइन करें।*🙏

04/01/21, 12:18 pm - Khusbu left

04/01/21, 12:49 pm - Ashok Jain: तत्वार्थसूत्र आगे...

04/01/21, 1:02 pm - Ashok Jain: कर्मक्षय के पश्चात् आत्मा कहां जाता है:

*तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥५॥*

सूत्रार्थ: (तदनन्तरं) कर्मक्षय के पश्चात् (ऊर्ध्वं) ऊपर (आलोकान्तात्) लोकाकाश पर्यंत (गच्छति) जाता है।

कर्मों का उच्छेद होते ही आत्मा समस्त कर्मभार से रहित होने के कारण लोकाकाश पर्यंत उर्ध्वगमन करता है।

लोक में सर्वत्र धर्मद्रव्य होने पर भी मुक्त जीव न नीचे जाता है और न आठों दिशाओं में जाता है किन्तु ऊपर को ही जाता है क्योंकि जीव का उर्ध्वगमन स्वभाव है। (तत्त्व सा. ७१)

जैसे वेग से पूर्ण व्यक्ति ठहरना चाहते हुए भी नहीं ठहर पाता है वैसे ही ध्यान के प्रयोग से आत्मा ऊपर को जाता है। (भ आ २१२३)

04/01/21, 8:31 pm - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का संधि विग्रह इस प्रकार है

*तद् - अनन्तरम् - ऊर्ध्वम् गच्छति - आ लोक - अन्तात् ।। ५ ।।*

सूत्र में *तत्* शब्द प्रकृत ( कर्मबन्ध उच्छेद ) के लिए है ।

*तदनन्तर* अर्थात् उसके अनन्तर अर्थात् सर्व कर्मों का क्षय होने पर या अभाव होने पर आत्मा लोक के अन्तिम भाग तक ऊपर जाता है ।

कौन सा जीव जाता है ? मुक्त जीव जाता है । कितनी दूर तक जाता है ? लोक के अन्तिम भाग तक ऊपर को जाता है।

लोक के अन्त को *लोकान्त* कहते हैं और लोकाकाश पर्यन्त का अर्थ है *आलोकान्त* अर्थात् लोकाकाश पर्यन्त मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन होता है , आगे नहीं।

05/01/21, 11:49 am - Ashok Jain: मुक्त जीवों के उर्ध्वगमन का कारण

*पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च॥६॥*

सूत्रार्थ: (पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्) पूर्व के संस्कार से, कर्म के सङ्ग रहित हो जाने से (बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च) बन्ध का नाश हो जाने से और उर्ध्वगमन का स्वभाव होने से मुक्त जीव उर्ध्वगमन करता है।

जैसे- जली हुई अग्नि ईंधन आदि उपादान न रहने पर बुझ जाती है, उर्ध्वगमन कर जाती है। जैसे- बीज के अत्यंत जल जाने पर अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मबीज के भस्म हो जाने पर भवाङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकता है। कर्मक्षय के अनन्तर पूर्वप्योग, असंगत्व, बन्धच्छेद और उर्ध्वगमन धर्म के कारण लोकान्त तक उर्ध्वगमन करता है। (रा वा ९/ श्लो ७-८)

06/01/21, 10:26 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): इस सूत्र का सन्धि विग्रह इस प्रकार है

*पूर्वप्रयोगाद् - असंङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात् तथागति -परिणामाच् - च।।६।।*

जीव ऊर्ध्वगमन क्यों करता है , इसका कोई हेतु नहीं बतलाया , हेतु के बिना पक्ष की सिद्धि नहीं होती है , इसीलिए हेतु की सिद्धि करने के लिए आचार्य भगवन् ने यह सूत्र रचा है ।

इस सूत्र में जीव के ऊर्ध्वगमन करने के चार कारण बतलाए गए हैं -

१) *पूर्वप्रयोग* पूर्व का प्रयोग *पूर्वप्रयोग* कहलाता है। संसार में स्थित आत्मा ने पूर्व में मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो अनेक बार अभ्यास किया है , उस कृत अभ्यास का अभाव होने पर भी उसके आवेशपूर्वक संस्कार जब तक क्षय नहीं हो जाते , तब तक मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन होता है। यह एक हेतु है।

२) *असंगत्वात्* जिस जीव का कर्मों के साथ संग या लेप नहीं है वह *असंग* कहलाता है और असंग का भाव *असंगत्व* है । यहां कहने का तात्पर्य यह है कि कर्मों के भार से अधीन हुआ जीव कर्मों के आवेशवश संसार में दशों दिशाओं में गमन करता है और कर्मों के भार की पराधीनता का अभाव होने पर ऊर्ध्व की ओर ही गमन करता है ।यह दूसरा हेतु है।

३) *बन्धच्छेद* बन्ध का छेद अर्थात् *बन्धच्छेद* उस बंध के छेद  से जीव ऊर्ध्वगमन करता है । कहने का आशय यह है कि मनुष्यादि भव को प्राप्त कराने वाले गतिनाम , जातिनाम आदि समस्त कर्मो के बंध का छेद हो जाने से मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन होता है। यह ऊर्ध्वगमन का तीसरा हेतु है ।

४ ) *तथागतिपरिणामात्*  गति - ऊर्ध्वगमन स्वभाव है जिस जीव का , वह तथागतिपरिणाम है । इसका तात्पर्य यह है कि परमागम में जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रतिपादित किया गया है। इस जीव के नानाविध गतिरूप विकार के कारण कर्म ही हैं। उन कर्मों का अभाव होने से मुक्त आत्मा ऊपर की ओर आरोहण करता है।

सूत्र में वर्णित *चकार* शब्द परस्पर हेतुओं के समुच्चय के लिए है जो यह निर्देश करता है कि केवल पूर्वप्रयोग या असंगत्व आदि से ही मुक्त आत्मा का ऊर्ध्वगमन नहीं होता , अपितु पूर्वप्रयोग , असंगता , बन्धच्छेद और ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से कर्मरहित जीव ऊर्ध्वगमन करता है।

06/01/21, 5:35 pm - Ashok Jain: Follow this link to join my WhatsApp group: https://chat.whatsapp.com/Kv6HBpxMJ9oJ2wLvAlXKO3

06/01/21, 6:02 pm - +91 89895 40000 left

07/01/21, 10:09 am - Ashok Jain: उपर्युक्त कारणों के लिए दृष्टांत

*आविद्धकुलालचक्रवद्-व्यपगतलेपालाबू वदरेण्डबीजवदग्निशिखाविच्च ॥७॥*

सूत्रार्थ: (आविद्धकुलाल चक्रवत्) कुम्भकार के द्वारा घुमाये गये चाक के समान, (व्यपगतलेपालाबूवत्) लेप से रहित तूम्बी के समान, (एरण्डबीजवत्) एरण्ड के बीज के समान,(अग्निशिखावच्च) और अग्नि की शिखा के समान जीव उर्ध्वगमन करता है।

घूमाया गया चक्र: अपवर्ग की प्राप्ति के लिए बहुत बार प्रणिधान होने से हाथ से घुमाये हुए चक्र के समान उर्ध्वगमन करता है। जैसे कुम्भकार के प्रयोग से, उसका हाथ के दण्ड से और दण्ड का चाक से संयोग होने पर चक्र का भ्रमण होता है, परंतु जब कुम्भकार चाक पर दण्ड को घुमाना बन्द कर देता है तब भी पूर्वप्रयोग के कारण संस्कार क्षय पर्यंत चक्र बराबर घूमता रहता है, उसी प्रकार संसारी आत्मा ने जो मोक्ष प्राप्ति के लिए अनेक बार प्रणिधान और प्रयत्न किए हैं परन्तु अब मोक्ष प्राप्ति के समय उद्योग अभाव में भी उस संस्कार के आवेश पूर्वक पूर्वप्रयोग के कारण मुक्तात्मा का उर्ध्वगमन होता है।

लेपरहित तूम्बी: असङ्गत्व के लिए संगरहित होने से मुक्त जीव का उर्ध्वगमन होता है। जैसे मिट्टी का लेप से वजनदार तूम्बी ज्योंहि मिट्टी का लेप घुल जाता है तब शीघ्र ही पानी के ऊपर आ जाती है उसी प्रकार कर्मभार से आक्रांत से वशीकृत आत्मा, कर्मवश संसार में इधर उधर भ्रमण करती है, उसका अध:पतन होता है पर जैसे ही वह कर्मबन्धन से मुक्त होती है वैसे ही ऊपर आती है अर्थात् उर्ध्वगमन करती है। (रा वा ३)

एरण्ड बीज: बन्ध का उच्छेद हो जाने से एरण्ड के बीज के समान आत्मा उर्ध्वगमन करता है। जिस प्रकार ऊपर के छिलके के हटते ही एरण्ड बीज ऊपर को ही जाता है उसी प्रकार मनुष्य आदि भवों में भ्रमण कराने वाले गति-नाम कर्म आदि सर्वकर्मों के बंध का छेद हो जाने से मुक्त जीव का स्वाभाविक उर्ध्वगमन ही होता है। (रा वा ५)

अग्निशिखा: अग्निशिखा के समान जीव का भी स्वाभाविक उर्ध्वगमन होता है उसी प्रकार मुक्तात्मा भी नाना गतिविकार के कारणभूत के हट जाने पर उर्ध्वगमन स्वभाव से ऊपर को जाती है। (रा वा ६)

सिद्ध भगवान का ऊर्ध्वगमन स्वभाव: गत्यन्तर की निवृत्ति के लिए सूत्र में ऊर्ध्वगमन कहा है अर्थात् मुक्तात्मा का उर्ध्वगमन ही होता है, दिशान्तर में त में तिरछा नहीं। यह स्वभाव है न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना।

जैसे: ऊर्ध्वज्वलन स्वभावत्व होने पर भी अग्नि से वेगवान द्रव्य वायु के अभिघात से तिरछी ज्वाला निकलने पर भी उसका विघात नहीं देखा जाता है उसी प्रकार मुक्त जीव में ऊर्ध्वगमन स्वभावत्व होने पर भी लक्ष्य प्राप्ति के बाद ऊर्ध्वगमन होने पर भी मुक्तात्मा का अभाव नहीं होता। (रा वा ९-१०)

07/01/21, 10:21 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): 🙏👌🙇🙏

07/01/21, 3:53 pm - Ashok Jain: मुक्त जीव लोकाकाश के आगे क्यों नहीं जाते

*धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥*

सूत्रार्थ: (धर्मास्तिकाय अभावात्) धर्मास्तिकाय का अभाव होने से मुक्त जीव का लोकाकाश के बाहर गमन नहीं होता।

मुक्तात्मा: लोकाकाश के आगे गति-उपग्रह करने में कारणभूत नहीं है। अतः मुक्तात्मा का गमन लोकाकाश के आगे नहीं होता। यदि लोकाकाश में धर्मास्तिकाय का अभाव माना जाय या लोकाकाश के बाहर धर्मास्तिकाय का सद्भाव माना जाय तो लोक-अलोक के विभाग का अभाव ही हो जायेगा। (रा वा)

08/01/21, 10:04 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): गति रूप उपकार का कारणभूत धर्मास्तिकाय लोकान्त के ऊपर नहीं है , अतः सहायक कारण के अभाव में गतिरूप कार्य का भी अभाव उनमें पाया जाता है । यही कारण है कि लोक के अन्त तक धर्मद्रव्य होने से मुक्त आत्माओं का गमन भी वहीं तक होकर वहीं अवस्थान हो जाता है । मुक्तात्मायें यद्यपि पूर्ण स्वतन्त्र हैं , किन्तु जीव द्रव्य की गमनादि क्रिया में उदासीन निमित्त धर्मद्रव्य का अभाव होने से उनका लोकान्त के ऊपर गमन नहीं हो सकता है।यह स्वभाव है। *जैसे मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने से धर्मद्रव्य के होने के बाद भी नीचे और तिरछे नहीं जाता है , ऊर्ध्व ही गमन करता है , वैसे ही धर्मद्रव्य के नहीं होने के कारण लोकान्त के आगे अलोक में नहीं जाता ।*

धर्मद्रव्य बहुप्रदेशी द्रव्य होने से लोकाकाश में व्याप्त रहता है , जिससे धर्मद्रव्य की अस्तिकाय संज्ञा है । अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अस्तित्व नहीं है , इसलिए सूत्र में *धर्मास्तिकायाभावात्* कहा है।

08/01/21, 2:29 pm - Ashok Jain: मुक्तात्माओं में भेद-व्यवहार का कारण

*क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वत: साध्या:॥९॥*

सूत्रार्थ: (क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ- चारित्र-प्रत्येकबुद्ध-बोधित-ज्ञान-अवगाहना-अन्तर-संख्या-अल्पबहुत्व: - साध्या:)

क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्ध, बोधित-बुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व, इन अनुयोगों द्वारा सिद्धों में (साध्या:) भेद सिद्ध करना चाहिए।

१) क्षेत्र की अपेक्षा: सिद्ध क्षेत्र में वा कर्मभूमि में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्ध क्षेत्र, स्वप्रदेश, या आकाश प्रदेश में सिद्धि होती है। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियों में संहरण की अपेक्षा मनुष्य लोक में सिद्धि होती है। (रा वा २)

२) काल की अपेक्षा: एक समय में सिद्ध होते हैं वा साधारण रूप से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में सिद्ध होते हैं। प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में ही सिद्ध होता है, क्योंकि सिद्ध होने का काल तो एक समय ही है।

भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा दो भेद हैं:

जन्म से और संहरण से।

*जन्म*: जन्म की अपेक्षा सामान्यतः उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सुषमा-सुषमा के अन्त भाग में और दुषमा-सुषमा में उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुषमा-सुषमा में उत्पन्न हुआ जीव दुषमा में सिद्ध हो सकता है, परंतु दुषमा या प्रथम, द्वितीय काल में तथा सुषमा-सुषमा के प्रथम भाग में वा दुषमा-दुषमा काल में उत्पन्न हुआ कभी सिद्ध नहीं हो सकता है।

*संहरण* की अपेक्षा- सभी (उत्सर्पिणी- अवसर्पिणी) कालों में सिद्ध हो सकते हैं (रा वा ३)

३) गति की अपेक्षा: सिद्ध गति में मनुष्य गति में सिद्धि होती है। प्रत्युत्पन्न नय की दृष्टि से सिद्धि होती है। भूतनय की अपेक्षा दो विकल्प हैं १) एकान्तर गति, २) अनन्तर गति।

४) लिङ्ग की अपेक्षा: अवेद से मुक्ति होती है या तीनों वेदों से मुक्ति होती है। वर्तमान नय की अपेक्षा-अवेद अवस्था में सिद्धि होती है। अतीत गोचर नय की अपेक्षा- साधारण रूप से तीनों वेदों से सिद्धि होती है।

तीनों लिङ्गों से सिद्धि भाववेद की अपेक्षा है, द्रव्यवेद की अपेक्षा नहीं क्योंकि द्रव्यवेद की अपेक्षा तो पुरुष लिंग से ही सिद्धि होती है दूसरे वेद से नहीं। *अथवा*- लिङ्ग के दो भेद हैं- १) सग्रंथ लिङ्ग, २) निर्ग्रन्थ लिङ्ग।

प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा निर्ग्रन्थ लिङ्ग से ही मुक्ति होती है।

भूतनय की अपेक्षा विकल्प है।(रा वा ५)

द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति में बाधक कारण:

स्वभाव से उनकी परिणति प्रमादमयी होती है, इसलिए उन्हें प्रमादा कहा गया है और इसलिए वे प्रमाद बहुल कही जाती हैं। स्त्रियों के मन में मोह, प्रद्वेष, भय, ग्लानि, और विचित्र प्रकार की माया निश्चित होती है इसलिए उन्हें मोक्ष नहीं है।

.... ....

दूसरी बात यह है कि जैसे प्रथम संहनन का अभाव होने से स्त्री सातवें नरक नहीं जाती है, उसी प्रकार स्त्री मोक्ष भी नहीं जाती है। (प्र. सा. ता. २४६-५०)

५) तीर्थ की अपेक्षा: तीर्थ सिद्धि दो प्रकार की होती है-१) तीर्थंकर रूप, २) तीर्थंकर भिन्न रूप से। कोई तीर्थंकर होकर सिद्ध हुए और कोई तीर्थंकर न होकर सामान्य केवली होकर सिद्ध होते हैं। जो सामान्य सिद्ध हैं, वे दो प्रकार के हैं-

१) उनमें कोई तो तीर्थंकर के अस्तित्व में सिद्ध होते हैं।

२) कोई तीर्थंकर की गैर मौजूदगी में सिद्ध होते हैं। (रा वा ६)

६) चारित्र की अपेक्षा:

चारित्र-अचारित्र के विकल्प से रहित अवस्था से एक, चार, पांच विकल्प वाले सिद्ध होते हैं।

चारित्र-अचारित्र के विकल्प रहित भाव से सिद्धि होती है।। भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा दो प्रकार हैं:

१) अनन्तर- भूतप्रज्ञापन नय की दृष्टि से यथाख्यात चारित्र से सिद्धि होती है।

२) व्यवधान: चार (सामायिक, छेदोपस्थापना, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात), पांच (उक्त चारों के अतिरिक्त परिहार विशुद्धि) चारित्रों को प्राप्त कर मुक्त होते हैं।

मुक्त होने के पूर्व चार चारित्र तो अवश्य होते हैं, परिहार विशुद्धि संयम भजनीय है।

(रा वा ७)

७-८) प्रत्येकबुद्ध और बोधित-बुद्ध: स्वशक्ति और परोपदेश निमित्त ज्ञान के भेद से प्रत्येक बुद्ध और बोधितबुद्ध ये दो विकल्प होते हैं।

१) प्रत्येक बुद्ध: कुछ प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होते हैं जो परोपदेश के बिना स्वशक्ति से ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते हैं।

२) बोधितबुद्ध: कुछ बोधितबुद्ध होते हैं जो परोपदेश पूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं। (रा वा ८)

९) ज्ञान की अपेक्षा: ज्ञान की अपेक्षा कोई एक ज्ञान से, कोई दो ज्ञान से, कोई तीन ज्ञान से और कोई चार ज्ञान विशेष से सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं।

प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक केवलज्ञान से ही सिद्धि होती है।

भूतप्रज्ञापन नय की दृष्टि से मति, श्रुत इन दोनों से, मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञानों से, वा मति श्रुत और मन:पर्यय इन तीन ज्ञानों से तथा मति-श्रुत-अवधि और मन:पर्यय इन चारों से सिद्धि होती है। (रा वा ९)

१०) अवगाहना की अपेक्षा: अवगाहना दो प्रकार की होती है

१) उत्कृष्ट अवगाहना, २) जघन्य अवगाहना।

भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष, जघन्य अवगाहना साढ़े तीन हाथ प्रमाण से और मध्य में अनेक विकल्पों से सिद्धि होती है। प्रत्युत्पन्न नय भावप्रज्ञापन नय- उत्कृष्ट कुछ कम ५२५ धनुष जघन्य साढ़े तीन हाथ प्रमाण से मध्य में अनेक विकल्पों से सिद्धि होती है। (रा वा १०)

११) अन्तर: सिद्ध होने में जघन्य एक समय का एवं उत्कृष्ट छह मास का अन्तर पड़ता है। उसके बाद कोई न कोई जीव मोक्ष में अवश्य जायेगा। मनुष्य लोक में मुक्तिगमन का जघन्य अन्तर काल एक समय और उत्कृष्ट अन्तर दो-तीन समयादि से लेकर छह मास पर्यंत है। इसके पश्चात् आठ समयों में जीव सिद्धि को प्राप्त करते हैं। (रा वा १२)

१२) संख्या: जितने जीव एक साथ मोक्ष जाते हैं उसे संख्या कहते हैं। एक समय में जघन्य से एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट से १०८ जीव एक समय में सिद्ध हो सकते हैं, ऐसा मानना चाहिए। (रा वा १३)

क्रमशः...

08/01/21, 4:50 pm - Ashok Jain: आगे..

सिद्धों में अल्पबहुत्व: प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा सिद्ध क्षेत्र में सिद्ध होते हैं अतः उनमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतपूर्व नय की अपेक्षा सिद्ध क्षेत्र के दो भेद हैं: १) जन्म की दृष्टि से, २) संहरण की दृष्टि से।

संहरण सिद्ध अल्प हैं जन्म सिद्ध संख्यात गुणे हैं। संहरण दो प्रकार का है:

१) स्वकृत संहरण: चारण विद्याधरों का स्वयं संहरण स्वकृत है।

२) परकृत संहरण: देवों के द्वारा चारण विद्याधरों के द्वारा कृत संहरण परकृत है।

(रा वा १४)

काल की अपेक्षा अल्पबहुत्व: उत्सर्पिणी काल में सिद्ध जीव सबसे कम है। अवसर्पिणी काल में सिद्ध उससे विशेषाधिक है, अनुत्सर्पिणी-अनवसर्पिणी (विदेह क्षेत्रों से) सिद्ध संख्यात गुणे अधिक हैं।

प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा एक समय में सिद्ध होते हैं अतः अल्पबहुत्व नहीं है।

क्रमशः...

09/01/21, 10:29 am - Ashok Jain: अन्तर की अपेक्षा अल्पबहुत्व:

आठ समय के अनन्तर से सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम है। सात समय के अनन्तर से होने वाले सिद्ध उसमें संख्यातगुणे हैं, इस प्रकार समयान्तर से होने वाले सिद्धों तक समझना चाहिए। अर्थात् आठ समय तक लगातार सिद्ध होने वाले जीव सबसे कम हैं, सात समय तक लगातार सिद्ध होने वाले उससे संख्यातगुणे हैं। छह समय से कम में जाने वाले संख्यातगुणे हैं। इस प्रकार दो समय तक संख्यात संख्यातगुणे समझना चाहिए।

सान्तरों में छह माह के अन्तर से सिद्ध होने वाले सबसे कम हैं। एक समयान्तर से होने वाले जीव उससे संख्यातगुणे हैं। यवमध्यान्तर सिद्ध संख्येयगुणे हैं। अधोयवमध्यान्तर सिद्ध संख्येयगुणे हैं और उपरियवमध्यान्तर सिद्ध विशेयाधिक हैं। (रा वा १४)

गति की अपेक्षा अल्पबहुत्व:

गति की दृष्टि से प्रत्युतपन्न की विवक्षा से सिद्ध गति में ही सिद्धि होती है। अतः इसमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतप्रज्ञापन नय की अपेक्षा अनन्तरगति मनुष्य गति में ही सिद्धि होती है। अतः इसमें भी अल्पबहुत्व नहीं होता है।

वेद की अपेक्षा अल्पबहुत्व:

प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा अवेद अवस्था में ही मुक्ति होती है। अतः इसमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतप्रज्ञापन नय की विवक्षा से सबसे कम नपुंसक वेद सिद्ध हैं। इससे संख्यातगुणे स्त्रीवेद सिद्ध हैं और इससे संख्यातगुणे पुरुषवेद सिद्ध हैं। यह वर्णन श्रेणी मांगने वाले भाववेद की अपेक्षा से है, द्रव्य से तो पुरुषवेद से ही सिद्धि होती है। (रा वा १४)

तीर्थ, प्रत्येकबुद्ध और बोधित-बुद्ध की अपेक्षा अल्पबहुत्व: तीर्थंकर सिद्ध स्तोक हैं और इतर सिद्ध उससे संख्यातगुणे हैं। प्रत्येक बुद्ध कम है और बोधितबुद्ध संख्येयगुणे हैं। (रा वा १४)

चारित्र की अपेक्षा अल्पबहुत्व: प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा निर्विकल्प चारित्र से सिद्ध होते हैं अतः इसमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतपूर्व नय के आश्रय से, अनन्तर चारित्र की दृष्टि से सभी यथाख्यात चारित्र से सिद्ध होते हैं अतः इसमें अल्पबहुत्व नहीं है। व्यवधान की दृष्टि से पञ्च चारित्र से सिद्ध बहुत कम होते हैं और चतुश्चारित्र सिद्ध संख्येयगुणे हैं। (रा वा १४)

ज्ञान की अपेक्षा अल्पबहुत्व: प्रत्युत्पन्न नय की दृष्टि से केवली ही सिद्ध होते हैं, अतः इसमें अल्पबहुत्व नहीं है।

भूतपूर्व प्रज्ञापन नय की अपेक्षा द्विज्ञान (मति-श्रुत) से सिद्ध सबसे कम हैं, चतुर्ज्ञान सिद्ध उससे संख्यातगुणे हैं, त्रिज्ञान सिद्ध उससे भी संख्यातगुणे हैं। इसी प्रकार विशेषता से मति-श्रुत-मन: पर्ययज्ञान सिद्ध अर्थात् 'जिनको केवलज्ञान के पूर्व में तीन ज्ञान हो चुके हैं' वे सबसे स्तोक हैं, मति-श्रुतज्ञान सिद्ध इससे संख्यातगुणे हैं, मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्यय ज्ञान सिद्ध संख्यात गुणे हैं और इनसे संख्यात गुणे मति-श्रुत-अवधि ज्ञान सिद्ध हैं। (रा वा १४)

अवगाहना की अपेक्षा अल्पबहुत्व:

जघन्य अवगाहना सिद्ध सबसे कम हैं, उत्कृष्ट अवगाहना सिद्ध संख्यात गुणे हैं। यवमध्य (मध्यम अवगाहना) इससे संख्यातगुणे हैं, अधोयव सिद्ध (जघन्य अवगाहना के समीप अर्थात् चार हाथ, पांच हाथ आदि अवगाहना से सिद्ध) संख्यातगुणे हैं और उपरियवसिद्ध (४००, ४५०, ४७५ धनुष आदि अवगाहना सिद्ध) अधोवयसिद्ध से विशेष अधिक हैं। (रा वा १४)

संख्या की अपेक्षा अल्पबहुत्व: एक सौ आठ, एक सौ आठ एक साथ होने वाले सिद्ध सबसे स्तोक हैं, इनसे (एक सौ आठ से ) लेकर पचास एक साथ सिद्ध होने वाले अननतगुणे हैं। इनसे असंख्यात गुणे उन्चास से पच्चीस तक सिद्ध हैं। और इनसे चौबीस से लेकर एक तक एक साथ सिद्ध होने वाले संख्यातगुणे हैं। (रा वा १४)

09/01/21, 10:39 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *प्रश्न १ ) आचार्य श्री ने अपनी लघुता विनम्रता को किस प्रकार दिखलाया है ?*

*उत्तर -

*अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसन्धि विवर्जित रेफम्*

*साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।।१।। ** *(दोधकवृत्त)*

आचार्य श्री इस छन्द के माध्यम से अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं कि इस शास्त्र में यदि कहीं अक्षर , मात्रा , पद या स्वर रहित हो , तथा व्यञ्जन , सन्धि व रेफ से रहित हो तो सज्जन पुरुष मुझे क्षमा करें । क्योंकि शास्त्ररूपी समुद्र में कौन पुरुष मोह को प्राप्त नहीं होता , अर्थात् भूल नहीं करता ।

*प्रश्न २*

*दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।*

*फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः।।*

दस अध्याय में विभक्त इस तत्त्वार्थ ( मोक्षशास्त्र ) सूत्र पाठ करने से तथा चिन्तन से एक उपवास का फल होता है , ऐसा श्रेष्ठ मुनियों ने कहा है ।

अर्थात् जो भव्यात्मा तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ का पाठ करते हैं , उसका चिन्तन करते हैं , उन्हें एक उपवास का फल प्राप्त होता है।

*प्रश्न ३*

*तत्त्वार्थसूत्र कर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।*

*वन्दे गणीन्द्र - संजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्।।*

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थराज के कर्त्ता , गृद्धपिच्छ नाम से प्रसिद्ध , जो आचार्य उमास्वामि हो गये हैं , मैं उनकी वन्दना करता हूं।

अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के कर्ता उमास्वामि आचार्य थे । उनका दूसरा नाम गृद्धपिच्छाचार्य था ।

*प्रश्न ४*

*तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में कितने अध्याय हैं तथा उनमें वर्णित विषय क्या हैं ?*

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ में दस अध्याय हैं , जिनमें सततत्वों का सुन्दर विस्तृत विवेचन है ।

क्रमशः

09/01/21, 11:06 am - Rajendra Ji Jain Uttarpara (WB): *प्रश्न ५*

*दस  अध्यायों में पृथक् पृथक् अध्यायों में किस - किस तत्त्व का वर्णन है ?*

*उत्तर*

*पढम चउक्के पढमं पंचमे जाणि पुग्गलं तच्च।*

*छह सप्तमे हि आस्सव अट्ठमे बन्ध णायव्वा।।*

*णवमे संवर णिज्जर दहमे मोक्खं वियाणे हि।*

*इह सत्त तच्च भणियं दह सुक्षेण मुणिं देहि।।*

तत्त्वार्थसूत्र में दस अध्यायों में प्रथम अध्याय से चतुर्थ अध्याय तक जीव तत्त्व का वर्णन है । पांचवें अध्याय में अजीव तत्त्व का वर्णन है ।छठे और सप्तम अध्याय में बन्ध तत्त्व का वर्णन है । नवम अध्याय में संवर निर्जरा तत्त्व का वर्णन है और दशम अध्याय में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है , निश्चय से ऐसा जानो। इस प्रकार दस अध्याय में सात तत्त्वों का वर्णन है।

*प्रश्न ६*

*मुक्ति प्राप्ति के लिए भव्यात्मा क्या करें ?*

*

*उत्तर*

*जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं।*

*सद्दहमाणो जीवो , पावइ अजरामरं ठाणं।।*

भव्यात्माओं को जितना शक्य हो करना चाहिए , जिसे करना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिए , क्योंकि श्रद्धान करने वाला जीव अजर - अमर स्थान को प्राप्त होता है ।

*प्रश्न ७*

*चारों गतियों के दु:खों से मुक्त होने के लिए क्या करें ?*

*उत्तर*

*तवयरणं वयधरणं , संजमसरणं च जीव दयाकरणं।* *अन्ते समाहिमरणं , चउविह दुक्खं णिवारेई।।*

हे भव्यात्माओ ! चतुर्गति के दुखों से मुक्त होने के लिए तप करो , व्रत धारण करो , संयम करो और जीवों पर दया करो तथा अन्त में समाधिपूर्वक मरण करो।

*परम पूज्य आर्यिका १०५ स्याद्वादमती माताजी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ की प्रश्नोत्तरी टीका से संकलित।*

09/01/21, 11:23 am - Ashok Jain: 🙌🙌🙌

09/01/21, 12:15 pm - Parasji Patni: @Ashok ji बहुत अच्छा विश्लेषण।

09/01/21, 12:27 pm - Ashok Jain: 🙏

10/01/21, 11:00 am - Ashok Jain: श्रुत आराधना

*कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव। पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यामेतच्छ्रुतं पंचपदं नमामि॥*

शब्दार्थ: (कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो) सौ करोड़ और बारह करोड़ अर्थात् एक सौ बारह करोड़ (लक्षाण्यशीतिस्त्र्य चैव) और तीन अधिक अस्सी लाख अर्थात् तिरासी लाख (पंचाशदष्टौ च सहस्रसंख्यं) अठावन हजार और (पंचपदं) पांच पदों वाले (एतच्छ्रुतं) ऐसे श्रुत को (नमामि) नमस्कार करता हूं।

भावार्थ: एक सौ बारह करोड़ तिरासी लाख अठावन हजार पांच पद प्रमाण सर्व श्रुत को मैं नमस्कार करता हूं।

*अरहंत भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सव्वं। पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवयं सिरसा॥*

शब्दार्थ: (अरहंत) अरहंत देव के द्वारा (भासियत्थं कहा गया (गणहरदेवेहिं) गणधरों के द्वारा (गंथियं) गूंथा गया (सव्वं सुदणाण महोवहिं) सम्पूर्ण श्रुतज्ञान रूपी महासमुद्र को (भत्तिजुत्तो) भक्ति से युक्त सिरसा शिर झुकाकर (पणमामि) प्रणाम करता हूं।

भावार्थ: जो अरहंत भगवान के द्वारा कहा है और गणधरों के द्वारा गूंथा गया है ऐसे श्रुतज्ञानरूपी महासमुद्र को मैं शिर नवाकर प्रणाम करता हूं।

गुरु आराधना

*गुरव: पांतु नो नित्यं, ज्ञान-दर्शन-नायका।चारित्रार्णवगम्भीरा: मोक्षमार्गोपदेशका:॥*

(ज्ञानदर्शननायका:) जो ज्ञान दर्शन के नायक हैं। (चारित्रार्णवगम्भीरा:) समुद्र के समान गम्भीर चारित्र को धारण करने वाले हैं, (मोक्षमार्गोपदेशका:) तथा मोक्षमार्ग का उपदेश देने वाले हैं ऐसे (गुरव:) गुरु महाराज (न:) हम सबको (नित्यं) नित्य ही (पांतु) पवित्र करें।

भावार्थ: जो ज्ञान दर्शन के नायक हैं, समुद्र के समान गम्भीर चारित्र वाले हैं और मोक्षमार्ग का उपदेश दैने वाले हैं ऐसे गुरु महाराज हमें पवित्र करें, हमारी रक्षा करें।

10/01/21, 1:31 pm - Ashok Jain: दसवें अध्याय का सारांश:

इस अध्याय में मोक्ष तत्त्व का वर्णन है। आचार्य देव ने केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण, मोक्ष में औपशमिकादि एवं पारिणामिक में भव्यत्व भाव का अभाव, केवल सम्यक्त्व , केवलज्ञान, केवल दर्शन, और सिद्धत्व इन भावों का सद्भाव एवं अन्य सभी का अभाव, समस्त घातिया-अघातिया कर्मों का क्षय कर ऊर्ध्वगमन करते हुए लोक के अन्त भाग पर्यंत ऊपर सिद्धालय में विराजमान होना, क्योंकि उसके ऊपर धर्मास्तिकाय का अभाव है। मुक्त जीवों में क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग,

तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध और बोधितबुद्ध, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्व इन बारह प्रकार से सिद्धों में भेद भी हो जाता है।

इस प्रकार हमने दसवें अध्याय का स्वाध्याय किया।